सम्पादक :

बिशन टंडन

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 507
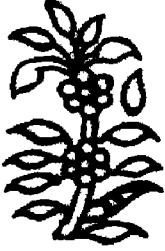
ज्ञानपीठ पुरस्कार . 1965-90

मूल्य : 175.00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
लोदी रोड, नई दिल्ली 110003

मुद्रक एवं फोटोटाइप सैटर्स
शकुन प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली -110032

आवरण-शिल्प पुष्पकणा मुखर्जी

ज्ञानपीठ पुरस्कार ने भारतीय साहित्य में अपना असाधारण स्थान बना लिया है। स्वाभाविक है कि इस सबध में समय-समय पर जिज्ञासाएँ उठती रहती है। भारतीय ज्ञानपीठ यथासम्भव इन्हें पूरा करने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। 25वें पुरस्कार समारोह के अवसर पर इस बढ़ती जानकारी की माग की सतुष्टि के लिए यह पुस्तक साहित्यानुरागियों को समर्पित की जा रही है।

अनेक मित्रों ने जो अपने को ज्ञानपीठ परिवार का सदस्य ही मानते है इस पुस्तक के प्रकाशन में गहरी रूचि लेकर सहायता की है। इस पुस्तक की योजना को कार्यान्वित करने में कई साहित्यकारों और लेखकों ने बड़ी सद्भावना से सहयोग किया है। इन सबके प्रति मेरा हार्दिक आभार। साथ ही ज्ञानपीठ के अपने सहयोगियों के परामर्श और सहायता के बिना इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव ही नहीं होता, बहुत कुछ पुरानी सामग्री बिना उनके परिश्रम के उपलब्ध नहीं होती। पूरी सामग्री एकत्र करना और उसे स्वरूप देने में नेमिचन्द जैन और रोजी जैन का विशिष्ट योगदान रहा है। पाण्डुलिपि तैयार करने में गुलाबचद्र जैन, सुधा पाण्डेय व गीता नेगी की पूरी सहायता रही।

पुस्तक के प्रस्तुतीकरण का पूरा उत्तरदायित्व चक्रेश जैन ने वहन किया। उनके अथक परिश्रम ने मेरा कार्य बहुत सरल कर दिया। नेशनल थर्मल पावर के वरिष्ठ राजभाषा अधिकारी राजेन्द्र मिश्र ने जिस अपनत्व की भावना से इस कार्य में हाथ बटाया है वह भारतीय ज्ञानपीठ के प्रति उनकी आत्मीयता दर्शाता है। ज्ञानपीठ के साहित्यिक कार्य-कलापों से वह धीरे-धीरे बहुत जुड़ गए हैं। अत· उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करके मैं उनके सहयोग को छोटा नहीं करना चाहता।

पुस्तक की सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा और छपाई का श्रेय कलाकार पुष्पकणा मुखर्जी और शकुन प्रिंटर्स के अम्बुज जैन को है। जिस लगन से इन्होंने कार्य किया है उसके लिए मैं अत्यत कृतज्ञ हूँ।

नई दिल्ली
9 जनवरी, 1991

बिशन टंडन
निदेशक
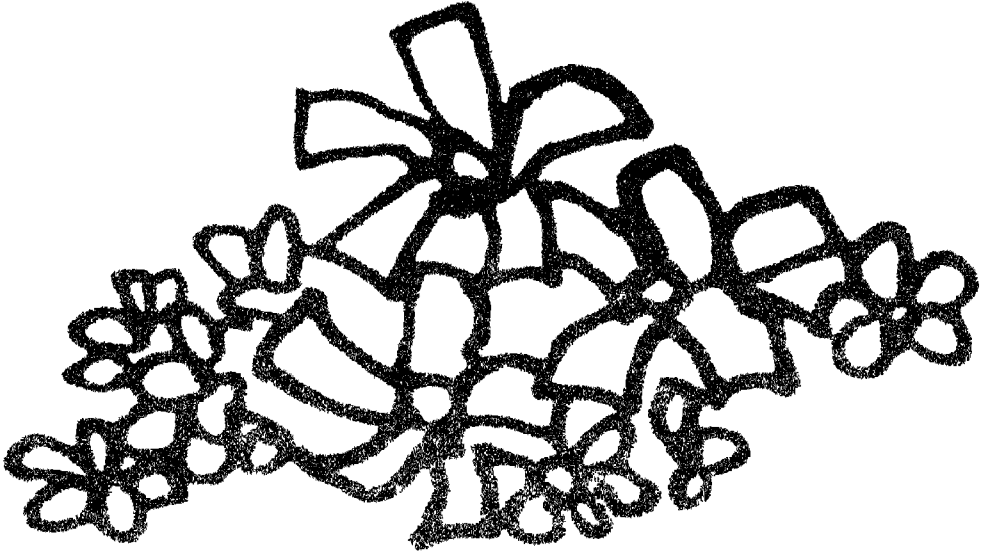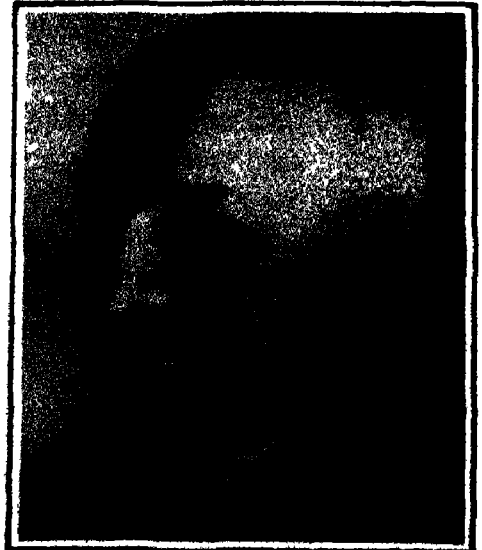
स्व. श्रीमती रमा जैन

स्व. श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन

श्रीमती रमा जैन व
श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन की
पुण्य स्मृति में ॥

यह मूर्ति मूलतः धार, मालवा, के सरस्वती मन्दिर की है, जिसकी स्थापना उज्जयिनी के विद्याव्यसनी नरेश भोज ने १०३५ ईसवी में की थी। यह अब ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन, में है। भारतीय ज्ञानपीठ ने साहित्य-पुरस्कार के प्रतीक के रूप में इसे ग्रहण करते हुए शिरोभाग के पार्श्व में भामण्डल और सम्मिलित किया है। उसमें तीन रश्मि-पुंज हैं जो भारत के प्राचीनतम जैन तोरण-द्वार (कंकाली टीला, मथुरा) के 'रत्नत्रय' को निरूपित करते हैं। हाथ में कमण्डलु, पुस्तक, कमल और अक्षमाला ज्ञान तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के प्रतीक हैं। पुरस्कार-विजेता को इस मूर्ति की कांस्य-प्रतिमा भेंट की जाती है।

पुरस्कार-प्रतीक वाग्देवी

ज्ञानपीठ पुरस्कार अम्माजी, श्रीमती रमा जैन, का मानस पुत्र है। उनकी यह धारणा थी कि भारत मे भले ही अलग-अलग भाषाएँ हों लेकिन उन भाषाओं के साहित्य मे उठने वाली मिट्टी की गध एक ही है। वे उस गध को तलाश कर उसे सम्मानित करना चाहती थीं। कहा गया कि देश की १५ भाषाओं में से किसी एक कृति का चयन अत्यन्त कठिन और जटिल कार्य होगा। पर अम्मा जी और बाबू जी, श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन, ने योजना को कार्यान्वित करने के लिये साहित्य-मनीषियो और साहित्यकारो से देश-व्यापी विचार-विनिमय किया। इसमे समय तो लगा पर योजना का एक व्यावहारिक रूप निकल आया। पिछले २५ वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि चयन-प्रक्रिया में साहित्य-प्रेमियों की व्यापक भागीदारी, सूक्ष्म-विश्लेषण व निरीक्षण और वस्तुपरक निष्पक्षता से सन्तोषजनक परिणाम निकले हैं।

भारतीय भाषाओं के किसी एक चुने हुये शीर्षस्थ साहित्यकार को प्रति वर्ष दिये जाने वाले ज्ञानपीठ पुरस्कार का अनूठापन इसमे है कि यह भारतीय साहित्य मे एक सेतु का कार्य करने के साथ-साथ हमारे साहित्य के मापदण्डो की स्थापना मे भी सक्रिय भूमिका निभा रहा है। विभिन्न भाषाओं के लेखको को सम-सामयिक भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि मे परखकर उन्हे अपने सीमित भाषायी क्षेत्र से बाहर लाने मे ज्ञानपीठ पुरस्कार ने अद्भुत सफलता पाई है। भारतीय ज्ञानपीठ को इस बात का सन्तोष है कि साहित्य के माध्यम से राष्ट्र की भावात्मक एकता को सुदृढ करने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इस पुरस्कार के पीछे देश के अनेक साहित्यकारों और प्रबुद्ध पाठको का सद्भाव है। उन सबके प्रति मेरा हार्दिक आभार।

नई दिल्ली

9 जनवरी, 1991

ज्ञानपीठ पुरस्कार

ज्ञानपीठ पुरस्कार भारतीय साहित्य में सर्वोपरि माना जाने लगा है। इसकी धनराशि, डेढ लाख रुपये इस देश के अन्य सभी साहित्यिक पुरस्कारों से अधिक है। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे बहुभाषी राष्ट्र में इस प्रकार का कोई और पुरस्कार है ही नहीं। हमारे सविधान के ८वे परिशिष्ट में परिगणित १५ भाषाओं को मान्यता प्राप्त है। इन सभी भाषाओं में अपने अलग-अलग कई प्रतिष्ठित राष्ट्रीय एव प्रादेशिक पुरस्कार हैं। लेकिन इन सभी भाषाओं में से चुनकर किसी एक सर्वोत्कृष्ट कृति या साहित्यकार के सम्मान में समर्पित भारतीय नागरिकों के लिए यही एकमात्र पुरस्कार है।

इस पुरस्कार की परिकल्पना का श्रीगणेश २२ मई, १९६१ को भारतीय ज्ञानपीठ के सस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जैन की पचाशत् अबदपूर्ति के अवसर पर हुआ जबकि उनके परिवार के सदस्यों के मन में यह विचार उपजा कि साहित्यिक या सास्कृतिक क्षेत्र में किसी ऐसी महत्त्वपूर्ण योजना का प्रवर्तन किया जाय जो कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के अनुरूप हो। इसके फलस्वरूप ही १६ सितम्बर, १९६१ को जब भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी-मण्डल की बैठक में समस्त भारतीय भाषाओं के सुख्यात लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने के उद्देश्य से स्थापित राष्ट्रभारतीय ग्रन्थमाला पर विचार चल रहा था, ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन ने यह प्रश्न उठाया कि "क्या यह सम्भव नहीं है कि हम भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किसी एक ऐसी पुस्तक को चुन सकें जो सर्वश्रेष्ठ कही जाय और जिसे एक बडी पुरस्कार राशि दी जाये?" चर्चा के बाद यह उचित लगा कि इस सुझाव पर देश के विभिन्न भागों के साहित्यकारों और साहित्य मर्मज्ञों से व्यापक विचार-विमर्श किया जाये।

इस विचार को व्यावहारिक रूप देने की पहल भी श्रीमती रमा जैन ने की। उन्होंने इसके लिए कुछ साहित्यकारों को २२ नवम्बर, १९६१ को अपने निवास पर आमन्त्रित किया। इस विचार गोष्ठी में काका कालेलकर, हरिवशराय बच्चन,

रामधारी सिंह दिनकर, जैनेन्द्र कुमार, जगदीश चन्द्र माथुर, प्रभाकर माचवे और श्री अक्षय कुमार जैन ने भाग लिया। इस विचार-विनिमय में जिस प्रारम्भिक योजना का रूप उभरकर आया उसे दो दिन बाद २५ नवम्बर, १९६१ को साहू शान्तिप्रसाद जैन ने राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद के मार्गदर्शन के लिए उनके समक्ष प्रस्तुत किया। डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने इसकी सराहना की और हार्दिक सहयोग का आश्वासन दिया।

इसके बाद विभिन्न भाषाओ के साहित्यकारो से विचार-विमर्श शुरू हुआ। ६ दिसम्बर, १९६१ को कलकत्ता के प्रमुख बाग्ला साहित्यकारों और समीक्षकों से इस पुरस्कार योजना पर विचार-विनिमय हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद १ जनवरी, १९६२ को कलकत्ते मे ही अखिल भारतीय गुजराती साहित्य परिषद् और भारतीय हिन्दी परिषद् के वार्षिक अधिवेशनो मे भाग लेने वाले लगभग ७२ साहित्यकारों से सम्मिलित रूप से परामर्श किया गया। इसी बीच योजना की लगभग साढे चार हजार प्रतियाँ देश के विभिन्न साहित्यिक सस्थाओं और साहित्यकारो को उनकी प्रतिक्रियाएँ जानने के लिए भेजी गईं। इस विचार विनिमय से यही निष्कर्ष निकल रहा था कि यह प्रस्ताव सराहनीय है और कठिनाइयाँ होते हुए भी इसे कार्यान्वित किये जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। योजना को अन्तिम रूप देने के लिए २ अप्रैल, १९६२ को दिल्ली में भारतीय ज्ञानपीठ और टाइम्स ऑफ इण्डिया के सयुक्त तत्त्वावधान में एक बृहद् विचार-गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसमे देश के सभी भाषाओं के लगभग ३०० मूर्धन्य साहित्यकारो ने भाग लिया। इसके विभिन्न सूत्रो की अध्यक्षता डॉ वी राघवन और श्री भगवतीचरण वर्मा ने की और इसका सचालन डॉ धर्मवीर भारती ने। काका कालेलकर, हरेकृष्ण मेहताब, नसीम इजेकिल, डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डॉ मुल्कराज आनन्द, सुरेन्द्र महान्ति, देवेशदास, सियारामशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, उदयशकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर, डॉ राजकुमार वर्मा, डॉ नगेन्द्र, डॉ बेन्द्रे, जैनेन्द्र कुमार, मन्मथनाथ गुप्त आदि प्रख्यात साहित्यकारो ने इसमें भाग लिया। इस गोष्ठी के दो सत्रों में पुरस्कार प्रस्ताव पर विस्तार से चर्चा हुई और योजना को स्वीकार किया गया।

योजना को कार्यान्वित करने के लिए डॉ राजेन्द्र प्रसाद से प्रवर-परिषद् की अध्यक्षता स्वीकार करने का अनुरोध किया गया। श्रीमती रमा जैन को सम्बोधित अपने १९ नवम्बर, १९६२ के पत्र में उन्होने लिखा—"इसमें तो कोई कहने की बात नहीं कि योजना मुझे बहुत सुन्दर लगी, पर अभी तक मैं अध्यक्षता सम्बन्धी आपके निमन्त्रण को इस कारण से टालता आया कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नही रहता और इसलिए इतनी बडी जिम्मेदारी को सभालने के लिए सकोच कर रहा हूँ। पर मैं यह भी चाहता हूँ कि इस योजना में अब देरी नहीं होनी चाहिए और शीघ्र ही इस कार्य को आरम्भ कर देना चाहिए। अत मैं इसकी अध्यक्षता के उत्तरदायित्व को स्वीकार करता हूँ।" उन्होंने प्रवर-परिषद् की पहली बैठक की तिथि १६ मार्च, १९६३ निश्चित की, पर दुर्भाग्य से उससे पहले ही उनका देहावसान हो गया।

बैठक काका कालेलकर की अध्यक्षता में हुई और उसके बाद प्रवर-परिषद् की अध्यक्षता का भार डॉ सम्पूर्णानन्द को सौंपा गया।

विभिन्न भाषाओं में से एक सर्वोत्कृष्ट कृति (जैसा कि पहले १७ पुरस्कारों तक नियम था) या साहित्यकार (जैसा कि अब १८वें पुरस्कार से नियम है) के चयन का कार्य अत्यन्त कठिन और जटिल है। वास्तव में इस पुरस्कार के सुझाव पर विचार-विमर्श में मुख्यत शकाएँ चयन-प्रक्रिया को ही लेकर उठी थीं। बहुत से प्रश्न उठना स्वाभाविक था। जब एक ही भाषा की सर्वोत्कृष्ट कृति या लेखक का चयन करने में कठिनाई उत्पन्न होती है और कभी-कभी गम्भीर विवाद व मतभेद खडे हो जाते हैं तो कई भाषाओ में से एक कृति या साहित्यकार की खोज कितनी दुष्कर होगी ? यदि हर भाषा से उसके विद्वानो की सहायता से कुछ कृतियाँ छाँट भी ली गईं तो उनका तुलनात्मक मूल्याकन कैसे होगा ? उसकी प्रक्रिया और मानदण्ड क्या होगे ? क्या ऐसे विद्वानों और साहित्यकारो का मिलना असम्भव-सा नही होगा जो कई भाषाओं के मर्मज्ञ हो ? दूसरी ओर इन कठिनाइयो का निवारण यदि हो भी जाय तो इतनी कष्टसाध्य प्रक्रिया के बाद जो निर्णय होगे, उनकी साहित्य-जगत् मे क्या मान्यता होगी ? आदि-आदि। उन सब साहित्यकारो और विद्वानो ने जिन्होने इस योजना को व्यावहारिक रूप दिया उन सब प्रश्नो के सन्तोषजनक उत्तर निकाल ही लिये और जो हो २५ वर्षों से अधिक के अनुभव के बाद यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य-प्रेमियो की व्यापक भागीदारी, सूक्ष्म विश्लेषण और वस्तुपरक निरीक्षण पर आधारित पुरस्कार की चयन-प्रक्रिया ने इस चुनौती भरे कार्य को सम्भव कर दिखाया है।

विभिन्न भाषाओ के साहित्यकारो, अध्यापको, समालोचको और प्रबुद्ध पाठको से प्रस्नाव आमन्त्रित करने के साथ चयन-प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। इन सबकी व्यापक सूची समय-समय पर सशोधित होती रहती है। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों और साहित्यिक तथा भाषा-सस्थानो से भी प्रस्ताव भेजने का अनुरोध किया जाता है। इस प्रकार जो प्रस्ताव प्राप्त होते हैं उन्हे सम्बन्धित भाषा परामर्श समिति को भेजा जाता है। हर भाषा की एक ऐसी समिति है जिसमे तीन सदस्य होते हैं। सामान्यत सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष होता है। लेकिन कोई भी सदस्य दुबारा या कभी-कभी उसके बाद भी समिति का सदस्य मनोनीत हो सकता है। सदस्यों की नियुक्ति प्रवर-परिषद् द्वारा की जाती है। ये सभी सदस्य अपनी-अपनी भाषा के जाने-माने मर्मज्ञ साहित्यकार, समालोचक या अध्यापक होते हैं। स्थापना से अब तक के सदस्यों की सूची आगे दी गयी है जिससे इस समितियो के स्वरूप का अनुमान सहज ही में हो जायेगा।

भाषा समितियो पर यह प्रतिबन्ध नही है कि वे अपना विचार-विमर्श प्राप्त प्रस्तावो तक ही सीमित रखें। उन्हें किसी भी लेखक पर विचार करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वास्तव में प्रवर-परिषद् उनसे ये अपेक्षा करती है कि सम्बद्ध भाषा का कोई भी पुरस्कार योग्य साहित्यकार विचार परिधि से बाहर न रह जाय। किसी साहित्यकार पर विचार करते समय भाषा समिति को उसके सम्पूर्ण कृतित्व का

मूल्याकन तो करना ही होता है साथ ही सम-सामयिक भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि में भी उसको परखना होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाय कि नियमों के अनुसार जिस भाषा को एक बार पुरस्कार मिलता है उस पर अगले तीन वर्ष तक विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष १२ भाषाओं के साहित्यकारो पर ही विचार होता है। भाषा परामर्श समितियों की अनुशसा प्रवर-परिषद् के समक्ष जाती है। प्रवर-परिषद् में कम से कम ७ और अधिक से अधिक ११ सदस्य होते हैं। इन्ही में से एक सदस्य अध्यक्ष होता है। आरम्भ मे प्रवर-परिषद् का गठन भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी-मण्डल द्वारा किया गया था। किन्तु तदनन्तर रिक्तियो की पूर्ति प्रवर-परिषद् की सस्तुति पर ही हुई है और होती है। प्रवर-परिषद् की सदस्यता तीन वर्ष के लिए होती है किन्तु कोई भी सदस्य इस अवधि के बाद भी पुन मनोनीत किया जा सकता है। परिषद् के अध्यक्ष और सदस्य विशिष्ट और प्रख्यात विद्वान ही होते रहे हैं। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, भारत के प्रथम राष्ट्रपति और साहित्य-मर्मज्ञ डॉ राजेन्द्र प्रसाद प्रवर-परिषद् के पहले अध्यक्ष थे। वर्तमान अध्यक्ष हैं श्री पा वे नरसिंह राव जो देश के अग्रणी राजनेता होने के साथ-साथ एक सुपरिचित भाषाविद् और साहित्यकार भी हैं। पूर्व मे आचार्य कालेलकर, डॉ सम्पूर्णानन्द, डॉ बैजवाडा गोपाल रेड्डी, डॉ कर्णसिह, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ विनायक कृष्ण गोकाक, डॉ उमाशकर जोशी, डॉ नीहाररजन राय, डॉ रविकुमार दास गुप्ता, डॉ मसूद हुसैन, प्रो एम वी राजाध्यक्ष, डॉ आदित्य नाथ झा, श्री जगदीशचन्द्र माथुर सदृश विद्वान और साहित्यकार अध्यक्ष व सदस्य रहे हैं। प्रवर-परिषद् के सदस्यो की आरम्भ से अब तक की सूची अलग दी गयी है।

प्रवर-परिषद् भाषा परामर्श समितियो की सस्तुतियो का तुलनात्मक मूल्याकन करती है। इसके लिए जब आवश्यक होता है तो विचारार्थ लेखक का हिन्दी और अग्रेजी मे अनुवाद कराया जाता है। आवश्यकतानुसार विचारार्थ साहित्यकारो के तुलनात्मक अध्ययन प्रख्यात और विद्वान समालोचको से भी कराये जाते हैं। विचार करते समय किसी भी साहित्यकार के सम्पूर्ण कृतित्व को ध्यान मे रखते हुए विशेष रूप से यह देखा जाता है कि उसके साहित्य का भाषा के साहित्य पर और अन्य भाषाओ के साहित्य पर क्या प्रभाव पडा है। उसके साहित्य मे स्थायित्व का गुण भारी मात्रा में है या नहीं ? इन सुचिंतित पर्यालोचन के फलस्वरूप ही पुरस्कार के लिए किसी साहित्यकार का अन्तिम चयन होता है। यह स्पष्ट कर दिया जाय कि इस चयन का पूरा दायित्व प्रवर-परिषद् का है और भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी-मण्डल का इसमें कोई हाथ नही होता। इस कष्टसाध्य प्रक्रिया की निष्पक्षता को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है और चयन के विरुद्ध कभी कोई उल्लेखनीय विवाद नही खडा हुआ।

जैसा पहले कहा गया है कि आरम्भ मे यह पुरस्कार किसी एक कृति पर दिया जाता था। यह व्यवस्था सत्रहवे पुरस्कार तक चली। उसके बाद काफी विचार-विनिमय के बाद यह प्रावधान किया गया कि पुरस्कार किसी कृति विशेष

पर न देकर लेखक के सम्पूर्ण कृतित्व पर दिया जायेगा। कुछ वर्ष ऐसा ही किया गया पर इसमे भी कुछ कठिनाइयाँ सामने आयीं। अत तेईसवें पुरस्कार से नियम मे फिर सशोधन किया गया। अब यही नियम चल रहा है। इसके अन्तर्गत जिस वर्ष का पुरस्कार विचारणीय होता है उसके पहले के ५ वर्षों को छोडकर (उदाहरण के लिए यदि पुरस्कार वर्ष १९९० का है तो उसके पहले के ५ वर्ष--१९८५-८९ को छोडकर) लेखक के पिछले १५ वर्षों के लेखन पर विचार किया जाता है।

भाषा की अनेकरूपता और विविध भाषा के साहित्य में प्रतिबिम्बित सास्कृतिक वैविध्य के नाना रूपों के बावजूद भारतीय साहित्य में अनेक ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो उसकी एकता को बद्धमूल करते हैं। आदिकाल से ही भारतीय साहित्य न केवल परम्पराओ का वाहक रहा है, प्रत्युत विरोध का सार्थक स्वर व क्रान्ति का माध्यम भी बना रहा है। विभिन्न भाषाओ मे फैले हुए इस साहित्य में से प्रति वर्ष सर्वोत्कृष्ट कृति साहित्यकार की खोज करके इस पुरस्कार ने एक राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति की है और यह राष्ट्रीय एकता का एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान बन गया है। पुरस्कार की घोषणा करते समय श्रीमती रमा जैन ने कहा था "प्रत्यक्ष ही यह कार्य अत्यन्त कठिन है पर कठिनाइयाँ अलघ्य नहीं हैं। राष्ट्रीय महत्त्व का यह कार्य सम्पन्न करना ही है। फिर इसमें जितना भी श्रम पडे और जो भी व्यय हो।" असख्य साहित्यकारो के हार्दिक सहयोग से भारतीय ज्ञानपीठ ने इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है।

प्रथम पुरस्कार १९६५ मे समर्पित किया गया था। तब से अब तक २५ वर्ष की अवधि में २७ साहित्यकार पुरस्कृत हो चुके हैं। दो बार दो-दो साहित्यकार सयुक्त रूप से पुरस्कृत हुए हैं। यह पुरस्कार अब तक हिन्दी और कन्नड को चार-चार बार, बाग्ला और मलयालम को तीन-तीन बार, गुजराती, मराठी, उडिया, तेलुगु और उर्दू को दो बार और असमिया, पजाबी और तमिल को एक-एक बार प्राप्त हुआ है।

अध्यक्ष व सदस्य प्रवर परिषद्

१ डॉ सम्पूर्णानन्द
२ आचार्य काकासाहेब कालेलकर
३ डॉ निहाररजन रे
४ डॉ बी गोपाला रेड्डी
५ डॉ कर्ण सिंह
६ डॉ हरे कृष्ण मेहताब
७ डॉ रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर
८ डॉ वी राघवन
९ डॉ के जी सैययुद्दीन
१० डॉ जी शकर कुरूप
११ डॉ आदिनाथ झा
१२ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
१३ डॉ उमाशकर जोशी
१४ डॉ वी के गोकाक
१५ श्री जगदीशचन्द्र माथुर
१६ डॉ देवी प्रसन्ना पटनायक
१७ प्रो मगेश विट्ठल राजाध्यक्ष
१८ डॉ एम वरद्राजन्
१९ श्री बालाकृष्ण राव
२० प्रो जियालाल कौल
२१ डॉ श्री आर के दासगुप्ता
२२ डॉ मसूद हुसैन
२३ डॉ महेश्वर नियोग
२४ डॉ नारायण मेनन
२५ डॉ देवेन्द्र नाथ शर्मा
२६ डॉ सीताकात महापात्र
२७ प्रो ए एम रावल
२८ प्रो गुरबचन सिंह तालिब
२९ श्री के वी जगन्नाथ
३० श्री पी वी नरसिंहराव
३१ श्री गुलाबदास ब्रोकर
३२ श्री हयातुल्ला असारी
३३ डॉ एच एम नायक
३४ प्रो बी आई सुब्रह्मण्यम्
३५ प्रो शिशिर कुमार दास
३६ डॉ (श्रीमती) विजया राजाध्यक्ष
३७ प्रो जी एन रेड्डी
३८ प्रो श्यामाचरण दुबे
३९ डॉ विद्यानिवास मिश्र
४० डॉ नवनीता देव सेन
४१ डॉ बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य
४२ डॉ के एम जॉर्ज
४३ डॉ प्रभाकर माचवे

सदस्य भाषा परामर्श समिति

असमिया

१ डॉ प्रफुल्लदत्त गोस्वामी
२ श्री डिम्बेश्वर नियोग
३ श्री हेम बरुआ
४ डॉ महेश्वर नियोग
५ डॉ एस एन शर्मा
६ श्री देवकान्त बरुआ
७ प्रो अतुलचन्द्र हजारिका
८ डॉ बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य
९ प्रो जोगेश दास
१० प्रो नन्दा तालुकदार
११ श्री यु एल बरुआ
१२ श्री होमेन बरगोहाई
१३ डॉ हीरेन्द्र नाथ गोहाई
१४ प्रो नवकान्त बरुआ
१५ डॉ नगेन साइकिया
१६ डॉ महेन्द्र बोरा

बगला

१ डॉ सुकुमार सेन
२ डॉ अमलेन्दु बोस
३ डॉ आर के दासगुप्ता
४ डॉ प्रतुलचन्द्र गुप्ता
५ श्री क्षितिज राय
६ डॉ आलोकरजन दासगुप्ता
७ श्री सुभाष मुखोपाध्याय
८ डॉ नवनीता देव सेन
९ डॉ असित कुमार बैनर्जी
१० डॉ भूदेव चौधरी
११ डॉ पवित्र सरकार
१२ प्रो नरेश गुहा
१३ प्रो अश्रु कुमार सिकदार

गुजराती

१ डॉ डी आर माकड
२ श्री आर पी बक्षी
३ प्रो ए एम रावल
४ श्री वाई पी शुक्ला
५ डॉ सुरेश जोशी
६ श्री गुलाबदास ब्रोकर
७ प्रो सिताशु यशस्चन्द्र
८ डॉ जयन्त पाठक
९ प्रो हसित बुच
१० श्री सी ए टोपीवाला
११ डॉ दिगिश मेहता
१२ प्रो जयन्त कोठारी
१३ डॉ रमनलाल जोशी
१४ डॉ सुरेश दलाल
१५ डॉ चन्द्रकात मेहता

हिन्दी

१ डॉ नगेन्द्र
२ श्री सी बालकृष्ण राव
३ डॉ एन के देवराज
४ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
५ श्री लक्ष्मीनारायण सुधाशु
६ डॉ जगदीशचन्द्र माथुर

७ डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
८ डॉ देवेन्द्र नाथ शर्मा
९ डॉ कुमार विमल
१० डॉ अशोक बाजपेयी
११ डॉ विद्यानिवास मिश्र
१२ डॉ रघुवश
१३ प्रो कल्याणमल लोढा
१४ डॉ विजयेन्द्र स्नातक
१५ डॉ जगदीश गुप्त
१६ श्री विष्णु प्रभाकर
१७ डॉ प्रेम शकर
१८ डॉ एन ई विश्वनाथ अय्यर

कन्नड

१ डॉ वी के गोकाक
२ प्रो वी सीतारमैया
३ प्रो एस एस मालवाड
४ डॉ आर एस मुगाली
५ डॉ आर सी हीरेमठ
६ डॉ एस एल भैरप्पा
७ प्रो डी जावडे गौड
८ प्रो एल एल शेषगिरि राव
९ डॉ एच एम नायक
१० डॉ शान्तिनाथ के देसाई
११ डॉ एस आर मोकाशी पुणेकर
१२ डॉ एस के हवानुर

कश्मीरी

१ प्रो जियालाल कौल
२ प्रो ए रहमान राही
३ श्री रसा जाविदानी
४ प्रो पी एन पुष्प
५ प्रो गुलाब नबी फिराक
६ प्रो मोहीद्दीन हजिनी
७ प्रिंसिपल एस एल साधु
८ श्री अख्तर मोहिउद्दीन
९ डॉ एच यु हमीदी

मलयालम

१ श्री एन वी कृष्णवारियर
२ श्री सुरनाड कुजन पिल्लै
३ डॉ एस के नायर
४ श्री पी गोविन्द मेनन
५ डॉ पी के नारायण पिल्लै
६ डॉ के एम जॉर्ज
७ श्रीमती एन बालमणि अम्मा
८ श्री एम गोविन्दन्
९ डॉ वेल्लायणि अर्जुनन्
१० प्रो ओ एन वी कुरूप
११ श्री पी गोविन्द पिल्लै
१२ डॉ जॉर्ज इरमवायम
१३ डॉ एम एम बशीर

मराठी

१ डॉ प्रभाकर माचवे
२ डॉ डब्लू एल कुलकर्णी
३ प्रो मगेश विट्ठल राजाध्यक्ष
४ प्रो अनन्त कानेकर
५ प्रो डी के बेडेकर
६ डॉ वी बी कोलते
७ प्रो एम बी अचवल
८ डॉ वाई डी फडके
९ डॉ ए आर केलकर
१० श्री मगेश पाडगॉवकर
११ श्री केश्जी पुरोहित
१२ डॉ प्रहलाद वडेर
१३ प्रो वी वी बापट
१४ प्रो गगाधर गाडगिल
१५ प्रिंसिपल पी एल गाडगिल
१६ डॉ एम डी हत्कागलेकर
१७ डॉ (श्रीमती) सरोजिनी वैद्य

उडिया

१ डॉ देवीप्रसन्न पट्टनायक
२ डॉ प्राणकृष्ण पारीजा

३ श्री राधानाथ रथ
४ प्रो पी प्रधान
५ डॉ कुजबिहारी दास
६ डॉ के बी त्रिपाठी
७ प्रो जे एम महान्ती
८ डॉ नरेन्द्रनाथ मिश्र
९ श्रीमती पद्मालया दास
१० श्री नीलमणि मिश्रा
११ डॉ सीताकात महापात्र
१२ डॉ के सी साहु
१३ डॉ के सी मिश्र
१४ डॉ खगेश्वर महापात्र
१५ श्री मनोज दास
१६ प्रो दासरथी दास
१७ प्रो बी सी आचार्य
१८ डॉ जे पी दास

पजाबी

१ डॉ गोपाल सिह
२ श्री गोपाल दास खोसला
३ प्रो कपूर सिह
४ डॉ अत्तर सिह
५ डॉ भाई जोधसिह
६ डॉ हरिभजन सिह
७ प्रो प्रीतम सिह
८ प्रो सत सिह शेखों
९ प्रो गुरबचन सिह तालिब
१० श्री करतार सिह तालिब
११ प्रो अमरीक सिह
१२ प्रो हरवश सिह
१३ प्रो दलीप कौर तिवाना

सस्कृत

१ डॉ बाबूराम सक्सेना
२ श्री एम एम राजेश्वर शास्त्री
३ श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी
४ डॉ मगलदेव शास्त्री
५ डॉ आर एन दाण्डेकर
६ डॉ क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय
७ डॉ गौरीनाथ शास्त्री
८ डॉ टी जी मायणकर
९ डॉ विश्वनाथ बैनर्जी
१० डॉ सत्यव्रत शास्त्री
११ डॉ जी के भट्ट
१२ डॉ के कृष्णामूर्ति
१३ डॉ रामजी उपाध्याय
१४ डॉ बी आर शास्त्री
१५ डॉ सी आर स्वामीनाथन्
१६ डॉ जगन्नाथ पाठक

सिन्धी

१ श्री जयरामदास दौलतराम
२ प्रो एन आर मलकानी
३ प्रो के बी आडवाणी
४ प्रो राम पजवाणी
५ प्रो डी के मशारमाणी
६ प्रो एल पी हर्दवाणी
७ प्रो एल एम खुबचन्दाणी
८ डॉ मोतीलाल जोतवाणी
९ डॉ एम के जेतली
१० प्रो हीरो सेवकानी

तमिल

१ प्रो टी पी मीनाक्षी सुन्दरम्
२ श्री एम पी पेरियास्वामी तूरन
३ श्री सॉ गणेशन
४ जस्टिस एस महाराजन्
५ श्री एम के दशरथन्
६ प्रो ए एस राघवन
७ डॉ एम वरदराजन्
८ श्री के वी जगन्नाथन्
९ श्री ना पार्थसारथी
१० डॉ के मीनाक्षी सुन्दरम्
११ श्री जस्टिस एम अनन्त नारायणम्

१२ डॉ एम रामालिंगम्
१३ श्री एस नल्लपेरुमाल
१४ डॉ के ए मानवालन्
१५ डॉ आर एम पेरियाकरुप्पन
१६ श्री नील पदमनाभन्

तेलुगु

१ प्रो के लक्ष्मीरजनम्
२ श्री अनन्त कृष्ण शर्मा
३ श्री पी वी राजामन्नार
४ श्री एस एस स्वामी
५ श्री तापि धर्मराव
६ डॉ ए रामाकृष्ण राव
७ डॉ बी एम राजू
८ डॉ डी वेंकटावधानी
९ डॉ सी आर शर्मा
१० प्रो के वीरभद्रराव
११ डॉ सी नारायण रेड्डी
१२ डॉ सी नरसिंह शास्त्री
१३ डॉ पी एस अप्पाराव
१४ डॉ एन कृष्णाकुमारी
१५ डॉ डी आजनेयुलु

उर्दू

१ डॉ मसूद हुसैन
२ श्री काजी अब्दुल वदूद
३ श्री आनन्द नारायण मुल्ला
४ प्रो एहतिशाम हुसैन
५ डॉ के ए फारुकी
६ डॉ मोहम्मद हसन
७ डॉ ज्ञानचन्द जैन
८ डॉ आले अहमद सुरुर
९ डॉ गोपीचन्द नारग
१० श्री एस आर फारुकी
११ प्रो सुरैया हुसैन
१२ प्रो असलूब अहमद असारी
१३ प्रो सुलेमान अतहर जावेद
१४ डॉ सादिक अली
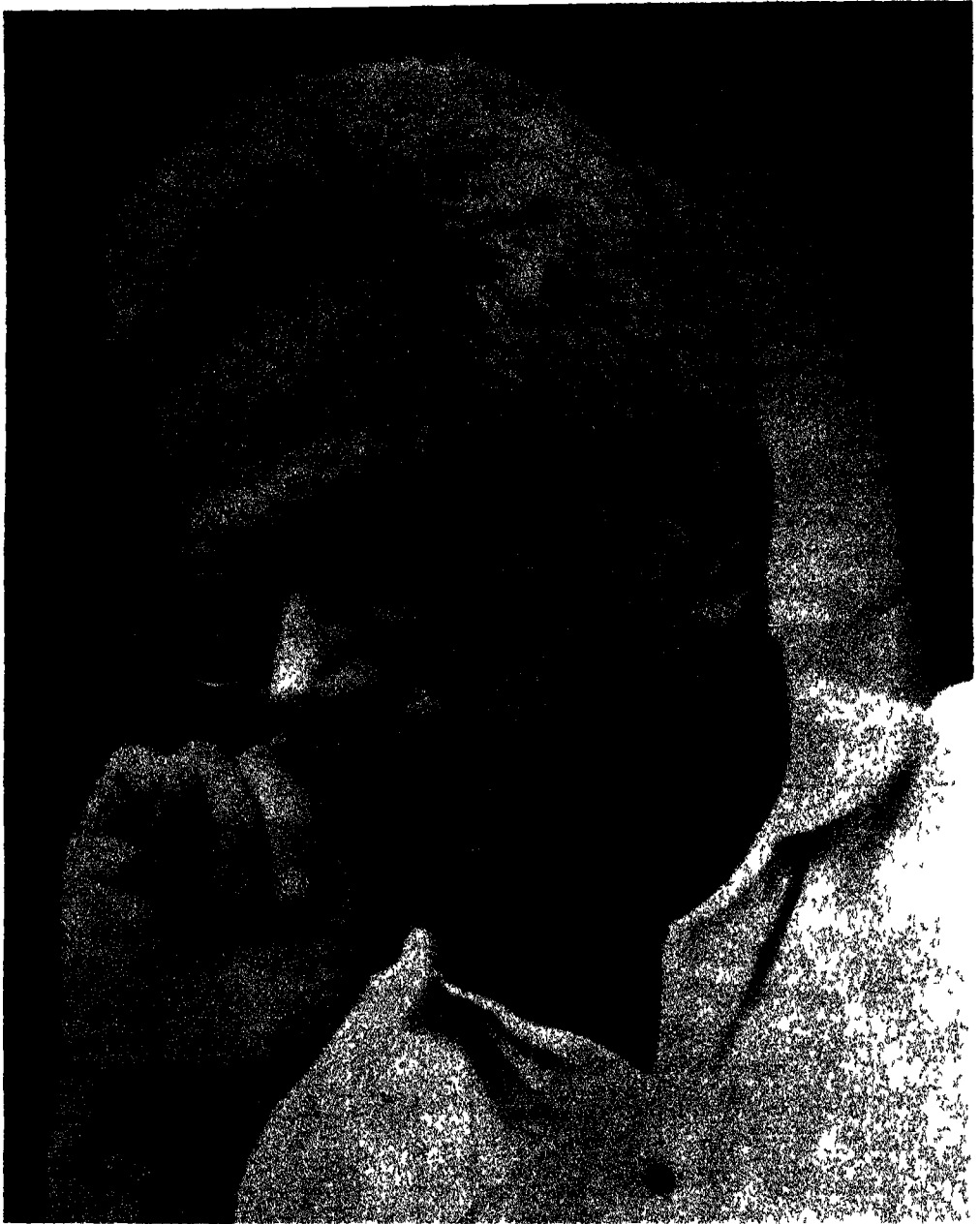
जी· शंकर कुरुप

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित एक लाख रुपये राशि का यह साहित्यिक पुरस्कार श्री जी शकर कुरुप को उनके मलयालम काव्य-सग्रह 'ओटक्कुषल्' के लिए समर्पित है, जिसे पुरस्कार-विधान के अन्तर्गत गठित प्रवर परिषद् ने सन् १९२० से १९५८ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया है

'ओटक्कुषल्' का वरण यद्यपि सन् १९६५ के लिए हुआ है, किन्तु इसका प्रकाशन-वर्ष १९५० है। इस दृष्टि से यह कृति कवि के न केवल १९५० तक के सर्वश्रेष्ठ कृतित्व का प्रतिनिधित्व करती है, अपितु उनके अगले १५ वर्षों तक के अधिक समर्थ कृतित्व का पूर्व परिचय देती है। 'ओटक्कुषल्' की कविताओं मे भारतीय अद्वैत भावना का साक्ष्य है जिसे कवि ने परम्परागत रहस्यवादी मान्यता के अगीकरण द्वारा नही, प्रकृति के नानारूपो में प्रतिबिम्बित आत्म-छवि की वास्तविक अनुभूति द्वारा प्राप्त किया है। चराचर के साथ तादात्म्य भाव की इस प्रतीति के कारण कवि कुरुप के, रूमानी गीति-काव्य मे भी एक आध्यात्मिक और नैतिक उदात्त स्वर है।
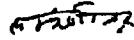
कवि की काव्य-चेतना ने ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक युगबोध के प्रति सजग भाव रखा है और उत्तरोत्तर विकास पाया है। इस विकास-यात्रा में प्रकृति-प्रेम का स्थान यथार्थ ने, समाजवादी राष्ट्रीय चेतना का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय मानवता ने लिया और इस सबकी परिणति आध्यात्मिक विश्वचेतना मे हुई जहाँ मानव विराट विश्व की समष्टि से एकतान है जहाँ मृत्यु भी विकास का चरण होने के कारण वरेण्य है।

कुरुप बिम्बो और प्रतीको के कवि हैं। उन्होने परम्परागत छन्द-विधान और सस्कृत-निष्ठ भाषा को अपनाया, परिमार्जित किया और अपने चिन्तन तथा काव्य प्रतिबिम्बों के अनुरूप उन्हे अभिव्यक्ति की नयी सामर्थ्य से पुष्ट किया। इसीलिए कवि का कृतित्व कथ्य मे भी और शैली-शिल्प मे भी मलयालम साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि के रूप मे ही नही, भारतीय साहित्य की एक उपलब्धि के रूप मे भी सहज ग्राह्य है।

कवि दीर्घजीवी हों। शुभ भूयात्–

दिनांक
१९ नवम्बर, १९६६

अध्यक्ष प्रवर परिषद्

अध्यक्ष भारतीय ज्ञानपीठ

जी· शंकर कुरुप

मध्य केरल के जिस अचल को आचार्य शकर ने जन्म लेकर धन्य किया वही नायत्तोट नाम का एक गाँव है। छोटा-सा गाँव है पर सदानीरा पेरियार किनारा छूती बहती है, हरे-हरे खुले मैदान और धान के खेत ओर-छोर फैले हैं, और नारियलो के झुरमुट मुक्त वायु मे मुक्त भाव से झूमा करते हैं। सामने क्षितिज के रगो को अपनी रेखाएँ देती सुहानी पहाड़ियो की पाँत है और गाँव की अँगनाई मे सवेरे-साँझ शख-नाद से गूँजता एक पुराना देवालय जहाँ पीठिका पर विष्णु और महेश दोनों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं।

नायत्तोट गाँव के इसी वातावरण में एक सरल और सहज-जीवी छोटे-से परिवार मे ५ जून, १९०१ को कवि जी शकर कुरुप का जन्म हुआ। पिता का नाम शकर वारियर था, माता का लक्ष्मीकुट्टी अम्मा। बचपन मे ही पिता की आशीष-छाया सिर से उठ गयी थी। सारी देख-रेख और शिक्षा आदि का दायित्व-भार तब मातुल गोविन्द कुरुप पर आया। कवि जी शकर कुरुप के नाम का 'जी' मातुल के ही नाम का प्रथमाक्षर है और परिवार में वश-परम्परा मातृकुल से चलने की प्रथा होने के कारण कुलनाम भी 'कुरुप' हुआ। कवि जी सब तीन भाई हैं और एक बहन।

मातुल गोविन्द कुरुप प्रख्यात ज्योतिषी थे और पुरानी परिपाटी के सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित। धन-सम्पदा के नाम उनके पास अपनी विद्वत्ता थी और एक उदार सौम्यता। बालक शकर कुरुप के लिए उन्होने प्रारम्भ से ही चाहा कि वह जल्दी से जल्दी किसी योग्य हो जाय। इसी विचार से उन्होने तीन वर्ष की आयु से ही उसे प्रारम्भिक पद्धति के अनुसार स्वय सस्कृत का ज्ञान कराना शुरू कर दिया। कवि जी आठ वर्ष के हुए तब 'अमरकोश' और सस्कृत व्याकरण 'सिद्धरूपम्' ही नही, छन्दशास्त्र 'श्री रामोदन्तम्' और 'रघुवश' के कितने ही श्लोक तक कण्ठस्थ कर चुके थे।

सयोग से उन्हीं दिनों नायत्तोट में एक प्राथमिक पाठशाला की स्थापना हुई। बालक कुरुप को वहाँ दूसरे वर्ग मे भर्ती करा दिया गया। मातुल का शिक्षण घर पर चलता, तो भी अब हर क्षण के उनके कठोर अनुशासन और सस्कृत छन्द और व्याकरण को ही कण्ठस्थ करने की विवशता मे एक ढील आ गयी थी। उसके भीतर जो प्रकृति की सौ-सौ दृश्य-छवियों को देखकर आप-से-आप एक अरूप और विचित्र-सा आलोडन होता उसका अब

उसे ज्ञान होने लगा। दो घटनाएँ भी इस काल मे घटीं जो सामान्य थीं पर कवि जी शकर कुरुप की काव्य-चेतना के प्रथम अकुर फूटने मे उनका परोक्ष रूप से योगदान हुआ। एक थी उस युग के वरिष्ठ मलयालम कवि कुजीकुट्टन तुम्पुरान का नायत्तोट आना, और दूसरी थी नौका से तोट्टुवाय देवालय जाते हुए उगते सूर्य के प्रथम स्पर्श से लाजारुण लहरियों के अस्त-व्यस्त नर्तन का दर्शन।

बालक शकर कुरुप इस दृश्य को देखकर विमोहित हुआ छटपटाता-सा रह गया था। कुछ दिन बाद कक्षा में बैठे-बैठे अकस्मात् उसे मूर्च्छा आयी और एक सहपाठी कन्धे पर डालकर घर लाया। मित्र के प्रति कृतज्ञता मे कुछ पक्तियाँ उसने लिखीं कवि जी शकर कुरुप की यही पहली रचना थी ! माता गर्व किया करती थी कि उसका बेटा आठवे महीने मे पाँव चला , अब मातुल गद्गद हुए सबको बताते कि उनका भागिनेय नवे वर्ष मे काव्य-रचना करने लगा ! किन्तु सामने बडी समस्या आगे पढने की थी। गाँव की उस प्राथमिक पाठशाला मे प्रबन्ध तीसरे वर्ग तक ही था, और कही और भेजने की सुविधा करना सरल न था। एक दिन पूजा करने माता देवालय पहुँची तो देखा कि प्रतिमा के आगे आँखें मूँदे बालक शकर बैठा है और आँसू ढर रहे हैं। माता ने आश्वासन दिया और फिर किसी प्रकार व्यवस्था करके उसे सात मील दूर स्थित पेरुम्पावूर के मलयालम मिडिल स्कूल भेजा गया।

पेरुम्पावूर मे हॉस्टल के जीवन मे एक मुक्त वातावरण तो मिला ही, कवि शकर की अस्फुट प्रतिभा के चेत उठने में विशेष प्रेरक-सहायक वहाँ का घना फैला वन हुआ जहाँ लता-कुजो से घिरा भगवती वनदेवी का एक अर्द्धभग्न मन्दिर था और नाना पक्षियों का कलरव-कूजन अजस्र चलता। प्रकृति की उस उन्मुक्त शोभा-राशि से विद्ध हुए शकर घण्टो-घण्टों वहाँ रहते और प्राय ही सस्कृत छन्दो में फुटकर श्लोकों की रचना करते। सातवीं कक्षा के बाद वह मूवाट्टुपुपा मलयालम हाई स्कूल आये। यहाँ दो वर्ष रहे, पर ये दो वर्ष उनके निर्माण-विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और एक प्रकार से दिशा-निर्णायक हुए। विशेष हाथ इसमें उनके दो अध्यापको का था श्री आर सी शर्मा और श्री एम एन नायर।

श्री शर्मा सस्कृत के अध्यापक थे। अपने इस विद्यार्थी की सहज काव्य-प्रतिभा को उन्होने पहचाना और सस्कृत का अधिकाधिक ज्ञान कराते हुए उसे 'रघुवश' और छन्दशास्त्र की गहराइयो तक ले गये। साथ ही बाग्ला साहित्य की ओर भी उन्होने उसे प्रवृत्त किया और 'गीताजलि' का मलयालम अनुवाद करने में उसके प्रेरक और सहायक हुए। श्री नायर ने, दूसरी ओर, इस तरुण कवि की चेतना को युगीन भाव-बोधो से आलोकित किया। समाजवाद यथार्थ मे क्या है और किस रूप मे व्यावहारिक जीवन का इसे अग बनाया जाये, इसकी दृष्टि कवि कुरुप को सर्वप्रथम श्री नायर ने ही दी। कुरुप अब कैशोर्य पार कर रहे थे। आगे और कैसे पढे यह समस्या कठिनतर रूप मे सामने थी। श्री शर्मा और श्री नायर के प्रोत्साहन पर उन्होने कोचीन राज्य की 'पण्डित' परीक्षा पास करके अध्यापन की योग्यता प्राप्त की।

दो वर्ष शकर कुरुप यहाँ-वहाँ अध्यापन करते रहे। उनके कविता-सग्रह 'साहित्य कौतुकम्' के प्रथम भाग की कुछ कविताएँ इसी काल की हैं। पर उनके जीवन का यह काल कुछ इस प्रकार का ही है जैसा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचने तक किसी छोटी-सी जलधारा का इधर-उधर भटकने और राह पाने का होता है। अपना अभीष्ट उन्हें प्राप्त हुआ जब तिरुविल्वामला हाई स्कूल में वह अध्यापक हुए। नायत्तोट से और माता और मातुल के वात्सल्यपूर्ण परिवेश से तिरुविल्वामला ५० मील दूर था। उस युग मे इतनी दूरी बहुत होती थी। घर के पास एक और स्कूल मे अच्छे वेतन का एक स्थान मिलता भी था। किन्तु शकर कुरुप तिरुविल्वामला ही गये। वहाँ भरपूर प्राकृतिक वैभव था और साथ ही अग्रेजी भाषा और साहित्य से परिचित होने की

सुविधाएँ थीं।

शकर अब इक्कीसवें वर्ष में थे। अपनी दृष्टि और भावनाओ के आगे विकास के लिए अपेक्षित प्रकाश उन्हे अब प्रचुर मात्रा में यहाँ मिला। एक स्थल पर उन्होने माना है कि "टैगोर और उमर खैयाम के अतिरिक्त अनेक-अनेक अँग्रेजी कवियो और समालोचको के पास सविनय पहुँचने का मार्ग इस तरह मेरे सामने न खुलता तो 'साहित्य कौतुकम्' की सीमा से कदाचित् मैं आगे न बढ पाता। यह नया मार्ग मुझे सस्कृति की खान की ओर ले गया। मेरे कल्पना-क्षितिज को विस्तृत तथा आदर्श-बोध को विकसित करने मे टैगोर का जितना हाथ था उतना शायद ही किसी ओर का रहा हो। उमर खैयाम और हाफिज आदि फारसी कवियों से परिचय होने पर मुझे लगा कि उनकी कविता मे कल्पना के परिमार्जन पर नही, प्रतिपादन की रीति पर विशेष ध्यान दिया गया है। अँग्रेजी साहित्य मुझे गीति के आलोक की ओर ले गया।"

यह काल प्रथम महायुद्ध के तत्काल बाद का था। मलयालम साहित्य जगत् अपनी तीन विशिष्ट काव्य-प्रतिभाओ के अवदान से प्रकाशित और प्रभावित था कुमारन् आशान्, वल्लतोल नारायण मेर्नन, और उल्लूर परमेश्वर अय्यर। कुमारन् आशान् ने नये काव्य-क्षितिजो का उद्घाटन किया। वल्लतोल भाषा और शब्द-शक्ति के कुशल प्रयोक्ता थे, उन्होने नयी सवेदनाएँ जगाते हुए काव्य मे गाँधीवादी विचारधारा सचारित की, और उल्लूर मे क्लैसिक भावना सदा प्रधान रही, मलयालम काव्य को उनसे गीतो का वैभव प्राप्त हुआ। जी॰ शकर कुरुप को इन तीनो की भाव-सरिताओ मे अवगाहन करने का अवसर मिला। पर तीनो मे अधिक प्रभाव उन दिनों वल्लतोल का ही उन पर आया।

अपनी जो पहली कविता इन्होंने उनके पास भेजी उसे 'आत्मपोषिणी' मासिक मे प्रकाशित किया गया। कवि कुरुप ने इस सन्दर्भ मे लिखा है, "इस रचना को पढकर महाकवि ने बडे प्रेम के साथ एक पत्र लिखा और मुझसे शब्दालकार की तडक-भडक से दूर रहने को कहा। मेरी दूसरी रचना को पढकर उन्होने रचना तथा पदचयन सम्बन्धी कई विशेष बाते समझायी। मेरी तीसरी रचना 'घन-मेघ की पाटी पर इन्द्रधनु की रेखा खींचने वाली प्रकृति बाला' को पढकर महाकवि ने अभिनन्दन का पत्र भेजा। उससे मेरा साहस बढा।"

चार वर्ष, १९२१ से १९२५ तक, श्री शकर कुरुप तिरुविल्वामला रहे। प्रकृति के प्रति प्रारम्भ मे जो एक मुग्धकर सहज आकर्षण भाव था वह इन चार वर्षों मे अनन्य उपासक की भावना का रूप ले चला था। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया कि "प्रकृति के प्रति मेरा विशेष आकर्षण, उसके साथ मेरा निकट सम्बन्ध, उसके साथ एकाकार हो जाने की अनुभूति, और प्रकृति से परे रहने वाली चेतना-शक्ति का उसके द्वारा प्राप्त होता आभास, इन सबकी पूँजी के बल पर ही साहित्य-लोक मे प्रवेश करने तथा उसके एक कोने मे घर करने मे मैं समर्थ हुआ हूँ।"

तिरुविल्वामला से श्री कुरुप १९२५ मे चालाकुटि हाई स्कूल आ गये। इसी वर्ष 'साहित्य कौतुकम्' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। कवि अपने पच्चीसवे वर्ष मे था और उसकी काव्य-रचना मलयालम भाषाचल मे व्यापक मान और ख्याति पा चली थी। १९३१ मे 'नाले' (आगामीकल) शीर्षक कविता के प्रकाशन ने वहाँ साहित्य जगत् मे एक हलचल-सी मचा दी थी। बहुतो ने उसे राजद्रोहात्मक तक कहा, और उसे लेकर महाराजा कॉलेज एर्णाकुलम् मे उनके प्राध्यापक पद पर नियुक्ति मे भी एक बार को बाधा आयी। १९३७ से १९५६ मे सेवानिवृत्त होने तक इस कॉलेज में वह मलयालम के प्राध्यापक रहे। अपने मे यह एक असामान्य बात थी कि कोई व्यक्ति स्नातक भी न हो और कॉलेज में प्राध्यापक पद पर कार्य करे। वास्तव मे यह उनकी सर्व-विदित सक्षमता के प्रति सबके विश्वास भाव का द्योतक था।

प्राध्यापकी से अवकाश प्राप्त कर लेने के

उपरान्त वह आकाशवाणी के त्रिवेन्द्रम् केन्द में 'प्रोड्यूसर' रहे , फिर आकाशवाणी के सलाहकार निर्वाचित हुए। केरल साहित्य परिषद् के सचालन में उनका सक्रिय योगदान रहा , वे कई वर्षों तक इसके अध्यक्ष थे। कवि कुरुप ने अपने अध्यवसाय से अँगरेजी सीखी और बाम्ला तथा हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया। भाषा पर उनका अप्रतिम अधिकार साहित्य-रचना के क्षेत्र में ही नहीं उजागर हुआ, वे प्रभावशाली वक्ता भी थे।

क्या स्थान है आधुनिक मलयालम साहित्य में कवि श्री जी शकर कुरुप का, कितना आदर है उनका अपने साहित्यिक समकालीनों मे, कैसी हार्दिक सम्मान भावना है नयी पीढी के मन में उनके प्रति, और कितने अधिक वह लोकप्रिय हैं—इस सबका प्रकट आभास साहित्य जगत् को १९६० के जून मास में मिला जब उनका षष्ठिपूर्ति उत्सव मनाया गया और अपनी-अपनी भावाजलि सबने अर्पित की। साहित्य अकादमी ने भी उनकी काव्यकृति 'विश्वदर्शनम्' पर उन्हे पुरस्कार-सम्मान प्रदान किया।

अभिनन्दित काव्यकृति 'ओटक्कुषल' का प्रथम सस्करण १९५० मे प्रकाशित हुआ था। इन कविताओं के माध्यम से कवि के विभिन्न रूप-भावो का परिचय मिलता है। कवि प्रकृति और उसकी शिव-सुन्दर रहस्यमयता की अनुभूति मे, प्रकृति के कण-कण और क्षण-क्षण की मुग्धकर-मादक सौन्दर्य-छवि मे परा-चेतनशक्ति का आभास प्राप्त करता है। उसे जैसे साक्षात् प्रतीति होती है कि विराट् प्रकृति और वह स्वय एक अनादि और अनन्त चैतन्य के अश हैं। 'ओटक्कुषल' मे कवि की इस भावाकुल ज्ञानावस्था को व्यक्त करने वाली चुनी-चुनी अनेक कविताएँ सग्रहीत हैं।

उसकी कई उत्कृष्ट प्रेम-कविताएँ भी इसमे आयी हैं। किन्तु यह प्रेम भी नर-नारी का नहीं, पति-पत्नी का भी नहीं, प्रकृति और निखिल ब्रह्म-चेतना का है जिसका यह सम्पूर्ण सृष्टिचक्र प्रतिफलन है, परिणाम है। ऊपर-ऊपर से देखने पर इन कविताओं में सहज भावनाओं की सरल अभिव्यक्ति मात्र दिखायी पडेगी, पर जिज्ञासु भाव से भाषा की परतें उघारें तो शब्द प्रतीक बन उठते हैं और इस 'नेचर मिस्टिक' के उसी भावुक ज्ञान-बोध की मधुर मोहक रश्मियाँ स्फुटित होती मिलती हैं। सग्रह में कुछ काव्य-कथाएँ भी सकलित हुई हैं और कई अत्यन्त शक्तिशाली ऐसी कविताएँ भी जो कवि की देश और राष्ट्रीयता के प्रति गहरी भावनाओं की द्योतक हैं। किन्तु ऊपर से विषय कुछ भी हो, कवि का मूल स्वर घूम-फिरकर सब कहीं वही आ जाता है प्रकृति के शिव-सुन्दर स्वरूप के साथ आनन्दमय एकाकारता की भावानुभूति और उस अनुभूति की अवस्था में चरम सत्य के आभास का बोध-दर्शन।

अपने काव्य की विकास-यात्रा, काव्य के मूल तत्त्वो और आदर्शों के प्रति अपनी दृष्टि को स्वय कवि ने इस प्रकार अकित किया है —

"प्रकृति-प्रेम और राष्ट्र-गौरव, प्रारम्भ में ये ही तत्त्व मेरी कविता के जीवतन्तु बने हुए थे। सान्ध्यनक्षत्र जब हँसने लगता तब मेरा हृदय भी हँसता था, इससे मुझे अनुभव हुआ कि मुझमें और उस नक्षत्र में एक ही चेतना-शक्ति विद्यमान है। इस अनुभूति से मुझे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन करने की क्षमता 'सान्ध्यनक्षत्र' से 'अन्तर्दाह' और 'विश्वदर्शन' तक पहुँचने पर भी मेरी भाषा में नहीं है। तरग-ताडित नदी में सवेदनाओ की उथल-पुथल मचाने वाले मेरे हृदय का आभास देख पाना, 'सूर्यकान्ति' के कम्पित अधरो में मेरे भाव-तरल अधरो को देख सकना, अरुणोदय की प्रतीक्षा मे तपस्या करने वाले मेरे जीवन को देख सकना—मेरे लिए परमानन्द का कारण है।"

"मेरे लिए मेरी सभी कविताएँ मेरे आत्म-विकास का प्रतिबिम्ब हैं। 'सूर्यकान्ति' मेरे स्मशान का फूल नही, वरन् तारुण्य के शिखर पर मधुर सवेदनाओं से प्रेरित होकर खिला हुआ मेरा ही हृदय है। उसके बाद मैं वहाँ से भी ऊपर उठ गया हूँ। मेरी आँखो ने नये दृश्य देखे हैं, कानों ने नयी

ध्वनियाँ सुनी हैं। मेरे हृदय ने अपनी व्यक्तिगत परिधि को पार कर विश्वमात्र के जन-जीवन के साथ एकाकार होने की चेष्टा की है। हो सकता है, 'सूर्यकान्ति' के बाद की मेरी कविताओं में आध्यात्मिक या लौकिक प्रेम-स्वप्नों का उन्माद न छलकता हो। किन्तु मैं दावा करता हूँ कि उन कविताओं में एक अधीर हृदय का स्पन्दन है, जो मनुष्य की महत्ता में गर्व करता है, जिसमें सुन्दर भविष्य के स्वप्नों का उत्साह है, जो मनुष्यता का मूल्य गिरता देखकर दुखित है और जो सौन्दर्य-बोध का मनुष्य-जीवन के लिए मृत-सजीवनी मन्त्र समझता है।"

"मेरे लिए कविता आत्मा का प्रकाश मात्र है। जैसे धूसर क्षितिज पर सन्ध्या की छवि प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही बन्धुर छन्दों के पदबन्धों में कवि का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। इस आत्म-प्रकाश से और कुछ बने या न बने, किन्तु एक कलाकार के लिए यह परमानन्द का कारण है। जैसे मन्द पवन हस के पखों को ऊपर उडा ले जाता है वैसे ही परमानन्द की यह अनुभूति एक कलाकार की आत्मा को भौतिक शरीर से परे उठा ले जाती है। प्राचीन मनुष्य द्वारा गुहा-भित्ति पर अकित हिरन के चित्र को ही लीजिए। जब मनुष्य के हृदय से निकल कर वह हिरन अचल शिला पर दौडने लगा तब उसके साथ उस मनुष्य की आत्मा ने कितनी उडानें भरी होंगी! उस मनुष्य की अनुभूति का वह प्रतीक जब उसके मित्रों के हृदयो को भी पुलकित करने लगा तब वे भी उसके निकट खिच आने लगे। इस प्रकार जो केवल एक व्यक्ति की आत्मा का प्रकाश था उसका एक सामाजिक मूल्य उत्पन्न हो गया। एक कवि होने के कारण अपनी अनुभूतियों का प्रकाश ही मेरे लिए परमानन्द का विषय है। और यदि उस आनन्द का अस्वादन अन्य लोगों को भी करा सका तो वह मेरी विजय होगी। उससे मेरी कला को एक सामाजिक आधार मिलेगा—अन्य लोगों के द्वारा उत्कर्ष होगा! मेरा अथवा मेरे द्वारा अन्य लोगों की यह अनुभूति कैसी वाछनीय है, और कितनी आत्म-सतृप्ति है उसमें!"

ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्ति के बाद भी कुरुपजी का कवि सक्रिय रहा। उनकी चुनी हुई कविताओं का सकलन १९७२ में प्रकाशित हुआ (भूमिका डॉ एम लीलावती)। 'मधुरम् सौम्यम् दीप्तम्' वेळिच्चत्तिन्दे दूतन (प्रकाश का दूत), 'साध्यरागम्' ये चार कृतिया विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी आत्मकथा के दो खण्ड ओर्म्मयुटे ओलगलिल भी प्रकाशित हुए।

ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद उन्हें १९६७ में सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार प्राप्त हुआ और इसी सिलसिले में वे १९६८ में रूस पूर्वा जर्मनी आदि देश घूम आए। ताशकन्द में आफ्रो-एशियन (उत्रेन्या स्वेसूदा) १९७० में प्रो चेलिशेव की भूमिका सहित, प्रकाशित किया गया। मिच्चिगन स्टेट यूनिवर्सिटी के एशियन स्टडी सेन्टर ने उनकी २५ कविताओं का सकलन उनके लेख, भाषा और भेंटवार्ता के साथ प्रकाशित किया है।

१९६८ में कुरुपजी को 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया। उसी वर्ष उन्हें राष्ट्रपति ने राज्यसभा का मनोनीत सदस्य बनाया। (१९६८-७२)।

अतिम दिनो में वे अस्वस्थ रहे। त्रिवेन्द्रम के मेडिकल कॉलेज अस्पताल में २ फरवरी १९७८ को उनका देहात हो गया। राज्य भर में शोक की लहर दौड गयी। केरल सरकार ने उनकी अत्येष्टि के दिन छुट्टी दी।

महाकवि जी शकर कुरुप की सब सैंतालीस (४७) कृतियाँ प्रकाशित हैं चालीस मौलिक और सात अनुवाद—मौलिक कृतियों में बीस कविता-सग्रह हैं, चार निबन्ध सग्रह, तीन नाटक, तीन बाल-साहित्य विषयक। इनकी शीर्षक-सूची है—

कृतियाँ

कृतिया

कविता-संग्रह

साहित्य कौतुकम् चार खण्ड	१९२३-२९
सूर्यकान्ति	१९३२
नवातिथि	१९३५
पूजापुष्पम्	१९४४
निमिषम्	१९४५
चेंकतिरुकळ्	१९४५
मुत्तुकळ्	१९४६
वनगायकन्	१९४७
इतळुकळ्	१९४८
ओटक्कुषल्	१९५०
पथिकन्टे पाट्टु	१९५१
अन्तर्दाह	१९५३
वेळ्ळिल्पपरवकळ्	१९५५
विश्वदर्शनम्	१९६०
जीवनसगीतम्	१९६४
मून्नरुवियुम् ओरु पुषयुम्	१९६४
पाथेयम्	१९६१
जीयुडे तेरजेटुत्त कवितकल्	१९७२
मधुरम् सौम्यम् दीप्तम्	
वेळिच्चत्तिन्टे दूतन्	
साध्यरागम्	

निबन्ध-सग्रह :

गद्योपहारम्	१९४०
लेखमाल	१९४३
राक्कुयिलुकळ्	
मुत्तुम् चिप्पियुम्	१९५९
जी युटे नोट बुक	
जी युटे गद्य लेखनगल्	

नाटक

इरुट्टिनु मुन्पु	१९३५
सन्ध्य	१९४४
आगस्ट १५	१९५६

बाल-साहित्य

इळम् चुण्टुकळ्	१९५४
ओलप्पीप्पि	१९५८
राधाराणि	
जीयुटे बालकवितकाल्	

आत्मकथा :

ओर्म्मयुटे ओलगलिल् I एण्ड II

अनुवादो में तीन बाङ्ला से हैं, दो सस्कृत से, एक अँगरेजी के माध्यम से फारसी कृति का, और एक और इसी माध्यम से दो फ्रेंच कृतियों का। बाङ्ला कृतियाँ हैं गीताजलि, एकोत्तरशती, टागोर, सस्कृत की हैं, मध्यम व्यायोग, मेघदूत, फारसी की रुबाइयात-ए-उमर खैयाम, और फ्रेंच कृतियाँ अँगरेजी रूप में 'द ओल्ड मैन हू इज नॉट वॉण्ट टु डाइ' तथा 'द चाइल्ड व्हिच इज नॉट वॉण्ट टु बी बॉर्न'।

अभिभाषण के अंश

हो सकता है कि शारदीय सध्या की वह निराडम्बर सुन्दरता, जिसमें थके हुए पख-वाले गीत अपारता को नापने के प्रयत्न मे पराजित होने पर भी अभिमान के साथ नीड की ओर लौटते हैं, किसी को हठात् आकर्षित न करे, किन्तु अप्रत्याशित रूप से उसके ललाट पर प्रतिपदा के चन्द्रमा की प्रकाश-कला अगर स्वय प्रत्यक्ष हो जाये तब पथिक और ग्रामीण कृषक उस रजत-रेखा की तरफ अत्यन्त कौतुक के साथ नजर उठायेंगे और उसे धारण करने वाली सध्या को पूर्वाधिक उत्सुकता के साथ देखकर बधाइयाँ देंगे। उदासीन आदर को पदच्युत कर देगे, उन्मेष और अद्भुत। भारतीय-ज्ञानपीठ का यह प्रथम सम्मान-सिन्दूर स्वच्छ शान्त समाधि की इच्छा करने वाली मेरी कविता के ललाट पर चमक उठा तो मेरे प्रान्त के निवासियों के मनोमण्डल में भी शायद इसी प्रकार की अनुभूति हुई होगी। उन्हे यह आभास भी हुआ होगा कि अपारता को नापने के प्रयास में असफल हुए मेरे गीत ज्यों-ज्यों दूर चले जाते हैं, त्यो त्यों वे अधिकाधिक निकट सुनाई देते हैं। मेरी अधीर-चकित कविता उनके मानसिक क्षितिज पर मूर्छित होकर न गिरे। भारतीय ज्ञानपीठ की वह रजतरेखा, उसके ललाट के स्पर्श से क्लान्त न होने पाये।

भारत के सास्कृतिक इतिहास में भारतीय ज्ञानपीठ अनन्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। उषा की सुवर्ण सम्पदा उषा के लिए नहीं बल्कि ससार के लावण्य और चैतन्य को बढाने के लिए है। मालूम पडता है इस सस्था की हृदय और आत्मा-स्वरूपा अध्यक्षा इस बात को जानती हैं। मैं भारतीय ज्ञानपीठ और उसकी अध्यक्षा के प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हूँ

यह पुरस्कार नहीं, बल्कि इस पुरस्कार के पीछे विद्यमान आदर्श एव सकल्प ही मुझ को आकर्षित कर रहे हैं मुझे प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य के बोध का पुनर्जागरण एव भारतीय जनता के ह्रदय-तल मे होने वाला सश्लेषण, यही वह सकल्प और आदर्श है भारत के नाद थे, बाल्मीकि, व्यास और कालिदास। किन्तु आज वह नाद कहा है? कुछ लोगों को यह कहते हुए सुनता हूँ कि अग्रेजी साम्राज्य के शक्तिशाली हाथ ने ही भारत को एक-राष्ट्र बना डाला। मैं इससे सहमत नही हो सकता। असल मे, भारत की प्रकृति को, भूगोल विज्ञान को, इतिहास एव जीवन-दर्शन को, जनता और दन्त कथाओं को सम्मिलित कर समग्रता और एकाग्रता के साथ महाभारत की रचना करने वाले व्यासदेव ने ही अखण्ड भारत के सकल्प को प्राण, रूप एव कर्मचेतना प्रदान की थी। बाल्मीकि और कालिदास का भी उस सश्लेषण मे अन्यादृश हाथ है। आसन्नभूत में उस परम्परा के एकमात्र प्रतिनिधि थे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर। कहाँ हैं वे नाद?

मैंने हाल मे एक प्रसिद्ध पडित का लेख, जिसमें यह उल्लेख है कि 'कॉमनवेल्थ लिटरेचर' एक वास्तविक सत्य है, 'पोलिटिकल फैब्रिकेशन' नही, कौतुक के साथ पढा। ऐसा मालूम पडता है, उस लेखक की यह भी राय है कि प्राकृतिक, देशीय एव जातीय पूर्वाग्रहो एव आसगों से विमुक्त केवल मानव मानव से बाते करता है, अग्रेजी भाषा के माध्यम से, उस साहित्य मे। अग्रेजी के किसी कवि मे इतनी निरजनता, इतना मिथ्याभिमान है, यह मैं नहीं जानता। अगर होता तो मेरी राय में, अग्रेजी साहित्य नाम की कोई चीज ही न हो पाती। मैं सोचता हूँ कि देश और काल के अनुरूप जो विशेष परिस्थितिया हैं, जिसमें जनता सास ले रही है, उस

अतरिक्ष में पैदा होने वाले, जो विशेष स्पन्द हैं, वे ही अंग्रेज कवि के हृदय को विक्षुब्ध करते हैं, विकार से उत्तेजित करते हैं, चिन्तन की प्रेरणा देते हैं, भावपूर्ण अनुभवों का सश्लेषण करने और व्याख्या करने में उसको सन्नद्ध करते हैं, क्योंकि वह कवि इग्लैंड का नाद है।

क्या एक राष्ट्र के रूप में सगठित भारत का कोई अस्तित्व नहीं है? क्या भारत अलग-अलग प्रान्तों का एक गुच्छामात्र है? क्या भारत का अपना एक नाद नहीं है? क्या केवल कुछ प्रान्तीय भाषाए ही हैं? क्या भारत के हृदय की अपनी विशेष लय-ताल नहीं? उसी से अनुप्राणित होने वाला एक भारतीय साहित्य नही? आपस मे रक्त-सम्बन्ध, हृदय स्पन्द मे समान लय और विकास के इतिहास मे सम प्रवृत्तियाँ रखने वाली हमारी भाषाओ और साहित्यो के एक 'कॉमनवेल्थ' को वास्तविक रूप से परिणत करने योग्य शिलादृढ सास्कृतिक आधार-भूमि नहीं है? क्यो यह प्रश्न अपने से नही पूछा जाता? क्यो इसका असली समाधान खोजा नही जाता? नवीन भारत की जनता की रागात्मक एकता का सपादन अथवा शैथिल्य का निराकरण अधिकाशत इसी प्रश्न के उत्तर पर अवलम्बित है। हमारे राष्ट्र का अवचेतन वह है, हमारे दर्शन, भौतिक सत्यान्वेषण तथा जन-जीवन के प्रभात एव सन्ध्या की रागात्मक एकता वही है। अगर वैज्ञानिक एव तकनीकी सभ्यता-सस्कृति को इस सुदृढ नींव पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न न किया गया तो अवश्य ही बीच-बीच मे छिद्र और दरारे पड जायेगी। समकालीन घटनाए क्या हमे इतना भी नही समझायेगी?

प्रान्तीय अहन्ताओं, भाषा सबधी अभिमानो एव साप्रदायिक अन्धता के तरगो मे डूबा पडा हुआ है वह भारतीय अवचेतन और उसका नाद! इस शताब्दी के दूसरे दशक में गान्धी जी के नेतृत्व में भारत बोल उठा "मैं जी रहा हूँ" दोहरा कर स्थित किया "स्वाधीनता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इससे पहले ही आरब्ध आत्मीय एव सामाजिक क्रान्ति की चेतना भी उस निर्भय 'सेल्फ असर्शन' में घुलमिल गयी थी। अगर कहा जाय कि यह भारत के 'रिसेरक्शन' का, पुनर्जागरण का, युग था तो वह किसी तरह से असगत न होगा। इस तरह बार-बार जागने वाली अथवा बार-बार जी उठने वाली भारत की आत्मीय चेतना, भारत की भाषाओं में, जीवित रहने वाली अथवा बार-बार जी उठने वाली भारत की आत्मीय चेतना, भारत की भाषाओं में, जीवित रहने वाले कलाकारों की कृतियों में, किस तरह गूँज उठी है, इस बात का अनुसन्धान, मेरे विचार से, आधुनिक भारतीय साहित्य की अपेक्षित रूपरेखा तैयार करने का एक समारभ होगा। सागर की गहराई मे डूबे हुए किसी भूविभाग के रूप-निगमन की कोशिश करने वाले समुद्र-शास्त्री, हो सकता है, अपेक्षित रूप से उन्नत किसी एक श्रृग और उससे सबन्धित तराइयो को ढूँढ निकालेंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे दूसरे अन्वेषण मे उससे भी उन्नत श्रृगों और उससे भी विशाल तराइयों को खोजकर नहीं निकाल सकते। मैं केवल इतना ही अभिमान कर सकता हूँ कि भारतीय साहित्य मे रूप-निगमन के प्रथम परिश्रम के सिलसिले में प्राप्त रचनाओ में आपेक्षित दृष्टि से 'ओटक्कुषल' उच्चतर कोटि की कृति सिद्ध हुई है। इससे भी उन्नत चिन्तन के श्रृग और इससे भी विशाल एव मनोरजक अनुभवों की उपत्यकाये आगे के अन्वेषणो मे प्राप्त हो जायेंगे, यही मेरी आशा है।

एक ही रत्न की कई मुखिकाएँ होती हैं न? भारतीय हृदय की विविध मुखिकाए हैं—हमारी समस्त भाषाए। हो सकता है राजनैतिक अविवेक के कारण भाषाओ की विविधता बाधा बन रही हो। मगर आत्माभिव्यक्ति को विचित्रता और भाव-समग्रता प्रदान करने वाली उपाधि के रूप में भाषा को देखने वाले लोगों के लिये यह वैविध्य अवश्य ही अनुग्रह प्रतीत होगा। रत्न की मुखिकाएँ प्रकाश-किरणों को अनेक वर्णों में, विविध सान्द्रता में, प्रतिस्फुरित करती हैं। अगर रत्न की एक ही

मुखिका होती तो क्या यह सभव हो जाता ? मैं इस सदर्भ मे 'एजरा पाउड' की याद करता हूँ। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि कोई भी एक भाषा पूर्ण रूप से समस्त अनुभव-मडल को प्रकाशित नहीं कर सकती। सुमित्रानन्दन पन्त, उमाशकर जोशी, नाजरूल इस्लाम और जी शकर कुरुप एक ही भारतीय साहित्यिक-सास्कृतिक परम्परा के विभिन्न नाद हैं। विभिन्न भाषाओं के ये नाद भारत के विशाल एव अगाध अन्त स्थल के भावों को समग्र रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस सत्य के अनुभव-गोचर होने पर ही हम अपने क्षुद्रता-बोध एव सीमित-दर्शन से विमुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। उस समय ही हाथी अपने बडप्पन को पहचान कर मस्तक ऊँचा कर खडा रह सकता है।

भारतीय साहित्य परम्परा से मेरा मतलब कुछेक सकेतों एव सिद्धान्तो से नहीं। प्रत्येक शिशिर के बीत जाने पर आगामी वसन्त के आतप-प्रकाश को आत्मसात् करने की प्रेरणा देते हुए नवीन विकास का आरभ करने वाले वृक्षो में आमूलाग्र प्रसृत होने वाला जीवरस है न ? साहित्यिक इतिहास के विकास मे भी भाव-भावनाओ के नवोत्थान के लिए, पुनर्जागरण के लिए, नूतन विकास के लिए, नवीन अन्तरिक्ष, प्रकाश एव कम्पन को आत्मसात् करने की प्रेरणा देने वाला अन्तर्लीन चेतना-रस विद्यमान है। सजीव सर्गात्मक परम्परा के नाम से मैं ने इसी की ओर इशारा किया है। वह एक लौह मे ढली हुई सरस्वती की प्रतिमा नहीं, बल्कि बोध मण्डल को विकसित करती और स्वय उसी के साथ विकसित होती रहने वाली राष्ट्र की सृजन शक्ति है , निरतर विकसित होती रहने वाली एक सप्राण सरस्वती है। शिशिर-ऋतु मे आत्मरक्षा के लिए मिट्टी के भीतर दुबक कर सो जाने वाले प्राणी की तरह, विधि-विधानो के अकाट्य अगीकार के युग में वह निश्चल बनेंगी, पर वही सरस्वती-सद्भूतात्मक युग में, जहा सृजनात्मक भावना पल्लवित हो जाती है, मन्द मधुर हृदय-स्पन्द के साथ बोध-तल में सजीव होकर चमक उठती है। मनुष्य का प्रकृति से, मनुष्य का प्रकृत्यतीत शक्ति से, मनुष्य का मनुष्य से जो रागात्मक सम्बन्ध है, उसी की बोध-धारा है किसी भी जनता के साहित्य की मुख्य त्रिवेणी। उस प्रवाह की कई उपनदियाँ होती हैं, कई शाखाएँ होती हैं, कई गति-परम्पराएँ होती हैं। सब कुछ उसी में, सब कुछ उसी की। यही बोध-धारा सस्कृति की जीवन सिरा-स्वरूपा त्रिवेणी है। क्या मेरी सर्गात्मक भावना इसके लय और 'रिद्म' के लिए कुछ योगदान करने मे समर्थ बन गई है ? अल्पमात्र परिमाण मे ही सही, यदि ऐसा है, तभी मैं अपने को इस अभिनन्दन के योग्य मान सकता हूँ।

इस सन्दर्भ में मुझे एक घटना याद आयी है। इस महानगरी में हमारे महान् आराध्य पुरुष पडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रथम राष्ट्रीय कवि सम्मेलन १९५६ में उद्घाटित हुआ था। उस दिन श्री दिनकरजी ने मेरी कविता हिन्दी मे अनूदित करने की उदारता दिखाई थी। उस अनुवाद की श्रोताओं मे जो प्रतिक्रिया हुई, उसका मैं वर्णन नही करना चाहता। आत्महत्या की अनुजाता आत्मप्रशसा को मैं इस वार्द्धक्य मे क्यो वरण करू ? हो सकता है भारत के हृदय को उन्मेषपूर्ण करने वाला, उत्तेजित करने वाला, उद्ग्रथित करने वाला कोई प्रातिभ-धर्म और भाव-लय, उसमे रहा हो। पुण्यात्मा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इस सम्बन्ध मे मेरे एक मित्र को लिखा "समस्त वैरुद्धयो को आमज्जित करती हुई वह जटा-सकरी बह पडी।" काश, वह महामना कविवर आज यहाँ विद्यमान रहते। हो सकता है, 'ओटक्कुषल' मे वैसे कुछ भाव-सश्लेषण रहे हों।

आखिर क्या है, यह सृजनात्मक भावना ? मेरी भाषा मलयालम के एक छोटे से ग्रामगीत की सदा-हरित शाखा मैं आप लोगो के सामने तोडकर रख देता हूँ। परिभाषा देने के विफल परिश्रम से यही अच्छा है। वसन्तागम का प्रारभ ही हुआ। देहात की पगडडी से चलने वाला एक नवयुवक अकस्मात् रुक गया, किसी बाडी की सीमा पर खिला है, नवल पाटल-वर्ण वाला नन्हा-सा सुमन, अकेला। मालूम पडता है वह अभी बोल उठेगा।

अपने "सरस्वती कण्ठाभरण" में भोज ने जिस अभिमान और अहंकार की चर्चा की है, वही भाव अकस्मात् उद्भासित हो उठा उस एकाकी ग्रामीण तरुण में। वह पूछ रहा है

"ओ नन्हें फूल, लाल फूल,
कहाँ गया तू इतने दिन ?
क्या तू गया था
तुच्चबर में भजन करने ?"

उस प्रश्नकर्ता के बोध-तल में चेतन और अचेतन की नाजुक सीमा को डुबा देने वाला एक भावोद्रेक, अह का एक ज्वारभाटा, चाहे तात्कालिक ही क्यों न हो, किसने भर दिया ? अगर उस पुष्प की भाषा होती तो वह अवश्य ही पूछ बैठता कि तुम कामुक हो, कवि हो या पागल हो ? यह मेरा शोणिम दल-पुट है, काषाय वस्त्र नहीं। मैं इस मनोहर ग्रामान्तरिक्ष मे प्रकाश पीने के लिए आया हूँ। तीर्थयात्रा करने लौट जाना नहीं चाहता। मित्र, तुम्हे भ्रम हो गया है। अच्छा ही हुआ, ऐसा कहकर पुष्प ने उस आल्हाद समुज्जवल निमिष को फीका और उदास नही बनाया। आकस्मिक पुष्प-दर्शन मे अप्रत्याशित रूप से उद्भूत प्रेरणा ने उस नवयुवक की प्रतिभा को प्रोज्वलित कर दिया, स्मृति-रूपों को अवचेतन मन से विमोचित किया, वैजात्य में अन्तर्लीन सदृशता को ढूँढ निकाला, तब वह लाल फूल तीर्थयात्रा करके लौट आने वाला काषायधारी बन गया, पलभर मे एक नया सौहार्द पैदा हो गया। विचाराधिक वेग से इस असकीर्ण अनुभव को नवीन अर्थबन्ध एव नव्य रूप वाले बोध मे सर्गात्मक भावना ने ही सश्लिष्ट कर लिया। इस बोध-चेतना से अनुप्रविष्ट छन्दोमयी भाषा वैद्युति का वहन करने वाली एक सजीव शलाका बन गई है। 'साहित्य अर्थमय भाषा है' इस वाक्य का आशय अब आपको स्पष्ट हुआ होगा। 'साहित्य अर्थमय भाषा है' इस ग्राम गीत का 'रिदम' उस ग्रामीण कवि के हृदय की लय ही है। यहाँ भाषा आनुषगिक रूप से ही आशय की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम बनती है। मुख्य रूप में वह प्रकृति के साथ स्थापित रागात्मक सम्बन्ध में से एक नवीन भाव-सत्य को साक्षात्कृत करने वाली भावना का एक रूपाधान है। कवि के भाव-साक्षात्कार की भाषा उसकी प्रेमिका है। किन्तु समाज के साथ व्यवहार करने के अवसर में वही विश्वस्ता चेरी बन जाती है।

इस सरल गीत के द्वारा अनुभव-मण्डल में लाया गया वह नया सौहृद हृदय को स्निग्धता और आत्मा को निर्वृत्ति से सिक्त करने वाला स्वास्थ्य-दायक अनुग्रह है, चाहे इसका और कोई उपयोग ही न रहे, फिर भी भावनात्मक जीवन को उसी हैसियत से सार्थकता प्रदान करने वाला अनुग्रह है। मगर, इस ग्राम-गीत का एक दूसरा भी चरण है

"हे तृच्चबर के भगवान,
तुम्हारे श्री चरणों में प्रणाम।"

और एक ध्रुवकुमार बन गया है, यह नन्हा-सा फूल। यह दर्शन प्रश्नकर्त्ता के मन को पल भर में, तृच्चबर के मन्दिर में पहुँचा देता है।

उस नन्हे से फूल ने प्रष्टा के मन को प्रकाश से भी अधिक प्रकाश वाली, वेग से भी अधिक वेग वाली, भावना के पख प्रदान कर भगवान के सन्निधान में पहुँचा दिया है। औत्सुक्य को जगाने वाले उस पुण्य-तीर्थचारी ने मानव की प्रतिभा को आराधिका बना दिया है। यहाँ परिछिन्नता अपरिछिन्नता का इशारा मात्र बन गया है।

इस नन्हें से गीत को परिपूर्ण कला-सुभगता से युक्त समग्र शिल्प होने का गर्व नहीं। फिर भी, कितने फूल झड गये उसके बाद ? किन्तु अद्भुत के अमृत बिन्दु से सिक्त यह सुमन और यह गीत आज भी जीवित है। सृजनात्मक भावना, नश्वर जीवन मे से मूल्यवान भावो को विमुक्त कर अनश्वर लय का रूप देकर उनको शब्दों मे अमर कर देती है। सत्य का साक्षात्कार, अभिव्यक्ति और अनश्वरता का आपादन—सर्व शक्ति युक्त भावना के प्रमुख धर्म हैं ये तीनो।

मेरे प्रथम गुरू हैं, उस गीत के अज्ञात नामा कवि। इस आचार्य से जो शिक्षा मैंने पायी है, उसे मैंने ओटक्कुषल में "मेरी कविता" शीर्षक लेख में

सगृहीत किया है। "रूप, नाद, रस, गन्ध, स्पर्श, ये सभी इन्द्रियों को सदा जागरूक करते रहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ पुलकोद्गमकारी कथाएँ ही सदा निवेदित करती हैं। चाहे, वह कथा-कथन कितना ही लबा क्यों न हो, फिर भी मानव की आत्मा को वह नीरस प्रतीत नहीं होता। नये-नये अनुभवो की अभिव्यक्ति करने के लिए नयी-नयी इन्द्रियाँ उसे नहीं मिली हैं, इसी में उसे असतृप्ति है। इन्द्रियों द्वारा परिचित होने वाला यह वाह्य जगत् औत्सुक्य और जिज्ञासा को जगाता रहता है। भावना, भाव, विचार—इन मानसिक व्यापारों से, आत्मा मे प्रतिबिंबित होने वाले प्रकृति के प्रतिभासो का, अनुभव-मण्डलों का सश्लेषण और प्रकाशन का प्रयत्न करती है मानव की कल्पनाशील चेतना। कला का यह स्रोत कुछ लोगो मे सजीव होकर सदा विस्तृत होता है। और कुछ लोगों मे हिमकणिका के समान चमक कर क्षण भर मे सूख जाता है। शायद, अब तक सूखे बिना प्रवाहित होती रहने वाली वही चित्तवृति मुझको प्रकृति एव मानव जीवन पर आस्था रखने और उन्हे प्यार करने तथा उनका आस्वादन करने का कौतुक प्रदान कर रही है। शायद यही वह आत्मीय केन्द्र है, जहाँ से मेरी कविता का सोता फूटता है। यह कल्पना विज्ञान के विकास मे नही सूखती, बल्कि नयी शक्ति के साथ पुष्टि को प्राप्त करती रहती है। चन्द्रमा—के भूगोल को जान लेने पर, क्या यह सभव है कि वह रात की रानी हमारे लिए औत्सुक्य का विषय नही रह जायेगी? क्या रमणी इस कारण से तरुण की दृष्टि मे औत्सुक्य का विषय बन गयी है कि वह उसके शरीर के वैज्ञानिक तथ्य से अवगत नहीं?

कला की विवेचना के प्रसग मे अर्णाल्ड बन्नट द्वारा उद्धृत उस तरुण प्रेमी का यह वाक्य 'वह एक आश्चर्य है', किसी वैज्ञानिक के लिए भी उतना ही सत्य है। साक्रमिक होता रहता है, यह विज्ञान भाव-भावनाओ के क्षितिज को विपुल कर रहा है, विस्मय को विस्तृत कर रहा है। जिस अन्तरिक्ष के प्राकार में प्रथम सृष्टि के समय से लेकर अब तक हम बन्द हैं, उसके गुप्त द्वार को जब सोवियत रूस के एक मानव ने बलपूर्वक खोला और बाहर निकला, तो मैं नीले आसमान के शिरस्त्राण धारण कर खडे रहने वाले उस नित्य प्रहरी काल के प्रति औत्सुक्य के कारण चिल्ला उठा "उठा लो वह लोहे की टोपी, प्रणाम करो अन्तरिक्ष विजयी मानव को।" क्या यह उदात्त कल्पना की कोटि में नहीं आता?

मैं अपने एक दूसरे आदिकालीन आचार्य का भी परिचय करा कर इस लबे भाषण को समाप्त करूँगा। श्रावण के महीने मे केरल वासियों का राष्ट्रीय त्योहार ओणम् होता है। काश, आप लोग केरल के किसी गाँव मे उस समय मेरे साथ पधारते।

हाथ मे एक छोटी-सी वीणा लेकर चलने वाले कृश-शरीर पाणन् (ग्रामीण कवि गायक) का गीत प्रभात मे आपको जगा देगा। प्रभात मे वह जागरण का गीत गाता है। सुलाने वाले और जगाने वाले गीत हमारी भाषा मे हैं। वह अनपढ परतु सुसस्कृत-चित्त गायक जागरण का गीत गाता है, विश्वात्मा को जगाने वाला गीत। उस गीत के चरणों मे से कौन-सी कथा धीरे-धीरे अनावृत होती जा रही है?" एक बार महात्मा नारायण सो गये। देवताओ ने जाकर पुकारा। महर्षियो ने स्तुति गीत गाये, लक्ष्मी देवी ने यत्न किया, किन्तु वे जागे नही। आसुरी शक्ति बढ रही थी। सुख-भोग में डूबे हुए देवताओ के नाद क्षीण हो रहे थे। आखिर श्रीरग के सन्त पाणनार आये। उन्होने डमरू बजाकर गाया। श्री नारायण जाग उठे।" यही उस कहानी का प्रारूप है। काल के मध्य भाग से, यानी वर्तमान काल से, निर्मित वह डमरू, भूतकाल की गूँज से युक्त भविष्य के मन्द, मधुर नाद से विश्वात्मा को जगा देने वाले पाणनार के गीतों को प्राणस्पन्द प्रदान कर रहा है। मेरी अन्तरात्मा मे से होकर विकसित हो गयी इस गुरुवर की परपरा। मानव के भीतर विद्यमान ईश्वर को, पुरुषोत्तम को, अन्त करण को नवीन मानववाद के लय-तालो से

जमाने का प्रयत्न ही इस युग के कवि का कर्तव्य है और यही वह कर रहा है। हमें आसुरी प्राकृतिक शक्तियों को भी अपार सृजनात्मक जीवन के मन्थन में अपने सहयोगी बना ही लेना है। जागृत होने वाला धार्मिक अन्त करण, सवर्गशक्तियुक्त वह पुरुषोत्तम ही उस मन्थन को पूर्ण कर सकता है। आत्मकला स्वरूपा वाणी में अजर एव अमर सवर्गशक्ति विद्यमान है।

मित्रो, आप लोगों के सामने आते समय कविश्रेष्ठ भवभूति की यह वाणी मौन रूप से मेरे अधरों पर विद्यमान थी –

"इद कविभ्य पूर्वेभ्यो
नमो वाच प्रशास्महे
विन्देम देवता वाच–
अमृतामात्मन
कलाम्।"

पूज्य कवियों को प्रणाम। अमृता, आत्मकला-स्वरूपा वाणी हमें प्राप्त हो जाये! भविष्य के कवियों को भी मेरा अभिवादन! मैं इस प्रार्थना के साथ आप लोगों से विदा ले रहा हूँ कि अनपायिनी आत्मचैतन्यदायिनी सृजनात्मक वाणी उनको प्राप्त हो।
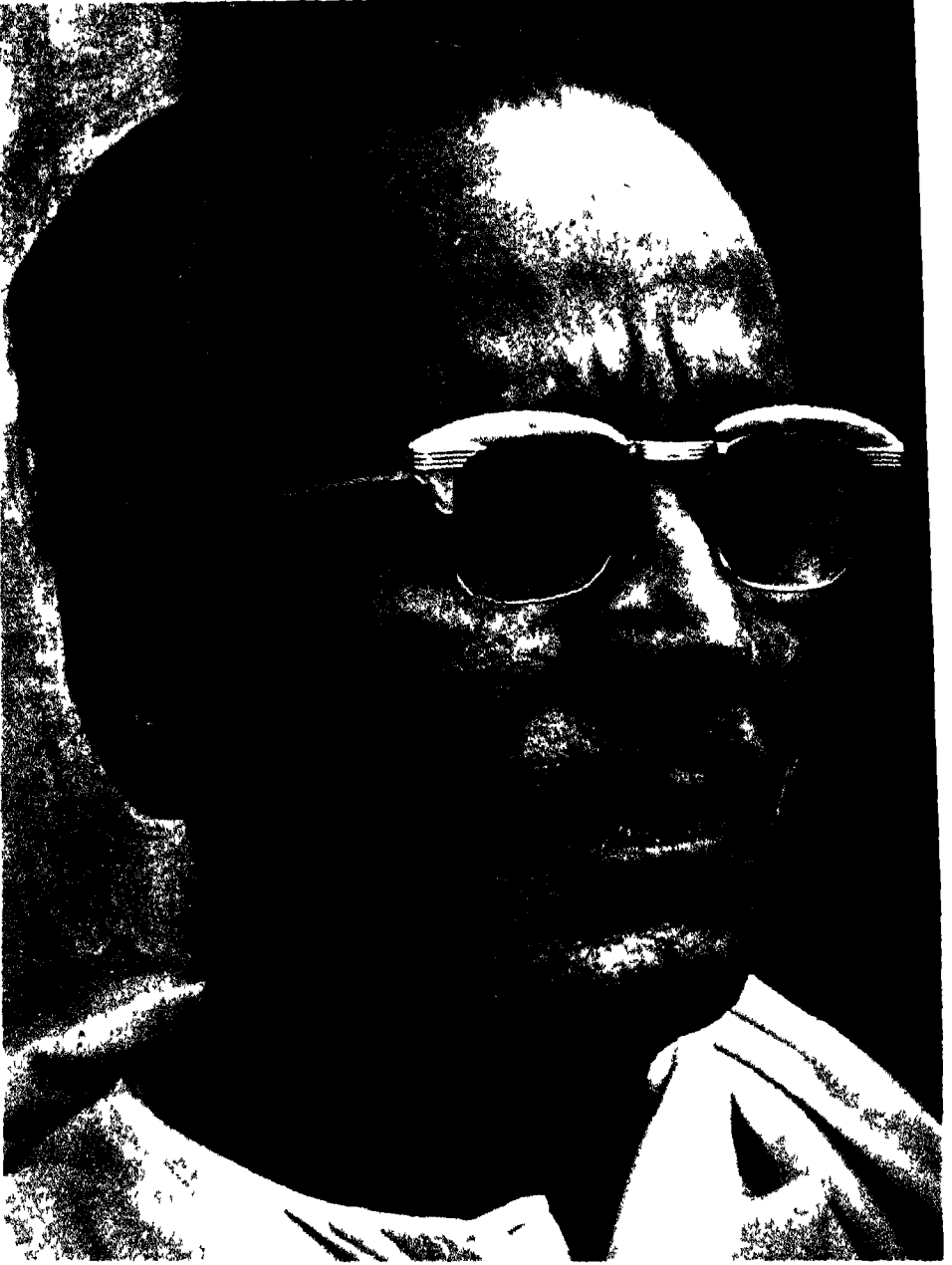
ताराशंकर बन्द्योपाध्याय

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का एक लाख रुपये राशि का यह वर्ष १९६६ का साहित्य-पुरस्कार बाँग्ला उपन्यास-कथाकार श्रीयुत् ताराशकर वन्द्योपाध्याय को उनके उपन्यास 'गणदेवता' के लिए समर्पित है, जिसे १९२५ से १९५९ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

'गणदेवता' भारतीय ग्राम्य जीवन के उस सक्रमणकाल का गद्यात्मक महाकाव्य है जब परम्परागत सास्कृतिक मूल्यों और सामाजिक अर्थतन्त्र को औद्योगिक क्रान्ति से अनुप्राणित नये युग के विचारों और प्रवृत्तियों ने आमूल प्रभावित किया तथा मानव-चरित्र के आवेगों को अभिव्यक्ति के नये सन्दर्भ दिये।

श्रीयुत् ताराशकर वन्द्योपाध्याय जीवन-सत्य के सतत अनुसन्धानी साहित्यद्रष्टा हैं। अपने बहुरगी तथा विविध-परिवेशी पात्रों के साथ सहज तादात्म्य द्वारा उन्होंने मानव के क्षुद्र तथा महत् सहवर्ती रूप को अकृत्रिम सहानुभूति दी है। उन्होंने मानवीय चेतना के अन्तर्द्वन्द्वों को जिन कालजयी कृतियों में शिल्पायित किया है वे बाँग्ला साहित्य की ही नहीं, भारतीय साहित्य की उपलब्धि की मानक हैं। कृतिकार चिरजीवी हों। शुभमस्तु,

दिनांक
१५ दिसम्बर, १९६७ | अध्यक्ष प्रवर परिषद् | अध्यक्षा भारतीय ज्ञानपीठ

ताराशंकर बन्धोपाध्याय

ताराशकर बन्द्योपाध्याय का जन्म वीरभूम जिले के एक छोटे-से ग्राम (लाभपुर) में एक साधारण जमींदार परिवार में २३ जुलाई, १८९८ को हुआ। इस ज़िले के आसपास का क्षेत्र राढदेश के नाम से जाना जाता है। भक्ति-साहित्य में और तन्त्र साधना-क्षेत्र में राढदेश सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं। लाभपुर से सात-आठ मील पूर्व चण्डीदास का जन्म-स्थान है और बीस मील नैऋत्य में जयदेव का। पास ही शान्तिनिकेतन भी है। इस पूरे क्षेत्र में जहाँ-तहाँ शाक्त साधकों के साधना पीठ हैं और वैष्णव भक्त पुरुषों के आराधना मन्दिर। ताराशकर तब केवल आठ वर्ष के थे जब पितृविहीन हुए। लालन-पालन मा प्रभावती देवी और बुआ ने किया। प्रभावती देवी पटना के एक सुसस्कृत एव प्रबुद्ध प्रवासी बगाली परिवार से थीं और प्रकृति से ही बडे उदार विचारों की। वस्तुत शाश्वत भारतीय आदर्शों के प्रति निष्ठा के साथ-साथ नूतन के प्रति जागरुकता एव सभी दृष्टिकोणों के प्रति जिज्ञासा और सहिष्णुता का भाव ताराशकर को माता की ही देन हैं। माता से ही घुट्टी में उन्हें देश-प्रेम और समाज-सेवा की भावनाए मिलीं। माँ जो लोरियाँ और बालकथाएँ सुनातीं उनमें अनिवार्य रूप से कहीं-न-कहीं विद्यासागर, बकिम या विवेकानन्द का नाम पिरोया हुआ रहता। एक और नाम भी कानों में वह डाला करतीं खुदीराम बोस का। बालक ताराशकर की मनोभूमि को उत्तराधिकार में प्राप्त आदर्शों के बीज, इस माता की इस ममता-भरी आलोक दिशा मे सवर्धित हुए।

तारा बाबू के मन में अपनी बुआ के प्रति कितनी गहरी और असीम श्रद्धा रही, यह इसी से स्पष्ट है कि 'धात्री-देवता' उपन्यास की धात्री देवता वास्तव में यह बुआ शैलदेवी ही हैं।

हाई स्कूल तक की शिक्षा गाँव में ही पूरी करने के बाद तारा बाबू १९१६ में कलकत्ता गए। यह प्रथम विश्वयुद्ध का समय था। राजनैतिक चेतना धीरे-धीरे बलवती हो रही थी। ताराशकर इससे अछूते नहीं रहे। अपने खरे विचारों की अभिव्यक्ति के कारण अपने गाँव में ही उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। विश्वयुद्ध के बाद शिक्षा का फिर प्रयत्न किया पर सफल नहीं हुआ। व्यवसाय की ओर भी उन्मुख हुए पर कुछ बना नहीं। अब वह सारा समय अपनी जमींदारी की देखरेख और गाँव के सेवा-कार्यों में लगाने लगे। कविता भी लिखने लगे थे। कुछ समय बाद नाटक की ओर बढे। लेकिन

जब पहली रचना 'मराठा दर्पण' को, जो खानपुर में सफलता से अभिनीत हुई, कलकत्ता की एक मडली ने प्रशसा करने के बाद भी मचन के लिए स्वीकार नहीं किया तो तारा बाबू ने इस विद्या का परित्याग कर दिया। इसके बाद, उनके कथा-साहित्य का सूत्रपात हुआ। उनका प्रथम उपन्यास था 'दीनारदान' जो साप्ताहिक 'शिशिर' में धारावाहिक प्रकाशित हुआ। 'दीनारदान' उपन्यास पढा अवश्य गया, पर उन्हें अभीष्ट प्रशसा और प्रोत्साहन अपनी 'रसकील' शीर्षक कहानी के लिए मिले। यह कहानी १९२८ में मासिक 'कल्लोल' में इस अनुरोध के साथ प्रकाशित हुई कि तारा बाबू अपनी आगामी रचनाएँ बराबर उसमें भेजें। शैलजानन्द मुखोपाध्याय और प्रेमेन्द्र मित्र इस मासिक के माध्यम से बाड्ला साहित्य को एक नयी भगिमा दे रहे थे।
समाज-सेवा के साथ-साथ राजनीति में भी उनकी सक्रियता बढ्ती रही। १९३० के आन्दोलन में वह जेल गये। पर वहाँ उन्होंने राजनैतिक दलबन्दी और पारस्परिक सघर्षों का जो रूप देखा उसने उनमें राजनीति के प्रति वितृष्णा भर दी। जेल से बाहर आते ही उन्होने घोषणा कर दी "आन्दोलनों के पथ से विदा। मैं अब साहित्य के पथ से मातृभूमि और स्वाधीनता-युद्ध की सेवा करूँगा।"

जेल जाने से पूर्व तारा बाबू ने एक और उपन्यास लिखा था जो सावित्री प्रसन्न चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित मासिक 'उपासना' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। कारामुक्त होने के बाद तारा बाबू ने इसे 'चैताली घूर्णि' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित कराया। पुस्तक नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को समर्पित की गयी। यह उनका पहला प्रकाशित उपन्यास था। इसके अनन्तर दूसरा उपन्यास 'पाषाणपुरी' निकला जो कारावास में लिखा गया था। 'चैताली घूर्णि' के माध्यम से ग्राम-जीवन और ग्राम-इकाई के विघटन का चित्रण किया गया है, 'पाषाणपुरी' में कारा-जीवन और मानव-चरित्र के विद्रूपण का अकन है। १९३२ या उसके आसपास ही परिवार में एक दु खद घटना हुई। उनकी एक चार वर्ष की कन्या का अकस्मात् निधन हो गया। उनके मन को गहरा आघात लगा। तारा बाबू ने पुत्री की चिता के सताप को छाती में समोये एक बडी मर्मस्पर्शी कहानी "श्मशानघाट" लिखी जो रजनीकान्त दास सम्पादित पत्रिका 'बगश्री' के प्रवेशाक में छपी। यह कहानी इतनी अपूर्व मानी गयी कि बहुत दिनों तक चर्चा का विषय बनी रही।

यहीं से तारा बाबू की साहित्य-साधना का प्रभावी अध्याय प्रारभ होता है। १९३९ से १९४४ तक के छह वर्षों में एक के बाद एक उनकी पाँच औपन्यासिक कृतियाँ प्रकाशित हुईं, 'कालिन्दी', 'गणदेवता', 'पचग्राम', 'मन्वन्तर' और 'कवि'। अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में तारा बाबू ने उपन्यास, कहानी, नाटक, यात्रा-वृत्त, आत्मचरित आदि सब मिलाकर १०८ ग्रथो की रचनाएँ कीं, जिसमें ५० उपन्यास एव ४१ कथा सग्रह हैं।

ताराशकर बन्धोपाध्याय (१८८६-१९७१) ने बाङ्ला ही नहीं, भारतीय भाषाओं को समृद्ध करने मे अपनी विशिष्ट भूमिका निभायी। उनकी रचना-शैली और जीवन-दृष्टि ने उनकी परवर्ती पीढ़ी को ही नहीं, समकालीनों को भी प्रभावित किया। उनकी जिन कृतियों ने पाठकों को लम्बे समय तक अपनी उदात्त और गभीर अवधारणाओं—रचनात्मक एव सकारात्मक-से जोडे रख उनमें 'धात्री देवता', (१९३९) 'पचग्राम', और 'हाँसुली बाँकेर उपकथा' (१९४९), 'गणदेवता' (१९५३) और 'आरोग्य निकेतन' (१९५२) उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'धात्री देवता' ताराशकर की आगामी कथा कृतियों की पृष्ठभूमि के साथ-साथ प्रश्नभूमि भी बनी रही। 'धात्री देवता' का नायक स्वय लेखक ही पात्र प्रतिरूप है जो तत्कालीन राजनीति के प्रखर सूर्य महात्मा गाँधी के अहिंसक विचारों और सामाजिक तर्कों को स्वीकार कर लोक सेवा को मानव जीवन का सर्वोपरि धर्म मान लेता है।

ताराशकर को ज्ञानपीठ पुरस्कार 'गणदेवता' के

लिए दिया गया था। 'गणदेवता' तथा इसका उत्तरार्द्ध 'पचग्राम' दोनों मिलकर एक कथा-शृखला को समग्रता प्रदान करते हैं। स्वय तारा बाबू के शब्दों में—

'गणदेवता' बगाल के ग्राम्यजीवन पर आधारित उपन्यास है। कृषि पर निर्भरशील ग्राम्य-जीवन की शताब्दियों प्राचीन सामाजिक परम्परा किस प्रकार पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यन्त्र-सभ्यता के सघात में धीरे-धीरे दम तोडने लगी थी, यही इस उपन्यास में दिखाया गया है। कृषि निर्भर ग्राम्य जीवन जिन सामाजिक परम्पराओं पर टिका हुआ था उनका रूप सभवतया ससार के कृषि-निर्भर, यन्त्र-सभ्यता से अछूते ग्राम्य जीवन में सर्वत्र एक ही है।"

पर इससे भी अधिक महत्त्व की बात, जो तारा बाबू ने अपनी भूमिका में कही है, वह है—

"इस विशाल देश भारत की सामाजिक परम्परा के साथ एक और तत्त्व भी गुम्फित था जिसे अनुशासन कहा जा सकता है। यह अनुशासन नीति का अनुसरण करता है, और न्याय तथा अन्याय के बोध को लेकर सदा स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से जीवन में हर कहीं, सब क्षेत्रों में, किसी-न-किसी प्रकार अपने को प्रयुक्त करना चाहता है। सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा की आधार-भूमि यह बोध ही था। इस बोध के परिणामस्वरूप प्राकृतिक विभिन्नता के रहते भी आभ्यन्तरिक तथा ब्राह्य जीवन में सारे भारत के ग्राम्य जीवन को एक आश्चर्यमयी एकता की वाणी प्राप्त होती है।"

वास्तव में 'गणदेवता' ग्राम्य जीवन के अस्त-व्यस्त होने की ही नहीं इस 'बोध' के टूटने की कहानी भी है।

यह उपन्यास किसी एक नायक पर आधारित न होकर समूचे गाँव की सामूहिक गाथा कहता है। कथा का केन्द्र-बिन्दु शिवकालीपुर गाँव है और इसके मुख्य व्यक्ति गाँव में रहने वाली विभिन्न जातियों और पेशों से सम्बन्धित हैं। उपन्यास का पहला खण्ड शिवकालीपुर के पुरातन समाज में नई धार्मिक और सामाजिक हलचल के साथ आरभ होता है। यत्र सभ्यता सबसे पहले पेशेवर श्रमिक वर्ग पर आक्रमण करती है। उद्योगों की सस्ती वस्तुओं के कारण, लुहार, बढई, नाई आदि सदियों पुराने सामाजिक सरक्षण से वचित होते जाते हैं। विवशता में गाँव के अनिरुद्ध लुहार और गिरीश बढई ने गाँव से दूर क़स्बों में अपनी दुकानें खोल ली हैं। गाँव में रहने वाले किसानो को इससे परेशानी होना स्वाभाविक है। चण्डी मण्डप में पचायत होती है पडोस के गाँव के एक वृद्धजन—द्वारका चौधरी, पच बनाए जाते हैं। उनकी मान्यता तो यही रही है कि लुहार और बढई के पूर्वजो को इस गाँव में इसीलिए बसाया गया था कि गाँव वालों को कष्ट न हो। इसके अनुरूप ही उनका निर्णय होता है कि कस्बे में रहकर भी वे दोनों गाँव की आवश्यकताओ को प्राथमिकता दें। लेकिन अनिरुद्ध और गिरीश यही कहते हैं कि गाँव में उनका गुजारा नही होता और अपनी मेहनत की रोटी भी उन्हे समय पर नहीं मिलती। कुछ समय बाद तारा नाई और मातू चमार भी अपना पैतृक काम छोडकर कोई दूसरा रोज़गार कर लेते हैं। ग्राम्य व्यवस्था के विघटन का आरभ नीचे से सर्वहारा वर्ग द्वारा शुरू होता है।

सर्वहारा वर्ग विघटन तो आरभ कर देता है पर अपना शोषण नहीं रोक पाता। गाँव वाले पचायत तो करते हैं लेकिन इन पेशेवर श्रमिकों के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं लेते। ऊपर से उनपर सामाजिक अनुशासन बनाए रखते हैं और श्रमिक उस अनुशासन से अपने को मुक्त करते हैं तो उन्हें अनुचित रूप से दण्डित किया जाता है। अनिरुद्ध लुहार जब पचायत में छिरुपाल का उधार चुकता करके अपना हैंडनोट लेकर गाँव का काम करने से इकार कर देता है तब छिरुपाल उसके खेत की खडी फसल कटवा लेता है। पुलिस में रिपोर्ट की जाती है पर तलाशी छिरुपाल के घर की न होकर किसी और के घर की होती है।

पेशेवर श्रमिकों का जीवन यापन सदियों से ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों के बीच एक अनलिखे पर सर्वमान्य दुतरफे समझौते पर आधारित रहा है। वह तभी तक प्रभावित रह सकता है जब तक सभी पक्ष अपना उत्तरदायित्व एव कर्तव्य दोनों पूरी तरह निभाएँ। जब इसको नकारा जाने लगा तो ग्राम्य समाज की न्याय करने की नैतिक शक्ति का ह्रास होना अनिवार्य था। जिस 'बोध' की बात स्वय तारा बाबू ने की है, वह लुप्त होने लगा। परिणामस्वरूप परम्परागत मूल्यों का चिरन्तन सामाजिक ढाँचे से सम्बन्ध विच्छेद होता है। पहला खण्ड अनिश्चयता के स्तर पर समाप्त होता है। भविष्य के स्पष्ट सकेत कुछ नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि शिकायतों के हल के लिए यह आन्दोलन क्या रूप लेगा। हाँ, यह असहमत वर्ग पुरानी व्यवस्था से बँधा जरूर रहता है और नारकीय ताण्डव को उसका आशीर्वाद प्राप्त नहीं होता। इसी कारण तारा बाबू ने इसका जनता मे प्रतिबिम्बित ईश्वरेच्छा को गणदेवता मान लिया।

'गणदेवता' गाँव और निरुपाय पल्ली-समाज की बेचैनी और घबराहट की जीवत लेकिन अभिशप्त गाथा है। इसमें कृषि-जीवन, और कृषि उत्पाद पर आधारित भारतीय ग्राम समाज के रचनात्मक ढाँचे के बिखरने और इसके फलस्वरूप वहाँ के जीवन में आये पतन और स्खलन का चित्रण किया गया है। गाँव के कृषिजीवी मजदूर, जमींदारी शोषण और सामती उत्पीडन के खिलाफ विद्रोह भी करते हैं लेकिन कच्ची तैयारी और अपरिपक्व सोच के साथ मानवीय कमजोरी (जातीय स्वभाव) के चलते यह विद्रोह आशिक तौर पर ही सफल हो पाता है। इसका एक कारण यह भी है कि वहाँ कोई नि स्वार्थ नेतृत्व नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिए देबू घोष सामने आता है जो विपरीत और असहाय परिस्थितियों में भी ग्राम सुधार के कई कार्यकरता है। लोगों को एकजुट कर उनमे नया आत्मविश्वास और मनोबल भरता है। उसकी पात्रता मे एक मानवतावादी कथा-शिल्पी का स्वप्न साकार होता दीख पडता है।

ताराशकर बाबू ने किसानों के जीवन सघर्ष को बहुत निकट से देखकर वहाँ की क्रूर सच्चाइयों को बडी गहराई से महसूस किया था। वह यह देख रहे थे कि औद्योगिक श्रम और विकास के नाम पर हमारे ग्रामीण लोग या तो रेलवे यार्ड में बोझ ढोने लगे हैं या फिर चावल के मिलों में काम करने लगे हैं।

'पचग्राम' उपन्यास में लेखक ने स्त्री-पुरुष की साझेदारी पर सामाजिक न्याय और विकास का सकेत दिया है। वहाँ देबू पण्डित स्त्री को पुरुष की सहधर्मिणी और सहकर्मिणी के रूप में स्वीकार करता है और कहता है, 'उस घर पर मेरी तरह तुम्हारा भी बराबर का अधिकार होगा। पुरुष स्वामी नहीं और स्त्री दासी नहीं। हम हाथों में हाथ लेकर अपने कर्मपथ पर बढ चलेंगे।''

ताराशकर ने अपने कार्यक्षेत्र (बगाल के वीरभूम अचल) के कठिन और कष्टकर कृषि जीवन को बडे निकट से देखा था। तभी वह पूरी सवेदना के साथ सारी समस्याओं को प्रभावी ढग से चित्रित कर पाये थे। लेकिन उनके आलोचकों का कहना है कि उनकी परवर्ती औपचारिक कृतियों की दिशा और विषयवस्तु स्वप्निल आदर्शवाद में खो गयी। आदर्शवाद और यथार्थवाद के सघर्ष में आदर्शवाद की वकालत करते हुए उन्होंने अपना धारदार हथियार बेकार कर लिया और खुद आर्शीवाद के शिकार हो गये।

दूसरा खण्ड 'पचग्राम' पुरातन के साथ अधिक गहरे और तीखे अहसमतिपूर्ण बिलगाव का चित्र प्रस्तुत करता है। पहले खण्ड के असतोष का छिटपुट स्वर अब एक नियोजित जन-आदोलन का रूप धारण कर लेता है। लेकिन सघर्ष अधिक निर्मम हो जाने पर भी यह क्रान्ति के स्तर तक नहीं पहुँचता। विकास का पहला चिह्न किसानों के सघर्ष में मिलता है जो प्रस्तावित लगान-वृद्धि के विरूद्ध है। अधिक पैसा बनाने मे कई अन्य तत्त्व भी सक्रिय हो जाते हैं। विचारों और सिद्धान्तों पर

बनी पक्षधरता शक्तियों के सामने दुर्बल पड जाती है और जनता की एकता खण्डित हो जाती है। जन-विरोध पूर्णतया विफल हो जाता है किन्तु पुनर्जागरण का विश्वास बना रहता है।

ग्राम्य जीवन की इस झाँकी के एक महत्वपूर्ण पक्ष का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिये। उपन्यास में सास्कृतिक तत्वों का समावेश बहुत ही प्रभावी ढग से हुआ है। इसी से इसकी आचलिकता में निखार आया है। हर फसल पर कोई उत्सव, हर माह कोई तीज-त्योहार, कथा-कीर्तन। असतोष और बाद में सघर्ष के समय भी स्त्रियों का यही ससार गाँव के घरेलू वातावरण को एकसूत्रता में बाँधे हुए उसके व्यक्तित्व को वाणी देता है। द्वारका चौधरी और महामहोपाध्याय की कहानियाँ इसको विशेष रोचकता प्रदान करती हैं। राजनैतिक एव सामाजिक चेतना के साथ लोक-सस्कृति का ऐसा समन्वय इससे पहले बाङ्ला कथा साहित्य में नहीं मिलता। इस दृष्टि से यह कथा-कृति अनूठी है।

उपन्यास का शिल्प भी विशिष्टता लिए हुए है। जैसा कि पहले कहा गया है यह पूरे ग्राम्य-समाज की गाथा है, किसी एक की नहीं। इसीलिए पूरा गाँव बोलता है। गाँव और वहाँ रहने वालों का चित्रण, खेत खलिहानों का वर्णन, पारस्परिक सम्बन्धों के तनाव, शोषण और उत्पीडन के हथकण्डे सभी कुछ पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं, कथाकार कहीं अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता। इस परिप्रेक्ष्य में मयूराक्षी की बाढ का सकट, गाँव वालों में पहले से ही व्याप्त व्यग्रता अपनी सारी गभीरता तथा नैतिक परिणतियों के साथ विशद रूप से चित्रित हुआ है। यह भले ही ठीक है कि शरत की मनोविज्ञान की समस्याओं और गुत्थियों को खोलती हुई मार्मिक तीव्रता और सूक्ष्म कलात्मकता यहाँ नहीं दिखाई पडती किन्तु ग्रामीण जीवन के दैनन्दिन व्यापार (को) सम्पूर्ण पार्श्वभूमि के परिप्रेक्ष्य में किसी एक चरित्र पर सर्वाधिक बल न देते हुए भी ताराशकर अपने आशय और अनुरोध में अद्वितीय हैं।"

ताराशकर ने इस आदर्शवाद को अपनी आतरिक ऊर्जा और आस्था से सींचा था। इस विश्वास को उनकी अन्यान्य कृतियों में भी देखा जा सकता है। वे मानव मूल्यों और सस्कारों के समर्थक थे। अपने एक और चर्चित उपन्यास 'योग भ्रष्ट' में अपने पर लगाये आक्षेप के उत्तर में उन्होंने अपने एक पात्र से कहलवाया था, "गाँधीवाद या साम्यवाद में अथवा मानवतावाद में नहीं, बल्कि अध्यात्मवाद में ही मनुष्य अपने को सबसे अधिक सुरक्षित पा सकता है। यह अध्यात्मवाद अपनी रक्षा नही दूसरे के सम्मान की रक्षा से जुडा है।"

वस्तुत ताराशकर के उपन्यास तात्कालिक या समस्या प्रधान उपन्यास नहीं हैं। उन्हें रैखिक क्रम या क्षैतिज धरातल के समानान्तर रखकर नहीं देखा जा सकता। समय के सवालों और सरोकारों को भारतीय जीवन दर्शन, सामाजिक परिस्थितियों और पद्धतियो से जोडकर उन्होने अपने कथा साहित्य को भारतीय कथा-दर्शन दिया।

डा रणजीत साहा

कृतियाँ

कृतियाँ

१	त्रिपत्र (काव्य)	१९२६
२	चैताली घूर्णि (उपन्यास)	१९३१
३	पाषाणपुरी (उपन्यास)	१९३३
४	नीलकण्ठ (उपन्यास)	१९३३
५	राईकमल (उपन्यास)	१९३४
६	प्रेम ओ प्रयोजन (उपन्यास)	१९३६
७	छलनामयी (कहानी)	१९३६
८	जलसाघर (कहानी)	१९३७
९	आगुन (उपन्यास)	१९३७
१०	रसकली (कहानी)	१९३८
११	धात्रीदेवता (उपन्यास)	१९३९
१२	कालिन्दी (उपन्यास)	१९४१
१३	तिनशून्य (कहानी)	१९४१
१४	कालिन्दी (नाटक)	१९४१
१५	दुइ पुरुष (नाटक)	१९४२
१६	गणदेवता (उपन्यास)	१९४२
१७	पथेर डाक (नाटक)	१९४३
१८	प्रतिध्वनि (कहानी)	१९४३
१९	बेदेनी (कहानी)	१९४३
२०	दिल्ली का लाड्डू (कहानी)	१९४३
२१	मन्वन्तर (उपन्यास)	१९४४
२२	जादूकरी (कहानी)	१९४४
२३	स्थलपद्म (कहानी)	१९४४
२४	पचग्राम (उपन्यास)	१९४४
२५	कवि (उपन्यास)	१९४४
२६	१३५० (कहानी)	१९४४
२७	विंश शताब्दी (नाटक)	१९४५
२८	चकमकि (प्रहसन)	१९४५
२९	प्रसादमाला (कहानी)	१९४५
३०	हारानो सुर (कहानी)	१९४५
३१	द्वीपान्तर (नाटक)	१९४५
३२	सन्दीपन पाठशाला (उपन्यास)	१९४६
३३	झड ओ झरापाता (उपन्यास)	१९४६
३४	इमारत (कहानी)	१९४७
३५	अभियान (उपन्यास)	१९४७
३६	रामधनु (कहानी)	१९४७
३७	ताराशकरेर श्रेष्ठ गल्प (सकलन)	१९४७
३८	श्रीपचमी (कहानी)	१९४७
३९	सन्दीपन पाठशाला (बालोपयोगी उपन्यास)	१९४८
४०	तामस तपस्या (उपन्यास)	१९४९
४१	ताराशकरेर श्रेष्ठ गल्प (सकलन)	१९५०
४२	पदचिह्न (उपन्यास)	१९५०
४३	माटी (कहानी)	१९५०
४४	उत्तरायण (उपन्यास)	१९५१
४५	हाँसुलीबाँकेर उपकथा (उपन्यास)	१९५१
४६	आमार कालेर कथा (आत्मजीवनी)	१९५१
४७	युगविप्लव (नाटक)	१९५२
४८	शिलासन (कहानी)	१९५२
४९	नागिनीकन्यार काहिनी (उपन्यास)	१९५३
५०	विचित्र (उपन्यास)	१९५३
५१	ताराशकर बन्द्योपाध्यायेर प्रिय गल्प (सकलन)	१९५३
५२	कामधेनु (कहानी)	१९५३
५३	चाँपाडाँगार बऊ (उपन्यास)	१९५३

५४	आरोग्य निकेतन (उपन्यास)	१९५५
५५	आमार साहित्य जीवन १ (आत्मजीवनी)	१९५४
५६	स्वनिर्वाचित गल्प (सकलन)	१९५४
५७	गल्प सचयन (कहानी)	१९५४
५८	विस्फोरण (कहानी)	१९५५
५९	पचपुतली (उपन्यास)	१९५६
६०	छोटोदेर श्रेष्ठ गल्प (सकलन)	१९५६
६१	कैशोर-स्मृति (आत्मजीवनी)	१९५६
६२	कालान्तर (कहानी)	१९५६
६३	विचारक (उपन्यास)	१९५७
६४	विष-पाथर (कहानी)	१९५७
६५	कालरात्रि (नाटक)	१९५७
६६	राधा (उपन्यास)	१९५८
६७	रचना-सग्रह १	१९५८
६८	सप्तपदी (उपन्यास)	१९५८
६९	विपाशा (उपन्यास)	१९५८
७०	मानुषेर मन (कहानी)	१९५८
७१	मॉस्को ते कयेक दिन (भ्रमण)	१९५८
७२	डाक हरकारा (उपन्यास)	१९५८
७३	रविवारेर आसर (कहानी)	१९५८
७४	महाश्वेता (उपन्यास)	१९६०
७५	योगभ्रष्ट (उपन्यास)	१९६०
७६	पौषलक्ष्मी (कहानी)	१९६०
७७	प्रेमेर गल्प (सकलन)	१९६०
७८	आलोकाभिसार (कहानी)	१९६०
७९	ना (उपन्यास)	१९६०
८०	साहित्ये सत्य (प्रबन्ध)	१९६०
८१	निशिपद्म (उपन्यास)	१९६२
८२	चिरतनी (कहानी)	१९६२
८३	यतिभग (उपन्यास)	१९६२
८४	छोटोदेर भालो-भालो गल्प (सकलन)	१९६२
८५	काम्रा (उपन्यास)	१९६२
८६	ऐक्सिडेण्ट (कहानी)	१९६२
८७	सघात (नाटक)	१९६२
८८	आमार साहित्य-जीवन २ (आत्मजीवनी)	१९६२
८९	भारतवर्ष ओ चीन (प्रबन्ध)	१९६३
९०	गल्प पचाशत (सकलन)	१९६३
९१	तमसा (कहानी)	१९६३
९२	कालवैशाखी (उपन्यास)	१९६३
९३	एकटि चडुई पाखी ओ कालो मेये (उपन्यास)	१९६३
९४	आईना (कहानी)	१९६३
९५	जगलगढ (उपन्यास)	१९६४
९६	मजरी ऑपेरा (उपन्यास)	१९६४
९७	चिन्मयी (उपन्यास)	१९६४
९८	सकेत (उपन्यास)	१९६४
९९	भुवनपुरेर हाट (उपन्यास)	१९६४
१००	वसन्तराग (उपन्यास)	१९६४
१०१	गन्ना बेगम (उपन्यास)	१९६५
१०२	अरण्यवह्नि (उपन्यास)	१९६५
१०३	हीरापन्ना (उपन्यास)	१९६६
१०४	किशोर सचयन (कहानी)	१९६६
१०५	महानगरी (उपन्यास)	१९६६
१०६	गुरुदक्षिणा (उपन्यास)	१९६६
१०७	दीपार प्रेम (कहानी)	१९६६
१०८	शुकसारी कथा (उपन्यास)	१९६७

अभिभाषण के अंश

पहले सभी को यथायोग्य नमस्कार करता हूँ। इस अखिल भारतीय सास्कृतिक मच पर खडे होकर मैं एक ही साथ हर्ष, अभिमान और सकोच का अनुभव कर रहा हूँ। हर्ष और अभिमान का कारण यह है कि प्रलय-पयोधि के बीच वेदधारण करने वाले विष्णु की तरह युग-युगान्तर से जिस भारतीय सस्कृति ने महाकवि वाल्मीकि और महाकवि व्यास रचित रामायण और महाभारत को, महाकवि कालिदास और महाकवि रवीन्द्रनाथ के काव्य को सुरक्षित रखा है, उसी के पदप्रान्त की आधुनिकतम बिन्दु पर आपने, मुझे खडा कर दिया है। मेरे सकोच का कारण यही है कि मैं आज महाकवि कालिदास के उस बौने की-सी प्रतीति कर रहा हू, जिसने प्राशुलभ्य फल की ओर हाथ बढाया था। मैं निश्चित जानता हूँ, मेरे इस सम्मान का कारण मुझे उपलक्ष्य बनाकर हमारे उस परमप्रिय बगला साहित्य को सम्मानित करना है, जो बगला साहित्य जयदेव और चण्डीदास से प्रारम्भ होकर मधुसूदन, बकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र तथा अन्य अनेक विशिष्ट साहित्य सेवको की सेवाओ से समृद्ध होता चला आया है, चला आ रहा है। और यह भी क्यों कहा जाये? केवल बगला साहित्य ही नहीं, बगला साहित्य के हाथो समग्र भारत के साहित्य का सम्मान किया गया है। यह सम्मान समग्र रूप से भारत-सस्कृति का है।

आसमुद्र हिमाचल परिव्याप्त भारतवर्ष के विभिन्न अचलो की विभिन्न भाषाएँ हैं, विभिन्न आचार, विभिन्न आहार, विभिन्न परिच्छद, विभिन्न जलवायु मण्डल है। यह सत्य होते हुए भी इन सारी विभिन्नता के बीच एक अखिल भारतीय इकाई मे सारे भारत का हृदय गुथा हुआ है। यही है अखण्ड भारतीय सस्कृति। भारत सस्कृति की यह अखण्डता कोई अलीकवस्तु या कल्पकथा नहीं है। जब जब अवसर आया है, भारतीय जनमानस की चेतना मे बसी इस चिरस्थायी भारतीय सस्कृति ने अपने निजी अखण्ड और अस्पष्ट रूप में प्रगट होकर अखिल भारतीय अखण्डता को प्रमाणित किया है। भारतीय सस्कृति की इस मूर्ति को कुछ दिन पहले ही, देखने का सौभाग्य मिला है, एकाधिकबार भारत पर विदेशी आक्रमण के समय। महाकवि वाल्मीकि तथा महाकवि वेदव्यास से प्रारम्भ होकर आचार्य शकर, कबीर, तुलसीदास, मीरा, तुकाराम, त्यागराज, गालिब एव इस युग के महाकवि रवीन्द्रनाथ व अन्य कवि और साधकों ने साधना के पथ पर चलकर उसी भारतीय सस्कृति को महाकाव्य, गीतों, कहानियो, गद्य, पद्य और विभिन्न प्रकार की काव्यकृतियों में व्यक्त किया है।

मानवजीवन में सस्कृति का मूल अर्थ क्या है यह खोजने पर प्रत्येक व्यक्ति निज मतानुसार एक उत्तर प्राप्त कर सकता है और उस उत्तर मे से कोई सार्वजनीन सत्य पर भी पहुँचा जा सकता है। मेरे लिए धारावाहिक मानव-सस्कृति एक पेड की भाँति है। उसका जन्म मिट्टी के गहरे अन्धकार में व्याप्त पक-रस मे होता है। वही उसका प्रारम्भ है, परन्तु उसका गन्तव्य कहीं और है, सम्भवतया विपरीत दिशा मे। अन्धकारलोक के पक-रस के बीच जन्म लेकर, उस रस मे विकसित होकर आकाशलोक की ओर उसका अभिसार होता है। पत्र-पल्लव के पथ पर यात्रा कर आकाशमुखी पखुडियों के खिलने से उसका अभिसार पूर्णता प्राप्त करना है।
मानव-जीवन भी मानो उसी भाँति एक अभिप्राय को सम्पूर्णता देने के लिए काल से कालान्तर में विभिन्न प्रजन्मों के मध्य यात्रा कर रहा है। उसका प्रारम्भ जैव-जीवन की प्रवृत्ति, कामना और उसकी

पूर्ति से है। परन्तु किसी भिन्नमुखी अपरिहार्य अभिप्राय से वह जैव-जीवन की जीव-प्रवृत्ति को पराभूत कर एव उसका अतिक्रमण कर अपने जीवन में ही एक भिन्न प्रकृति की भावमूर्ति की रचना की तपस्या में निमग्न है। बार बार व्यर्थता, भ्रान्ति और स्खलन के बाद भी उसकी तपस्या विरामहीन तथा अन्तहीन है। भावात्मक ससार की इस भारतीय पद्धति को ही मैं भारत-सस्कृति कह रहा हूँ। इस मिट्टी मे निहित जीवन और सृष्टि के रहस्य, एव व्यक्त के अन्तराल मे अव्यक्त के सन्धान के माध्यम से ही यहाँ का मानव युगों से जिस भावात्मक ससार को रचने की चेष्टा मे निमग्न है, वही भिन्न-भिन्न अवयवों के रूप में भिन्न-भिन्न काल खण्डों में अभिव्यक्त हुआ है। किन्तु उसके अन्तर्निहित स्वरूप में भारतवर्ष की विशिष्टता और इकाई समग्रता में प्रगट हुई है। आडम्बरहीन, समारोहहीन, परम परितृप्त कृतकृतार्थ, गम्भीर प्रशान्ति, उसी की फलश्रुति है। साधक की साधना में, कवि के काव्य में, सगीतज्ञ के सगीत में उसी ऐक्य के आविष्कार और उसी ऐक्य को पाने की तपस्या सभी ओर से परिलक्षित है। व्यक्तिजीवन मे यह व्यक्त होता है आदर्श के प्रति अविचल आस्था के रूप मे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त विस्तृत जीवन में सामग्रिक चर्चा और आचरण में जीवन का वह अभिप्राय और कातर निवेदन एक विशेष रूप परिग्रहण करने का प्रयास कर रहा है। कहीं-कहीं वह रूप किसी-किसी व्यक्ति के जीवन में या साहित्य के काल्पनिक चरित्र में उज्ज्वल और स्पष्ट होकर इस जीवन दर्शन और जीवनधारा का विशिष्ट विग्रहमूर्ति बन गया है। श्रीराम, श्रीकृष्ण या बुद्ध, पारसनाथ और गाधी इस जीवन साधना के उज्जवलतम विग्रह हैं। और इतना ही क्यों? समग्र विश्वसस्कृति में महाप्राण यीशु तथा हजरत मुहम्मद इसी प्रकार से अन्यतम हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ ने अपने सास्कृतिक कार्यक्रम के माध्यम से पुन इस भारत-सस्कृति को ही सम्मानित करने की व्यवस्था की है। भारत-सस्कृति को सम्मानित करने के लिए जिस तरह की वेदी उन्होंने रची है उसके लिए वे विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। एक भारतवासी के नाते गहरी आन्तरिकता के साथ मैं उन्हें धन्यवाद ज्ञापन कर रहा हूँ। साथ ही ज्ञानपीठ पुरस्कार की नियन्ता, प्रवर परिषद को धन्यवाद ज्ञापन कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे लगता है भारतीय ज्ञानपीठ और उसके प्रवर परिषद ने जिस रचना को सम्मानित करने के लिए आज यह आयोजन किया है उस रचना में भी उन्होंने अखिल भारतीय जन-जीवन का चित्रायन देखकर ही उसे सम्मानित किया है। उन्होंने देखा है—भारत के लाखो गावो में रहने वाले अखिल भारतीय ग्रामीण जनसाधारण बाह्य रूप में कुछ भिन्न होते हुए भी भीतर से एक ही साधना में निमग्न हैं, एक ही सिद्धि की ओर उन्मुख हैं। उनकी निजी आशा-आकाक्षा, दुख-दर्द, प्रश्न-समस्याएँ, रीति-प्रकृति एक हैं। बाह्य भिन्नता होते हुए भी, वे एकता के सूत्र से बधे हुए हैं। उन्होने अखिल भारतीय सस्कृति की वेदी से अखिल भारतीय दृष्टि की उदारता से सम्पन्न अखिल भारतीय जीवन की कहानी के रूप मे ही इस रचना को सम्मानित करना चाहा है।

परन्तु अखिल भारतीय जनजीवन की कहानी होने के कारण जिस रचना को उन्होंने सम्मानित किया है वह रचना स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व की रचना है। आज के दिनों से वे दिन भिन्न थे। यद्यपि दोनों मे समय का व्यवधान पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं है, सम्भवत कम ही होगा, किन्तु दोनों युगों में अलगाव बहुत है। उन दिनो जीवन में ऐसा कुछ था जिसने जीवन के आकाश को महान आलोकवृत्त से घेर कर सारे जीवन को महिमान्वित कर रखा था। उस दिन सारा देश पराधीन था। पराधीनता के कारण जहाँ एक ओर महान वेदना थी, वहाँ दूसरी ओर इस परतन्त्रता से मुक्ति पाने के लिए बहुत बडा प्रयास था। यह वेदना तथा यह प्रयास एक साथ मिल कर अखिल भारतीय जीवन की एकता को अधिक निविड और गहरे बनाते रहे।

आज स्वतन्त्रता अर्जित हुई है, किन्तु एकता की वह निविडता और गहराई मानों अनुपस्थित है। वह महान वेदना भी आज अन्तर्हित हो गयी है और उस वृहत् प्रयास का अब अश भी शेष नहीं है। एक वाक्य में कहा जाय तो भारतवर्ष के जीवन में ऐसा कोई आदर्श सक्रिय नहीं है जो हिमालय के छोर देश से लेकर कुमारिका के समुद्रतट तक राष्ट्र के जीवन को किसी महान् उद्देश्य सूत्र में बाध कर रख सके। इसके फलस्वरूप वह अखिल भारतीय अखण्डता बोध प्रतिदिन के जीवन में मानो अपनी प्रगाढता खोकर फीका होता जा रहा है। साथ ही दूसरी ओर जीवन किसी महान् वेदना से प्रेरित या प्रतिबद्ध नहीं है। सारे विश्व में मानवजीवन के जीवनादर्श में मानो एक बहुत बडा परिवर्तन आ गया है। कल्पना और भाव जीवन के स्वर्ग लोक से विच्युत हो गये, सारे विश्व की मानवात्मा मिट्टी पर उतर कर उस धूलिधूसरता का महान गौरव पाकर भी उठकर खडी नही हो पाई है। वह गिरकर धूल मे लोट रही है। यद्यपि इस प्रयास को लेकर कम-से-कम भारतवर्ष मे रामायण-महाभारत जैसे किसी महान तथा विराट महाकाव्य की रचना की जा सकती थी।

आज भारत की चारो दिशाओ की ओर दृष्टि दौडाकर देश के बहिर्लोक तथा अन्तरलोक का उभयत कौन सा चित्र देख रहा हूँ? स्वाधीनता के बाद से राष्ट्रीय एकता और एकीकरण के लिए चेष्टाए तो कम नहीं हुई। किन्तु चारों ओर देखकर लग रहा है कि उससे कोई लाभ नही हुआ। भौगोलिक व्यवस्था के रूप मे देश ने चाहे जितनी तरक्की क्यों न की हो, कृषि-व्यवस्था के लिए जितनी बडी सिंचाई-योजना क्यों न बनी हो, मनुष्य के हृदय रूपी खेत में अमृत सींचने का कोई काम नहीं हुआ। शिक्षा का प्रसार होते हुए भी वह बाझ होती आई है। हमारे जीवन में मानो अखिल भारतीय एकता बोध के पुष्पहार टूटकर सारे फूल स्खलित होकर गिरने ही वाले हैं, ऐसा लग रहा है। मानो हमारे हृदय में नष्ट होने की आशका है, इसीलिए राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की आर्तवाणी हम उच्च कण्ठ से अपने आपको सुना रहे हैं। आज कभी भाषा, कभी धर्म, कभी प्रादेशिकता, आदि किसी न किसी बहाने हमारे दीर्घपोषित संशय, कुटिल अविश्वास तथा स्वार्थ पर भय ज्वालामुखी के अन्तरग में बहने वाले लावा की तरह फूटकर हमारे जीवन को विपर्यस्त तथा भग्नप्राय आस्था को घातक चोट पहुँचा रहे हैं।

आत्मरक्षा का कोई अस्त्र या कवच आज हमारे पास नही है। एक दिन था जब इस चिरपोषित सशय, अविश्वास और भय के होते हुए भी हम उमे पराजित कर अखिल भारतीय बृहत् जीवन की वेदी पर एक महान अभिप्राय से एकत्रित होकर आकाश की ओर हाथ उठाकर खडे हुए थे, अब वह वेदी टूट गयी है। इसीलिए मन का आगन आज सूना पडा है। जीवन जिस आस्था के अग्निकुण्ड को मनोलोक की वेदी पर पवित्र होमाग्नि की तरह धारण कर प्रदक्षिण करता है, और जिसके उत्ताप व आलोक मे सारा जीवन अपने विशिष्ट स्वरूप की रचना कर लेता है वह अग्निस्थली भी आज खाली पडी है। जो विश्वास घना होकर जीवन का आवेग बना कर्म मे अपनी मूर्ति ग्रहण करता है, वह विश्वास आज नहीं रहा। पुरातन विश्वास, काल के अपरिहार्य नियमानुसार समाप्त हो गया है, किन्तु भारतवर्ष के मनुष्य के जीवन में आज भी नवीन विश्वास का आविर्भाव नहीं हुआ है।

किन्तु जीवन को अपने ही प्रयोजन से, 'आस्था' की आवश्यकता है। इसलिए कुछ खोजी व्यक्तियों ने विश्वास के सन्धान मे लगकर सम्भवत किसी एक व्यक्तिगत आस्था को खोज निकाला है। फलस्वरूप, विपुल जनमानस की चिन्ता-भावना तथा व्यथा-वेदना से वे कट गये हैं। दूसरी ओर बहुतों ने ऐसे चिन्तन तथा विश्वास को अपनाया है जो इस देश की विशाल जनसमाज के धारावाहिक सास्कृतिक जीवन के परिणामस्वरूप उद्भूत नहीं हुए हैं। वे यहाँ के रस की फसल नहीं हैं। वे बीज, भिन्न मिट्टी के लिए हैं। उनका उद्भव भिन्न मिट्टी

पर है।

भारतीय सस्कृति ने काल से कालान्तर के देश से देशान्तर के भाव-जीवन तथा सास्कृतिक जीवन के सस्पर्श मे आकर जहाँ तक सम्भव हुआ निरन्तर उसे अपनाया है। उसके चारो ओर के मुख्य द्वार सदैव खुले रहे हैं। इसी मनोभाव को प्रकाशित करने के लिए आचार्य शकर ने कहा था, "माता मे पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरो, मनुजा भ्रातर सर्वे स्वदेशो भुवनत्रयम्।" इस युग मे रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "शक हूण दल पाठान मोगल एक देहे हलो लीन।" भारत सस्कृति के अग-अग पर इस तथ्य का विचित्र परिचय परिलक्षित है।

आधुनिककाल में योरोपीय तथा अग्रेजी सस्कृति के साथ हमारे दीर्घ सम्पर्क के फलस्वरूप पिछले चालीस-पचास वर्षों में हमारे सास्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन को आन्दोलित करने के लिए अनेकों लहर तरगे प्रविष्ट हुई हैं। उन तरगो के आघात से हमारे चिन्तन सस्कृति, तथा सामग्रिक जीवन के रूपाकार मे अनेको परिवर्तन हुए हैं। योरोप से प्राप्त वस्तु-विज्ञान की चर्चा ने जिस प्रकार नये द्वारों को उद्घाटित कर अनेक आलोको से हमारे चिन्तन तथा जीवन के प्रागण को आलोकित किया है, उसी प्रकार प्राचीन को ज्वराग्रस्त दिखाकर हमारे कुसस्कारों पर भी चोट की है। साथ ही साथ फ्रायडीय मनोविज्ञान से अधुनातन अस्तित्ववाद आया है।

और भी कुछ आया है। कुछ ही दिन पूर्व, प्राय समग्र ससार में बडे समारोह के साथ रूसी विप्लव की पचासवी वर्षगाँठ मनायी गयी। इसी रूसी विप्लव के इतिहास से आरम्भ होकर हमारे स्वाधीनता-प्राप्ति के समसामयिक काल में हुए चीनी विप्लव तक के इतिहास ने हमारे जीवन तथा चिन्तन के दरवाजों को प्रबल वेग से खटखटाया है। यह सत्य है कि फ्रायडीय मनोविज्ञान से अस्तित्ववाद तक का दर्शन और रूसी विप्लव के इतिहास से चीनी विप्लव तक का इतिहास, हमारे जीवन और चिन्तन में बडी तेजी से अपनी विशिष्टता एव गुणावगुण लेकर प्रविष्ट हुआ है, फिर भी कहूँगा कि वे हमारी अपनी सास्कृतिक मृत्तिका से उद्भूत न होने के कारण हमारे जीवन में सहज और स्वाभाविक स्वरूप में स्थापित नहीं हो पा रहे हैं। वह होना नहीं है, इसीलिए हो नही पा रहा है। जबकि अपनी पराधीनता के काल मे हम लोगों ने अत्यन्त सरलता से रूसी विप्लव की सार्थकता से उत्तेजना ग्रहण की थी जिसने हमारे स्वतन्त्रता सघर्ष मे शक्ति, उत्साह और प्रेरणा जुटाई, और एक अपर देश की चिन्तन की अग्नि से हमारी जीवन-अग्नि को प्रज्ज्वलित किया था।

ये सब चिन्तन सास्कृतिक जगत तथा राजनीतिक इतिहास की युगान्तकारी घटनाएँ हैं। अत इन्हे स्वीकारने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। अस्वीकार करने की कोशिश करने पर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। किन्तु जब तक ये हमारी मानसिक भूमि तथा जलवायु के अनुरूप मूर्तिमान नहीं हो पाते, तब तक ये सब भारतवर्ष के सास्कृतिक तथा सामाजिक जीवन मे सार्थक नही हो सकेंगे।

विदेशी प्रभाव कुछेक विशिष्ट क्षेत्रों में वैयक्तिक-दृष्टि तथा व्यक्ति-साधना के गुणो से विभूषित एव मूर्तिमान होकर हमारी सस्कृति की स्वकीय काया पर श्रृगार की तरह सजा हुआ है। किन्तु सब कही साधारणतया ऐसा नहीं हुआ है। विदेशो से प्राप्त चिन्तन तथा उधार ली हुई दृष्टि जब तक हमारी निजी सस्कृति के अग के रूप मे राष्ट्र के प्रतिदिन के जीवन का सहज तथा सत्य नहीं बन जाती, तब तक उससे नया आवेग तथा नया रस सचित नहीं किया जा सकेगा।

किन्तु साहित्य और सस्कृति का यह रूप केवल अल्पसख्यक शिक्षाभिमानी व्यक्तियों को स्वीकार्य है। ये लोग भारत की ५० करोड जनता के अत्यन्त लघु भग्नाश मात्र हैं। इस भग्नाश के बाहर जो लोग हैं उन्हें यह साहित्य कहाँ तक रूचिकर होगा यह मैं नहीं कह सकता। सम्भवतया इससे वे लोग सगोत्रता तथा आत्मीयता का अनुभव नहीं करेंगे।

हमारी प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था, सस्कृति और समाज के आलोकित पाद-प्रदीप के अन्तराल में तथा आत्मिक परिधि से बाहर अगोचर छाया में आश्रित जो वृद्ध सनातन धैर्यवान गम्भीर भारत प्रतीक्षा कर रहा है, उससे सास्कृतिक तथा सामाजिक सम्पर्क आज टूटा है। सम्भवतया इस विच्छिन्नता का व्यवधान दिन-प्रति-दिन बढता जा रहा है। जहाँ एक ओर हमारे जीवन-मच पर प्रज्वलित सास्कृतिक आलोक उज्ज्वलतर तथा तीव्रतर रूप ले रहा है, वहीं दूसरी ओर छाया भी सम्भवतया उतनी ही घनी होती जा रही है। एक ओर झूठा अहकार और अवहेलना है, तथा दूसरी ओर अविश्वास और भय।

अपनी वर्तमान सस्कृति, साहित्य और वैदग्य की बात जितनी ही सोचता हूँ उतना ही लगता है मानो हमारे कण्ठ से उच्चरित आत्मकीर्ति की अहमिका जोर तो पकड रही है किन्तु हमारे उस छाया से घिरे हुए जीवन मे कर्म की ध्वनि या वर्ण न किंचितमात्र गूज रही है, न हल्के से भी कहीं रग रही है। जनसाधारण तो आज भी उस रामायण-महाभारत के काल से उन दो महाकाव्यो के बन्धन मे आबद्ध होकर, उत्तर में हिमाचल के शीर्ष-देश से दक्षिण में कन्याकुमारिका के प्रान्त बिन्दु तक तथा पश्चिम में गुजरात से पूर्व मे मणिपुर तक विस्तृत भौगोलिक मृत्तिका पर एक गहरी एकता के बन्धन में आबद्ध हो एक ध्रुवबोध को अनजाने ही अपने सस्कारों में पवित्र होमाग्नि की तरह स्थापित कर, जीवन बिता रहे हैं। अग-बग-कलिंग के समुद्र सरिताओं के तट पर, पजाब, बम्बई गुजरात के प्रान्तरों में, एक ही जीवन अपनी रक्तधारा में तथा हृदय के स्पदन में, एक ही निश्शब्द मत्रोच्चारण करता चला आ रहा है।

समाधान शायद वहीं कहीं है। यदि देश के आलोकित तथा तिमिरावृत दोनों प्रकार के विच्छिन्न जीवन रूपो को पारस्परिक सान्निध्य में लाकर प्रेम और विश्वास के स्वर्ण-सूत्र से बाधने का पथ आविष्कार किया जाय, तो हमारी सस्कृति के एक वृहत् जीवन क्षेत्र की मुक्ति शायद सम्भव होगी। यदि जीवन की यथार्थता को तथा सनातन आकाक्षाओं को, दोनों को, हम अपनी आन्तरिक प्रचेष्टा, गहरी श्रद्धा तथा निरलस श्रम द्वारा जानने तथा समझने का प्रयास करे तो शायद हमारी सस्कृति में एक बार फिर ज्वार आयेगा और उस दिन भारतवर्ष मे किसी भी प्रान्तीय भाषा में जो भी साहित्य रचा जायेगा वह तुरन्त ही अखिल भारतीय साहित्य बन जायेगा। उस अखिल भारतीय साहित्य मूर्ति में मैं सार्वभौम मनुष्य का केवल चिरन्तन रूप ही नही देखूँगा, बल्कि 'जनाना हृदये सन्निविष्ट ' जो जनार्दन है, उसे भी देखूँगा।

डॉ. कु. वें. पुट्टप्प

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ वर्ष १९६७ का साहित्य-पुरस्कार डॉ कुप्पल्लि वेकटप्प पुट्टप्प को उन के कन्नड महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' के हेतु समर्पित करती है जिसे १९३५ से १९६० के बीच भारतीय भाषाओं मे प्रकाशित सर्जनात्मक साहित्य की कृतियो मे सर्वश्रेष्ठ निर्णीत होने का सह-गौरव प्राप्त है।

इस अमर ग्रन्थ का प्रणयन कवि की एक दशक की साहित्यिक साधना का सुफल है। महाछन्द मे निबद्ध इस महाकाव्य का मूल आधार यद्यपि वाल्मीकि-रामायण है किन्तु इस में पूर्ण पल्लवन और विकास के ऐसे अनेक आयाम समाहित हैं जो अभी तक अकल्पित थे।

कवि की बहु-आयामी प्रज्ञा-दृष्टि ने महाकाव्य के पात्रो को एक नयी अर्थवत्ता दी है जो चरित्रो की निजता और प्रतीकात्मकता दोनों दृष्टियों से विशिष्ट है। इस महाकाव्य मे कवि की अन्त प्रेरणा ने यथार्थ और आदर्श, सान्त और अनन्त एव प्राच्य और प्रतीच्य को एक साथ सकल्पित करके एकात्मकता प्रदान की है। 'श्री रामायण दर्शनम् मे हमें कवि का साक्षात्कार एक ऐसे 'आर्ष पुरुष' और 'आधुनिक मानव' के सयुक्त रूप में होता है जिस की दृष्टि भविष्य के 'अति-मानव' पर केन्द्रित है। यह महान् कृति एक विशेष अर्थ मे हमारे युद्धक्लान्त, भयाक्रान्त युग की सामूहिक अवचेतना का आध्यात्मिक उद्‌गार है।

कुवेपु उपनाम से विख्यात कवि साहित्य के ऐसे शलाका पुरुष हैं जो काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों के द्वारा पूरी तरह व्याख्यायित नहीं हो सकते, क्योंकि उन के ग्रन्थों में नग्न यथार्थ और अतीन्द्रिय यथार्थ एक साथ अनावृत है।

कल्पना-प्रवण जीवनी, सर्जनात्मक साहित्य-समीक्षा, काव्यशास्त्र, नाटक, उपन्यास--अनेक साहित्यिक विधाओ मे श्री पुट्टप्प का योगदान चिरस्मरणीय है। उन की वाणी मात्र एक व्यक्ति की नही, वह युगीन आत्मा की और राष्ट्र की वाणी है। वे चिरजीवी हो।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्षा
२० दिसम्बर, १९६८	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

डॉ. कु. वें. पुट्टप्प

कुप्पलि वेंकटप्पा पुट्टप्प, जो साहित्यिक क्षेत्रो मे 'कुवेंपु' के नाम से प्रसिद्ध हैं, का जन्म २९ दिसम्बर १९०४ को हुआ था। कुप्पलि दक्षिण कर्नाटक के पश्चिम घाट मे मलेनाड क्षेत्र का एक साधारण-सा पुरवा है। मलेनाड का वास्तविक अर्थ है पर्वतीय क्षेत्र। ये पुरवा इन पहाडों की तराई मे सघन वनो से घिरा हुआ है। आगे चलकर स्वय कुवेंपु ने इस क्षेत्र का बडा सुन्दर वर्णन किया है–"मलेनाड कर्नाटक का काश्मीर है। वह वनदेवियों की क्रीडा-स्थली है। अपना बैगनी आँचल फैलाए पर्वत-श्रेणियाँ क्षितिज के साथ-साथ ऐसी दिखती हैं मानो वे स्वय क्षितिज की ही कल्पना हों। पर्वत-शिखरो को अपनी गोद मे समेटे वनपथ, शिलाओं और चट्टानों के बीच लहराते उत्तुग श्रृगों से किनारों पर ऊँचे छायादार वृक्षो के सघन झुरमुटो से घिरे जनमे निर्झर और नाले घाटी पर छाये हुए नयनाभिराम सुपारी के कुँज और धान के खेत, मलेनाड के यह मनोहारी दृश्य मन को अत्यन्त मोहित करते हैं।"

आठ वर्ष का होने पर पुट्टप्प अन्य बालकों के साथ तीर्थ हल्ली के स्कूल में भेजे गये। जो उनके गाँव से नौ मील दूर मलेनाड के ठीक मध्य में पडता है। यहाँ उनकी प्राथमिक शिक्षा हुई, पर इससे भी अधिक पुट्टप्प प्रकृति और उसके सौन्दर्य मे रमते गए। अवकाश के दिन समय मिलते ही वे इस रमणीक क्षेत्र मे विचरते रहते। पहाडियाँ और पर्वत, वनो और जगल, घाटियो और बीहड, नालो और नदियो, प्रकृति के इन सभी रूपों से उनको नये-नये अनुभव मिलते, साथ ही पुट्टप्प की पारखी आँखो ने उस क्षेत्र मे रहने वाले लोगों के रहन-सहन का भी खूब अध्ययन किया। ये स्थान सभ्यताओ से अछूता था और कवियों, सुधारको आदि के प्रभाव से बहुत दूर। अपने आप में एक द्वीप की भाँति पहाडियों और घाटियों मे अकेले ही घूमते उनको सूर्योदय और सूर्यास्त के समय प्रकृति में एक निराला ही सौन्दर्य दिखाई देता। वे इस पर चिन्तन करते-करते ध्यानस्थ से हो जाते। यहीं से उनकी अन्तस् में कविता का बीज बैठ गया।

फिर दैवी इच्छा हुई कि इस प्रकृति के लाडले को उसकी प्रेरणास्थली से छुडाकर नागर सभ्यता और नागर आचार-व्यवहार के अनचीन्हे-पराये वातावरण में रोपा जाये। और उच्चतर शिक्षा की आकुल लगन कवि को मलेनाड से मैसूर ले आयी, यहीं वह प्रकाश में आये। यहाँ स्कूल-काल में ही

शेक्सपीयर से लेकर ताल्सतॉय तक पश्चिम के जितने भी महामहिम साहित्यस्रष्टा थे सबका उन्होंने पारायण कर डाला। रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेकानन्द की जीवनियो और वाणी से परिचित होने पर तो इन्हें आलोक के नये-नये क्षितिज सामने खुलते दिखे। ये ही स्कूल के दिन थे जब कुवेंपु ने अँग्रेजी में काव्य-रचना प्रारम्भ की। इन कविताओं का सग्रह 'बिगिनर्स म्यूज' शीर्षक से सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ। मैसूर मे ही उनकी भेट प्रख्यात थियोसोफिस्ट जेम्स से हुई। आयरलैंड के रहने वाले कजिन्स एक सुयोग्य कला-पारखी थे। कुट्टप्प ने उनको अपनी अँग्रेजी कविताएँ दिखाईं। कजिन्स ने इस युवक के एक विदेशी भाषा पर अधिकार, शब्द कोश का ज्ञान और काव्यात्मक स्वरूप मे गति की तो प्रशसा की पर एक विदेशी भाषा को माध्यम बनाने के प्रति अपनी आपत्ति प्रकट की, कजिन्स ने पुट्टप्प से पूछा, "अँग्रेजी मे क्यो लिखते हो, अपनी मातृभाषा में क्यो नहीं लिखते?" कुट्टप्प ने उत्तर दिया, "आधुनिक विचार और चिन्तन उतने यथार्थ रूप मे व्यक्त नही किये जा सकते। कन्नड मे अँग्रेजी भाषा की तरह न तो सुकुमारता और लचीलापन है, और न ही उस भाषा की शक्ति और ओज।" इस पर कजिन्स ने कुट्टप्प को समझाया कि अभिव्यक्ति वास्तव मे व्यक्ति पर निर्भर करती है, चार-पाँच शताब्दी पहले अँग्रेजी भी बहुत ही कमजोर भाषा थी। पुट्टप्प पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ और उन्होंने कहा, "यदि कोई कन्नड में लिखे तो वह अँग्रेजी व अन्य विदेशी भाषाओं के पाठको तक कैसे पहुँचेगा?" कजिन्स ने बात समाप्त करते हुए कहा, "तुम चाहे जितनी अच्छी अँग्रेजी मे लिखो। तुम कभी उस स्तर पर नहीं पहुँच पाओगे जिनकी मातृभाषा अँग्रेजी है। जब तुम अपनी भाषा में लिखोगे और उनमें गति व तेजस्विता है तो उसका अन्य भाषा में अनुवाद हो जायेगा। रवीन्द्रनाथ टैगोर को देखो, सारी दुनिया उनका कवि के रूप में सम्मान करती है। इसका पुट्टप्प पर अवश्य ही प्रभाव पडा, क्योंकि उस समय तक अँग्रेजी में लिखते रहने के बाद उन्होंने खुद अनुभव किया कि अँग्रेजी में वे अपनी गहन भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं दे सकते।

इस प्रकार उस अव्यक्त दिव्यता की उन्होंने प्रतीति प्राप्त की जो मातृभाषा के माध्यम से प्रकट होने की उत्सुक प्रतीक्षा मे थी। फिर तो कुवेंपु ने काव्य-रचना के द्वारा ही सर्वोच्च की उपलब्धि के लिए अपनी तमाम शक्ति को समर्पित कर दिया। उन्होंने काव्य-विधा को आनन्द-मोद की दृष्टि से नही, अपितु, परम दिव्य और सत्य के अन्वेषी की भावना से अपनाया है। उनका दृढ विश्वास है कि कविता महान न होगी यदि कवि की आध्यात्मिकता ही लयात्मक ध्वनि-विधान मे रूपान्तरित होकर न आयी हो। और कुवेपु की तो प्रत्येक रचना, वह गीत हो या नाटक, कहानी हो या महाकाव्य, आध्यात्मिकता से ही अनुप्राणित है। 'स्प्रिग' को कन्नड मे प्रस्तुत करने के दिन से लेकर आज तक वह निरन्तर और अचूक भाव से साहित्य-सर्जना करते आये हैं और न केवल कोई कवि-क्लान्ति कभी नही आयी बल्कि अपनी अनुभूतियों के नित नये साम्राज्य ही उन्होंने उद्घाटित किये। उनके आध्यात्मिक विकास-उत्कर्ष को प्रथम कविता 'अमलान कथे' से श्रेष्ठतम कृति 'श्रीरामायणदर्शनम्' तक एक अटूट रेखा-बँधे रूप में देखा जा सकता है।

कुवेंपु की रचनाओं से ऐसा प्रदर्शित न होगा कि किसी परम्परा का परित्याग किया गया है। पर कुवेंपु जन्मजात क्रान्तिकारी हैं और अपेक्षित सभी गुण उनमें विद्यमान हैं। कन्नड भाषा और साहित्य के क्षेत्रों को उनसे सहज रूप से अनेक नये दिशामार्ग प्राप्त हुए हैं। कन्नड साहित्य को समृद्ध करने में तो उनका बहुत बडा योगदान है। यह सत्य है कि उनकी प्रारम्भिक कृतियों में कुछ त्रुटियाँ थीं, पर जैसा किसी समीक्षक ने मन्तव्य प्रकट किया "ऐसी त्रुटियाँ तो महान् कवियों से शुरू-शुरू में प्राय हुईं।" थोडे समय में ही ये दूर हो गयीं और फिर तो कुवेंपु उत्कर्ष के शिखर के बाद

शिखर छूते चरम शीर्ष तक आ पहुँचे। वह वास्तव में एक कलाकार हैं जिन्हें पूर्णतया समझने के लिए काव्यशास्त्र के सीधे-सरल नियम सहायक न होगे। उनकी कृतियाँ मात्र वास्तविकता को सामने नहीं लातीं, जो परा-वास्तविक हैं उसका भी सदर्शन कराती हैं। वे समकालीन समाजगत होने के साथ-साथ अपने आयामों में महाकाव्य भी होती हैं। कुवेंपु किसी प्राचीन विषय-वस्तु को भी लेते हैं तो लोक-समाज की रुचियों को देखते उसमें चाहे जो परिवर्तन नहीं करते, उनकी कृतियों में तो राष्ट्र को मिला अतीत का समूचा रिक्थ उसके वर्तमान की अनुरूपता में ढाला हुआ मिलता है। उनकी वाणी ही एक व्यक्ति की वाणी न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की आत्मा की वाणी होती है।

कन्नड में स्नातकोत्तर कक्षा में प्रवेश के कुछ समय बाद ही उन्होंने "जलागार' नामक नाटक लिखा और उसके पश्चात् 'यमन शोलू'। दोनो ही बहुत प्रसिद्ध हुए। इन दोनों नाटको में उन्होंने अतुकान्त कविता का प्रयोग किया। इनमें से दूसरा इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि थोडे ही समय मे उसका अनेक बार मचन किया गया। एक बार, १९२८, में तो सत्यवान का अभिनय स्वय उन्हे ही करना पडा।

१९३६ में प्रकाशित अपने उपन्यास 'कानूरू हेग्गडिति' में, जो एक गद्य महाकाव्य है और कन्नड भाषा में अपने प्रकार की पहली रचना, उन्होंने मलेनाड के जीवन-ससार का चित्रण किया है, और इसमें जहाँ एक ओर प्राकृतिक सौन्दर्य की अपारता और भव्यता का अकन हुआ वहाँ दूसरी ओर जीवन के अप्रिय और अस्वस्थ पक्षों का भी निर्मम निरपेक्षता के साथ वर्णन किया गया है। यों इसका पूरा परिप्रेक्ष्य और चरित्र स्थानीय है, किन्तु वे सर्वदेशीय भी होते हैं। क्योंकि इस उपन्यास में चित्रण अधूरे या अशमात्र जीवन का नहीं, समग्र और सम्पूर्ण जीवन का किया गया है। पिछले वर्ष उनका दूसरा उपन्यास 'मुलेगलल्लि मदुमगलु' आया है। इसमें मलेनाड का उससे भी पूर्व का जीवन चित्रित किया गया है। पिछले उपन्यास से यह कहीं बढ-चढकर है, भले ही ऊपर से देखने वाले पाठक को ऐसा न लगे। यहाँ कवि अपनी आध्यात्मिकता के स्तर पर अधिक प्रौढ है उसे जीवन के प्रति मोह-बाधा जैसे अब नहीं रह गयी। इस कृति में लेखक के माध्यम का सहारा लिये बिना जीवन स्वय अपने को उघाडता चलता है, मानो आदि से अन्त तक 'सामूहिक अचेतन मन' सक्रिय हो। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि अपने आध्यात्मिक ओज का 'श्रीरामायणदर्शनम्' जैसी महामहिम क्लैसिक में भरपूर उपयोग कर लेने के बाद भी इस विलक्षण उपन्यास की सृष्टि के लिए इतनी ऊर्जा कवि में थी।

'श्रीरामायणदर्शनम्' महाछन्दों में रचा हुआ कन्नड भाषा का प्रथम महाकाव्य है जो श्री वाल्मीकि रामायण पर आधारित होते हुए भी नये-नये आयामों का विस्तार पाकर पूर्णतर हो उठा है। इस बहुआयामी महाकाव्य में वास्तव मे वास्तविक, कालगत और शाश्वत, सामयिक और चिरस्थायी, तथा भौतिक और आध्यात्मिक, सबका एक विराट् सम्पूर्ण में अन्तप्रेरित कुशलता के साथ समेकन हुआ है। यह कुवेंपु की अत्यन्त विशिष्ट रचना है जहाँ दिव्यता दानवता को आलिंगन मे लेती है, और जहाँ महान की परिणति में तुच्छतम भी योगदान करता है। यहीं पर कवि को 'मूल मानव' और भावी 'अतिमानव' की ओर दृष्टि साधे, 'आधुनिक मानव' दोनों रूपों में लक्षित किया जा सकता है। 'श्रीरामायणदर्शनम्' वास्तव में एक समूचे आध्यात्मिक जीवन का निष्कर्ष है और एक तन्मयकारी अतिमानस-चेतना का अवदान, जहाँ पूर्व और पश्चिम भी परिणय-प्रीति के सूत्र में बँधे मिलते हैं। कहा गया है कि इस महाकाव्य में "एक श्रेष्ठ प्राणवान् व्यक्ति की आजीवन भावना-साधना का सार-तत्त्व जीवनातीत जीवन के उद्देश्य से क्षयमुक्त हुआ आसचित है।" 'श्रीरामायणदर्शनम्' १९४९ में प्रकाशित हुआ जब पुट्टप्प केवल ४५ वर्ष के थे।

कुवेपु की प्रतिभा बहुमुखी है। उनकी रचनाओं में उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ और बाल नाटक, निबन्ध और समीक्षाएँ हैं। समय-समय पर दिए गए उनके व्याख्यान और उद्बोधन इन सबके अतिरिक्त हैं किन्तु मुख्यत और अन्तरग से वे एक कवि हैं। उनके काव्य का विषम, प्रकृति के व्यापक पक्षों पर आधारित है उनमें मानव की प्रकृति, उसकी शक्ति और उसकी दुर्बलताएँ, उसके राग और द्वेष, उसके दुख और सुख, उसके हर्ष और विषाद, मानव जीवन, मानवीय अभिरुचियाँ, और लोगों की प्रवृत्तियाँ और पद्धतियाँ, विज्ञान, अध्यापन और धर्म, सक्षेप में मानव से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु में उनकी अभिरुचि है। किन्तु इन सभी विषयों में व्याप्त और सर्वोपरि तीन विषय हैं, प्रकृति, आत्मा और विवेक-बुद्धि।

प्रकृति के प्रति कुवेंपु का वही दृष्टिकोण है जो एक पूजक भक्त का हो सकता है। प्रकृति के विभिन्न रूपों में वे निर्जीव और सवेदनहीन छवि नहीं पाते प्रत्युत आत्मा के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति पाते हैं। 'बाफाल्गुण रवि-दर्शनके' काव्य मे कुवेपु ने सूर्योदय की दिव्य आभा का वर्णन किया है। कन्नड में सूर्योदय का वर्णन करने वाले काव्यों में इसका सर्वोच्च स्थान है। अद्भुत सौन्दर्य से ओतप्रोत सूर्योदय की छटा कवि को इतना प्रभावित करती है कि वह उसे एक यज्ञ की उपमा देता है। प्रकृति के अनेकानेक आयामों की प्रशस्ति में और अपनी आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति में आमूल-चूल मग्न कुवेंपु को फिर भी अपनी परिपूर्णता पर सन्तोष नहीं हुआ। प्रेम के विभिन्न स्तरों के विश्लेषण में उनकी सम्पूर्ण शक्ति लगाना भी अभी शेष था, उनके चारों ओर व्याप्त निर्धनता और सामाजिक दुख-दर्द उन्हें भीतर तक तडपा देते और क्रूरता तथा अन्याय में सार्वभौम ताण्डव से वे कराह उठते।

अपने मानस और परिकल्पना की गतिविधियों में क्रम-क्रम से अपने पाठक को भी उतार लाने की कला में कुवेंपु परम निष्णात हैं। विषय का बाह्य विश्लेषण करते-करते वे क्रमश उस गहराई में उतर जाते हैं जहाँ सौन्दर्य का आनन्द हिलोरें ले रहा होता है। लेखक के अपूर्व निर्देशन में मग्न सवेदनशील पाठक अपने स्वय की पहचान भुलाकर कवि के मानस की प्रक्रियाओं और दशाओं से एकाकार हो जाता है।

पद्य और गद्य की विधाओं में सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर चुके कुवेंपु ने वाचना-कवन जैसे नये क्षेत्र में भी प्रयोगात्मक लेखन किया। यहाँ भी उन्हे अपूर्व सफलता मिली। धर्म प्रचार के लिए शैव-सतों ने जो गद्यात्मक पद्य अपनाए वे वाचना कहलाए और धर्म प्रचारकों के प्रयत्नों से इनको एक विशिष्ठ साहित्यिक विधा की मान्यता भी मिली। कुवेंपु और अन्य रगन्ना और परमेश्वर भट्ट जैसे अन्य आधुनिक लेखको के वाचना शैव सतों के गद्य-पद्यों से कुछ भिन्न हैं लेकिन इस पुरानी विधा को नया रूप देने में कुवेंपु अग्रणी हैं।

डॉ पुट्टप्प के प्रोन्नत व्यक्ति को देखने से उनके बडे अभिजात स्वभाव वाला होने का भ्रम हो सकता है। वास्तव में वह मूलत जनसमूह का ही अभिन्न अग हैं। निर्धन-प्रपीडितो के दुख और कष्ट उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं रहे, और सौभाग्य का अनुग्रह जिन्हें नहीं मिला उनकी आपद-विपद और यातना-वेदना के प्रति उनकी सहज-सवेदनशीलता आकुल होकर सदा बह-बह आयी है। अनेक गीत और नाट्य कविताएँ हैं जहाँ उनके अन्तर की करुणा-पीडा फूट पडी है। सर्वसामान्य के प्रति अपनत्व के इस दृष्टिकोण की ही प्रेरणा पर उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं के विकास एव प्रसार को अपना समर्थन दिया।

कृतियाँ

काव्य

१ अग्निहस
२ अनिकेतन
३ अनुत्तर
४ इक्षुगगोत्रि
५ कथन कवनगलु
६ कादरदाके
७ कुटिचक
८ कलासुन्दरि
९ किंकिणि
१० कोललु
११ कृत्तिके
१२ कोगिले मत्तु सोवियट रशिया
१३ चन्द्रमचके बा चकोरि
१४ चित्रागदा
१५ जेनागुव
१६ नविलु
१७ पक्षिकाशि
१८ पाचजन्य
१९ प्रेतक्के
२० प्रेम काश्मीर
२१ मन्त्राक्षते
२२ **श्रीरामायणदर्शनम्**
२३ षोडशि
२४ हालूरु

कहानी-उपन्यास

१ कानूरु सुब्बमूम हेग्गडिति
२ नन्नदेवरु मत्तु इतर कथेगलु
३ मलेगलल्लि मदुमगलु
४ मलेनाडिन चित्रगलु
५ सन्यासि मत्तु इतर कथेगलु

बालोपयोगी साहित्य

१ अमलान कथे
२ नन्न गोपाल
३ नन्न मने
४ बोम्मनहल्लिय किंदरिजोगि
५ मरिविज्ञानि
६ मेघपुर
७ मोदण्णन तम्म

निबन्ध और समीक्षा

१ काव्य विहार
२ तपोनन्दन
३ द्रौपदिय श्रीमुडि
४ निरकुशमतिगलिगे
५ रसो वै स
६ विभूतिपूजे
७ विश्वविद्यानिलयद प्रसाराग
८ षष्टिनमन
९ साहित्य प्रचार

नाटक

१ चन्द्रहास
२ जलागार
३ बलिदान
४ बिरुगालि
५ बेरल-गे-कोरल
६ महारात्रि
७ यमन सोलु
८ रक्ताक्षि
९ वाल्मीकिय भाग्य
१० शूद्रतपस्वि
११ स्मशान कुरुक्षेत्र

चरित्र और अनुवाद

१ गुरुविनोदने देवरडिगे, भाग १, २
२ जनप्रिय वाल्मीकि रामायण
३ वेदान्त
४ श्री रामकृष्ण परमहस
५ स्वामी विवेकानन्द
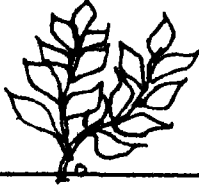
अभिभाषण के अंश

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय सविधान ने जिस प्रकार अपनी राजनैतिक शक्तिबाहुओ से भारतवर्ष की भौगोलिक समग्रता एव एकता को बनाये रखा है उसी प्रकार यह भारतीय ज्ञानपीठ देशभाषारूपी अपनी पचदश प्रेमबाहुओ से भारतवर्ष की सास्कृतिक एकता को साधने के लिए प्रतिश्रुत तपस्वी के रूप मे उदित हुआ है। अखिल भारतीय समग्रता और एकता राजनैतिक दृष्टि से भले ही अर्वाचीन हो, लेकिन धार्मिक एव सास्कृतिक दृष्टि से प्रप्राचीन है। वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि से परिपुष्ट वह एकता अत्यन्त विच्छिद्रकारक राजनैतिक परिस्थितियो मे भी अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित थी, वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि कवियो की तथा रामायण, महाभारत जैसी दिव्य रचनाओ की शिल्पिमहिमा से। इस दृष्टि से देखे तो भारतवर्ष की अखण्ड समग्रता एव एकता को अनन्तकाल से बनाये रखने वाली नित्यशक्ति सिद्ध हुई है साहित्यशक्ति। आविर्भूत उस साहित्य शक्तिदेवी की अविच्छिन्न आराधना द्वारा उसको सदैव जाग्रत रखने वाली अग्निवेदिका बनी है, यह भारतीय ज्ञानपीठ।

इसीलिए अपने आद्यकर्त्तव्य के रूप मे मैंने उन उदात्त महानुभावो के प्रति प्रणाम एव अभिवादन किया जिन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ की सस्थापना की है। इस अवसर पर मुझे कई वर्ष पहले रचित उस अष्टषट्पदि (sonnet) का स्मरण हो रहा है, जिसमे मैंने उस महान दाता की याद की थी, जिसने एक प्राचीन विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठापना के लिए विपुल धनार्पण किया था। वह अष्टषट्पदि इस अवसर के लिए और अधिक औचित्यपूर्ण ढग से लागू होती है। इसी कारण, उसको आपकी सेवा में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। आशा है कि आप शान्तिपूर्वक सुनेगे

धन्य है लक्ष्मी !

धन्य है लक्ष्मी जो कर दे प्रस्तुत
तार सरस्वती की वीणा के लिए।
लौह निनाद ही बनकर वैणरव कर देगा
हे त्यागी। विस्मृति की मृत्यु से रक्षा
तुम्हारे यश को, चिरतन सुरगान से।
रचकर 'विक्रमार्जुन विजय' को कवि पम्प ने
खोल दिया अरिकेसरी के नाम को चिरजीवी
कृतिशिलालेख में आचन्द्रार्क रहेंगे ऋणी उसके
काव्य के पाठक और श्रोता सभी कन्नडिग।
विदा ले चुके हैं स्वय नृपति भी,
और साथ उनके
मिट चुके हैं यद्यपि उसके राज्य और
उसके शेष सभी कार्यों के नामोनिशान।
कर देगी अमर यह दिव्यकृति, हे धनि, तुम्हारा नाम।
दे देगी तुम्हारी आत्मा को अमृत तृप्ति सदा के लिए।
प्राप्त हों तुम्हें शांति और सुख
उस पुण्य के।

बाँसुरी के जैसे अनेक छेद होते हैं वैसे ही भारती की अनेक जिह्वाएँ भी होती हैं। पीपि

बजाने वाले बालक के लिए बाँसुरी के ये छेद मुसीबत पैदा कर देते हैं , लेकिन वेणुवादनपट या मुरली बजाने में कुशल सगीतज्ञ के लिए उन छेदो की अनेकता ही वह आवश्यक साधन बनती है जिसके सहारे स्वरमेल के माधुर्य को साधने मे वह सफल हो जाता है। स्वतत्रता की प्राप्ति के बाद भाषावार प्रान्तो की जो रचना हुई वह कई अरोचिभीरुओ को अच्छा नही लगा है। कुछ तो घबरा बैठे हैं। उनको यह डर है कि स्वभाषा प्रेम के अतिरेक के फलस्वरूप प्राय उद्भूत होने वाली अनेकता कही उस स्वतत्रता को ही धक्का न पहुँचाए जिसकी प्राप्ति के लिए हमने एडी-चोटी का पसीना एक किया है। ज्ञानपीठ का यह समारोह ऐसों के उस भय का मूलोच्छेदन करता है।

ज्ञानपीठ की इस विशाल वेदिका मे सभी भारतीय भाषाएँ अपना स्नेहहस्त पसार रही हैं , पारिवारिक स्वरूप के आपसी भेदो को भूलकर, एकता की आरती उतारते हुए भारतमाता की पूजा कर रही हैं। प्रथमत जो गौरव केरलदेवी को प्राप्त हुआ और पिछले साल बगदेवी को वही गौरव आज सयुक्त रूप से कर्नाटक और सौराष्ट्र देवियो को प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार आगामी वर्षों मे एक के बाद एक अन्य भाषादेवियों को भी यह गौरव प्राप्त होगा, इसमें कोई सदेह नहीं है।

राज्य की दृष्टि से मैं कर्नाटक का हूँ , भाषा की दृष्टि से कन्नडिग हूँ , लेकिन सस्कृति और राष्ट्र की दृष्टि से मैं भारतीय हूँ। मेरा कर्नाटकत्व भारतीयत्व से कभी द्वेष नही रख सकता। अविरोध रूप से भारतीयत्व की सेवा करने मे ही कर्नाटकत्व अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाता है। भारती माँ है और कर्नाटक उसकी पुत्री है। भारत हो हानि पहुँचे तो कर्नाटक जिन्दा रह नही सकता। पुत्री कर्नाटक का बुरा होता है तो भारतमाता उसको सहन नहीं करेगी। आपसी हितरक्षा में सबकी हितरक्षा निहित है।

कर्नाटक माता का जयघोष करते समय 'जय हे। कर्नाटक माता' का नारा लगाने वाला कन्नड कवि उस जयगाथा का श्रीगणेश करता है "जय भारत जननी की तनुजाता।" के बोलो से। प्रथमत भारत जननी का जयघोष करता है। अपनी इस जयगाथा के प्रत्येक छन्द के अतिम चरण मे भारत की एकता के रक्षामत्र को समाविष्ट कर लेता है "राघव, मधुसूदन अवतरित हुए जहाँ, उस भारत ज , की तनुजाता , जय हे कर्नाटक माता ! **कपिल, पतजल, गौतम, जिननुत भारत जननी की तनुजाता, जय हे कर्नाटक माता।" "नानक, रामानन्द कबीर हुए जहाँ, उस भारतजननी की तनुजाता, जय हे कर्नाटक माता।"** ,"चैतन्य परमहस, विवेकानन्द हुए जहा, उस भारतजननी की तनु-जाता, जय हे कर्नाटक माता।"—**यहाँ कर्नाटक माता का अपना कोई प्रत्येक अस्तित्व नहीं है। सर्वदा माता भारती की पुत्री होकर रहने में ही उसके अस्तित्व को रक्षा मिलती है** , उसके जयघोष को अमृतत्व का सहारा मिलता है। इसलिए यह कथन निरा भ्रम है कि भाषावार प्रान्तों की रचना से भारत की समग्रता को धक्का पहुँचता है। इन भाषावार प्रान्तो के अस्तित्व को मिटाकर भविष्य को साधने की बात सोचने वाले राष्ट्रक्षेम को धक्का पहुँचाने वाले देशद्रोही सिद्ध होगे, इसमे कोई सन्देह नही है।

कर्नाटक को "भारतजननी की तनुजात।" मानने वाला यह कवि इस तरह भी उद्घोष करता है कि "भरतभूमि है मेरी माँ।" आगे चलकर वह यो कह देता है "मत विभिन्नता की दरारो को भूल जाऊँगा , भाषा के भेदो को भुला दूँगा , बाधा डालने वालों को उखाड दूँगा , स्वतत्रता के मदिर के निर्माण मे जीवन को ही देवी के चरणो मे चढा दूँगा।" कन्नड कवि की तरह अन्य भारतीय भाषाओ के कवियो ने भी गाया है, इसमे मुझे रचमात्र भी सन्देह नहीं है।

किसी भी भाषा के किसी भी कवि ने इस सौहार्दता को धक्का पहुँचाने वाले अपस्वर मे कुछ गाया है तो वह खण्डनीय है। वह आसुरी साहित्य बन जाता है। सच्चा साहित्य ऐक्यकारी होता है। सामरस्य, समन्वय, सहानुभूति और सर्वोदय की

भावनाओं को प्रचारित करना दैवीसाहित्य का लक्षण है। असूया, द्वेष, स्वार्थता, निष्करुणा और निरुकपा जैसे भावों को उत्तेजित करने वाला साहित्य आसुरी साहित्य बन जाता है। अत वह दमन योग्य बन जाता है।

इस वर्ष की ज्ञानपीठ प्रशस्ति यद्यपि वैयक्तिक रूप से मेरे और मेरे मित्र के नाम प्रदत्त प्रकट की गयी है, फिर भी वह कन्नड और गुजराती के समस्त कवि, समस्त साहित्यिक बधु और समस्त लेखकों के समष्टिसत्व पर सजाया हुआ किरीट है। मैं और मेरे मित्र उमाशकर जोशी जी कन्नड और गुजराती भाषाओं के विनम्र प्रतिनिधियो की हैसियत से, अपनी-अपनी भाषाओं को प्राप्त गौरव के प्रति गर्व का अनुभव करते हुए, सर उठाने के लिए ही सर झुकाकर इस प्रशस्ति को स्वीकार कर रहे हैं। ऐसा कहना कि अमुक समय के अन्दर प्रकाशित साहित्यकृतियों मे सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली कृति को यह प्रशस्ति दी जाती है, व्यावहारिक रूप मे और अनिवार्यतया अनुसरण किया जाने वाला एक विधानमात्र है, केवल कहलाने वाला निरपेक्ष सत्य नहीं है। चुनी हुई कई कृतियों मे किसी एक कृति को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना कितना मुश्किल काम है और कितना विवादास्पद विचार है, यह बात तो चोटी के सभी आलोचको को मालूम है। अमुक दृष्टि से परिशीलन करने पर अमुक कृति सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हो सकती है। प्रशस्ति प्रदान के आवश्यक नियमों के अनुसार श्रेष्ठ समझी जाने वाली कृतियो में किसी एक कृति को 'सर्वश्रेष्ठ' घोषित करना ही पडता है। इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं कि अन्य कृतियों की श्रेष्ठता में किसी प्रकार की कमी आ जाती है। कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं समझेगा कि उनकी श्रेष्ठता की अवहेलना की गयी है।

कन्नड साहित्य का इतिहास दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती समय के दिगन्त में ओझल-सा हो जाता है। दसवीं शताब्दी में ही विश्व के किसी भी महाकाव्य से होड लेने योग्य महाकाव्यो की रचना कन्नड में हुई थी। वह वैभवपूर्ण दृश्य हमारे विस्मित नयनों के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इस बात के स्मरण मात्र से कि महाकवि शेक्सपियर के जन्म के छ सौ वर्षों के पहले ही महाकवि पम्प का जन्म हुआ था, आपको कन्नड साहित्य की श्रेष्ठता एव गरिमाओ का थोडा बहुत परिचय अवश्य मिल जायेगा। पम्प ने ई (९४१) अपने महाकाव्य की रचना की तो शेक्सपियर ने अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत की ई (१५९३) में। गदायुद्ध महाकाव्य के रचयिता अद्भुत कवि रन्न का समय (ई ९९३) दसवीं शताब्दी का अतिम चरण है तो 'पैराडाइज लॉस्ट' महाकाव्य के रचयिता मिल्टन का समय है सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण (ई १६०८)। मेरा यह विश्वास है कि कन्नड़ की तरह हमारी अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी समृद्धि में, शक्ति सामर्थ्य मे, विस्तार और वैविध्य में ऊँचे स्तर की हैं। मेरा यह विश्वास भावोल्लास मात्र का विषय नहीं है। ज्ञानपीठ इसका प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है, अपने प्रकाशन एव प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन कार्यों से। ज्ञानपीठ की ओर से अब तक प्रकाशित और आगामी प्रकाशन ग्रन्थो की सूची किसी को भी दातो तले उँगली दबाने पर मजबूर कर देती है।

इतनी प्राचीनता एव साहित्य समृद्धि से युक्त हमारी देशभाषाएँ राजनैतिक एव जनजीवन की अवनति के कारणों से धीरे-धीरे अधोगति को प्राप्त हुईं। भारतवर्ष में अग्रेजों का राज होने के बाद तो ज्ञान-विज्ञान से सपन्न एव नवजीवन के सत्व से पूर्ण तथा अधिकृत भाषा के पद पर विराजमान अग्रेजी भाषा के मुकाबले में देशभाषाएँ अपनी कान्ति खो बैठीं, क्षीण पड गयीं और दास्यावस्था को भी प्राप्त हो गयीं। अपने ही लोगो से अवहेलना एव तिरस्कार की पात्र बन बैठीं और काली कोठरी में घुटने लगीं। उस दुरन्त कथा से प्रत्येक साहित्यप्रेमी परिचित है। यह तो हमारा सौभाग्य है कि उस अँधेरे में भी दैवीकृपा के समान आशा की एक किरण चमक रही थी। धर्मप्रचार के लिए आये हुए उन विदेशियों में से कई महाशयों ने हमारी

देशभाषाओं की प्राचीनता एव महत्ता को परख लिया। तपस्या सदृश अपने अन्वेषक श्रम से नष्टप्राय प्राचीन ताड़पत्रीय ग्रन्थों को अँधेरे कोहरो से बाहर निकाला , उन को प्रकाशित किया , उनका व्याकरण तैयार किया , कोशो की रचना की , उनको पूर्णतया नष्ट होने से बचा दिया।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व ही गाधी जी और अन्य देशीय एव विदेशीय शिक्षणवेत्ताओ ने यह ढिढोरा पीटा था कि शिक्षण माध्यम से लेकर अधिकृत भाषा तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे देशभाषाओं को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। उनकी यह राय थी कि अन्य विदेशी भाषाओ के साथ अग्रेजी को भी शिक्षणक्रम मे ऐच्छिक स्थान मिलना चाहिए।

लेकिन स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद गाधीजी के सीने मे जो गोली दाग दी गयी वह मानो स्वतन्त्रता के पूर्व विद्यमान हमारे आदर्श, ध्येय सपन्न सीने मे ही लग गयी।

अग्रेजी को शिक्षण माध्यम के पद से हटा कर प्रादेशिक भाषाओ को वह पद प्रदान करने की बात तो दूर रही, अग्रेजी को अनिवार्य पद से उतार कर ऐच्छिक पद प्रदान करने के बदले उसके अनिवार्य पद को शाश्वत बनाये रखने का प्रयत्न हो रहा है। त्रिभाषा सूत्र के बहाने देश के अभ्युदय के लिए हानिकारक निर्णय को स्वीकृत कराने का प्रयत्न है। भारतीय ज्ञानपीठ की पवित्र वेदिका से वाग्देवी के श्रीचरणो मे मेरी यह प्रार्थना है कि ऐसे चिरन्तन अपाय से वह हमारी रक्षा करें।

अग्रेजी भाषा-साहित्य की प्रेरणा के फलस्वरूप पिछले बीस-पच्चीस वर्षों मे हमारी देशभाषाएँ अर्जित हुई हैं। भूतपूर्व सस्कृति के पुनरुज्जीवन के साथ-साथ नये विश्व के ज्ञान, विज्ञान और सस्कृति से उत्तेजित होकर, सशक्त होकर दिनो-दिन ये देश-भाषाएँ उन्नत हो रही हैं। कई भाषाओ मे, खासकर साहित्य क्षेत्र मे आल्प्स पर्वत की चोटियो को नीचा दिखाने वाली हिमालय की चोटियो की तरह ऐसी महोन्नति तक पहुँची हुई साहित्य कृतियो की रचना हुई है जिनके साथ किसी भी पाश्चात्य राष्ट्र की रचना होड ले नहीं सकती। प्राय मेरी यह उक्ति किसी-किसी को अतिशयोक्ति-सी प्रतीत हो सकती है? लेकिन इस उक्ति की सत्यता तभी ज्ञात होगी जब हमारी प्रादेशिक भाषाओ के साहित्य के अनुवाद के द्वारा आपसी परिचय बढ जाये। छोटे पैमाने पर ही सही, कई सस्थाओ द्वारा आजकल यह कार्य सपन्न हो रहा है। साहित्यो अकादमी की तरह भारतीय ज्ञानपीठ भी उस लक्ष्य की ओर शीघ्रता के साथ अग्रसर हो रही है।

जहाँ तक मेरा परिज्ञान है, राष्ट्र की ओर से लादी जाने वाली सारी जिम्मेदारियो को निभाने योग्य बनी हैं, हमारी प्रादेशिक भाषाएँ। इसमे कोई सन्देह नही है कि उन्हे अभ्यास और प्रयोग के लिए अवसर दिया जाय तो थोडे-से समय मे ही वे भाषाए विश्वविद्यालय के बोधनाग, सशोधनाग और प्रसाराग के सभी कार्यों को और भी अधिक सामर्थ्य के साथ सभाल सकती हैं। करीब बीस-पच्चीस वर्षों से इस प्रकार के प्रयोग और अभ्यास मे निमग्न और अब सफलता की ओर अग्रसर उस विश्वविद्यालय मे विद्यार्थी, अध्यापक, प्राध्यापक, प्रिन्सिपल और उपकुलपति की हैसियत से सक्रिय भाग लेने का सुअवसर मुझे मिला था। इसीलिए अधिकारपूर्ण वाणी से इस विचार को उद्घोषित कर रहा हूँ। आशा है कि आप अन्यथा न समझेगे।

भगवद्गीता मे कहा गया है कि "ज्ञान विज्ञान सहितम् , यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यऽशुभात्।" उस समय जब कि पाश्चात्य राष्ट्र की अभी अर्धबर्बरावस्था मे थे तभी हमारा राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे अगुआ बन कर अपना कदम बढा रहा था। उसके उपरान्त मध्ययुग के राजकीय अनैक्य, आपसी झगडे और धार्मिक अधश्रद्धा आदि से उद्भूत मूढ आचार-विचारों के कारण भारतवर्ष पिछड गया। धर्म के नाम पर जनता ने अधश्रद्धा को गद्दी के ऊपर बिठा दिया , वैराग्य का वेश प्रदान कर दिया , तपस्या के नाम से उसे अभिभूत कर दिया , इसके फलस्वरूप जीवन का स्रोत अवरुद्ध हुआ , वही

जमकर लडने लगा। अंग्रेजो के आगमन के पश्चात् पाश्चात्य नागरिकता के प्रभाव से हमारे यहाँ एक पुनरुत्थान हुआ, एक नवोदय का श्रीगणेश हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में इस नवोदय ने स्वतन्त्रता के सग्राम का रूप धारण किया तो धार्मिक क्षेत्र में आदोलन का रूप ले लिया। इन दोनो आदोलनो ने जनता की जाग्रति साधी , जनता को प्रोत्साहन दिया , उनको नवचेतन दीप्त बना दिया , साहसपूर्ण कार्यों की ओर उन्हे अग्रसर किया।

आश्चर्य की बात तो यह है कि भारतवर्ष के अर्वाचीन इतिहास के स्वातत्र्यपूर्व करीब एक शताब्दी के, जिस कालमान या अवधि को राजनैतिक क्षेत्र मे दासता का, आर्थिक क्षेत्र मे दरिद्रता का, सामाजिक क्षेत्र मे विच्छिद्रता का और धार्मिक क्षेत्र मे क्षुद्रता का युग करार दिया गया है, उस युग अवधि मे हमारे देश मे जो आत्मश्री दृग्गोचर हुई वैसी आत्मश्री विश्व के किसी अन्य भाग में देखने मे नही आयी। राजा राममोहन राय, श्री रामकृष्ण परमहस, ऋषि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रमण महर्षि, श्री अरविन्द, महात्मा गाधीजी—इनमे से प्रत्येक नाम के पीछे किस प्रकार के विभूति-प्रमाण के भव्य तेज का स्फुरण होता है। यदि हम इसको ग्रहण करने मे समर्थ होगे तो उपरोक्त कथन की सत्यता स्वयवेद्य होगी।

उन विभूति पुरुषो की पाजजन्य सदृश आवाज मे आवाज मिलाकर राजनैतिक आदि क्षेत्रो मे जिस प्रकार यह देश कार्योन्मुख हुआ, उसी प्रकार कला, भाषा, साहित्य आदि क्षेत्रों में भी जाग्रत हुआ। नये-नये साहसपूर्ण कार्यों को साधने के लिए कमर कसकर तैयार हुआ। प्रत्येक भाषा के साहित्य क्षेत्र की प्रगति ज्यादातर एक समान है। कौन जाने? ज्ञानपीठ के पदक पुरस्कार होते तो हर साल प्रत्येक भाषा उन पुरस्कारों के योग्य बन जाती।

स्वातत्र्योत्तर भारत के लिए रसास्वादनदायक सृजनात्मक साहित्य की रचना जितनी आवश्यक है, उतनी ही या उससे भी अधिक मात्रा मे आवश्यक है ज्ञान-विज्ञान प्रधान विचारात्मक वाड्मय की रचना। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालकों को प्रादेशिक भाषा के द्वारा शिक्षण मिले, ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण को वे अच्छी तरह ग्रहण कर पायें, हर साल अधिकाधिक सख्या में विद्यार्थियों के अनुत्तीर्ण होने के कारण, उनको और राष्ट्र को आर्थिक और मानसिक रूपी जो महान कष्ट हो रहा है, उसको रोक दिया जाय, तो हमारे लेखक वर्ग को चाहिए कि वह बौद्धिक साहित्य की सृष्टि की ओर प्राथमिक ध्यान दे। महान् प्रतिभाशक्ति से उद्भूत सृजनात्मक साहित्य के लिए पुरस्कार, प्रशस्ति, प्रशसा आदि प्रोत्साहन न मिले तब भी वह तिरोहित नहीं हो जाता, उसके प्रकाशन को धक्का नहीं पहुँचता , क्योंकि उसके पीछे अदम्य स्फूर्ति की प्रेरणा सलग्न रहती है। लेकिन वैज्ञानिक एव बौद्धिक स्वरूपी वैचारिक साहित्य के लिए अधिकृत प्रोत्साहन की आवश्यकता है। वह फलापेक्षी है , प्रयोजन की भी आशा रखता है , प्रयोजन ही उसका परम लक्ष्य है। लेकिन काव्य के लिए रस ही "सकल प्रयोजन मौलीभूत" है। इस अर्थ मे जैसे "All art is useless" कहते हैं, उसी प्रकार यों भी कहा जाता है कि "All science must be useful" इसका अर्थ यही है कि विज्ञान को लौकिक रूप मे प्रत्यक्ष फलदायक बनना चाहिए। मैं यही चाहता हूँ कि जिस प्रकार ज्ञानपीठ की ओर से सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा है उसी प्रकार विश्वविद्यालयो की ओर से वैचारिक बौद्धिक और वैज्ञानिक साहित्य सृष्टि के लिए भी प्रोत्साहन मिले।

ज्ञानपीठ की यह प्रशस्ति यद्यपि महान कृतियों की सृष्टि नही कर पाती, फिर भी प्रतिभोद्‌भूत महान कृतियो को बाहर खींच लाने में, बहुतों की दृष्टि को उस पर केन्द्रित कराने मे तथा इस ओर अन्य भाषा-भाषी सहृदयों का लक्ष्य आकृष्ट करने मे इस प्रशस्ति से महोपकार हो सकता है, इसमे कोई सन्देह नही है। हमारे प्राचीन काव्यमीमासको

ने काव्य प्रयोजन के बारे में कहते समय यों कहा है

> काव्य यशसे ऽर्थकृते व्यवहारविदे
> शिवेतरक्षतये। सद्य पर निर्वृतये
> का न्तासम्मततयोपदेशयुजे।।

—यश, धन, लोक व्यवहार का ज्ञान, शिवेतर क्षति, सद्य पर आनद, और कान्ता सम्मत उपदेश जैसे लौकिक प्रयोजनो का उल्लेख इसमें पाया जात है। वैयक्तिक प्रतिष्ठा को चाहने वाला और उससे सतुष्ट होने वाला कवि यश को भी मान्यता देता है। लेकिन, यश के प्रति जिसकी आसक्ति न हो और केवल आत्मसुख के लिए जो काव्य रचना करता हो, उसके लिए वह प्रधान लक्ष्य क्या, उपलक्ष्य भी नहीं बन सकता। लेकिन, जैसा कि अरविन्द जी ने एक सवाद मे कहा है, यश का एक जनोपकारी प्रयोजन भी है। वह तो व्यक्ति की प्रतिष्ठा से सबधित प्रयोजन नही है। वह लोककल्याणकारी स्वरूप का प्रयोजन है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे हो या साहित्य आदि क्षेत्रो मे हो, पत्ते की आड मे फूल की भाँति किसी की दृष्टि मे बिना पडे रहने वाले उस महापुरुष और उस की महान मेरुकृति को लोकलोचनगोचर बना कर लोगो का लक्ष्य उस ओर आकृष्ट करता है, उस विभूतिपुरुष से या उस मेरुकृति से मिलने वाले ज्ञान और आनन्द के पीयूषपान से जनता को धन्य बनने का अवसर प्रदान कर देता है।

मुझे ज्ञानपीठ की यह जो प्रशस्ति मिली है, उसमे प्रधान रूप से यश के प्रयोजन को पहचानता हूँ। प्राच्य, पाश्चात्य, प्राचीन, अर्वाचीन, सार्वकालिक और सार्वधार्मिक समष्टिरूप की युगप्रज्ञा के आविर्भाव के प्रतीक "श्री रामायण दर्शनम्" महाकाव्य को व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि 'कुवेम्पु विरचित' कहा जाता है, फिर भी पारमार्थिक दृष्टि से 'श्री रामायण-दर्शनम्' ने ही कुवेम्पु को सर्जाया है। यह है युगचेतना की समष्टि प्रज्ञा की सृष्टि। यह है श्री रामायण का अत्यन्त आधुनिक अवतार। यह जिस प्रकार वैदिक सम्प्रदाय के वाल्मीकि रामायण के लिए ऋणी है वैसे ही जैन सम्प्रदाय के रामायणो के लिए भी। यह जिस प्रकार व्यास, वाल्मीकि, पम्प, नागचन्द आदि कवियो के लिए ऋणी है, उसी प्रकार होमर, वर्जिल, डाटे, मिल्टन आदि के लिए भी ऋणी है, उस मे जैसे श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द के समन्वय दर्शन का सदर्शन कर पाते हैं, उसी प्रकार गाँधीजी और विनोबाजी से प्रणीत सर्वोदय भावना का भी सदर्शन कर पाते हैं, जैसे पाश्चात्य विज्ञान के विकासवाद का, वैसे ही श्री अरविन्द प्रणीत पूर्णयोगदर्शन का भी सदर्शन कर पाते हैं। समन्वय, सर्वोदय और पूर्णदृष्टि—ये हैं 'श्री रामायण दर्शनम्' के त्रिनेत्र।
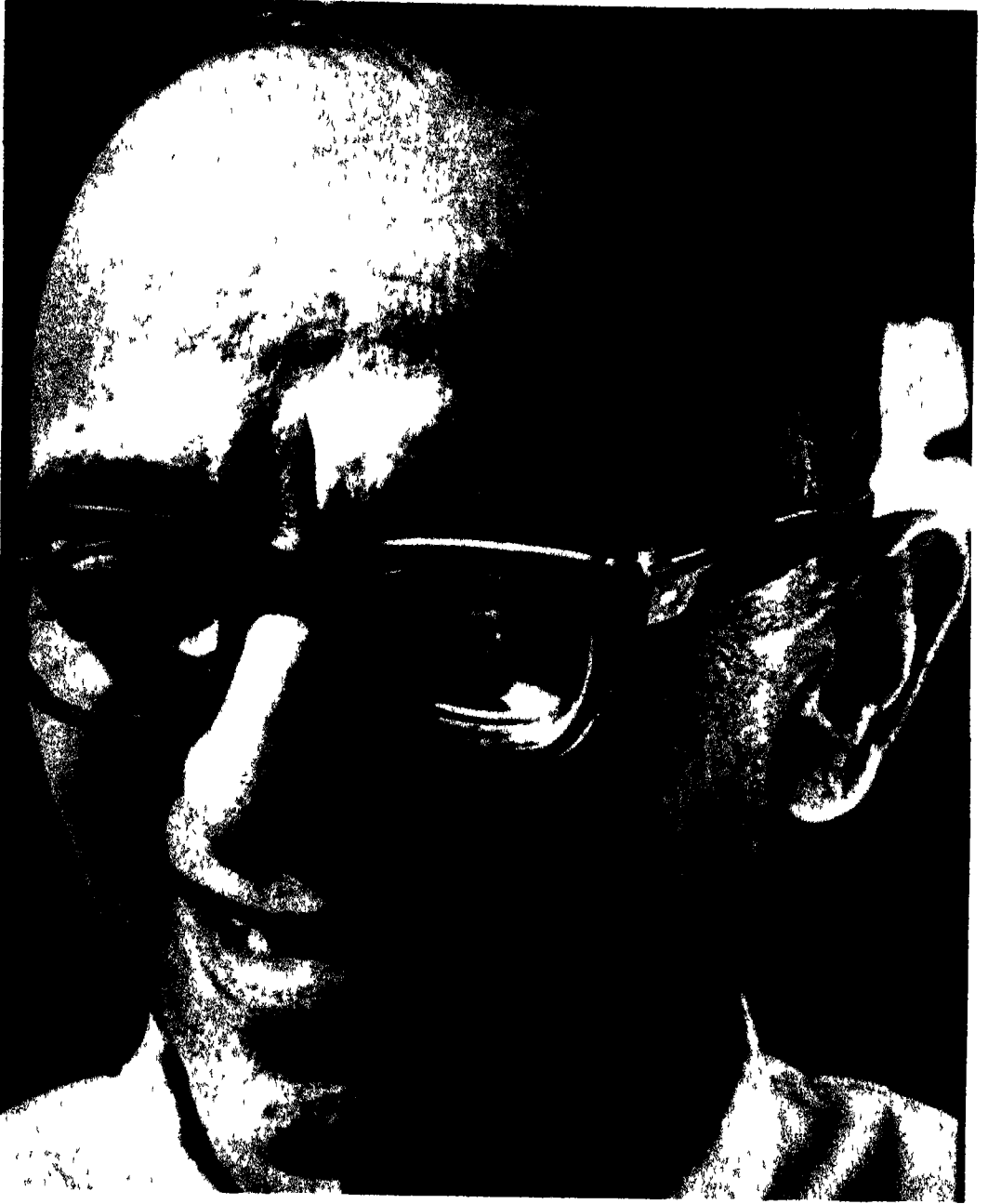
उमाशंकर जोशी

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ वर्ष १९६७ का साहित्य-पुरस्कार श्री उमाशकर जोशी को उन के गुजराती काव्य-सग्रह 'निशीथ' के हेतु समर्पित करती है जिसे १९३५ से १९६० के बीच भारतीय भाषाओं में प्रकाशित सर्जनात्मक साहित्य की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ निर्णीत होने का सह-गौरव प्राप्त है।

'निशीथ' का प्रकाशन वर्ष १९३९ है। इस की कविताओं में १९३० वें मध्य-दशक की भारतीय चेतना एव अनुभव की प्रतीति का समन्वेषण है और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, विशेषकर महायुद्ध की विश्वव्यापी त्रासदी से उत्पन्न मानसिक आलोडन का प्रतिबिम्बन है।

सन् १९३१ में लिखी 'विश्वशान्ति' कविता की केन्द्रीय कवि-दृष्टि कि शान्ति केवल अहिंसा के मार्ग से प्राप्त हो सकती है, 'निशीथ' में अधिक स्पष्टता के साथ परिभाषित हुई है।

श्री उमाशकर की भाव-चेतना ब्राह्य जगत् से रूपायित होती है और वह समकालीन स्थिति-बोध से अन्तर्सम्पृक्त है। आदर्श और यथार्थ के बीच अद्भुत रूप से सन्तुलित उन का काव्य, परम्परागत गीतात्मकता और निरी आशावादिता की सीमा से ऊपर उठकर मानव-वेदना के उदात्त शिखरो पर आरोहण करता है। यद्यपि उन के काव्य का मूल उत्स हमारी परम्परा में परिनिष्ठत है और यह उस के मूल्यो के दाय से समृद्ध है किन्तु सर्जनात्मक और समीक्षात्मक प्रज्ञा के अद्भुत तादात्म्य के कारण यह वास्तविक अर्थों में आधुनिक है।

कवि की सर्जनशील प्रतिभा ने साहित्य की विविध विधाओं—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, साहित्यिक आलोचना आदि—के माध्यम से आत्मसिद्धि प्राप्त की है। उदात्त भव्यता उन की रचनाओं का मूल नि श्वास है और व्यक्ति तथा उस का कृतित्व सदा एकात्म हैं। वे चिरजीवी हों।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्षा
२० दिसम्बर, १९६८	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

उमाशंकर जोशी

उमाशकर से कोई घर पर मिलता था तो जान पडता था कि अतिथि वह है और आतिथेय आप। नके व्यवहार का सहज रूप ही सब कहीं अतिथि जैसा होता था। सचमुच कितने सम्मान्य अतिथि हैं वह हमारे सबके ससार के लिए । वह कवि थे, अपनी एक काव्यकृति को नाम भी उन्होने 'आतिथ्य' दिया है।

कुछ लेखक होते हैं जिनका व्यक्तित्व उनके लेखन मे सीमित नहीं होता, अन्य अनेक दिशा-क्षेत्रों से भी प्रकाश में आता है, और वह समाज पर अपना प्रभाव उनके जीवन-काल में ही स्थापित कर देता है। उमाशकर ऐसे ही लेखकों में से हैं। गुजराती के वरिष्ठ कवि-आलोचक श्री बलवन्तराय ठाकोर ने उनके निबन्ध-सग्रह 'गोष्ठी' की समीक्षा करते हुए १९५९ में कहा था "उमाशकर अब मात्र व्यक्ति नहीं रह गये, न ऐसे लेखक ही कि आदि-आदि की श्रेणी मे रख दिये जायें। वह एक दायित्वशील, समर्थ और प्रभावशाली लेखक के नाते ऐसे सार्वजनिक व्यक्ति बन चुके हैं कि उपेक्षित नहीं किये जा सकते।"

उमाशकर का जन्म २१ जुलाई, १९११ को गुजरात के ईडर जिले में बामणा नामक गाँव में हुआ था। पहाडियों का आँचल थामे कलकल करती बहती एक छोटी-सी नदी किनारे बसे इस छोटे-से गाँव में ही उनका बचपन बीता और यहीं प्रारभिक शिक्षा हुई। उमाशकर इसी सरल और मनोज्ञ परिवेश की उपज हैं। यहीं के धरती-आकाश और पत्थर-पानी से उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ और उसी मे उन की काव्य-प्रतिभा के भी प्रेरणामूल हैं। अनेक रचनाएँ हैं उनकी, कविताएँ ही नहीं नाटक-कहानी और उपन्यास तक, जिनकी काया और प्राणों में बामणा की पहाडियाँ बसी हुई हैं।

आगे की शिक्षा के लिए वह ईडर आये और १९२६ तक वहाँ उनका स्कूल-काल बीता। उन्होंने लिखा है "स्कूल में जिस पुस्तक का मुझ पर सबसे अधिक जादू रहा वह बम्बई के एक प्रकाशक का सूचीपत्र था। सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों और उनके बडे-बडे लेखकों के नाम मेरे किशोर मन की एक गोप्य निधि थे।" स्कूल के अन्तिम वर्ष तक उमाशकर को लघु-गुरु का ज्ञान नामाचार को ही था। तरुणाई में उनकी साध ऐसी कविताएँ लिखने की थी जो खूब रामैण्टिक हों, और रहस्य-रोमाच भरी, सुखद नाटकीय। पर मित्रों को एक मध्ययुगीन कवि का रामायण-अनुवाद सुनाते उन्हें शब्द-सौन्दर्य

और शब्दों की काव्यगत लयात्मकता का बोध हुआ। फिर छुट्टियों में जब उत्सव-मेले देखते उन्होंने लोकगीत सुने और आश्विन की चम्पई चाँदनी में गरबा रासगीतों में अवगाहन किया, तब मानव-मन के सवेगों के सुन्दर पक्ष और प्रकृति के अपार विस्तार में उपलब्ध उनके तुल्यरूपो का दर्शन पाया। किन्तु काव्य-सर्जना के लिए अपेक्षित तैयारी अभी अधूरी थी।

१९२७ में उमाशकर मैट्रिकुलेशन के लिए अहमदाबाद आ गये। यहाँ उनके हाथ 'काव्यमाधुरी' की प्रति आयी। इस सकलन ने उन का आधुनिक गुजराती काव्य से साक्षात्कार कराया। नानालाल और बलवन्तराय की रचनाओ ने तो विशेष प्रभावित किया। अगले वर्ष गुजरात कालेज में पहुँच कर उन्होंने नानालाल की काव्यनाटिका 'इन्दुमती' और कविता-सग्रह 'चित्रदर्शनी' तथा बलवन्तराय की आलोचना पुस्तक 'लिरिक' बडे चाव से पढी। दिवाली की छुट्टियाँ आयीं तो मित्रों के सगसाथ में उमाशकर आबू गये। वहीं उनके जीवन की यह चमत्कारी घटना घटी जिसका न भेद बूझते बना न प्रभाव ही थाहा जा सका। वशिष्ठाश्रम के बरामदे में वह खडे थे, सामने नक्खी झील हिलोरें मार रही थी, और सारी जगती पर शरदपूर्णिमा की दिव्य मोहिनी निर्बाध छहर-लहर रही थी। अकस्मात् इस १७ वर्षीय तरुण के कानों मे मन्त्र पडा 'इस सौन्दर्यश्री का पान कर, अन्तर से गीत आप फूटेगे।' उमाशकर की यही काव्य-दीक्षा थी।

१९३० में कालेज और पढाई छोडकर उमाशकर सत्याग्रह सग्राम मे जा सम्मिलित हुए और साबरमती जेल में रखे गये। वहाँ, उसी वर्ष, उनके जीवन मे एक और महत्वपूर्ण काव्यप्रेरक क्षण का आविर्भाव हुआ। उन दिनों उनका ऐसा था कि तारों की ओर दृष्टि जाती तो मुग्ध हुए देखते रह जाते। सारी-रात फिर अकसर यों ही बीतती। एक दिन उषाबेला अभी दूर थी और उमाशकर ऊपर निहारते बैठे से अपने अन्तर की अथाह गहराइयों की सोचते विस्मित थे, कि अचानक शिरोभाग में कुछ अदृश्य कहीं कौंधा और जैसे अग-अग का भीतर से मर्दन हुआ हो यो थकित और विस्फुरित से वहीं लुढक गये। वह एक अपूर्व अनुभूति थी आत्मविस्मरण की, जहाँ अन्धकार नहीं मजुल आलोक था और रिक्तता के स्थान पर एक पूर्णता की प्रतीति थी। उन्हे प्रेरणा मिली कि एक काव्य-नाटिका लिखे, और उसी दिन से वह तैयारी मे लग गये। नाटिका अभी लिखी जाने को है, पर उमाशकर को सारे जीवन लगता आया है कि उसी की तैयारी मे सलग्न हैं और अब तक का समस्त लेखन उसकी आनुषगिक उपज मात्र है।

इसी भावना के अन्तर्गत १९३१ मे, जब काकासाहब कालेलकर के पास विद्यापीठ में थे, उन्होंने 'विश्वशान्ति' लिखी। दो महायुद्धों के बीच रचित उमाशकर की यह ५०० पक्तियो की कविता गान्धीजी की आस्था-वाणी को एक युवा हृदय के ओज-भरे स्वरों मे प्रतिध्वनित करती है कि शान्ति की स्थापना एकमात्र अहिसा-प्रेम के ही द्वारा सम्भव हो सकती है। कविता को पाठक-जगत ने तो समादृत किया ही, कालेलकर और नरसिहराव जैसे विवेकी आलोचको ने भी सराहा। तीन वर्ष बाद उमाशकर की दूसरी काव्यकृति 'गगोत्तरी' प्रकाशित हुई जो मानव के मन, सम्बन्धो, और विचार-व्यवहार के विभिन्न पक्षो को लेकर उनके वास्तविकता-बोध को अभिव्यक्त करती है।

१९३४ मे उमाशकर ने एलफिंस्टन कालेज मे प्रवेश किया। बी ए मे इतिहास और अर्थशास्त्र उन के विषय थे, १९३८ में एम ए किया तो गुजराती और सस्कृत लेकर। पहले गोकली बाई हाई स्कूल विले-पार्ले में अध्यापक रहे, एम ए करने के बाद सिडनहम कालेज में व्याख्याता हो गये। १९३६ में उन्हें 'गगोत्तरी' पर गुजरात का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार 'रजीतराम सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया गया। अगले वर्ष 'सापनाभारा' शीर्षक से उनके एकाकी पुस्तकाकार आये ; इसी वर्ष

ज्योत्स्नाबेन के साथ उनका परिणयबन्धन भी हुआ। थोडे दिनों बाद उमाशकर की कहानियों का पहला सग्रह 'श्रावणी मेलो' निकला और दूसरा वर्ष लगते-न-लगते दूसरा सग्रह 'त्रण अर्धु बे' भी। १९३९ में वह स्थायी रूप से अहमदाबाद लौट आये। यहाँ गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी मे, जो १९४८ से गुजरात विद्यासभा कहलायी, प्रारभ में शोध विभाग में रहे, बाद को प्राध्यापक हो गये। १९३९ में ही 'निशीथ' का प्रकाशन हुआ, जो उनका तीसरा काव्य-सग्रह है।

'निशीथ' में सब ११६ कविताएँ सग्रहीत हैं। उमाशकर की यह कृति गुजराती साहित्य के विगत तीन दशकों का सर्वोत्तम गीतिकाव्य प्रस्तुत करती है। इसके छन्दों, शैली-शिल्प, रूप-विधान और विषयवस्तु का वैविध्य कवि के मन की विस्तारशीलता और उसकी भावनाओ की गहराई को घोषित करता है। सस्कृत के क्लासिक छन्दो से लेकर गुजराती के नितान्त आधुनिक छन्दो तक का प्रयोग इसमें बडे अधिकारभाव और विश्वास-कुशलता के साथ किया गया है। कवि के लिए जितनी सुकर और स्वाभाविक कथल-आलाप की शैली बनी है, वाग्मिता और अलकारपूर्णता की भी। उसने जिस सहजता से सामान्य पद्य, गीति-काव्य और गेयगीत दिये हैं उसी से शोकगीति, चतुर्दशपदियाँ और काव्यसूक्तियाँ भी। जिन बिम्बो की यहाँ कल्पना की गयी है वे परस्पर इतने विभिन्न हैं जितने कि अनचुआ आँसू और आकाश की सुदूरियों मे खोया तारक। इसी प्रकार इन कविताओ की विषयवस्तु भी अत्यन्त विविधतापूर्ण है जैसे एक ओर किसी के प्रति पागल प्यार तो दूसरी ओर निखिल मानवजाति का भविष्यत्।

'निशीथ' का रचना-काल उमाशकर के उक्त एकाकी सग्रह और दोनो कहानी सग्रहों के बाद का है जब वह बम्बई जैसे आधुनिक महानगर के वातावरण मे रह रहे थे। स्वभावत उन सारे मानसिक तनावों और दबावों के प्रभाव इन कविताओं पर आये हैं जो साम्राज्यवाद और स्वतत्रता, तानाशाही और लोकतत्र एव पूँजीवाद और समाजवाद के तत्कालीन सघर्षों का परिणाम थे और द्वितीय महायुद्ध के महासहार की भूमिका बने विश्व की चेतना पर छाये हुए थे। 'निशीथ' के कवि ने इस दु स्थिति के समाधान के रूप में अपनी आदर्शवादी आस्था और वास्तविकताबोध के सगतियुक्त समायोग की परिकल्पना प्रस्तुत की है। यह परिकल्पना उमाशकर के कवि-रूप की अद्वितीय उपलब्धि है। इससे श्रेष्ठ तो दूर कोई ऐसी भी और कृति न उनके कोई समकालीन दे सके और न बाद के कवि ही। हाँ स्वय उन का परवर्ती काव्य तक नहीं । यही और भी कारण है कि न केवल उन की अपनी आठों काव्यकृतियों में, बल्कि १९३० से अब तक प्रकाशित समस्त गुजराती काव्य-साहित्य में, 'निशीथ' सर्वश्रेष्ठ रहती है।

उमाशकर के आदर्शवाद की चरम-परिणति इस सग्रह की 'निशीथ,' 'विराट प्रणय' और 'सीमादान पत्थर पर' शीर्षक कविताओं मे अभिव्यक्त हुई, और उनका वास्तविकता-बोध अपने पूर्ण रूप में 'सद्गत मोटाभाई', 'लोकलमैन' और 'आत्माना खँडेर' मे प्रकट होता है। 'आत्माना खँडेर १७ चतुर्दशपदियो की एक शृखलित इकाई है जो इस सग्रह की सर्वोत्तम रचना भी है। इसमे कवि ने एक ऐसे युवक की शोक-करुण अनुभूति को वाणी दी है जो विश्वविजय की साध लेकर आया पर उसके खँडहर देखने को बाध्य होता है। कविता की अन्तिम पक्तियाँ उमाशकर की सबसे सुन्दर पक्तियाँ हैं, शायद गुजराती भाषा की सबसे सुन्दर। ये पक्तियाँ हैं

> असुख नही दमते मुझे जितने कि वितथ सौख्य चुभते
> नहीं रुचते सुख जैसे रुचते समझ में उतरे दुख
> यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना होगा जो शक्य

अनजान रमना क्या? यातना के मोल भी समझना ही इष्ट।

१९२९ में उमाशकर का किया पोलैण्ड के कवि पिलसुद्स्की की चतुर्दशपदियों का अनुवाद 'गुले पोलैण्ड' प्रकाशित हुआ। उन्हीं दिनों उन्होंने कवि-आलोचक रामनारायण पाठक के सहयोग में आधुनिक गुजरात के वरिष्ठतम दर्शन एव काव्य मर्मज्ञ आनन्दशकर ध्रुव के लेखन का सम्पादनदायित्व ग्रहण किया। १९४० में 'पारकौं जण्यौं' निकला जो गद्य-महाकाव्यों की श्रेणी मे स्थान पाने योग्य एक विशिष्ट उपन्यास है और अगले उपन्यास के अभी अधूरा होने के कारण इस साहित्यिक विधा की उनकी पहली कृति। एक वर्ष बाद १८ वीं शताब्दी के विशिष्ट बौद्धिक प्रतिभासम्पन्न गुजराती कवि अखो पर उनका गम्भीर विवेचनात्मक प्रबन्ध 'अखो एक अध्ययन' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष उनकी प्रथम सन्तान नन्दिनी गोद में आयी। १९४२ में उन्होंने पिछली शताब्दी के प्रख्यात रोमैण्टिक कवि बालशकर के कविता-सग्रह 'क्लान्त कवि' का सम्पादन किया

उमाशकर मानते आये हैं कि काव्यात्मक नाटक, मनुष्य की तीसरी भाषा में कविता, रचने का लक्ष्य प्राप्त कर सकें तब कहीं उनका कवि होना सार्थक हो। यह भी उनका मन्तव्य है कि एक विशेष आयु और अपनी अनुभूतियों की एक विशेष अवस्था तक जा पहुँचने पर कवि का वैयक्तिक आवेगों-सवेगो में रस नहीं रहता, उन्हे आत्मपरक अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति भी उसमें नहीं होती , वह फिर स्वभावत अवैयक्तिक विषयवस्तु और कथा-उपन्यास-नाटक जैसे वस्तुपरक अभिव्यक्ति-रूपों की ओर अभिमुख होता है। १९४४ में उमाशकर की चौथी काव्यकृति ''प्राचीना' प्रकाशित हुई। सवाद का रूप लेकर आयी ये कविताएँ एकाकी काव्य-नाटिका होने की दिशा में प्रयत्नवान हुईं। इनके माध्यम से उमाशकर का प्रयास अपने परिकल्पित काव्यात्मक नाटक के लिए एक ऐसे प्रामाणिक कविता-रूप को विकसित करने का रहा है जो वर्तमान युगमन को स्वीकार हो सके। रचना को माहिदा पारितोषिक द्वारा सम्मानित किया गया। दो वर्ष बाद उनका महत्वपूर्ण शोध ग्रन्थ 'पुराणोमा गुजरात' प्रकाशित होकर आया।

१९४६ से १९५४ तक का काल उमाशकर ने स्वतन्त्रजीवी होकर बिताया। इसी काल में उन्होंने सस्कृत के क्लैसिक काव्य एवं नाट्य साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया तथा 'स्वय नियुक्त यात्री अध्यापक' के रूप में प्रान्त के जीवन का अन्तरग परिचय अर्जित किया। १९४६ में ही उनकी कविताओ का पाँचवाँ सग्रह 'आतिथ्य' निकला और १९४७ में तीसरा कहानी-सग्रह 'अन्तराय'। इसी वर्ष 'प्राचीना' पर नर्मद सुवर्णचन्द्रक भी भेट किया गया। १९४७ में ही उमाशकर ने गुजराती की उत्कृष्ट साहित्यिक मासिकी 'सस्कृति' का समारम्भ किया। १९४८ मे 'सम-सवेदन' शीर्षक से उनके कुछ आलोचना-निबन्ध, प्राक्कथन और प्रबन्ध आदि सकलित होकर पुस्तकाकार निकले। इसी वर्ष उन की दूसरी पुत्री स्वाति का जन्म हुआ। १९५० में उनका 'उत्तररामचरितम्' का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसमें जो भूमिका उन्होंने दी है वह बडे महत्व की है। उससे ज्ञात होता है कि भारतीय जीवन मूल्यों के विषय में ही नही,
भारतीय-कला-आदर्श जैसे विषय मे भी उनकी पैठ कितनी गहरी और यथार्थ थी। १९५१ में दो पुस्तकें उनकी और आयीं निबन्ध-सग्रह 'गोष्ठी' और दूसरा एकाकी-सग्रह 'शहीद'। दो वर्ष बीते होंगे कि उन्होंने अखा कवि की दार्शनिक व्यग्य कविताए सकलित-सम्पादित कीं जो 'अखाना छप्पा' शीर्षक से निकलीं। इसी प्रकार बलवन्तराय की चतुर्दशपदियों का सकलन भी लगभग उन्हीं दिनों निकला। १९५४ में 'बसन्तवर्षा' प्रकाशित हुई उनकी कविताओं का छठा सकलन।

इसी वर्ष उमाशकर गुजरात विश्वविद्यालय में साहित्य एव भाषा विभाग के निदेशक नियुक्त किये

गये और साहित्य अकादमी एव उसकी कार्यसमिति के सदस्य बनाये गये। १९५५ में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का उनका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसमें भी उन्होंने अपनी एक विशद भूमिका सम्मिलित की है जो 'उत्तररामचरितम्' में दी गयी भूमिका के समान ही महत्वपूर्ण है। १९५५ में ही उन्हे गुजराती साहित्य परिषद् के साहित्य विभाग का अध्यक्ष चुना गया। अगले वर्ष वह ललित कला अकादमी में भी आ गये, और भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक विशेष शिष्टमण्डल के सदस्य होकर अमेरिका भी गये। लौटते हुए उन्होने लन्दन मे अन्तर्राष्ट्रीय पी०ई०एन० के अधिवेशन में भाग लिया और फ्रान्स, जर्मनी, इटली, यूनान आदि का भ्रमण किया। १९५६ मे उनके आलोचना-निबन्धो का दूसरा सग्रह 'अभिरुचि' नाम से प्रकाशित हुआ। १९५७ मे भारतीय पी०ई०एन० के प्रतिनिधि-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय पी०ई०एन० के तोक्यो अधिवेशन मे सम्मिलित हुए और उसी वर्ष कलकत्ते मे हुए निखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के एक विभाग विशेष की अध्यक्षता भी उन्होने की। दो वर्ष बीते होगे कि बसनजी ठाकुर व्याख्यानमाला के अन्तर्गत काव्य जैसे गूढ और विस्तारयुक्त विषय पर व्याख्यान देने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा आमन्त्रित किये गये। बाद को ये व्याख्यान 'कविता-विवेक' शीर्षक से प्रकाश मे आये।

१९५९ मे उमाशकर की तीन कृतियाँ निकली दूसरा निबन्ध सग्रह 'उघाडी बारी', चौथा कहानी सग्रह 'विसामो', और एक प्रिय मित्र हरिश्चन्द्र भट्ट की कविताओ का सम्पादित सकलन 'स्वप्नप्रयाण'। अगले वर्ष दो और आयी तीसरा आलोचना निबन्ध सग्रह 'शैली अने स्वरूप' और फिर चौथा 'निरीक्षा'। १९६१ मे उन्हे टैगोर शतावार्षिकी आयेजन से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श परिषद् में भाग लेने का अवसर मिला और उडिया लेखक सघ 'विषुवमिलन' के प्रधान अतिथि एव अध्यक्ष भी चुने गये। इसके तत्काल बाद केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त भारतीय लेखकों के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में वह सोवियत रूस गये। लौट कर आये तो टैगोर शत-वार्षिकी समारोह के अन्तर्गत अखिल भाषा बगीय सम्मेलन द्वारा महाकवि के कलकत्ता-स्थित जोरासाको वाले आवास-भवन मे आयोजित विचार-सगोष्ठी का उन्होने उद्घाटन किया। १९६१ मे ही उनके आलोचना-निबन्धों का पाँचवाँ सकलन 'कविनी साधना' प्रकाशित हुआ। १९६२ मे उमाशकर भारतीय पी०ई०एन० के मैसूर अधिवेशन के एक विभागीय अध्यक्ष चुने गये , फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय के विशेष आमन्त्रण पर उन्होने रवीन्द्रनाथ के कहानी-साहित्य एव उत्तरकालीन काव्य-साहित्य पर एक अत्यन्त विचारपूर्ण तथा मननीय व्याख्यानमाला प्रस्तुत की। १९६३ में उन के आलोचना-निबन्धो का छठा सग्रह 'श्री अने सौरभ' प्रकाशित हुआ। अगला वर्ष उन्हें एक मार्मिक आघात पहुँचाने वाला हुआ श्रीमती ज्योत्स्नाबेन नही रही ।

१९६५ मे 'महाप्रस्थान' का प्रकाशन हुआ। यह उमाशकर की सातवी काव्यकृति है और 'प्राचीना' के अनुक्रम मे काव्यात्मक नाट्य-रचना की दिशा मे उन का दूसरा प्रयोग पहले से कही अधिक सशक्त और समर्थ। अगले वर्ष उनकी इस कृति को उमा-स्नेहरश्मि पारितोषिक द्वारा सम्मानित किया गया। १९६६ मे ही पूना विश्वविद्यालय के आमन्त्रण पर उन्होने रवीन्द्रनाथ के काव्य पर एक व्याख्यानमाला प्रस्तुत की और गुजरात विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी निर्वाचित हुए। १९६७ मे वह गुजराती साहित्य परिषद् के २४ वे दिल्ली अधिवेशन के अध्यक्ष हुए। उसी वर्ष उनकी दो और नयी पुस्तके प्रकाशित हुईं आलोचना विषयक उनकी सातवी कृति 'प्रतिशब्द' और आठवी काव्यकृति 'अभिज्ञा'। 'अभिज्ञा' पर उन्हें नानालाल पारितोषिक प्राप्त हुआ।

१९७३ मे उमाशकरजी को उनकी पुस्तक "कविनी श्रद्धा" के लिए साहित्य अकादमी का

पुरस्कार प्रदान किया गया था। यह पुस्तक उनकी साहित्यिक समीक्षाओं व निबंधों का सग्रह है।

१९८१ में उमाशकरजी की समग्र कविताओं का सकलन प्रकाशित हुआ "समग्र कविता" के नाम से। इस ग्रथ का महत्व इसलिए अधिक है कि उनके तरुणावस्था मे लिखे गये काव्यों से लेकर अतिम रचनाओं को एक साथ, एक ही स्थान पर देखने से कवि का सृजनपथ स्पष्ट हो जाता है। भीतर का सातत्य दृष्टिगोचर होता है।

उमाशकरजी शातिनिकेतन मे विश्वभारती विश्वविद्यालय के कुलपति रहे और साहित्य अकादमी के अध्यक्ष भी।

ऐसी महान प्रतिभा का २० दिसम्बर, १९८८ के दिन बम्बई मे देहात हो गया।

निरजन भगत

कृतियाँ

कविता
विश्वशान्ति (१९३१) गंगोत्री (१९३४)
निशीथ (१९३९) आतिथ्य (१९४६)
गुल-ए-पोलैण्ड (१९३९) वसन्तवर्षा (१९५४)
प्राचीना (१९४४) महाप्रस्थान (१९६५)

नाटक
साप-ना-भारा (१९३६) शहीद (१९५१)

कहानी
श्रावणी मेलो (१९३७) अन्तराय (१९४७)
त्रण अर्धां बे (१९३८) विसामो (१९५९)

उपन्यास
पारका जण्या (१९४०)

निबन्ध
गोष्ठी (१९५१) उघाडी बारी (१९५९)

आलोचना
अखो एक अध्ययन (१९४१) निरीक्षा (१९६०)
सम-संवेदन (१९४८) कविनी साधना (१९६१)
अभिरुचि (१९५९) श्री अने सौरभ (१९६३)
शैली अने स्वरूप (१९६०) शेक्सपियर (१९६४)

शोध-अनुसन्धान
पुराणो मा गुजरात (१९४६)
अखाना छप्पा (१९५५)

अनुवाद
उत्तर-रामचरितम् (१९५१) शाकुन्तलम् (१९५५)

सम्पादन
क्लान्त कवि (१९३७) स्वप्न प्रयाण (१९५९)
म्हारा सॉनेट (१९५३)

अभिभाषण के अंश

ये कविताएँ (निशीथ) उस समय लिखी गयी थीं जब मेरी आयु अब से आधी थी और मैं बम्बई जैसे विशाल, आधुनिक महानगर मे पहले तो एक विद्यार्थी के रूप में और फिर एक गृहस्थ के रूप मे पाँव धरने भर की भूमि पाने की जी-तोड कोशिश कर रहा था। ग्रथ शीर्षक कविता 'निशीथ' की प्रथम पक्तियाँ, मुझे अच्छी तरह याद है, एक पत्र की खाली छूटी जगह मे मैंने लिखी थी, जो पत्र मुझे कवि मेघानी से प्राप्त हुआ था। उस समय मैं एक उपनगरीय ट्रेन से देर रात मे घर लौट रहा था। ऊपरी ढग से तो 'मध्य रात्रि की आत्मा' के प्रति निवेदित, इस उद्गान का छन्द वैदिक प्रार्थना की लय-सा है किन्तु इस इलेक्ट्रिक ट्रेन की अनवरत छकाछक चाल की लय इस कविता के गठन मे कुछ आ बैठी है। 'आत्मा के खडहर' शीर्षक कविता के सत्रह सौनेटो मे से तेरह सौनेट मैंने तीन दिन मे लिख लिए थे जब मैं एक अन्डरग्रेजुएट विद्यार्थी के तौर पर भारतीय बैंकिंग के अध्ययन मे तल्लीन था। यह वही समय था जब मुझ पर गहरा प्रभाव पडा, प्रेम और मृत्यु, जीवन के इन दो अनुभवो का—या मैं इन्हे एक ही कहूँ?—क्योंकि कवि-दृष्टि के समक्ष ये दोनो एक ही रूप मे प्रगट होते हैं। तब असहयोग आन्दोलन के चार वर्षों के उपरान्त मैं अध्ययनार्थ लौटा था और यद्यपि गान्धी जी ने हमें जेल अपनाने के लिए प्रेरित किया था और हम ब्रिटिश सरकार की मेहमाननवाजी का लाभ ले रहे थे, हम, प्रारम्भिक तीसवे दशक के तरुण समाजवादी विचारो से प्रभावित होकर जेलो से बाहर आये थे। फिर भी, हम पर गान्धी जी का प्रभाव ही सर्वाधिक छाया था। इसी जीवन-उमग ने हममे से कईयो को परिचालित किया जिन्होने सन् तीस के आसपास लिखना शुरू किया।

यह हुआ कैसे कि मैं, उत्तर-पूर्व गुजरात के एक गाँव का युवक, 'अग्निशिखा के से मुकुल-सा' 'शब्द' से मोहित हो गया। इस प्रश्न को मैंने अनेक बार अपने से पूछा है, किन्तु आज भी मुझे उत्तर की प्रतीक्षा है। मुझे जिस बात का पूर्ण निश्चय है वह यह है कि कवि के रूप मे विकास पाने का अर्थ है वृहत्तर और वृहत्तर सामाजिक परिवेश से अपने आपको सपृक्त करना।

'शब्द' के प्रति मेरे आकर्षण का कारण क्या यह था कि मेरे माता-पिता और गाँव के मेरे आसपास के आदमी अपनी जिह्वा पर 'शब्द' के स्वाद के रसिया थे?—कम-से-कम मुझे तो उन सब के बारे मे ऐसा ही लगता था। इस से पहले कि मुझे इस स्थिति का बोध हो, 'शब्द' मुझे वहाँ ले गया जहाँ मानव-जीवन का कितना-कुछ अभिव्यक्ति के लिए आतुर रहता है। इसने वस्तुओ और प्राणियो के साथ मेरी गहरी परिचिति स्थापित कर दी। 'शब्द' वह कुजी थी जिसकी सहायता से सब कुछ मेरे सामने अपने को खुला करता था। अन्तत यह 'शब्द' ही था जिसने अतीत मे जो भी सार्थक था उसे मेरे लिए सजीव वर्तमान बना दिया, और अदृष्य भविष्य की सागर-यात्रा के पथ को अकित कर दिया, और मुझे निजी अन्तरगता की ऋद्धि से मडित कर दिया।

कविता शब्द-निर्मिति है और सृजनात्मक शब्द के माध्यम से किसी कवि-आत्मा के गहरे स्पन्दन पाठको की चेतनता मे आनन्द का रूप ले कर अनूदित हो जाते हैं, या कहें कि स्वय पाठको का चिदानन्द हो जाते हैं।

कवि तो एक तीर्थयात्री है, शब्द जिसका पथप्रदर्शक है। नही, इससे कही अधिक है वह। शब्द ही वह तत्व है, जिसके द्वारा, मात्र जिसके

द्वारा ही, कवि अस्तित्वमय है। और, फिर वह कभी इस अनुभूति तक पहुँचता है जहाँ शब्द और कर्म का अन्तर कम होता-होता दोनों एक छोर के बिन्दु पर मिलते हैं। शब्द स्वय ही कर्म हो जाता है। ऋग्वेद का समास-पद 'कवि-क्रतु' मुझे बहुत रुचता है। कवि वह है जो उस पार देखता है, जो उस अपर-पारीय परिदशा का गान करता है। क्रतु ही कर्त्ता है, अर्थात् कर्मठ व्यक्ति। इस अर्थ में कविक्रतु है गायक-कर्त्ता—वह जिसका कर्म ही गान है। कल रवीन्द्रनाथ ऐसे थे। आज ओक्टावियो पाज ऐसे हैं।

मैंने काव्यारभ 'विश्वशान्ति' (१९३१) से किया। १९५६ में मैंने उद्बोध-गान लिखा—'मैं छिन्न-भिन्न हूँ।' यदि सर्वाधिक सुन्दर दृश्य जो मैंने अपनी आँखों से कभी देखा है, गान्धी जी के भास्वर नेत्र-युगल हैं जिनमें से २१ दिन के उपवास के बाद अपरिमित प्रेम छलक रहा था, तो सबसे दारूण भयावह दृश्य मैंने देखा है सीमेंट और मिट्टी के पिंड मे से चमकती हड्डियों की सफेदी जो हिरोशिमा में एटम-बम के नारकीय ताप से गल कर उस पिंड के साथ एक रूप हो गयी थीं। केवल काव्यात्मक शब्द ही उन ऐसे अनुभवों को इकाई के सूत्र में पिरो सकता है जो एक दूसरे के विपरीत हैं।

'आत्मा के खडहर' (१९४५) मे जो बाहर देखने को मिला था उसका साक्षात्कार 'मैं छिन्न-भिन्न हूँ' और 'शोध' कविताओ में भीतर होता है। (दोनों कविताएँ एक माला ही की अश मात्र हैं)। ऐसा लगता है कि सृजन-प्रेरणा कभी-कभी घुमावदार सीढियो पर ऊपर चढती चली जाती है। सौनेटमाला ने यथार्थ तक पहुँचने का अपना मार्ग बनाया। उद्बोध-गानों की यह नयी श्रृखला उस सृजनात्मक सिद्धान्त को पकडने का प्रयत्न करती है जो खडित व्यक्तित्व के एकीकृत सयोजन में सहायक है।

आज की मानव-स्थिति, कम-से-कम सृजनात्मक कलाकार से तो यही अपेक्षा रखती है। और, यदि वह कला की उपलब्धि में सफल होता है तो वह अखडित, और सपृक्त जीवन की आशा को सार्थक करता है। समसामयिक समाज का यत्र-प्रविधि-आश्रित ढाँचा प्रेम की लघु नहरो को सुखाता जा रहा है। भीड भरे नगरों मे मनुष्य अपने को अकेला अनुभव करता है। वह अन्दर के एकान्त से वचित हो गया है—शान्ति का वह केन्द्र जहाँ स्थित रह कर वह मानव की तरह व्यवहार कर सके। आज कविता का यह कर्त्तव्य है, जिस सीमा तक कि पहले कभी नहीं हुआ था, कि वह सबन्धो के अन्तरावलबन के ताने-बाने को प्रकाश की परिधि में लाये और अपनी अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्प्रेरणा के आधार पर उस अपूर्व सामजस्य की इगिति दे जो मानव और अ-मानव, शरीर और अ-शरीर, जीवन की अपरिहार्य दारूण निर्दयता और सततवाही प्रेम के बीच है। यह कविता का ही कार्य है कि वह नर्क से स्वर्ग तक का मार्ग जो आत्मशोध की मजिल से गुजरता है, ससार को दर्शाये।

आज के ससार में भारतीय कवि की निमिति का आधारभूत तत्त्व क्या है? निश्चय ही यह, कि सारे विश्व की चिन्ता का और यातना का भी वह सहभागी हो, इससे कम कुछ नही है। और, यह एक विचित्र अन्तर्विरोध-सा है कि वह जितना ही अधिक विश्व-प्रवण होगा उतना ही अधिक वह भारतीय भी होगा, जैसा कि टैगोर के उदाहरण से स्पष्ट है।

मानव-भाग्य पर दृष्टि केन्द्रित करवाने वाला काव्य-नाटक अवश्य कवियों को आकृष्ट करेगा। आज यदि कोई महाकाव्य लिखा जाये तो सभावना यह है कि वह किसी राष्ट्रीय या किसी सस्कृति-विशेष की गाथा न कहकर एक विश्व-इकाई पर, तथा आज की समग्र मानव-स्थिति पर दृष्टि केन्द्रित करेगा।

कविता तो घटित हो जाती है। कविताएँ अनवरत कुछ बनने के बीहड विस्तार में स्थित होने के लघुद्वीप हैं। कविता चरितार्थता है।

गर्भस्थित शिशु के अभी तक
अनखुले नयन

माँ के चेहरे में टिमटिमाएँ,
देखी है कभी तुमने कविता
इस तरह चमकती हुई मेरे आत्मत्व
में ?

कवि अपनी कविता को पीछे छोडकर आगे बढ जाता है सदा नयी वस्तु की खोज में। एक नये ताजे आरम्भ के लिए। प्रत्येक कविता के साथ, उसका कवि रूप में पुनर्जन्म होता है। प्रत्येक कविता के सृजन के साथ उसे आत्मिक परिपक्वता प्राप्त होती चली जाती है।

सुमित्रानन्दन पंत

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह साहित्य-पुरस्कार श्री सुमित्रानदन पत को उन की काव्य-कृति 'चिदम्बरा' के लिए समर्पित है जिसे सन् १९४५ से १९६१ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के सर्जनात्मक साहित्य में, सन् १९६८ के पुरस्कार के लिए, विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

'चिदम्बरा', कवि पत के काव्य-विकास के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है जिस में सन् १९३७ से १९५७ के बीच का सृजन सचयित है। नवीन चेतना का यह काव्य, युग के सघर्षों की पृष्ठभूमि मे, नयी सास्कृतिक प्रेरणा, नये सौन्दर्य-बोध की भावना, भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक विकास की शक्तियो के समन्वयन से प्रसूत नैतिकता की धारणा एव उन्नत मनुष्यत्व की चेतना को रूपायित करता है।

प्रकृति की बहुमुखी भगिमाओ के साथ तादात्म्य के अनुभावक श्री सुमित्रानन्दन पत, हिन्दी काव्य मे आधुनिक युग के प्रवर्तको तथा अभिनव काव्य-चेतना के प्रेरकों में अग्रगण्य हैं। उन की प्रतिभा ने काव्य को नया शिल्पविधान और भाषा को नया विन्यास प्रदान किया है। चालीस से अधिक कृतियो के सृजेता, जिन मे तेंतीस काव्य-कृतिया हैं, श्री सुमित्रानन्दन पत अपने कृतित्व में भारतीय काव्य की सौन्दर्य-श्री, प्रभूत कल्पना, भाव-सपदा और स्थायी उपलब्धि का समर्थ प्रतिनिधित्व करते हैं।

अन्त सघर्ष से मुखरित आज के महान् अन्तरिक्ष युग में, जब मनुष्य चन्द्रमा की धरती को अपनी डगो से नाप रहा है, वे विश्व-मानव के भविष्य-विधायक आदर्शों के द्रष्टा हैं। भू-जीवन, लोक-मगल एव मानव-मूल्यों के अमर काव्य के गायक, श्री सुमित्रानन्दन पत चिरजीवी हों। शुभमस्तु।

नयी दिल्ली
१९ दिसम्बर, १९६९

अध्यक्ष
प्रवर परिषद्

अध्यक्ष
भारतीय ज्ञानपीठ

सुमित्रानन्दन पंत

सुमित्रानन्दन पत का जन्म २० मई सन् १९०० को उत्तर प्रदेश के अल्मोडा जिले के अन्तर्गत कौसानी मे हुआ था। वही गाँव के स्कूल मे प्रारम्भिक शिक्षा हुई, फिर वह वाराणसी आ गये और जयनारायण हाई स्कूल से स्कूल लीविग परीक्षा पास की। इसके बाद उन्होंने इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज मे प्रवेश किया, पर इण्टरमीडिएट की परीक्षा मे बैठे कि उससे पहले ही १९२१ मे असहयोग आन्दोलन के आवर्त मे आ गये। उन्हे फिर सघर्षों के एक लम्बे युग को पार करना पडा निरन्तर यह चेष्टा भी करते हुए कि किसी प्रकार कुछ निश्चिन्त हों और अपने को काव्य एव साहित्य की साधना में लगा सके। क्योंकि यह बहुत पहले ही उन्होंने समझ लिया था कि उनके जीवन का लक्ष्य और कार्य कोई है तो काव्य-साधना ही।

सन् १९५० तक जैसे उनका अपना घर कोई न था। उन्हें विवश होकर बराबर ही मित्रों के साथ रहना पडता था। यही काल था जब पत जी की भाव-चेतना ने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गान्धी और श्री अरविन्द की रचनाओं के प्रभाव ग्रहण किये। साथ ही, कुछ मित्रों ने मार्क्सवाद के अध्ययन की ओर भी उन्हें प्रवृत्त किया और उसके विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पक्षों को उन्होने गहराई से देखा-समझा। १९५० में उनके जीवन में एक मोड आया जब वह रेडियो विभाग से सम्बद्ध हुए। सात वर्ष उन्होने हिन्दी चीफ प्रोड्यूसर के पद पर कार्य किया, उसके बाद साहित्य-सलाहकार के रूप मे। १९५० से १९६० के दशक में उनके काव्य एव आधुनिक हिन्दी साहित्य को उनके अवदान का विवेचन-मूल्याकन करती अनेक रचनाएँ प्रकाश मे आयी। चार-पाँच आलोचनात्मक अध्ययन तो सन् १९५१ मे ही प्रकाशित हुए।

१९६० मे उनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर उनका बडा भव्य अभिनन्दन किया गया। भारतीय ज्ञानपीठ के विशेष सहयोग से कुछ साहित्यिक सस्थाओं ने जिस समारोह की आयोजना की उसकी अध्यक्षता तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने सम्पन्न की, और स्मारिका के रूप मे इस अवसर पर 'रूपाम्बरा' शीर्षक से हिन्दी के प्रकृति काव्य का एक विशिष्ट सकलन भी ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ। हिन्दी के पाँच शीर्ष कवियों—मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, बच्चन, अज्ञेय और नरेन्द्र शर्मा—ने अपनी-अपनी एक मौलिक अथवा सकलित काव्यकृति प्रकाशित करायी और अभिनन्दन-समादर

स्वरूप उन्हे भेट की।

१९६१ मे भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि म सम्मानित किया। इसी वर्ष उन्होने सोवियत रूस, इग्लैंड तथा अन्य कई यूरोपीय देशो का भ्रमण किया, और 'कला और बूढा चाँद' शीर्षक काव्यकृति पर साहित्य अकादमी पुरस्कार भी उन्हे मिला। १९६४ मे उत्तर प्रदेश सरकार ने एक विशेष साहित्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया और अगले वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हे 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया। देव पुरस्कार और द्विवेदी स्वर्ण-पदक वह पहले ही प्राप्त कर चुके थे। विक्रम विश्वविद्यालय और गोरखपुर विश्वविद्यालय ने उन्हे डी लिट् की मानद उपाधि प्रदान की है। उनका निधन १९७७ मे हुआ।

सुमित्रानन्दन पत आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक युग प्रवर्तक कवि हैं। उन्होने भाषा को निखार और सस्कार देने, उसकी सामर्थ्य को उद्घाटित करने, तथा सौन्दर्य और लालित्य की दृष्टि से उसे एक सन्तोषजनक रूप प्रदान करने के अतिरिक्त जो नव-नवीन विचार-भावो की समृद्धि दी है वह क्रान्तिकारी सम्पन्न कवि से ही सम्भव थी। विगत पाँच दशको के साहित्य जगत् की वह एक ऐसी जागरूक एव ऊर्जस्वी प्रतिभा है जो अपनी महान् कृतियो के द्वारा कीर्ति-गौरव की नित नयी सरणियाँ उद्भासित करते आये हैं। उन्होने हिन्दी भाषा और उसके माध्यम से आधुनिक युग की समग्र काव्य-चेतना को एक अपूर्व प्रभावगुण से सम्पन्न किया है। इतना ही नहीं, शब्दो की शक्ति सामर्थ्य अपने वाच्यार्थ से बहुत दूर आगे तक जाती है इसे भी सबसे पहले पहचानने और प्रकट करने का श्रेय उन्ही को है। उन्होने ही खडी बोली की प्रकृति को देखते-समझते हुए छन्दो के स्वरबलयुक्त रूप को प्रचलित करने का सबसे पहले प्रयास किया। छन्द और भाव प्रवाह, शैली और विषयवस्तु, एव शब्दो और उनके अर्थ मे समस्वरता उनकी काव्य-कला की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। उनकी सौन्दर्य विषयक अभिव्यजना इतनी तटस्थतापूर्ण होती है कि उसके प्रति उनके अपने राग और सम्पृक्तता भाव को पहचानना सरल नही होता। उसमे यह विशेष प्रभावगुण भावो और लय के परस्पर सामजस्य के ही फलस्वरूप आता है। उनमे कला सहज रूप से उद्भूत होती है जो उनकी अभिव्यजना को आपसे आप एक सन्तुलन, मार्दव और माधुर्य दे देती है।

सुमित्रानन्दन पत का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही गीतात्मक है। वह मूलत और मुख्यत गीतिकार हैं। प्रकृति के साथ उनकी भावात्मक ऐक्य की अनुभूति उनके काव्य मे बडी सशक्तता से मुखरित हुई है। जो पुलकभरी भावाकुलता और भावुक समर्पणशीलता पत जी के प्रकृति-काव्य की विशिष्टता है वह छायावादी कवियो मे भी अन्यत्र नही मिलती। बीच-बीच में रहस्य और अध्यात्म के स्पर्श आ जाने से, जो उनके प्रकृति चित्रण को एक भीनी उदात्तता से मण्डित करते हैं, पत जी का काव्य वस्तुत अनूठा और अनुपम हो उठा है। उनके नारी सौन्दर्य के वर्णन मे भी एक ऐसी सजीव व्यक्तिमूर्ति का द्योतन होता है जो व्यापक गुण-लक्षणो से युक्त हो, रीतिकालीन कवियो के अतिरजनापूर्ण बाह्य रूपपरक चित्रणो से सर्वथा भिन्न रहता है।

पत जी सदा ही अत्यन्त सशक्त और ऊर्जस्वी कवि रहे हैं। उनकी प्रकृति विषयक प्रारम्भिक कविताओ का सरल बालोचित विस्मय-विमुग्धता का भाव इतना चिताकर्षी होता था कि उन्हे प्रधानत प्रकृति का कवि माना जाने लगा। किन्तु वास्तव मे पत जी तो मानव सौन्दर्य और आध्यात्मिक सचेतना के भी उतने ही कुशल कवि हैं। धीरे-धीरे सम्पूर्ण मानव जाति के सामाजिक पुनरुत्थान के प्रति भी उनकी निष्ठा विकसित हुई है।

पत जी का 'पल्लव', 'ज्योत्स्ना' तथा 'गुजन' काल (१९२६-३३) उनकी सौन्दर्य एव कला भावना का रचना काल रहा है। वह मुख्यत भारतीय सास्कृतिक पुनर्जागरण की आदर्शवादिता से अनुप्राणित थे। प्रकृति की एक सौन्दर्य-स्थली मे

जनमे होने के कारण उनकी उस काल की रचनाओ में स्वभावत प्रकृति-प्रेम तथा सौन्दर्य भावना का प्राधान्य रहा है, साथ ही १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अँग्रेजी कवियो की आशावादिता तथा कला-शिल्प का भी हाथ उन्हे सँवारने में रहा है। शेली की उदात्त कल्पना, कीट्स की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि, वर्ड्स्वर्थ का गम्भीर प्रकृति-प्रेम तथा टेनिसन और स्विनबर्न का भाषाबोध—इन सबने उनके मन को आकर्षित किया। एक प्रकार से वह उनका काव्यकलाजनित मूल्य-विन्यास का युग था। किन्तु 'युगान्त' (१९३७) तक आते-आते बहिर्जीवन के गुरुत्वाकर्षण के कारण उनके भावनात्मक दृष्टिकोण मे परिवर्तन आये।

यद्यपि १९२१ के असहयोग आन्दोलन मे उन्होने कॉलेज छोड दिया था पर देश के स्वाधीनता सग्राम की गम्भीरता के प्रति उनका ध्यान १९३० के नमक सत्याग्रह के समय से अधिक केन्द्रित होने लगा, और फिर उनका मन कल्पना की भूमि से उत्तरोत्तर वास्तविकता की भूमि पर उतरने लगा। इन्हीं दिनो सयोगवश उन्हे कालाकाँकर में ग्रामजीवन के अधिक निकट सम्पर्क मे आने का अवसर मिला। और मूर्तिमान दारिद्र-स्वरूप उस ग्राम-जीवन की पृष्ठभूमि में जो सवेदन उनके हृदय मे अकित होने लगे उन्हे वाणी देने का प्रयत्न उन्होंने 'युगवाणी' (१९३८) और 'ग्राम्या' मे किया है। यहाँ से उनका काव्य युग के जीवन-सघर्ष तथा नयी चेतना के प्रस्फुटन का ही दर्पण बन जाता है। उनका मन बाह्य जीवन के यथार्थ को समेटने-सुलझाने मे सलग्न रहने लगता है।

'युगवाणी' वास्तव में 'ग्राम्या' की गीता है। उन्होंने उसमे नवीन जीवन-वास्तविकता के विकास की दिशा, अर्थात् राशिवाचक ईश्वर के भावी स्वरूप, जिसे गाँधी जी 'दरिद्र नारायण' कहते थे, का निर्देश किया है। 'ग्राम्या' में एक ओर यदि मध्ययुगो के विश्वासो एव जीवन-पद्धतियों मे पथराई हुई लोक-मानवता का चित्रण है तो दूसरी ओर उस नयी अमूर्त सवेदना का भी है जो आज मन के स्तर पर उदय होकर, विगत जीवन-यथार्थ के ढाचे को बदलने के लिए, समस्त देशों मे अनेक रूपों मे सघर्ष कर रही है। 'पल्लव'—'गुजन' काल मे उन्होने परम्परागत कलाबोध ही का नवीनीकरण कर उसे अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उसका रूप-जगत् पुनर्जागरण काल का भावजगत् होने के कारण चिरपरिचित रहा। किन्तु 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे तथा आगे भी रचनाओ मे उनकी कल्पना ने अनुद्घाटित क्षितिजो मे प्रवेश कर वहाँ के भाव-वैभव को वाणी मे मूर्त करने का प्रयत्न किया। स्वभावत उसमे रूप-कला का स्थान भाव-वैभव ने और विचारो-मान्यताओ का स्थान चेतना के स्पर्श ने ले लिया। यहाँ से उनकी सृजन-चेतना में कला का प्रयोग कला के लिए न रह कर जीवन को सवारने के लिए होने लगा, जो इस वैज्ञानिक युग की एक अनिवार्य आवश्यकता था। "बन गये कलात्मक भाव जगत् के रूप नाम," जैसा कि 'युगवाणी' की इस उक्ति से चरितार्थ होता है।

१९४२ के 'भारत छोडो' आन्दोलन के बाद जो निरकुश दमनचक्र देश मे चला उसने उनके चित्त को अत्यन्त विचलित किया, फिर १९४७ मे भारत के विभाजन का प्रभाव भी अच्छा नही पडा। इसी मानसिक व्यथा तथा दुराशा के अन्धकार की स्थिति मे उनके भीतर यह सत्य दृढ रूप से अकित हो गया कि केवल राजनीति की लाठी से ठोंक-पीट कर ही मनुष्य को मानव नहीं बनाया जा पाता, इस विराट विश्व-विवर्तन के राजनीतिक-आर्थिक युग मे मनुष्य को एक उतने ही व्यापक तथा सशक्त सास्कृतिक आन्दोलन की भी आवश्यकता है जो बाहरी जीवन-परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुरूप मनुष्य के अन्तर्गत एव भीतरी सस्कारो के मन की तथा मनुष्य के अन्त सत्य के अनुरूप बाहरी जगत् के परिवर्तनों को मानवीय जीवन-गरिमा के सन्तुलन मे ढाल सके। इस सास्कृतिक अनुष्ठान की प्रेरणा उन्हें 'लोकायतन' के रूप में मिली।

इस नवीन सास्कृतिक प्रेरणा से अनुप्राणित हो

कर उनका मन 'ग्राम्या' के बहिर्जगत् के धरातल से उठकर मनुष्य के विचारो-भावों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सास्कृतिक मूल्यों के अन्तर्जगत की ओर आरोहण करने लगा। इस यात्रा के चरण-चिन्हो तथा स्वप्न-सवेदनों को उन्होंने 'स्वर्णकरण', 'स्वर्णधूलि' आदि (१०४७) में मूर्तित करने का प्रयत्न किया है, जिन्हें उनके काव्य के स्वर्णयुग की रचनाएँ कहा जाता है।

'ग्राम्या' १९४० मे लिखी गयी थी। १९४० से १९४६ तक का काल उन्हे एक प्रकार से, मनुष्य के अमूर्त अन्तर्जगत् के मानचित्र का परिचय प्राप्त करने में लगा। इसमें एक वर्ष उनकी अस्वस्थता में भी गया। शेष पाँच वर्षों में उन्हे अपनी चेतना को बाह्य परिस्थितियो के धक्के से उबारने के लिए मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करना पडा। इसी बीच सयोगवश वह श्री अरविन्द आश्रम के सम्पर्क मे भी आये। और जो दृष्टि स्वतन्त्र चिन्तन-मनन से उनके भीतर जन्म ले रही थी उसी के एक पक्ष का समर्थन उन्हें वहाँ मिला। फलत अनेक दिनो से निष्क्रिय पडी उनकी सृजन-चेतना का स्रोत फिर से उन्मुक्त हो मुखरित हो उठा।

पत जी की ये रचनाएँ किसी दर्शन विशेष से प्रभावित नहीं हैं। शायद दर्शन के बौद्धिक ढाँचे मे बँध कर इस प्रकार का सृजन-प्राण लेखन सम्भव भी नहीं होता। ये रचनाएँ उन्होंने मानव भविष्य के गुरुत्वाकर्षण से खिचकर अपनी ही अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर लिखी। इस प्रकार की दृष्टि उन्हें 'पल्लव' काल के बाद ही मिल गयी थी जिसका दिग्दर्शन उन्होंने 'पुरुषोत्तम राम' नामक काव्यखण्ड में उपस्थित किया है।

'चिदम्बरा' काल (१९५८) के बाद 'लोकायतन' (१९६४) में उन्होंने धरती की चेतना ही को मुख्य स्थान दिया है और सीता का रूपक बाँध कर उसे मध्य युगीन नैतिक सस्कारों तथा रूढि-रीतियों की शृखलाओं से मुक्त कर धरा-चेतना का नवीन युग के अनुरूप मानवीकरण तथा आधुनिकीकरण किया है। 'पल्लव'-'गुजन' काल में कला-सस्कार की समीक्षा के बाद तथा 'ज्योत्स्ना' मे एक विश्वव्यापी सास्कृतिक स्वर्ण की सम्भावनाओ की एक मोटी रूपरेखा दृष्टिगोचर होने के बाद उनके मन मे नवीन युग के अनुरूप नवीन जीवन-मूल्यो का सघर्ष नये-नये रूप धारण करने लगा।

'स्वर्ण किरण' तथा उसके बाद की रचनाओ मे उन्होंने किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक सत्य को वाणी न देकर व्यापक मानवीय सास्कृतिक तत्त्व को अभिव्यक्ति दी है जिसमे अन्न-प्राण, मन-आत्मा आदि मानव जीवन के सभी स्तरो की चेतना को सयोजित करने का प्रयत्न किया गया है। ये रचनाएँ अनेक आलोचको को विचार-चिन्तन गर्भित लगती हैं। वास्तव मे वे नये विश्वजीवन की अनुभूतिजनित भावना के घनत्व के कारण बोझिल प्रतीत होती है। 'लोकायतन' मे उन्होने किसी महान् व्यक्तित्व को जन्म न देकर मानव-चेतना को ही उसके नायक या नायिका के रूप मे प्रतिष्ठित किया है जो विश्व-विकास के क्रम मे निरन्तर आगे बढती जाती है।

अपनी इधर की रचनाओ मे पत जी ने मानव हृदय के सत्य पर तथा उस सत्य को जीवन के सम्मुख लाने पर अधिक बल दिया है। आज के आध्यात्मिक पुनर्जागरण तथा वैज्ञानिक अवतरण के युग मे समस्त ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धो सम्पद् से सम्पन्न होते हुए भी उन्हे मानव मे हार्दिकता का अभाव लगता है, जिसके कारण उसके जीवन-निर्माण के प्रयत्न मानवीय न होकर निर्मम यान्त्रिकता के प्रतीक बनते जा रहे हैं। पत जी को बाहरी-भीतरी सभी प्रकार की साधनाओ के लिए हृदय का पथ अधिक सुगम, सरल तथा लोकजीवन के निकट लगता है। 'युगवाणी' मे उन्होने लिखा था कि अध्यात्म अपनी सूक्ष्म उपलब्धियो को जीवनमूर्त करने के लिए वैज्ञानिक युग के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। अब उन्हें लगता है कि विज्ञान और अध्यात्म के भौतिक और आत्मिक

उपकरणो का मानवीय उपयोग केवल मानव-हृदय के सत्य को ही प्रमुखता देकर सम्भव हो सकता है।

'चिदम्बरा', जिस कृति पर ज्ञानपीठ पुरस्कार से उनका सम्मान हुआ, सन् १९५८ का प्रकाशन है। इसमे 'युगवाणी' (१९३७-३८) से 'अतिमा' (१९५४) तक कवि की १० कृतियों से चुनी हुई १९६ कविताएँ सकलित हैं। एक लम्बी आत्मकथात्मक कविता 'आत्मिका' भी इसमे सम्मिलित है जो 'वाणी' (१९५७) से ली गयी है। 'चिदम्बरा' पत जी की काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है।

इन कविताओ के विषय मे कवि का वक्तव्य है कि "द्वितीय उत्थान के इस सर्जनात्मक कृतित्व की उपयुक्त सज्ञा 'नव सचेतना की कविता' हो सकती है, जिसमे एक सुसस्कृत, समस्वर एव व्यापक सामाजिक प्रतिमान के तत्त्व भी समाये हो और एक ऐसी नयी मानवता के भी जो जीवन-अस्तित्व के दोनो स्तरो—विचार भावना का उच्चतर स्तर और सहविस्तारी दिशाओ का सामान्य स्तर—को अपने मे समाविष्ट करती हो। मेरी कविता प्रधानत वर्तमान युग के महाकाव्य सघर्ष की कविता है। जो लोग इस नये युग के सघर्ष को वर्ग सघर्ष तक ही ससीमित रखते हैं और निरे ऊपरी भाव से अर्थशास्त्र और राजनीति की भाषा मे उसकी व्याख्या करते हैं उनकी गिनती न करते हुए मेरा आग्रहपूर्वक कहना है कि 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरी समग्र कविता आज के मानव के अन्तर्सघर्ष की कविता है। मेरी काव्यगत चेतना मध्ययुगीन नैतिक एव बौद्धिक अन्धकार तथा उसके दिये जीवन के प्रति सकीर्ण दृष्टिकोण से ही सघर्ष में आबद्ध नहीं रही, उसने मानव के उज्ज्वलतर भविष्य की ओर अग्रसर होने के मार्ग की अन्य समस्त बाधाओ के विरुद्ध भी अनवरत सघर्ष किया है।"

'चिदम्बरा' में प्रकृति काव्य के बडे सुन्दर-सुन्दर उदाहरण सचयित हैं, कवि की सौन्दर्यबोधी भाव-चेतना के रूप-स्वर ग्रहण करने में प्रकृति के नाना भव्य एव शुभ प्रभावों के तो विशेषकर हैं। उसमे मानव मानस पर अधिरूढ अन्धशक्तियों का भी अनावरण हुआ है अर्थात् मध्ययुगीन परम्पराओं के जड भार का, जो आज के इस वैज्ञानिक युग मे सर्वथा असगत है जहाँ सर्वसुख-सुविधाओ का आश्वास होते भी सम्पूर्ण मानव विनाश की भयावह सम्भावना भरपूर है। 'चिदम्बरा' मे, साथ ही, इस विश्वव्यापी सकट का समाधान भी सुझाया गया है। समाधान यह कि विज्ञान की शक्ति और उसके परिणाम भौतिकवाद को ऐसे सास्कृतिक गुणतत्त्वो से युक्त किया जाये जिनसे मानव-मन प्रबुद्ध हो और उसकी भावनाओं में उदारता आये ताकि इस भौतिक स्तर पर रहते हुए भी वह सबके उत्कर्ष एव समृद्धि के लिए सबके साथ मिलकर उद्योग करे। और इतना ही नहीं, मनुष्य उन आध्यात्मिक मूल्यो से भी अवगत हो जो उसके प्रयत्नो को एक नये अर्थ-बोध से सम्पन्न करेंगे और जिनके फलस्वरूप भीतर-बाहर सब कही सगति एव सामजस्य का प्रसार होगा।

कृतियाँ

पत जी की सब प्रकाशित कृतियाँ ३९ हैं। जो दो १९१८ में अग्निदुर्घटना में नष्ट हो गयीं वे अतिरिक्त हैं, और जो कई अप्रकाशित हैं वे भी। प्रकाशित कृतियों में २८ काव्य-कृतियाँ हैं, ४ पद्यनाट्य-कृतियाँ, ३ निबन्धसग्रह, १ कहानी-सग्रह, १ उपन्यास, १ आत्मकथात्मक सस्मरण कृति, १ काव्यानुवाद। सूची नीचे दी है

काव्य-कृतियाँ

१ वीणा	१९१९
२ ग्रन्थि	१९२०
३ उच्छ्वास	१९२२
४ पल्लव	१९२६
५ वीणाग्रन्थि	१९३०
६ गुजन	१९३२
७ युगान्त	१९३७
८ युगवाणी	१९३८
९ पल्लविनि	१९४०
१० ग्राम्या	१९४०
११ स्वर्ण किरण	१९४७
१२ स्वर्णधूलि	१९४७
१३ युगान्तर	१९४८
१४ उत्तरा	१९४९
१५ युगपथ	१९४९
१६ आधुनिक कवि-२	१९४९
१७ अतिमा	१९५५
१८ वाणी	१९५८
१९ रश्मिबन्ध	१९५८
२० चिदम्बरा	१९५८
२१ कला और बूढा चाँद	१९५९
२२ अभिषेकिता	१९६०
२३ हरी बाँसुरी सुनहरी टेर	१९६३
२४ लोकायतन (महाकाव्य)	१९६४
२५ किरणवीणा	१९६६
२६ पौ फटने से पहले	१९६७
२७ पतझर	१९६८
२८ गीतहस	१९६९

पद्यनाट्य-कृतियाँ

१ ज्योत्स्ना	१९३४
२ रजतशिखर	१९५१
३ शिल्पी	१९५२
४ सौवर्ण	१९५७

निबन्ध-सग्रह

१ गद्यपथ	१९५५
२ शिल्प और दर्शन	१९५८
३ कला और सस्कृति	१९६५

कहानी-संग्रह

१ पाँच कहानियाँ	१९३६

उपन्यास

१ हार (लिखित १९१५)	१९६०

आत्मकथात्मक संस्मरण

१ साठ वर्ष एक रेखाकन	१९६२

काव्यानुवाद

१ मधुज्वाल (रुबाइयाते उमर खैयाम)	१९४७

अभिभाषण के अंश

अपनी कृति 'चिदम्बरा' को पुरस्कार मिलना मैं केवल एक सयोग की बात मानता हूँ। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं मे आज इतने महान् सर्जक तथा प्रतिभाशाली लेखक विद्यमान हैं कि उनमें अपनी गिनती करने मे मुझे सकोच का अनुभव होता है। भारत के प्राय सभी लेखकों के प्रेरणा-स्रोतो मे समानता मिलती है, और उनके साहित्य मे भी सामान्यत एक ही प्रकार की प्रवृत्तियो का विकास पा जाता है, इसका अनुभव वर्तमान युग के भारतीय साहित्यों के किसी भी अध्येता को सहज ही मिल सकता है।

हमारे राष्ट्रनायक यदि ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारे देश के मनीषी उनके काम नही आये तो यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योकि उनका सम्बन्ध न कभी अपने देश की भाषाओ या उनके साहित्य से रहा है और न उनका बौद्धिक सम्पर्क अपने देश के बुद्धिजीवियो या मनीषियो के ही साथ रहा है। सत्य यह है कि अपने देश के मनीषियो से उन्होने काम ही लेना पसन्द नहीं किया। वे भाषा तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने की चिन्ता न कर, जो कि राष्ट्रीय एकता तथा लोक जागृति के लिए अनिवार्य आवश्यक उपादान है, भावनात्मक एकता का झूठा तथा खोखला नारा देकर ही सन्तुष्ट हैं। मनुष्य की भावना अपने परिवार के लोगो तक ही प्राय सीमित रहती है, अधिक से अधिक वह अपने गाँव और प्रान्त के जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुडी रहती है जिसके उदाहरण हमे अपने देश में दिन-रात देखने को मिलते हैं। प्रयत्न होना चाहिए विवेकात्मक एकता—रैशनल इण्टिग्रेशन—का, विवेक-बुद्धि जिस कार्य के लिए स्वीकृति दे उसे दृढतापूर्वक स्वस्थ सकल्प के साथ कार्यान्वित करना चाहिए, तभी हमारे मध्ययुगीन पूर्वग्रहों से विदीर्ण देश में प्रगति तथा उन्नति सम्भव हो सकती है और अपने समय में भावनात्मक एकता की सदिच्छा भी चरितार्थ हो सकती है।

भारतीय पुनर्जागरण तथा स्वाधीनता की भावना से जिन सास्कृतिक शक्तियो का देश के मानस में प्रादुर्भाव तथा सचार हुआ उसी अरुणोदय के उन्मेष से मुख्यत भारतीय भाषाओं के साहित्य का मन इस युग में प्रेरित तथा आन्दोलित रहा। आज के राजनीतिक-आर्थिक सघर्ष के भीतर से तथा पिछले युगो के विभिन्न मतों-सम्प्रदायो तथा प्रान्तो से एक नये भारत एव मनुष्यत्व की रूपरेखा साहित्य के धरातल पर उभर रही है। एक नवीन राष्ट्रीय तथा मानवीय एकता का अनुभव धीरे-धीरे देश के प्रबुद्ध वर्ग की चेतना को होने लगा है। एक ओर उसमे मध्ययुगीन अतीतोन्मुखी मूल्यो, नैतिक दृष्टिकोणों, जाति-पाँति मे बँधे वर्गों का विघटन तथा ह्रास हो रहा है जिस से जन-सामान्य अत्यधिक चरित्रहीन तथा शीलभ्रष्ट हो गया है, दूसरी ओर देश के बौद्धिक इस वैज्ञानिक युग से नयी प्रेरणा ग्रहण कर विश्व के समुन्नत देशो के जीवन-मूल्यों को निरखने-परखने का प्रयत्न कर रहे हैं- इस विश्व-प्लावन के प्रथम प्रवाह मे, प्रारम्भ में, उनके पैर अपनी धरती से उखड भी जा रहे हैं और वह उसी भटकाव एव दिग्भ्रान्ति से नवीन सास्कृतिक चेतना के स्पर्शों की अनुभूति ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु हमारे नवलेखन से अब शनै -शनै विदेशी साहित्य के अन्धानुकरण के चिह्न मिटते जा रहे हैं और उस मे स्वतन्त्रचेता नवीन तरुण साहित्यकार जन्म लेते दिखाई दे रहे हैं।

यदि हम और भी व्यापक दृष्टि से देखना चाहें तो आज अपने ही देश मे नहीं समस्त विश्व में ही ह्रास-विघटन तथा नवनिर्माण की शक्तियों में सघर्ष

चल रहा है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद योरोप के जीवन तथा साहित्य को भी बुरी तरह से ह्रास-विघटन की अन्धी शक्तियो ने जकड लिया है और वहाँ के वर्तमान साहित्य में मुख्यत जिस अनास्था, सत्रास, सशय तथा मृत्यु-भय को अभिव्यक्ति मिल रही है, हमारे नवलेखन ने भी उससे प्रभावित होकर आरम्भ में आँख मूँद कर उसी मूल्य-हीनता को अपने साहित्य में आरोपित कर उसे अभिव्यक्ति देने मे सृजन-सार्थकता का अनुभव किया है।

एक प्रकार से यह स्वाभाविक भी है। आज वैज्ञानिक आवागमनों के साधनों तथा रेडियो-चलचित्रो की सुविधा के कारण समस्त विश्व के देश एक-दूसरे के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क मे आते जा रहे हैं— उनके सास्कृतिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक दृष्टिकोण, विचार तथा जीवन-पद्धतियाँ एक-दूसरे से टकरा कर उनमे नया स्पन्दन-कम्पन एव सन्तुलन पैदा करने का प्रयास कर रही हैं और प्रत्येक देश के निवासी के मन मे आज अपने देश की समस्याएँ ही नहीं, विश्व की समस्याएँ भी अँगडाई ले रही हैं और अतीत के सकीर्ण नैतिक तटो, आचार-विचार के घेरों, तथा देशों-राष्ट्रो की सीमाओं को लाँघ कर वर्तमान भौतिक युग के प्लावन से एक नवीन मानवीय धरती की रूपरेखाएँ उद्‌बुद्ध मनीषियों तथा युगचेताओं के मन मे निखरने लगी हैं, जो ससार के साहित्य में एक नयी सास्कृतिक प्रेरणा, नये सौन्दर्यबोध की भावना, व्यापक नैतिकता की धारणा तथा उन्नत मनुष्यत्व की चेतना को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न कर रही हैं। आज ऐसे द्रष्टाओं तथा चिन्तकों की ससार में कमी नहीं हैं जो विश्व-जीवन की समस्याओं तथा मानवीय सस्कृति के मूल्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर देश-जाति-वर्गों के बीच खडी दीवारों को अतिक्रम करने के प्रयत्न में सलग्न हैं।

भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने जहाँ राजनीतिक बन्धन-विमुक्ति तथा जीवन-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा लोगों के मन मे जागृत की, वही भावो-विचारों सम्बन्धी नवीन स्वतन्त्र क्षितिज भी सृजनशील मनीषियो की कल्पना में उद्‌घाटित किये जिसमें विश्व-जीवन के प्रभावो का भी बहुत अधिक हाथ रहा है। अनेक प्रकार के उत्थान-पतनो तथा आशा-निराशा से आन्दोलित वह स्वाधीनता-सग्राम का युग अत्यन्त प्रेरणाप्रद रहा। उसी युग की पृष्ठभूमि में रामकृष्ण परमहस, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि महापुरुष आध्यात्मिक जागरण की आलोक-शिखा लिये हुए मनश्चक्षुओं में मूर्तिमान् रहे। भारतीय मानस रामायण-महाभारत काल की पौराणिक स्वर्णिम श्रृखला तथा रूढि रीति-नीति की मध्ययुगीन जडिमा से मुक्त होकर फिर से औपनिषदिक शुद्ध शाश्वत चैतन्य के नि सीम वातावरण मे साँस लेने लगा, जिसके उन्मेष मे सास्कृतिक जागरण के अग्रदूत रवीन्द्रनाथ-से विश्व-कवि ने जन्म लिया। अनन्त प्रेरणाओ, उन्मेषों, उद्‌भावनाओ तथा सम्भावनाओ का रहा वह महान् युग, जिसमे हिन्दी मे तथाकथित छायावाद युग ने जन्म लिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द तथा दयानन्द-द्वारा आविर्भूत पुनर्जागरण तथा सुधारवाद की प्रेरणा भारतीय जीवन को कुछ हद तक मानसिक आध्यात्मिक सन्तोष देकर प्रभावहीन हो गयी। जीवन के धरातल पर उससे देश मे किसी प्रकार की जागृति तथा उन्नति का सचार नही हो सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश केवल खोखली राजनीतिक मुक्ति का अनुभव कर सका, वह अपने को ठोस जीवन-निर्माण की दिशा की ओर सगठित एव अग्रसर नहीं कर सका। इसका कारण यह है कि आज के दिगभियान के युग मे, जो विश्व-मानव के भीतर नये मनुष्यत्व के अभियान का भी युग है, धरती के मनुष्य को एक अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण तथा अधिक महान् मनुष्यत्व की प्रेरणा चाहिए जिसका ध्येय केवल आध्यात्मिक सम्पद् या भौतिक वैभव सचय करना ही न हो, बल्कि जो इन दोनों के सौष्ठव को

आत्मसात् कर मनुष्य की आत्मिक, मानसिक, प्राणिक तथा दैहिक आवश्यकताओं के सम्पूर्ण सत्य को धरती की जीवन-गरिमा में सयोजित कर सके, जो पिछले युगों की खर्व आध्यात्मिक-नैतिक मान्यताओं तथा निषेध-वर्जनाओं की देश-काल पीडित दृष्टि को लाँघ कर मनुष्य के ऐन्द्रिय जीवन का आध्यात्मीकरण तथा आध्यात्मिक जीवन का इन्द्रियीकरण कर सकें। मानव-जीवन का सत्य केवल मानव-केन्द्रिक ही नहीं, धरा-केन्द्रिक भी है। धरती की चेतना से मानव चेतना का सर्वांग सयोजन ही इस युग के द्रष्टा, स्रष्टा, चिन्तक, विचारक, शिल्पी, कर्मी तथा विश्व-सभ्यता और सस्कृति के सम्मुख सम्प्रति अनिवार्य मूलगत प्रश्न तथा समस्या है, जिसका दायित्व कवि-कलाकार तथा शिल्पी पर आज सर्वोपरि है, क्योंकि वह मानवता के अन्तर्जगत् का निर्माता है और सस्कृति के सैनिक की तरह उसे इन गम्भीर अरूप आन्तर-समस्याओं एव शक्तियों से अजस्र सघर्ष कर उन्हे नवीन जीवन-सौन्दर्य का भावनात्मक आयाम तथा मूल्यगत रूप प्रदान करना है। धरती की चेतना की कुछ अपनी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, जैसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, स्वार्थ-अहकार आदि जिनके व्यर्थ के उदात्तीकरण में जीवन व्यतीत करने के बदले, उनके सत्य को स्वीकृति देकर, उनका समाजीकरण एव मानवीकरण करना है। ये भू-जीवन की आत्म-सरक्षण की सहज प्रवृत्तियाँ हैं , जिनमें ये प्रवृत्तियाँ क्रियाशील नहीं रह गयी हैं वे जीवन के धरातल पर मृत के समान हैं। हमें केवल मन के ही स्तर पर आत्मोन्नयन नहीं करना है, जीवन के धरातल पर भी उसे सँवारना है। मानव अहता ही ईश्वर का पार्थिव स्वरूप या मुख है, उसी के मानदण्ड से धरा-जीवन में सद्सद् का बोध सम्भव है। आध्यात्मिकता के शिखरो पर दीर्घकाल तक विचरण करने के बाद मुझे उनकी एकागिता तथा रिक्तता की अनुभूति हुई और भौतिक दर्शन के बहिर्भ्रान्त राजनीतिक-आर्थिक जीवन-मरू में भटकने के बाद भी उसी प्रकार उसकी एकागिता, कुरूपता, अनगढता तथा अमानवीय निर्ममता का अनुभव हुआ।

चिदम्बरा काल के बाद 'लोकायतन' में मैंने धरती की चेतना को ही मुख्य तथा सर्वोच्च स्थान दिया है और सीता का रूपक बाँध कर, उसे मध्ययुगीन नैतिक सस्कारों तथा रूढि-रीतियों की श्रृंखलाओं में मुक्त कर धरा-चेतना का नवीन युग के अनुरूप मानवीकरण तथा आधुनिकीकरण किया है। वाल्मीकि व्यास ने जिस सास्कृतिक सचरण को जन्म दिया था वह कालिदास में सौन्दर्य पल्लवित होकर तथा सूर-तुलसी में मध्ययुगीन स्वर्णिम तोरणों में प्रवेश कर एव उनसे आगे बढकर आज एक सर्वदेशीय, अधिक व्यापक, अधिक पूर्ण सास्कृतिक चेतना के रूप में विकसित होकर, देशों-राष्ट्रों की सीमाओं से मुक्त नयी धरती के दिगन्त विस्तृत प्रागण में जीवन-मूर्त होने जा रहा है जिसके प्रथम चरण चिह्नों की अस्फुट आहट हमें कवीन्द्र रवीन्द्र की काव्य भूमि में सुनाई पडती है।

चिदम्बरा के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड की पृष्ठभूमि में जो भौतिक प्रगति तथा आध्यात्मिक विकास की शक्तियाँ मुझे सृजन-प्रेरणा दे रही थीं उनकी भविष्य के लिए वैसी उपयोगिता नहीं रह गयी— उन दोनों विचारधाराओं तथा दर्शन-दृष्टियो का रूपान्तर होना है। जीवन की भौतिक उन्नति की प्रतिनिधि इस युग की राजनीतिक- आर्थिक पद्धति को अधिक मानवीय बनाना है। सम्भव है, भविष्य में कोई गान्धी जी जैसा दूरदर्शी, भविष्यद्द्रष्टा एव और भी अधिक विकसित व्यक्तित्व आज की निश्चरित्र राजनीति तथा हृदयहीन आर्थिक पद्धति को अपनी व्यापक दृष्टि से मानवीय सस्पर्श प्रदान कर सके। इसी प्रकार हमारा जो आध्यात्मिक बोध विश्व-जीवन से अपना सम्पर्क खो कर अब केवल वैयक्तिक साधना तथा आत्मोन्नति का प्रतीक रह गया है, उसे भी अपनी आत्मिक सात्विकता को धरती के जीवन के अधिक निकट लाना है और अपने ऊर्ध्वगामी चरणों को जीवन के समतल प्रसार पर चलना सिखाना है। दोनों ही दृष्टियों तथा

सचरणों के अतिवादों ने युगमानव को हृदयहीन बना दिया है और विश्वसभ्यता को हार्दिकता के मर्मस्पर्शी सौन्दर्य से वचित कर दिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि रामायण-महाभारत की, व्यापक जीवन-यथार्थ पर आधारित, कर्मठ चेतना मध्ययुगों से अपनी अतीतोन्मुखी दृष्टि के कारण अपने ही भीतर सिमट कर अब जडीभूत होकर पथरा गयी है। उसी प्रकार इस वैज्ञानिक युग के भौतिकवादी वैभव में पूजीभूत पश्चिम की सभ्यता भी, उच्च श्रद्धा तथा आस्था के अभाव में, अपने ही बोझ से डगमगा कर एव प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान तथा अस्तित्ववादी क्षणवाद के अन्धकार में विघटित होकर सास्कृतिक ह्रास के चिह्न प्रकट कर रही है।

आज के युगमानव के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह उपर्युक्त दोनो ही दृष्टियों की अतिरजनाओ से मुक्त होकर दोनो ही के धन, सक्रिय तथा सारभूत सत्यो को सयोजित एव समन्वित कर इस विश्वव्यापी सास्कृतिक सचरण को नये जीवन-सौन्दर्य से सम्पन्न करे, जिसमे पिछले युगो के धर्मों, आचारो, नीतियों, जीवन-मूल्यों एव पद्धतियो के परम्परागत जीवन्त तत्त्वो का नवमानवता की बहिरन्तर आवश्यकताओ के अनुरूप समाहार किया जा सके। उपनिषदों के शुद्ध चैतन्य के स्पर्श से मेरे मन में छाये पिछले आदर्शों तथा रीति-नीति-नियमो सम्बन्धी जीवन-पद्धतियो का पर्वताकार विधान कपूर की तरह ही अपने-आप जैसे उड गया और अविराम मानसिक सघर्ष के उपरान्त जीवन-वास्तविकता की धरती के कूल तथा नये मानवीय आदर्शों के क्षितिज, इस युग में व्याप्त अनेक प्रकार की विचारधाराओं आदि के कुहासे से बाहर निकल कर मेरी कल्पना मे- जिसे मैं कवि की योग-माया कहता हूँ- धीरे-धीरे उदय होने लगे। मेरे अनेक वर्षों के अनुभवों ने, दो विश्व-युद्धों, भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन तथा विज्ञान के चरम विकास, अणुयुग तथा अन्तरिक्षयुग के आगमन ने मेरे भीतर अनेक प्रकार की प्रेरणाओं, नये जीवन-आदर्शों, मनुष्यत्व की विकासशील परिणतियों तथा व्यापक सास्कृतिक सम्भावनाओ को जन्म दिया है। श्री अरविन्द आश्रम की योगसाधना के वातावरण का प्रभाव मेरे मन मे एक-दूसरे ही रूप मे पडा। योग की ऊर्ध्वमुखी अति वैयक्ति साधना की महत्ताएँ तथा उसकी सीमाएँ मेरे भीतर स्पष्ट हो गयीं। वहाँ विशिष्ट व्यक्तियो ही का प्रवेश हो सकता है और सामान्य प्रकृतिपुत्र मानव के लिए अपनी चित्तवृत्तियो का समाजीकरण करके ही उनका उन्नयन या सस्कार सम्भव हो सकता है, यह समाधान मेरे मन को ठीक लगा। बिना मानवीय समता की प्रतिष्ठा के मानवीय आध्यात्मिक एकता की अनुभूति सम्भव नहीं है। उसे कैसे धरती के जीवन के निकट लाया जाये, आध्यात्मिक-ऐतिहासिक आदर्शों को कैसे सयोजित किया जाये, क्या उन मे कोई अन्तर्जात विरोध है, या वे एक ही मानव-सत्य के भीतरी-बाहरी पक्ष हैं, क्या ईश्वर विश्व-जीवन के सघर्ष को छोड कर कहीं अन्यत्र निवास करता है, वह सृष्टि को रचता है या स्वय सृष्टि बन कर अपने अनन्त विकासक्रम मे उसी में विकसित एव प्रकट होता है, क्या स्वर्ग पृथ्वी के आज के नारकीय अविकसित जीवन ही का समग्र उन्नत रूप नहीं है, आदि, अनेक गूढ प्रश्नो के उत्तर मुझे अपने भीतर स्वत मिलने लगे।

हम पिछले नाम-रूपो में परिणत जिस सत्य से परिचित हैं वह कितना ही महान् हो भविष्य के नाम-रूप का सत्य नहीं हो सकता, भले ही उसके पीछे एक सार्वभौम व्यक्तित्व का प्रकाशमण्डल चिपका दिया गया हो। अपने नये विकासक्रम मे मानव-चेतना पिछले देश-कालगत आदर्शों के सम्मोहन से मुक्त होकर एक नवीन मानवीय वैश्य व्यक्तित्व के सौष्ठव से मण्डित होने जा रही है और विगत युगों के धर्मनीति, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, इहलोक-परलोक की धारणाओं को अतिक्रम कर, जीवन-मूल्यो को एक नयी दिशा देकर, अपने सम्पूर्ण रचनात्मक ऐश्वर्य में अवतरित हो रही है। आज के सक्रान्ति-युग की जनता एव मानवता को,

जो ह्रस तथा विकास की शक्तियों से जूझ कर नवीन चेतना के सौन्दर्य में ढल रही है, अपने लिए नवीन भौतिक-प्राणिक जीवन की पीठिका का निर्माण कर कला तथा सस्कृति के पथ से आध्यात्मिकता की ओर, जो कलाओं की कला है, तथा जीवत्व से ईश्वरत्व की ओर बढना तथा विकसित होना है—वास्तव में ईश्वर ही मनुष्यों का मनुष्य है। विश्व-जीवन के निर्माण के लिए स्थूल-सूक्ष्म, बाह्य-आभ्यन्तर से भी शक्तियों का सयोजन तथा उपयोग कर सकना ही योग है, जो आज आत्मोपलब्धि की साधना मे खो गया है—वह साक्षात्कार का सत्य भी है और कर्मकौशल भी।

आज के आध्यात्मिक पुनर्जागरण तथा वैज्ञानिक अवतरण के युग मे समस्त ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी सम्पद् से सम्पन्न होते हुए भी मुझे मानव में हार्दिकता का अभाव लगता है, जिसके कारण उसके जीवन-निर्माण के प्रयत्न मानवीय न होकर केवल निर्मम यान्त्रिकता के प्रतीक बनते जा रहे हैं। आज के बहिर्भ्रान्त युग मे मानव-हृदय एकदम नीचे दब गया है। हृदय की चेतना के द्वारा ही हम अन्न, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा के समस्त बोध तथा तत्सम्बन्धी शक्तियो को समन्वित कर उनमे मानवीय सौहार्द का सौन्दर्य भर सकते हैं। बाहरी-भीतरी सभी प्रकार की साधनाओं के लिए मुझे हृदय का पथ अधिक सुगम, सरल तथा लोकजीवन के निकट लगता है। 'युगवाणी' में मैंने लिखा था कि अध्यात्म अपनी सूक्ष्म उपलब्धियो को जीवन-मूर्त करने के लिए वैज्ञानिक युग के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। अब मुझे लगता है कि विज्ञान और अध्यात्म के भौतिक और आत्मिक उपकरणो का मानवीय उपयोग केवल मानव हृदय के सत्य को ही प्रमुखता देकर सम्भव हो सकता है।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, समस्त सत्य धरा-केन्द्रित अथक मानव-केन्द्रित है, इसलिए हमें विज्ञान और अध्यात्म दोनो ही धरातलों के दृष्टि-वैभव को नवीन मानव के निर्माण तथा विकास के लिए प्रयुक्त करना चाहिए कि वह भविष्य में इस देशों-राष्ट्रों की सीमाआ से उभरी हुई धरती पर एक नवीन सास्कृतिक एकता का अनुभव अपने भीतर कर सके— सास्कृतिक एकता जो उसकी ईश्वरीय अथवा आध्यात्मिक एकता की भी प्रतिनिधि बन सके। कला में रूप और चेतना का सयोजन, दर्शन में गुण और राशि का सयोजन, रचना-कर्म में विज्ञान और अध्यात्म का सयोजन— ये तीनों आज के युग की व्यापक आवश्यकता के प्रमुख तत्व हैं। कवि-कर्म मेरे लिए सृजनात्मक तथा कलात्मक ही न रह कर नयी चेतना की दिशा मे चिन्तनात्मक तथा निर्माणात्मक भी रहा। कवि-दृष्टि मानव जीवन को सौन्दर्य तथा रस की सम्पद् से सँजोने एव सम्पन्न करने के लिए प्रकाश तथा अन्धकार दोनों ही शक्तियो के सत्यों का महत्त्व समझती है। 'अन्धतम प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो ये ऽविद्याया रता' की आर्षवाणी उनकी सृजन-चेतना के अधिक निकट है।

वास्तव मे इस युग मे यदि एक ओर जीवन की परिस्थितियो को मानवीय सुविधाओ के अनुरूप ढालने का सघर्ष है तो दूसरी ओर उतना ही आवश्यक सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं को तदनुरूप बदलने तथा विकसित स्वरूप देने का भी सघर्ष है। आज विज्ञान के प्रादुर्भाव के कारण बाह्य परिस्थितियों का विश्व जितना परिवर्तित तथा विकसित हो गया है उसके अनुपात मे मानव का आन्तरिक जगत्, उसके विविध दिशाओ मे ज्ञानार्जन के बाद भी, उतना विकसित तथा विस्तृत नही हो सका है, मनुष्य अब भी पिछली परिस्थितियों पर आधारित मान्यताओं का बौना व्यक्तित्व या खर्व प्रतीक ही रहा है।

आज मानव-प्रकृति को नया मूल्य देना है। भूत वनस्पति, पशु पक्षियो के जग की प्रकृति मनुष्य में अधिक सशक्त तथा विकसित रूप मे प्रकट हुई है। उस प्रकृति को पिछले युगो की परिस्थिति से बँधी सीमाओ के कारण पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती है। आज के वैज्ञानिक युग मे, जबकि मनुष्य

ने भूत शक्तियों पर पर्याप्त आधिपत्य प्राप्त कर लिया है, मानव-प्रकृति अधिक व्यापक, परिपूर्ण तथा समुन्नत अभिव्यक्ति चाहती है। आज उसके नवीन रूप से समाजीकरण एव सस्कृतीकरण की आवश्यकता है। अभी मनुष्य का मन विगत युगों के आचार-विचार, नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टिकोणो ही का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो एक प्रकार से बासी तथा अव्यवहार्य हो गया है। आज जीवन को, जिसकी शक्ति क्रान्ति है, अपने ही आवेगो की क्षमता मे प्रकट होकर तथा आगे बढ कर मन को नवीन उर्वरक भावना से भर कर उसे नयी दृष्टि तथा प्रेरणा प्रदान करनी है। जीवन का क्षेत्र मन से कहीं व्यापक है। इस युग का युवको का विद्रोह भी इसी जीवनी-शक्ति के आलोडन का एक लक्षण है। युवक, मन से अधिक, जीवन का प्रतिनिधि होता है और उसके रक्त की पिघली आग मे नित्य नये जीवन की प्रगाढ सवदेना प्रवाहित होती रहती है। अतएव आज मनुष्य के अन्तरतम में अजेय क्षमता के रूप मे निहित प्रकृति का आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा स्त्री-पुरुषो से सम्बन्धित सभी दृष्टियों से सभी धरातलों तक नवीनीकरण करना है, जिससे वह अधिक पूर्ण तथा समग्र रूप से धरती के जीवन में प्रस्फुटित होकर चरितार्थ हो सके। यह है सक्षेप मे मानव प्रकृति के पुनर्मूल्याकन का युग, समस्त आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सास्कृतिक सघर्ष जिसके बाह्य लक्षण हैं। मानव-प्रकृति के सिन्धु का पुन युग-मन्थन कर मानव अहता के केन्द्रीय मूल्य को आज बदलना एव विकसित करना है।

नि सन्देह इस युग मे कवि तथा सृजक के कन्धों पर अत्यन्त महान् दायित्व आ पडा है। धरती के जीवन को उसके भाई-बहनों आलोकपुज नक्षत्रो की श्रेणी मे, उनके समकक्ष, बिठाने का भार वैज्ञानिक से भी अधिक आज के सृजन-प्राण द्रष्टा तथा स्रष्टा के ही ऊपर है। अपनी सीमाओ तथा अपने युग की सीमाओ के भीतर से मैं केवल इस सत्य के प्रति जागरूक-भर रह सका हूँ, उस दिशा में यत्किचित् प्राणो की अजलि भी दे सका कि नहीं, मैं नहीं जानता। मेरे कृतित्व के पुरस्करणीय होने का कारण मेरा कृतित्व सम्भवत उतना नही जितना आज के महान् युग के आविर्भाव का सौन्दर्य, चैतन्य, आनन्द तथा सृजन की भावना है। इस विराट् युग के अभिनव वसन्त के स्पर्श से यदि मेरी अकिचन प्राण-लता मे भी दो-एक कोपले फूट पडी हों तो इस में क्या आश्चर्य है। इन थोडे से शब्दो मे, इस अवसर पर समागत, आप सब साहित्यप्रेमी बन्धुओ का मैं अभिनन्दन करता हूँ जो इस महान् निर्माण-विनाश, सृजन-सहार के युग मे विनाश-सहार की शक्तियो का साहस के साथ सामना करने मे विश्वास रखते हुए सृजन तथा निर्माण के स्वल्प प्रयत्नो को प्रोत्साहन देने को प्रेरित एव समवेत हुए हैं। आप सब के साथ मैं इस धरती के जीवन को प्रणाम करता हूँ जो अपनी समस्त दुर्बलताओ, अपने राग-द्वेष, कलह-क्रोध, स्वार्थ-अहकार तथा सघर्ष-सग्राम के होते हुए भी सब प्रकार से महान्, वरेण्य तथा विकासोन्मुखी चैतन्य के सौन्दर्य से मण्डित है। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त आलोकपुज ग्रहों तथा भुवनों का सार-सत्य इस धरती ही के जीवन में समाहित है। एवमस्तु।

फ़िराक़ गोरखपुरी

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह साहित्य-पुरस्कार श्री रघुपति सहाय 'फिराक' को उनकी काव्यकृति 'गुल-ए-नग्मा' के लिए समर्पित है जिसे सन् १९५० से १९६२ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के साहित्य मे सन् १९६९ के पुरस्कार के लिए विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि में 'फिराक' का यह निजी महत्वपूर्ण योगदान है कि उन्होने उर्दू काव्य के स्वर और सस्कार को नया रूप दिया। उनकी काव्य-भाषा कोश की भाषा न होकर जनसमूह द्वारा बोली जाने वाली जीवित और गुजरित भाषा है जिसमे शैली का निखार, सवेदनशीलता, धीरता और सतुलन के ऐसे गुण परिलक्षित हैं जो उर्दू-काव्य के लम्बे इतिहास में विरल हैं। फिराक के काव्य की अन्त प्रेरित सरलता अलौकिकता का सस्पर्श करती है।

अर्थ और लय से समृद्ध 'फिराक' की कविता में भारतीय सस्कृति की बहुरगी छटा और पुनर्जागृत भारत के नव-मानवतावाद का हृदय-स्पन्दन प्रतिबिम्बित है। उनकी कीर्ति मातृभूमि के छोरों को पार कर दूर देशों और महादेशो तक पहुँच चुकी है।

हमारी हार्दिक कामना और प्रार्थना है कि भारतीय साहित्य के यह चिर-तरुण राजकुमार दीर्घकाल तक स्वस्थ और सुखी जीवन यापन करें।

नयी दिल्ली
२७ नवम्बर, १९७०

अध्यक्ष
प्रवर परिषद्

अध्यक्षा
भारतीय ज्ञानपीठ

फ़िराक़ गोरखपुरी

बम्बई की एक महफिल का किस्सा है। वहाँ उर्दू के कई लब्ध-प्रतिष्ठ शायर उपस्थित थे। फिराक ने वहाँ एक शेर पढा

मौत एक गीत रात गाती थी
जिन्दगी झूम झूम जाती थी।

इस पर एक बहुत विख्यात शायर ने (उनका नाम मैं जान-बूझकर नहीं लिख रहा हूँ, आज कल वह शायरी से अधिक प्रगतिवाद का झडा फहराने में व्यस्त हैं) कहा, "फिराक साहब, गुस्ताखी मुआफ हो, हमे आप शेर सुनाइए, बकवास मत कीजिए।" फौरन फिराक ने बडा करारा जवाब दिया कि "मैं तो शेर ही सुना रहा हूँ, बकवास तो आप कर रहे हैं।" कुछ गुस्से मे जरूर कही गई थी पर बात बिल्कुल ठीक थी। आश्चर्य की बात नहीं। जो 'तू धूल भरा ही आया, ओ चचल जीवन बाल, मृत्यु जननि ने अक लगाया।' मे अतर्निहित गूढ नहीं जानता वह फिराक का शेर नहीं समझ सकता।

फिराक की शायरी समझना अगर मुश्किल नहीं तो आसान भी नहीं है। उसके लिए फिराक का व्यक्तित्व समझना नितान्त आवश्यक है, और वह काफी दुरूह है। शायद इसी एहसास के साथ कहा गया है कि—

आने वाली नस्लें तुम पर
रश्क करेंगी हम अस्त्रो
जब ये ख्याल आयेगा उनको,
तुमने फिराक को देखा था।

टोपी से अच्छी तरह झाँकते हुए बिखरे हुए बाल, शेरवानी के खुले बटन, ढीला-ढाला (और कभी-कभी बेहद मुसा हुआ) पैजामा, लटकता हुआ इजारबद, एक हाथ में सिगरेट और दूसरे में छडी, गहरी और गोल-गोल रस-लेने-वाली-सी आँखो में उनके व्यक्तित्व का फक्कडपन तो स्पष्ट हो जाता था पर उनकी गहन गभीरता और विद्वता के प्रभाव का पैनापन वही समझ सकते थे जिन्हें उनको नजदीक से जानने का सुअवसर मिला हो। भारतीय दर्शन, सस्कृति, साहित्य आदि जैसे विषयों पर फिराक घटो बातें करते रह सकते थे जो उनके मिलने-जुलने वालो को विस्मय मे डाल देती थी। फिराक की शायरी ऐसे ही व्यक्तित्व से उपजी है। समझने के लिए इस पूरे व्यक्तित्व को जानना ज़रूरी है।

फिराक के काव्य की बात मे एक बडी छोटी-सी, पर मेरी समझ में अत्यत महत्वपूर्ण घटना से शुरू करुगा। (इलाहाबाद) विश्वविद्यालय में एक दिन मेरे एक मित्र ने बताया कि अगले दिन फिराक

बी ए की अपनी कक्षा को कविता को समझने पर (एप्रीसियेशन आफ पोएट्री) पर वार्ता देंगे। मैं उनकी कक्षा का विद्यार्थी नहीं था पर पहुँच गया उनको सुनने। पहले तो लडकों से नोक-झोंक हुई। कुछ परीक्षा प्रेरित विद्यार्थी फिराक से इस वार्ता पर आपत्ति प्रकट करने लगे। उनका कहना था कि परीक्षाए पास हैं और कोर्स बहुत बाकी है। इस पर फिराक ने कहा कि कोर्स स्टूडेंट्स फ्रैण्ड्स (यूनिवर्सिटी रोड पर किताबो की एक दूकान) से 'की' (पाठ्य पुस्तकों को सुगम बनाने वाली पुस्तक) खरीदकर खत्म कर लेना, बहुत सी ऐसी किताबे मिलती हैं। इस बार यह आपत्ति की गई कि अन्य अध्यापक इस प्रकार की पुस्तकें पढने को मना करते हैं। फिराक कब चूकने वाले थे, बोले 'वह तो इसलिए मना करते हैं क्योंकि खुद उन्हीं से पढकर पढाते हैं।' पूरी कक्षा में जोर से हँसी फूट पडी और जब वह हल्की पडी तो फिराक बोले, 'देखो मैं जो आज तुम्हें पढाऊँगा वह इस विभाग में बच्चन को (प्रसिद्ध हिन्दी कवि जो उस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे अँग्रेजी के अध्यापक थे) छोडकर कोई नहीं पढा सकता।' उसके बाद साहित्य और कविता की जो व्याख्या फिराक ने की वह सबने दत्त-चित्त होकर सुनी , कक्षा समाप्त होने पर सब स्तब्ध थे। (फिराक इस विश्वविद्यालय के अग्रेजी विभाग में २९ वर्ष अध्यापक रहे)

उस वार्ता का साराश देना आवश्यक नहीं। बहुत सी बातें जो फिराक ने अन्यत्र भी व्यक्त की हैं। उनकी चर्चा सदर्भानुसार आगे होगी। पर अपनी उस वार्ता में फिराक ने जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही वह यह थी। विभागाध्यक्ष (जो साहित्य के प्रकाण्ड पडित थे) पर कटाक्ष करते हुए फिराक ने अपने विद्यार्थियों से कहा कि 'जो लहलहाते खेतों को देख कर प्रसन्न न हो सके, जो सोते हुए बच्चे की मुसकान देखकर गद्‌गद न हो जाये, जो मदभरी हवा में खुद झूमझूम न उठे वह किताबी कीडा भले ही हो साहित्य का मर्म नहीं समझ सकता।' वह फिराक के कवि हृदय की मान्यता थी। विचार-जन्य मान्यता थी। कान्ट ने कहा है कि ससार का ज्ञान हमें अपनी परिस्थितियों और वातावरण में असम्बद्ध और बेतरतीब ढग से बिखरी वस्तुओं से होता है। पर यही अव्यवस्था और बिखरापन मानव की विचार-प्रक्रिया में पककर व्यवस्थित और समस्वर हो जाता है। और अगले चरण में व्यवस्था और एकरूपता का यही बोध मनुष्य की कल्पना की सहायता से कविता और ललितकलाओं में परिणत हो जाता है। वास्तव में यही आतरिक एकरूपता विश्व की पूर्णता की परिचायक है। फिराक ने कहा है—

विश्व एक है ये नियम कभी न ऐ मन भूल
एक तारा थर्रा उठा जब तोडा इक फूल

कार्लाइल ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है कि पूरा समाज गुप्त और अर्ध चैतन्य ढग से जिन बातों को धुधले ढग से अनुभव करता है कवि उन्हीं अनुभवों को धुधलके से उभर कर खुली रोशनी में प्रस्तुत करता है।'

फिराक का सारा काव्य इसी अस्तित्व को अस्तित्व के रूप में समझने का प्रयास है। तभी तो वह जीवन को—विस्तृत, व्यापक जीवन को-काव्य का विषय मानते हैं। उन्होंने स्वय कहा है कि "हिन्दू सस्कृति और इस सस्कृति के मिजाज ने मुझे यह अनुभव कराया कि प्रेमी-प्रेमिका का सबध घरेलू जीवन, सामाजिक जीवन, प्रकृति के दृश्य, धरती, नदिया, सागर, पहाड, लहलहाते खेत, बाग और जगल, अग्नि, हवा, सूर्य, चन्द्रमा, सितारे, मौसमों का जुलूस—किसी भी ईश्वर-पैगम्बर, धार्मिक ग्रन्थ, काबा या काशी से कहीं अधिक दिव्य और पवित्र है।" इसी जीवन का "काव्यात्मक और कलात्मक अनुभव प्राप्त करना और दूसरों तक इसे पहुँचाना साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है। साहित्य हमारी चेतना की वह तपस्या है, वह साधना है जिससे हमारी विश्व या आत्मचेतना दिव्य बन सके।"

कलम की चन्द जुंबिशों से और मैंने क्या किया
यही कि खुल गए हैं कुछ रमूज से
हयात के।

शायरी बस उसी का है इजहार
रब्ते पिनहा जो कायनात से है।

विश्व या आत्म चेतना को दिव्य बनाना फिराक के लिए कोई सकीर्ण प्रक्रिया नहीं है। नैतिकता के चमत्कार के अनुभव को ही वह उच्च आध्यात्मिक मानते हैं।

पाकिस्तान मे जब इस्लामी और रूहानी (आध्यात्मिक) साहित्य का नारा उठाया गया तो फिराक ने 'नुकूशे' (लाहौर की एक मासिक पत्रिका) के सपादक को पत्र में लिखा—

" जब जगल में आग लगती है तो वे समस्त जन्तु जो एक दूसरे को खा जाते हैं, चुपचाप एक स्थान पर खडे हो जाते हैं। आज इसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है कि जो साहित्यकार भौतिकवाद के समर्थक हैं उनका एक धडा हो, जो अध्यात्मवाद के पक्षपाती हैं, उनका दूसरा। भूख, बेकारी, बेरोजगारी। हजार में से नौ सौ निन्यानवे व्यक्तियों की दरिद्रता पाकिस्तान, हिन्दुस्तान, एशिया, अफ्रीका और योरप के भी कई देशों का जीवन नरक बनाये हुए है। फिर तीसरे महायुद्ध का खतरा मुसलमानों के ही नहीं, ससार भर के जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन गया है। साहित्यकार के सामने इस्लामी और गैर-इस्लामी, आस्तिक और नास्तिक साहित्य के प्रश्न नहीं हैं, बल्कि एक ही प्रकार की मुसीबत में गिरफ्तार मुस्लिम और गैर-मुस्लिम दुनिया को एक ही उद्देश्य के साहित्य की आवश्यकता है। वर्तमान का बोध और वर्तमान में जिन उज्ज्वल भविष्य की सम्भावनाए ससार भर के लिए निहित हैं, उन सम्भावनाओं का बोध। यही वह साम्यवादी सत्यता (सोशलिस्ट रियलिज्म) है जिसके सहारे साहित्य-रचना होगी। यह सत्यता न इस्लामी है न ईसाई है, न हिन्दू है " (हिन्दी रूपान्तर) लेकिन फिराक की इस साम्यवादी सत्यता को किसी 'वाद' से जुडा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। जीवन और साहित्य के क्षेत्र में उनमें सकीर्णता किसी प्रकार की नहीं थी। अपने प्रगतिवादी मित्रों को एक बार उन्होंने यह चेतावनी दी थी—

"याद रहे कि साहित्य और सस्कृतियों के बावजूद अगर अपने सिलसिले और स्रोतों से विमुख हो गए तो सख्त घाटे में रहेंगे। ससार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद से लेकर टैनीसन टैगोर, गालिब और इकबाल तक के साहित्य में दूसरों को प्रभावित करने के ढग और कलात्मक चमत्कार हमें मिलते हैं, यदि हमने उन्हें प्राप्त नहीं किया तो केवल प्रगतिशील उद्देश्य हमसे महान साहित्य की रचना नही करवा सकते हमें प्राचीन साहित्य की आत्मा को अपने अदर समोना है। यदि हम प्राचीन साहित्य के तत्वों का भेद न पा सके, तो हमारा साहित्य प्रगतिशील होते हुए भी एक उखडे पतग के समान होगा।"

इस भावनात्मक और वैचारिक पृष्ठभूमि की—वस्तुत इनके अद्भुत सामजस्य की—लबी कहानी है। एक समृद्ध परिवार के दार्शनिक, सास्कृतिक और साहित्यिक वातावरण ने फिराक को बचपन से ही अत्यन्त प्रभावित किया। फिराक का जन्म २८ अगस्त, १८९६ को गोरखपुर में हुआ था। 'रूप' की भूमिका में फिराक ने लिखा है—

"मुझे याद पडता है कि मैं अपने बचपन में मामूली से मामूली चीज देखकर किसी अकथनीय प्रेरणा से विह्वल हो जाया करता था। (इन चीजों की सूची में चूल्हा, घडा, घरौंदे, खेत, बहता पानी, सब्जिया, चिडिया, जानवर, उनके बच्चे, लोक गीत, लोक कथाए आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं)। साराश यह कि रास्तों में पडे ठीकरों से लेकर सूरज और चाद तक कोई ऐसी वस्तु थी ही नहीं जो मुझे निमग्न न कर दे। यों बुद्धवाद के अनुसार इन चीजों में या इनसे अरब गुना चीजों में भी धरा ही क्या था। यही दिव्यता, हृदयग्राह्यता, अकथनीय मान्यताओं की अनुभूति। साधारण में असाधारण की झलक यही अपनत्व शायद हिन्दू सस्कृति का रहस्य है।"

लेकिन भावनात्मता का इतना उद्रेक होते हुए भी फिराक की आरम्भिक काव्य-यात्रा ने बडी धीमी गति से प्रगति की। इसका स्पष्टीकरण फिराक ने अपनी पुस्तक 'मशाल' की भूमिका में दिया है। " बात यह थी कि शायरी करने की बनिस्बत उर्दू शायरी ने हमें जो सरमाया दिया है, उसकी जाच-पडताल में मुझे गहरी दिलचस्पी थी। उस शायरी पर नजर डाली तो उसमें बहुत कुछ खूबिया नजर आईं, लेकिन कमिया और खराबिया भी बहुत मिलीं।" बाद में इसको और स्पष्ट करते हुए फिराक ने 'बज्मे जिन्दगी रगे शायरी' की भूमिका में लिखा है–

"मुझे, उर्दू-काव्य साहित्य में, और गद्य-साहित्य में भी अच्छी से अच्छी और सुन्दर से सुन्दर, ऊँची से ऊँची चीजें मिल चुकी थीं और मिलती रहती थीं। इन बातों के होते हुए भी मुझे मजमूई हैसियत से एक असतोष का आभास होता रहता था। शायद इस कारण से कि मेरे अदर हिन्दू विचारों और हिन्दू सस्कृति की गहरी से गहरी, बहुमूल्य से बहुमूल्य सच्चाइया और अनुभूतिया विद्यमान थीं जो उर्दू कविता में कम ही मिलती थीं। हिन्दू सस्कृति का मिजाज और उस मिजाज की ध्वनि, उर्दू कविता में कदाचित् ही मिलती थी।" इसको और स्पष्ट करते हुए 'रूप' की १९७९ की भूमिका में फिराक ने लिखा है–

"मुस्लिम कल्चर बहुत ऊँची चीज है और पवित्र चीज है, अगर उसमें प्रकृति, बाल जीवन, नारीत्व का वह चित्रण या घरेलू जीवन की वह बू-बास नहीं मिलती, वे जादू-भरे भेद नहीं मिलते, जो हिन्दू कल्चर में हमें मिलते हैं। कल्चर की यह धारणा हिन्दू घरानों के बर्तनों में, यहाँ तक कि मिट्टी के बर्तनों में, दीपकों में, खिलौनों में, यहाँ तक कि चूल्हे चक्की में, छोटी-छोटी रस्मों में और हिन्दू की साँस में इसी की ध्वनियाँ, हिन्दू लोकगीतों को अत्यन्त मानवीय और स्वर्गीब सगीत बना देती हैं।

बाबुल मोर नइहर छुटत जाए
ऊ ड्योढी परबत गई, अँगना भयो बिदेस।
यह तो हमें गालिब भी नहीं दे सके,
इकबाल भी नहीं दे सके, चकबस्त भी नहीं दे सके

"मैंने अनुभव किया है कि अनेक विदेशी सज्जन हिन्दू सस्कृति को मानवीय सस्कृति समझने लगे हैं। एक ऐसा स्वर्गीय जीवन जिसमें घरेलूपन भी हो इसी की कल्पना हिन्दू सस्कृति में है, लेकिन उर्दू कविता में भारतीयता की हजारों सुन्दर से सुन्दर झलकियाँ तो खुद मुसलमानों ने दिखाई हैं। यह सब होते हुए भी मानवता और दिव्यता का सगम इन कविताओं मे नहीं मिलता।"

चर्चा आगे बढाने से पहले एक बात कह देना आवश्यक लगता है। फिराक को हिन्दू सस्कृति के प्रभाव ने कट्टरवादिता से बिलकुल अछूता ही छोड दिया है। उनका मानना है कि–

" इस काव्यात्मक और कलात्मक चेतना से, मनन और विवेक से ऐसे अनुभव प्राप्त कर सके जिससे ससार से अलग किसी खुदा, ईश्वर, मजहब, पूजा-पाठ, सिज्दा-दण्डवत् या साम्प्रदायिकता का कोई स्थान न हो। हिन्दू विचार साम्प्रदायिक विचार नहीं है। किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय को दूसरी जातियों और सम्प्रदाय से अलग करके हिन्दू विचारों का निर्माण नहीं हुआ है। जब यह विचार ईश्वरवादिता से मुक्त है, तो साम्प्रदायिकता से कैसे जकडे रह सकते हैं।"

– (**भूमिका–बज्मे जिन्दगी रगे शायरी**)

फिराक की सृजनात्मक ऊर्जा का विवरण जान-बूझकर कुछ विस्तार से दिया गया है। फिराक ने उर्दू काव्य को बहुत कुछ नया दिया है जिसका श्रोत इसी सवेदनशील अभिव्यक्ति और विवेकशील चिन्तन के अद्भुत सामजस्य में ही है। इसी पृष्ठभूमि से ऐसी कविता उपज सकती है–

सजोग वियोग की कहानी न उठा
पानी में भीगते कमल को देखा

बीती होंगी सुहाग रातें कितनी
लेकिन है आज तक कुँवारा नाता।
लहरों में खिला कवल नहाये जैसे
दोशीजये-सुबह गुनगुनाये जैसे
ये कोमल रूप का सुहानापन आह
बच्चा सोते में मुस्कुराये जैसे।

फिराक के काव्य की विस्तृत व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं, केवल कुछ विशिष्ट पक्षों की चर्चा ही हो सकती है। सक्षेप मे, सबसे पहली बात तो यह है कि फिराक की शायरी में जो मानव को प्रतिष्ठा और मानवीयता को महत्व दिया गया है वह अन्यत्र इतना प्रभावशाली नहीं हो सका, इस 'भरी दुनिया' में 'आदमी को आदमी होता नहीं दस्तयाब'। इस दुख भरी दुनिया का असली रूप जब आँख खुली फिराक देखा न गया। तभी

हजारो सिज पैदा कर चुकी है नस्ल आदमी की
ये सब तस्लीम, लेकिन आदमी अब तक
भटकता है।

आखिर ऐसा क्यो?

आदमियों से भरी है, यह भरी दुनिया मगर,
आदमी को आदमी होता नही दस्तयाब।

और शायर उसी के लिए चिन्तित है—

जो उलझी थी कभी आदम के हाथो
वह गुत्थी आज तक सुलझा रहा हूँ।

(और इस चिन्ता और प्रयत्न का मुख्य कारण यह है कि शायर) फिराक के लिए मानव देवता से भी बडा है—

गबदा है मगर खुदा को भी
नीयते आदमी नहीं मिलती।

लेकिन उर्दू काव्य को फिराक की खास देन है प्रेम और सौन्दर्य काव्य को नया रूप। यह अपने में बहुत ही विस्तृत विषय है और नीचे के सक्षिप्त विवेचन से उसके साथ पूरा न्याय नहीं हो सकता, फिर भी फिराक की अधिकतर शायरी इश्किया शायरी है लेकिन यह शायरी उर्दू की सामान्य इश्किया शायरी से भिन्न है। प्राचीन इश्किया शायरी के विपरीत फिराक में प्रेम की अभिव्यक्ति एक जीवन्त और गतिशील शक्ति के रूप मे है। स्वय फिराक ने लिखा है—

"इश्किया शायरी के लिए सिर्फ आशिक होना और शायर होना काफी नहीं है। न सिर्फ नेक और कोमल हृदय होना काफी है। सिर्फ भावुक और सिर्फ माकूल आदमी भी काफी नही। आतरिक और बाह्य अवलोकन भी काफी नही। इन गुणो के अलावा महान इश्किया शायरी के लिए जरूरी है कि शायर का बोध और ज्ञान, अन्त प्रेरणा और सदाचार सम्बन्धी दिलचस्पिया व्यापक हो। उसका व्यक्तित्व एक व्यापक जिन्दगी और व्यापक कल्चर का वाहक हो। उसका दिल भी बडा हो और दिमाग भी बडा हो—यानी ऐसे दिल और दिमाग जिन्हें कल्चर ने रचाया-सजाया हो।"— (हिन्दी रूपान्तर)

उर्दू शायरी की 'कमियों और खामियों' (इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) की पडताल करके फिराक ने एक नई हुस्न और इश्क की दुनिया बसाई जिसमें "केवल व्यक्तिगत भावनाओं के सुन्दर वर्णन का नाम नहीं, बल्कि उन भावनाओं के सुन्दर वर्णन का नाम है जो व्यक्तिगत होने पर भी सामूहिक हैसियत रखती हो।"

इन नयेपन की मैं कोई व्याख्या करूँ इससे अच्छा होगा कि प्रसिद्ध समालोचक मुहम्मद हसन अस्करी ने इस विषय पर जो लिखा है उसको सक्षेप में उन्हीं के शब्दों में लिख दू—

"फिराक साहब ने उर्दू शायरी को एक बिलकुल नया आशिक दिया है और उसी तरह बिल्कुल नया माशूक भी। इस नए आशिक की एक बडी स्पष्ट विशेषता यह है कि इसके भीतर एक ऐसी गभीरता पायी जाती है, जो उर्दू शायरी में पहले नजर नहीं आती थी। उनके काव्य में ऐसी तीव्र प्रबुद्धता है जो उर्दू के किसी शायर से दब के नहीं रहती, चाहे ज्यादा ही हो। अतएव उनके आशिक में एक तरफ तो आत्मनिष्ठ

मानव की गम्भीरता है, दूसरी तरफ प्रबुद्ध मानव की गरिमा। फिराक के आशिक और माशूक के पास जिस्म तो खैर है ही दिमाग भी है जिसे इश्क के अतिरिक्त दूसरी मशगूलिया भी निभानी होती हैं। यही दो शरीर मात्र ही एक दूसरे से नहीं मिलते, बल्कि दो दिमाग भी गुँथे हुए हैं। फिराक के आशिक को आप उस वक्त तक पूरी तरह नहीं समझ सकेंगे, जब तक फिराक के महबूब को भी न समझ ले। फिराक साहब ने महबूब को एक ऐसी निर्वेद स्थिति प्रदान की है, जो उर्दू-काव्य में उसे प्राप्त नहीं थी। उनका महबूब सिर्फ एक टाइप नहीं बल्कि एक पात्र है यह आशिक और माशूक दो मनोवैज्ञानिक अवस्थाए हैं।"

इतना और जोड दिया जाए–कि फिराक की इश्किया शायरी का प्रेरक इश्क तो है "पर यह शायरी सिर्फ इश्क नहीं, बल्कि पूरे विवेक ने की है।" फिराक ने पूरे प्रेम को पूरे जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखा है, दूसरे शब्दो मे कई मानसिक अनुभूतियों मे से प्रेम भी एक है। यह भी स्पष्ट है कि केवल शारीरिक भावनाओ तक सीमित नहीं है। एक रुबाई मे फिराक कहते हैं–

कहती हैं यही तेरी निगाहे ऐ दोस्त
निकली नई जिन्दगी की राहें ऐ दोस्त
क्यों हुस्नो-मुहब्बत से न ऊँचे उठके
दोनों एक दूसरे को चाहें ऐ दोस्त।

एक और शेर–

हुस्नपरस्ती पाक मुहब्बत बन जाती है जब कोई
वस्ल की जिस्मानी लज्जत से रुहानी कैफीयत`।

यह बडी पावन पूजा भी है–

पैगम्बरे इश्क हूँ समझ मेरा मकाम
सदियों में फिर सुनाई देगा ये पयाम
वो देख कि आफताब सजदे में गिरे
वो देख उठे देवता भी करने को सलाम।

इस प्रकार फिराक की शायरी में 'इबहाम' और 'फसाहत' दोनों का सामजस्य है। फिराक की इश्किया शायरी को इसी पृष्ठभूमि में समझने की कोशिश करनी चाहिए।

इश्क में सच ही का रोना है
झूटे नहीं तुम, झूटे नहीं हम।
मुझको गुनाहो-सवाब से मतलब? लेकिन इश्क में अक्सर आए
वो लम्हे खुद मेरी हस्ती जैसे मुझे देती हो दुआए
छोड वफा-ओ-जफा की बहसें, अपने को पहचान ऐ इश्क!
गौर से देख तो सब धोखा है, कैसी वफायें कैसी जफाये!
तुम मुखातिब भी हो करीब भी हो
तुम को देखे कि तुम से बात करे।

इस इश्किया शायरी का असली सौष्ठव फिराक के आशिक के विरह मे दिखाई देता है अधिकाश उर्दू शायरी मे आशिक की जहनियत नीची रही है। सभवत इसी आधार पर प नेहरू ने डा महमूद को अपने एक पत्र मे लिखा था कि उर्दू शायरी अधिकाशत 'सेन्टीमेटल स्टफ' है)। लेकिन फिराक का इश्क किसी मानसिक गिरावट का द्योतक नहीं है। यहा आशिक एक उदास ससार का निर्माण करता है जो रूमानी तो है, पर उसमें सवेदनशीलता और प्रबुद्धता है। उसने अपने लिए जो वातावरण बनाया है उसका चित्र देखिए (केवल गिने चुने उदाहरण दे रहा हू, वैसे फिराक की कविता इनसे भरी पडी है) विरह मे उदास हो जाना स्वाभाविक है, उदासी बढती ही जाती है–न कटती है, न घटती है और फिर प्रेमी इसमें पूरी तरह तल्लीन हो जाता है। इसी स्थिति को महादेवी के सदर्भ मे डा शिवमगल सिह सुमन ने 'वेदना की विस्वलता' की सज्ञा दी है। फिराक और महादेवी के काव्य में गहरा अतर होते हुए भी इस वेदना, पीडा और उदासी की विस्वलता, गहनता और भावना की तीव्रता मे काफी समानता है। देखिए–

मुझे खबर नहीं ए हमदमों, सुना ये है
कि देर देर तक अब मैं उदास रहता हू।

शामे-गम कुछ उस निगाहे ताज की बाते करें
बेखुदी बढ़ती चली है राज की बातें करो।

कुछ कफस की तीलियों से छन रहा है नूर-सा

कुछ फजा कुछ हसरते-परवाज की बातें करो।
हर एक चराग से हर तीरगी नही मिटती
चरागे-अश्क जलाओ बहुत अँधेरा है।
यह रात वो है कि सूझे जहाँ न हाथ को हाथ
ख्यालो दूर न जाओ बहुत अँधेरा है।

विरह बहुत गहरा हो जाने पर फिराक का आशिक विक्षिप्त नहीं होता, अपने मे ही डूबता जाता है, तल्लीन होता जाता है— (कोष्ठक में महादेवी की पक्तिया हैं)

शिव का विष-पान तो सुना होगा
मैं भी ए-दोस्त, पी गया आँसू।
(आँसूओ का क्षार पी के मैं, बाँटती नित स्नेह का रस)
शबे-हिज्र थी यूँ तो मगर पिछली रात को
वो दर्द उठा फिराक कि मैं मुसकुरा दिया।
अपने हवास मे शबे-गम कब हयात है
ऐ दर्द-हिज्र तू ही बता कितनी रात है।
(पूछता क्यो शेष कितनी रात)

देखिए तन्हाई का आलम—

आए तुम आज भूली हुई याद की तरह
(सजनि कौन तम मे परिचित-सा, सुधि-सा, छाया-सा बाता)
कौन करे है बातें मुझसे तन्हाई के पर्दे में
ऐसे में किसकी आवाजे कानो मे रस घोले है।
(अलक्षित आ किसने चुपचाप सुना सम्मोहन तान)
"तनहाई की रातो ने अक्सर मुझको मिलवाया है मुझसे",

उस समय—

कल मुझसे और मेरे दिल में ता-देर रही सरगोशी-सी
कुछ मैंने उसे समझाया है कुछ उसने मुझे समझाया है।
मैं हूँ, दिल है, तनहाई है,
तुम भी जो होते अच्छा होता।
शामे किसी को माँगती हैं आज भी फिराक
जो जिन्दगी में यूँ मुझे कोई कमी नहीं।
(तेरी सुधि बिन क्षण-क्षण सूना)
जागे है फिराक आज, गमे-हिज्र मे ता-सुबह
अहिस्ता चले आओ, अभी आँख लगी है।
(कन-कन में बिखरी सोती है, अब उसके जेवन की प्यास
जगा न दे हे द्वीप, कहीं, उनको तेरा यह क्षीण प्रकाश)

प्रिय से मिलने की इच्छा है पर कब—

झपकते हों आँख जब सितारों के चराग
ऐसे मे हो काश मुझको तेरा दीदार।
करुणामय को भाता है तम के पर्दे में आना
हे नम की दीपावलियो क्षणभर को तुम बुझ जाना

और फिर वे क्षण भी आ जाते हैं जब अपनी बेखुदी ही सबसे अधिक प्रिय हो जाती है। प्रिय पास आ भी जाये तो भी उसकी कमी खटकती रहती है। कभी-कभी पहचाना भी नही जाता।

आज बहुत उदास हूँ मैं यूँ कोई खास गम नही।
हाय ये बेखुदी ये गम, आये जो वो तो हम नहीं।
(पथ देख बिता दी रैन, मैं प्रिय पहचानी नहीं)

बस प्रेमी अपने को ही ढूँढने लगता है, प्रेमी और प्रेमिका का अन्तर मिट जाता है।

तुझे पाके मैं खुद को पाऊँगा, कि तुझी मे खोया हुआ हूँ मैं
ये मेरी तलाश है इसलिए कि मुझे है अपनी ही जुस्तजू।
न ये भेद हुस्न का खुल सका, न मरम ये इश्क का मिट सका।
किसी रूप में ये है तू कि मैं, किसी भेस में ये हूँ मैं कि तू।
(मुझ में नित बनते मिटते प्रिय
तुम मुझमे प्रिय! फिर परिचय क्या!)

फिराक की इससे भी बडी देन है सौन्दर्य-काव्य। उर्दू मे उनसे पहले उच्च श्रेणी का ऐसा काव्य नहीं मिलता, इसीलिए उन्हें शायरे-जमाल भी कहा गया है। नर्म-ओ-नाजुक शायरी तो उर्दू मे बहुत हैं और फिराक के कलाम में भी यह बिखरी पडी है। पर भावना और भाषा दोनो स्तरो पर जो नयापन फिराक लाये वह विस्मयकारी है। भावों और शब्दो की सुन्दर पैठ, अद्भुत रूपको और उपमाओ का उपयोग, सौन्दर्य की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताएँ और उनका सजीलापन उर्दू क्या भारतीय काव्य मे भी अन्यत्र कम ही मिलेगा। मेरी समझ में इसका कारण यह है कि फिराक सौन्दर्य के उपासक हैं। वह कहा करते थे—'सौन्दर्य सतही होता है पर कुरूपता अतरतम को बेध डालती है।' "(ब्यूटी इज स्किन डीप बट अगलीनेस इज सोल डीप)" 'हिन्डोला' मे, जो उनके बचपन का आत्मकथ्य है, उन्होने इसकी व्याख्या की है।

यही 'शऊरे जमाल' आगे चलकर उनकी शायरी मे ज्वालामुखी की तरह फूटा। भावना का उद्रेक और कल्पना की गहनता देखिए—

उसका सरापा हमसे पूछो
चेहरा ही चेहरा पाँव से सर तक।

'रूप' की रुबाइयाँ तो सौन्दर्य की सजीव प्रतिमाएँ हैं। केवल कुछ ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। पहली ही रुबाई मे 'पडती है जब आँख तुझ पे ऐ जाने-बहारा, सगीत की सरहदो को छू लेता हूँ' जैसा चित्र तो उर्दू शायरी के लिए बिल्कुल नया है।

आ जाता है गात मे सलौनापन और
चचलपन, बालपन, अनिलापन और
कटते ही सुहागरात देखें जो उसे
बढ जाता है रूप का कुँवारापन और।

केवल एक रुबाई और

हम्माम में उर्यानिये तन का आलम
पैकर धुधलके में झलकता कम कम
एक हल्की मदभरी सी सर से पा तक
शबनम से धुली शफक खाती है कसम।

नग्न-तन का इतना सुन्दर चित्रण चित्रकला में भी शायद न मिल सके। लेकिन फिराक के लिए सौन्दर्य केवल प्रेयसी या अभिसारिका मे ही नहीं है। 'रूप' की अनेको रुबाइयों में गृह-लक्ष्मी, बच्चे को खिलाती हुई मा, अलगनी पर कपडा सुखाती गृहणी, तुलसी पर जल चढाती नारी, गाय को दाना खिलाती व दुहती हुई ग्राम्य बाला के भी ऐसे ही सजीव और सवेदनशील चित्र हैं।

फिराक प्रकृति से अत्यत प्रभावित हैं। प्रकृति उनके लिए एक दिव्य ज्ञान है ('हट जलवे से एक इसे नमू लेता हूँ') और सत्य का आवरण है। प्रकृति के प्रति तल्लीनता उनकी कविता में स्पष्ट दिखाई देती है। उससी रागात्मकता से वह वही सौन्दर्य अपने चारो ओर देखते हैं—

किसी का झाकना आहिस्ता फूटती पो से
वो दोपहर का समय दरजये तपिश का चढाव
थकी-थकी-सी फजा मे वो जिन्दगी का उतार
हवा की बँसियाँ बसवारियो मे बजती हुई।
हर एक जलवे मे गैबो शहूद वो मिलाप
हर एक नजारा एक आइना खानये हैरत
तारो को, हवाओ को, फजाओ को सुला के
ऐ रात कोई आँख, अभी जाग रही है।
खडा है ओस मे चुपचाप हर-सिगार का पेड
दुल्हन हो जैसे हवा की सुगन्ध मे बोझल

बाह्य (प्रकृति) और अन्तर के सौन्दर्य से मिलकर ही ऐसी शायरी हो सकती है।

जिस तरह नदी मे एक तारा लहराय
जिस तरह घटा में एक कौंदा बल खाय
बरमाये फिजा को जैसे एक चन्द किरन
यूँ ही शामे-फिराक तेरी याद आये।

और अन्त में, जोश मलिहाबादी ने अपनी आत्मकथा "यादों की बरात" मे फिराक के लिए जो कहा है कि "जो शख्स यह तस्लीम नहीं करता कि फिराक का महान व्यक्तित्व हिन्दुस्तान के माथे का टीका, उर्दू जबान की आबरु और शायरी की माग का सिन्दूर है, वो खुदा कसम निरा घामड है।"

कृतियाँ

(क) उर्दू

१ रूहे कायनात (नज्में)
२ रूप (रूबाइया)
३ शुले-साज (नज्मे और गजलें)
४ शबनमिस्तान (गजलें)
५ गजलिस्तान (गजलें)
६ शेरिस्तान (गजलें)
७ इलहाम नुमा (रूबाइया)
८ अक्क-ओ-विज्दॉ (रूबाइया)
९ मादरे-हिन्द से खिताब (रूबाइया)
१० साकी से खिताब (रूबाइया)
११ गुले-नग्मा (नज्में, गजलें और रूबाइया)
१२ घूघट (गजलें)
१३ गुल बॉग
१४ चिरागा (एक हजार अशआर)
१५ अन्दाजे (समीक्षा)
१६ उर्दू की इश्किया शायरी (समीक्षा)
१७ खुतूत के आईने में (पत्र)
१८ मेरी जिन्दगी की धूप-छाव (आत्मकथात्मक)

(ख) हिन्दी

१ उर्दू कविता
२ सत्य कहा है
३ सफल जीवन
४ धरती की करवट (काव्य)
५ रोटिया (काव्य)

(ग) अंग्रेज़ी

१ ए गोल्डेन ट्रेजरी ऑव एसेज
२ ए गार्डेन ऑव एसेज
३ दि मेकिंग ऑव ए पोएट
४ सिविल सर्विस एसेज
५ मेन ऑव लेटर्स
६ दि ग्रेट ऐण्ड दि गुड
७ दि लैम्प लाइटर्स

अनुवाद

१ गीताजलि
२ टैगोर की एक सौ एक कविता

अभिभाषण के अंश

ऐसे समारोहों के अवसर पर पुरस्कार पाने वाले से आशा की जाती है कि वह उचित शब्दों में कुछ उचित बातें कहे जिनसे इस अवसर पर कुछ प्रश्नो पर रोशनी पडे। जो लोग दुनिया की सेवा करते हैं, दुनिया उन्हें हुक्म देने वाला मालिक या रहनुमा मानती है। राजनीति के या जमाने के वे बडे लोग जो जमाने को बदल देते हैं, दुनिया उनकी इज्जत करती है , लेकिन दुनिया की कहानी बदलती रहती है और बदलने का यह सिलसिला शोहरत के मैदान में भी जारी रहता है। जैसे-जैसे समय बदलता रहता है बडे-बडे कर्मवीरों के नाम और शोहरते धुँधली पडती जाती हैं। शौहरत मशहूर लोगो के साथ भी तन्ज या मजाक करती है। इतिहास एक व्यग्य है। इतिहास अपने आप से भी छेड करने मे नहीं चूकता। ये बातें सच उतरती हैं । इतिहास के योद्धाओ और नायकों और बडे-बडे विचारकों, बडे-बडे आविष्कारों को जन्म देने वाले वैज्ञानिको, दर्शनाचार्यो और बडी-बडी सभ्यताओ के रचयिताओं पर भी परिवर्तन सर्वशक्तिमान है। बडे-बडे उससे पार नहीं पा सकते हैं। इग्लिस्तान के महाकवि टेनिसन ने कहा है

"हमारी बनाई हुई विचारों, परम्पराओं और विश्वासों की दुनियाएँ फलने-फूलने के लिए एक जमाना पा जाती हैं। फिर ये दुनियाएँ लुप्त या अस्त हो जाती हैं। ये सब तेरे अखण्ड प्रकाश की बिखरी और छिटकी हुई रोशनियाँ हैं और तू इनसे कहीं महान्।"

कवियों, साहित्यकारों और महान् कलाकारों की शोहरतें लम्बी जिन्दगी प्राप्त कर लेती हैं और अधिक व्यापक होती हैं। कालिदास की याद आज भी ताजा है। उतना जिन्दा और उतना ताजा विक्रमादित्य का नाम नहीं है। फिरदौसी, शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, कीट्स, शेली और बायरन जीते-जागते नाम हैं और उनकी आवाजें जीती-जागती आवाजे हैं , लेकिन जीते-जागते रहने का यह गुण फ्रास के क्रान्तिकारियो के नामो मे हम नही पाते। कुछ और पीछे जायें तो मिल्टन, जॉनसन और गोल्डस्मिथ की कृतियाँ जितनी सजीव हैं उतनी सजीव उनके जमानो और युगों के कर्मवीरो की नही हैं। सामयिकता लम्बी जिन्दगी नहीं देती। कवियों और कलाकारो की अमर और व्यापक ख्याति के मुकाबले दूसरों की ख्यातियाँ केवल एक उडती हुई धूल नजर आती हैं, चाहे धूल के ये बादल उडकर कुछ देर के लिए आसमान को भी छू लें। कवियों और कलाकारों की यादें अक्षयबट के समान अमर और सदाबहार हैं क्योकि इनकी रचनाएँ जीवन की अटल और अमर मान्यताओं को वाणी देती हैं, मुखरित और झकृत करती हैं। सेनापति वोल्फ, क्युबेक के रणक्षेत्र की फौजी तैयारियों की देख-रेख करता हुआ, आधी रात को टॉमस ग्रे की पक्तियाँ गुनगुना रहा था–

> The boast of heraldry, the pomp of power,
> And all that beauty, all that wealth e'er gave,
> Await alike the inevitable hour
> The paths of glory lead but to the grave

"सूरवीरता का अभिमान, शक्ति के तामझाम और वह सब जो सुन्दरता से या धन से कभी किसी को प्राप्त नहीं हुआ, सब अन्त मे समान रूप से उस होनहार के क्षण का इन्तजार करते हैं जिसे कोई रोक नहीं सकता। शान और वैभव की हर डगर आखिरकार इन्सान को मरघट तक ही ले जाती है।"

और वोल्फ कह रहा था कि काश मैं क्युबेक का विजेता होने के बदले इन पक्तियों का लेखक होता।

कर्म जीवन में अति आवश्यक वस्तु है, लेकिन हर आदमी कर्म से अधिक महत्त्व देता है आन्तरिक अनुभवों को। विज्ञान और आविष्कारों की उन्नति और इनका विकास इस सत्य की ओर सकेत कर रहे हैं कि शारीरिक और मानसिक कारबारी श्रम से कहीं अधिक मूल्यवान हैं हमारे आन्तरिक अनुभव और हमारी आन्तरिक विभूतियाँ। हम हाथ-पाँव जरूर मारें लेकिन हमारा व्यक्तित्व भी तो कुछ बने। कविता इस व्यक्तित्व को सम्पन्न बनाने मे हमारी सबसे बडी सहायता करती है।

अब मैं अपनी जाती जिन्दगी के आन्तरिक अनुभवो और अपने काव्य-ससार की सृष्टि की ओर कुछ सकेत करूँगा। बालपन से ही मैं कुछ ऐसा अनुभव करता था कि शारीरिक या ऐन्द्रिक साधनो और माध्यमो से जो कुछ मैं अनुभव करता हूँ उसके अनुसार हर वस्तु, हर घटना, भौतिक ससार की हर झलक एक आन्तरिकता और रहस्यमयता रखती है। हर चीज अपनी सीमाओं मे रहते हुए भी उन सीमाओ से आगे निकल जाती हैं। घरेलू जीवन और उससे सम्बन्धित साधारण से साधारण चीजे और बाते और परिचित दृश्य, नदी-नाले, फलो के बाग, हरे-भरे खेत और खिलौने जो कुछ भी मैं छूता था, देखता था, सुनता था और जिनका मैं अनुभव करता था उनमे एक आन्तरिक जीवन है और यही उनका बहुमूल्य सत्य है यह मैं अनुभव करता था। भौतिक ससार की रहस्यमयता बार-बार मेरी चेतना पर छा जाया करती थी। मुझे भौतिक ससार में ही भौतिक ससार की दिव्यता का आभास होता था और यह आभास मुझे किसी बाहरी, अलग-थलग ईश्वर पर विश्वास लाने की जरूरत से क्रमश मुक्त करता जाता था। ससार का काव्यात्मक अनुभव, ससार की दिव्यता और उसकी ऐश्वर्यमय सत्ता का साक्षात् है। जैसे-जैसे मेरी उम्र बढती जाती थी और मैं होश सँभालता जाता था मैं आत्मिकता मे पगी भौतिकता (spiritualised materialism) को अपने अन्दर विकसित होता हुआ देखता था। मुझे ऐसा लगा कि मेरा यह अनुभव केवल जाती या व्यक्तिगत अनुभव नहीं है, बल्कि हिन्दू-सस्कृति का आधार यही अनुभव है। प्रकृति के कण-कण से खून का रिश्ता महसूस करना, प्रत्येक वस्तु से अपनी एकता का अनुभव करना, और इस अनुभव से जिस शान्ति और आनन्द, जिस अपनत्व को हम महसूस करते हैं, वह दृष्टि भारतीय सस्कृति के अमर और सुनहरे जमाने की सबसे बडी देन है। अलगाव या गैरीयत हमारी आत्मा और चेतना को दरिद्र बना देती है। इसी रहस्य को भारतीय सस्कृति मे पाकर जर्मन विचारक और दार्शनिक शोपनहॉर कह उठता था कि उपनिषदो से मेरे जीवन को बहुत अधिक सान्त्वना मिली, और मेरी मृत्यु के क्षण मे भी अत्यन्त सान्त्वना मिलेगी। हिन्दू सस्कृति की यह खोज हिन्दू समाज मे जन्म लेने वालो तक ही सीमित नही रही। प्रत्येक युग में दूसरी जातियो और दूसरे देशो की सिद्ध और मुक्त आत्माओ ने भी बिल्कुल यही अनुभव किया। मैं यह अनुभव करने लगा कि केवल हिन्दू समाज ही एक खुला हुआ समाज है– इसका कोई अग चाहे कृषक हो, व्यापारी हो, पूँजीपति हो या समाजवादी हो। दूसरी सस्कृतियाँ हमारी आत्मा को, हमारी दृष्टि को, हमारी हमदर्दियो को, तग या सकीर्ण बना देती हैं और मानव परिवार को विभाजित करती हैं। केवल हिन्दू सस्कृति मत-मतान्तरो की जकडबन्दियो से छुटकारा देती है। विश्व साहित्य का सबसे बडा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा मानवीय है, जातीय या साम्प्रदायिक नहीं है। हिन्दू होने के नाते विश्व का महान् साहित्य पढते हुए हम यह अनुभव कर ही नहीं सकते कि लेखक अहिन्दू है– चाहे वह लेखक होमर हो, वर्जिल हो, फिरदौसी हो, शेक्सपियर हो या कोई दूसरा ही लोकप्रिय कवि या साहित्यकार हो। कविता का लक्षण या उद्देश्य है हमे मानवीय सस्कृति देना। कविता मानव-राष्ट्र की स्थापना है,

हिन्दू राष्ट्र की स्थापना नहीं है।

कवि की हैसियत से मैंने अपना काम कच्ची उम्र मे नहीं बल्कि प्रौढावस्था में शुरू किया। इस बीच मेरा जीवन उजड चुका था और बरबाद हो चुका था। इस नाजुक वक्त में कविता आरम्भ करते हुए मुझे इस समस्या का सामना करना पडा कि जिस शान्ति और आनन्द की ओर मैंने इशारा किया है उसका समझौता अपने दुखद जीवन से कैसे करूँ। दु ख को सुख का सन्देश कैसे बनाऊँ, यह काम था। यह सिलसिला बहुत धीरे-धीरे कायम हो सका।

न पूछ कैसे किये हज्म जीस्त के दु ख सुख
कोई उतार ले इनको तो हड्डियाँ उड जायें
जो जहरे हलाहल है अमृत भी वही लेकिन
मालूम नहीं तुझ को अन्दाज है पीने के

प्रेम को साहित्य का स्वेच्छाचारी क्रूर या सर्वशक्तिमान शासक कहा गया है। मेरा पहला काम तो इस देव या दैत्य से समझौता करना था। इस जालिम ने मेरे जीवन पर जो-जो आघात किये, जो-जो चोटे की थी या करता जा रहा था उन्हे मरहम मे बदल देना था। मनुष्य की अन्तरात्मा जब भीष्म पितामह की तरह घायल हो जाती है तब शान्तिपर्व की बारी आती है। कविता के ससार मे धीरे-धीरे मेरा प्रेम-काव्य शान्ति और सान्त्वना प्रदान करने का साधन माना जाने लगा। हर प्रेम-कथा एक दुखान्त नाटक होता है। प्रेम की पीडाओ को एक ऐसी हालत मे बदल देना जो पीडा और दु ख की गाथा से ऊपर चला जाये और उसे झुठलाया भी न जाये, भौतिक प्रेम को स्वर्गीय प्रेम बनाना बडी कठिन चढाइयो का चढना है। ऐसा करने मे लोहे लग जाते हैं। अशान्ति की सीमाएँ पार करने पर ही शान्ति की सीमाएँ आरम्भ होती हैं। धर्मराज युधिष्ठिर को भी देवदूत ने पहले नरक के ही दर्शन कराये थे।

प्रकृति, बाल जीवन, नारीत्व, घरेलू जीवन, सामाजिक जीवन और जीवन के मर्म धीरे-धीरे मेरी कविता के विषय बनते गये। मानव की गाथा, सभ्यता की कहानी, इतिहास की महान् क्रान्तियाँ भी मेरी कविता मे वाणी पाने लगी और मुखरित होने लगीं। इतिहास की शक्तियाँ मेरी रचनात्मक शक्तियों को अपनी ओर खींचने लगी। काव्यरचना व्यक्तिगत दु ख-सुख की सूची तैयार करना नहीं है बल्कि मानवीय दु ख-सुख की व्याख्या है।

हमारा जीवन 'नेति-नेति' की कहानी है। हम जो कुछ करते हैं, हमे जो कुछ प्राप्त होता है, हमारे सब दु ख-सुख भ्रमात्मक प्रतीत होने लगते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी आत्मकथा मे साफ-साफ बताया है कि उनके जीवन मे एक ऐसा समय आया जब उन्होंने अपने आप से पूछा कि मान लो कि तुम ससार के लिए जो कुछ चाहते हो वह प्राप्त हो जाये तो क्या ऐसा होने से तुम्हे पूरा-पूरा सन्तोष होगा, सच्ची खुशी होगी? उनकी अन्तरात्मा से आवाज आयी कि नहीं। ऐसा महसूस करके वो आत्महत्या करने जा रहे थे। ठीक उसी समय वर्ड्सवर्थ की कुछ कविताओ का सग्रह उनके हाथ लगा। अब उन्हे मालूम हुआ कि जीवन की छोटी से छोटी चीजे भी सत्य हैं, तात्त्विक हैं और असलियत रखती हैं। हमे कालिदास की 'महान् हाँ' और 'महान् ना' की याद आ जाती है। हम हर चीज में किसी ऐसे तत्त्व को पाते हैं जिसे पाकर हम सब कुछ पा लेते हैं। अगर ऐसा न हो तो जैसा मेरे अध्यापक स्वर्गीय S G Dunn ने कहा "फिर तो एक ही योग-साधन रह जायेगा अर्थात् आत्महत्या।"
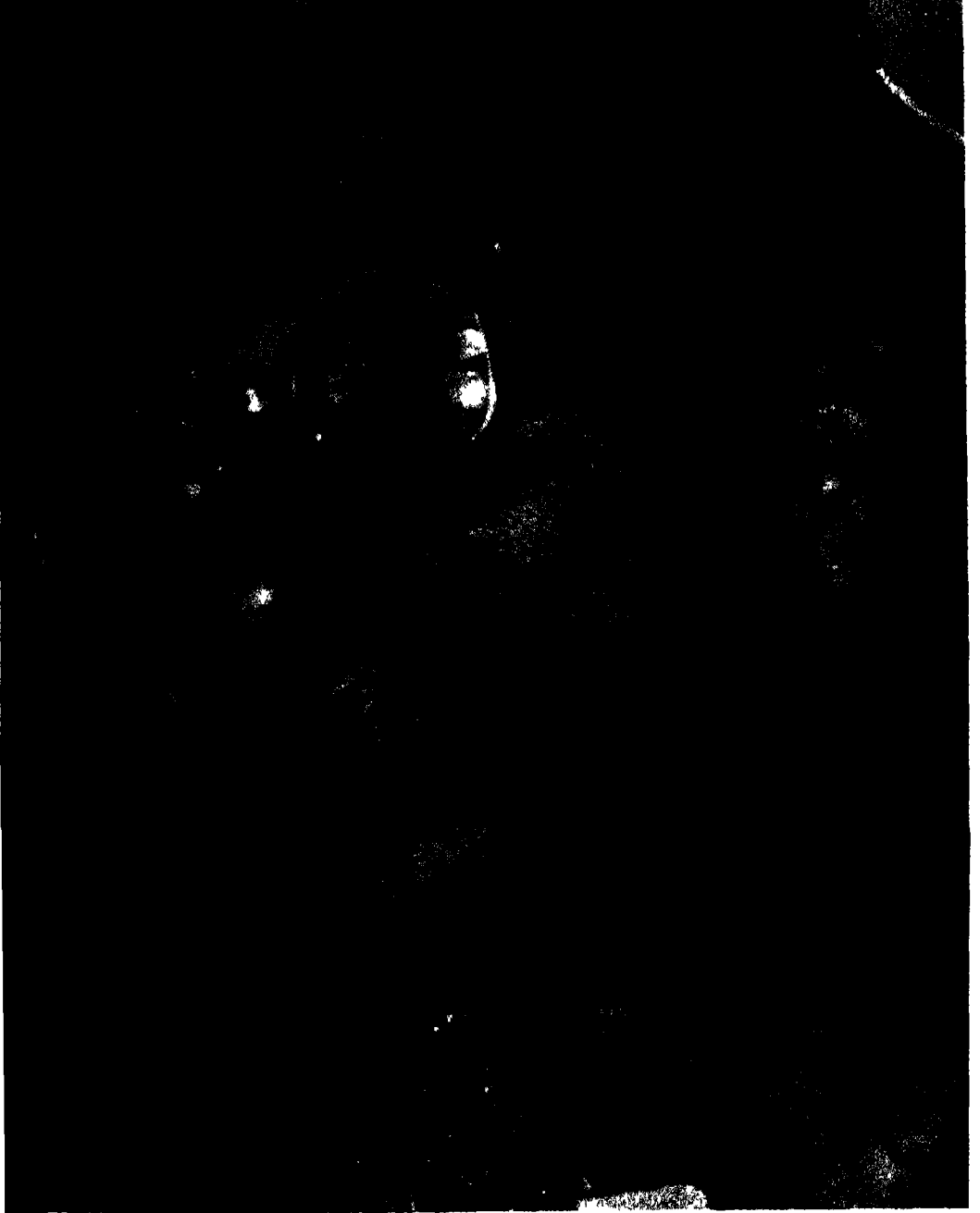
विश्वनाथ सत्यनारायण
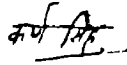
प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७० के वर्ष का साहित्य-पुरस्कार कविश्रेष्ठ श्री विश्वनाथ सत्यनारायण को उनके महाकाव्य 'रामायण कल्पवृक्षमु' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९५५ से १९६३ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

श्री सत्यनारायण ओजस्वी और शास्त्रीय दृष्टि-सम्पन्न कवि हैं। अन्तरावलोकन-समर्थ एव प्रभविष्णु उपन्यास-नाटककार हैं, सशक्त और प्रसादगुण-युक्त साहित्य-समीक्षक और निबन्ध-लेखक, और हैं अनन्य श्रेणी के शैलीशिल्पी। उन्हाने तेलुगु साहित्य के चिरजीवी सृजेताओं मे अपने लिए एक विशिष्टता का स्थान अर्जित किया है। व अपनी अविराम साहित्य-साधना और बहुमुखी रचना-क्षमता के बल पर इन तीन दशको के समसामयिक तेलुगु साहित्यमच पर नायक के रूप मे अधिष्ठित हैं। उन्होने मक्रमण और सशय के वर्तमान युग मे पुरातन सस्कृति के शाश्वत मूल्यो को अविचल श्रद्धाभाव से उद्वाहित किया है।

कविश्रेष्ठ की वर्चस्विता के प्रति यह मुखर श्रद्धाजलि है कि उसने रामायण के प्राचीन महावट को नवरस से इस प्रकार सवर्द्धित किया कि वह हमारे युग का काव्य-कल्पवृक्ष बन गया है कल्पना के गन्धवाही अभिनव बिम्बो से पल्लवित, चरित्रो के विविधवर्णी चित्रण से पुष्पित, और आदर्शानुगामी चिन्तन की उस शोभाश्री से फलित जो हमारे त्रस्त युग को अमरत्व-रस से पूरित करती है। महाकवि दीर्घकाल तक स्वस्थ और सुखी जीवन यापन करे।

नयी दिल्ली
१६ नवम्बर, १९७१

अध्यक्ष
प्रवर परिषद्

अध्यक्ष
भारतीय ज्ञानपीठ

विश्वनाथ सत्यनारायण

आत्म-निरीक्षण के विचक्षण क्षणों में एक बार कवि-सम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण ने कहा था "कुछ लोग कहते हैं कि मैं विद्वान् हूँ, कवि नहीं। लेकिन मैं जानता हूँ कि मैं विद्वान् नहीं हूँ। नतीजा यह है कि मैं न कवि हूँ, न विद्वान्।" सत्यनारायण जी के इस कथन में हास्य और व्यग्य की कोमल अभिव्यजना तो है ही, पर साथ ही एक प्रत्यक्ष सत्य भी इन शब्दों में प्रकट होता है। वास्तव मे वे न केवल विद्वान और कवि थे, बल्कि उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, व्याख्याता और समालोचक भी थे और हर क्षेत्र में उनका स्थान सबसे आगे था।

'रामायण कल्पवृक्ष' विश्वनाथ सत्यनारायण की सबसे प्रशस्त रचना है। लेकिन इसके पीछे २०-२५ साल की साहित्यिक साधना है। विश्वनाथ सत्यनारायण तेलुगु साहित्य के क्षेत्र में 'आध्र पौरुषम्' और 'आध्र प्रशस्ति' नामक दो प्रारम्भिक रचनाओं के साथ १९२० के आस-पास प्रकट हुए। स्वदेश, स्वभाषा और स्वसस्कृति के प्रति उनकी सहज अनुरक्ति इन रचनाओं में मिलती है। विश्वनाथ के जीवन में आशा और निराशा हमेशा आँख-मिचौनी खेलती रहीं। प्रारम्भिक जीवन में उनको कई कठिनाइयों का सामना करना पडा। आध्र प्रदेश के कृष्णा जिले के नन्दनूर गाँव में एक साधारण परिवार मे ६ अक्तूबर, १८९५ को उनका जन्म हुआ था। माता-पिता से बालक विश्वनाथ को पैतृक सपत्ति के रूप में केवल ईश्वर-भक्ति मिली और इसी सबल को लेकर वे जीवन में आगे बढते रहे। घर की धुली हुई बहुत ही मामूली धोती और उससे भी साधारण कुर्ता और अँगरखा आजीवन विश्वनाथ की वेशभूषा रही। लेकिन दूर-दूर के सौन्दर्य को पहचान कर अपनाने वाली पैनी दृष्टि और सारी धरती का परिमल अपने अन्दर समेटने वाली सुग्राही नासिका, हृदय के अन्तस्तल से निकलने वाली मीठी मुस्कुराहट, विशुद्धि-चक्र की किसी असाधारण सिद्धि के अलौकिक स्पर्श से पुलकित सुन्दर ग्रीवा और उनके समस्त व्यक्तित्व का सार लेकर उनकी ब्राह्मीमय भावना को मुखरित करने वाली उनकी रसीली और सुरीली आवाज तेलुगु-भाषी समाज कभी नहीं भूल सकता।

बचपन में विश्वनाथ के पिता श्री शोभनाद्रि चाहते थे कि उनका बेटा अँग्रेजी पढकर अच्छी नौकरी हासिल करे और परिवार की गरीबी दूर करे।

विश्वनाथ के जन्म स्थान नन्दनूर से ४० मील दूर मछलीपट्टनम नाम का एक शहर है जहाँ के अँग्रेजी स्कूल में बालक विश्वनाथ को दाखिल कराया गया। सौभाग्य से वहाँ तेलुगु के प्रसिद्ध कवि चेल्लपिल्ल वेंकट शास्त्री तेलुगु के अध्यापक थे। शास्त्री जी ने विश्वनाथ को देखते-सुनते ही पहचान लिया और विश्वनाथ ने उनके सान्निध्य से प्रेरित होकर अपने क्षेत्र को भी बडी आसानी से चुन लिया। हाई स्कूल में पढते समय ही विश्वनाथ सत्यनारायण तेलुगु, सस्कृत और अग्रेजी के अच्छे जानकार बन गये और तेलुगु और सस्कृत में कविता लिखने लगे। विश्वनाथ की प्रारम्भिक कविता मे सौन्दर्य, प्रेम और भक्ति का सगम दिखाई देता है। यौवन के प्रागण मे पदार्पण करते ही "गिरिकुमार के प्रेम गीत" उनकी लेखनी से निकले और आगे चलकर इसी प्रवृत्ति ने "शृगार वीथि" को जन्म दिया। लेकिन सत्यनारायण का प्रेम वासना से कलुषित नहीं था, बल्कि धार्मिक भावना से ओत-प्रोत था। अपने इष्ट देव को सम्बोधित करते हुए उन्होंने "मा स्वामी" (हमारे स्वामी) नामक काव्य की रचना की। इसमें भक्ति-भावना का जो बीज दिखाई देता है, वही बाद में "रामायण कल्पवृक्ष" के रूप मे पल्लवित और विकसित हुआ। यह कहना कठिन है कि सत्यनारायण सच्चे अर्थों में प्रेम के कवि थे, या भक्ति के। ससार के कण-कण में प्रेम और सौन्दर्य की सरिता बहाने वाली सरसता विश्वनाथ की विशेषता है। उनका यह रस-निर्भर हृदय, "किन्नेरसानि पाटलु" (प्रेयसी किन्नेरा के गीत) में प्रतिफलित दिखाई देता है। किन्नेरा आध्र प्रदेश की एक छोटी-सी नदी है जो बरसात में बडी उमग के साथ बहती है। इस छोटी-सी नदी मे द्रष्टा विश्वनाथ ने एक तरुण गृहिणी की करुणकथा का कलकल निनाद देखा था। राग-द्वेष की चट्टानों को तोडकर बहने वाली सरिता में सरस कवि की रसार्द्र दृष्टि प्रणयकुपिता मुदिता की भाव-तीव्रता का दर्शन करती है। गीतात्मकता और रागात्मकता का अपूर्व सामजस्य इस रचना में पाया जाता है।

कविता से युवक सत्यनारायण का दिल तो पुलक उठता था, पर इससे उनका पेट नहीं भर पाता था। बडी कठिनाई के साथ उनको किसी कालेज में प्राध्यापक का पद मिला। लेकिन स्वतन्त्र प्रकृति के होने के कारण सेवा की पाबन्दी में वे अपने को बाँध नहीं सके। कुछ ही दिनों में नौकरी छुट गयी और उन्हीं दिनों उनकी पत्नी का देहान्त भी हो गया। उस समय विश्वनाथ लगभग ३५-४० साल के थे। कवि के रूप में वे काफी मशहूर हो गए थे। जगह-जगह उनका कविता पाठ होता था और लोग उनका आदर-सत्कार भी करते थे। लेकिन आदर-सत्कार आत्मीयता दे सकता है, पर आजीविका का स्थान नहीं ले सकता। लौकिक दृष्टि से विश्वनाथ के जीवन में यह बहुत सकट का समय था, पर साहित्यिक और आध्यात्मिक दृष्टि से यह उनके जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय था क्योंकि इसी समय उनका ध्यान राम कथा के प्रणयन की ओर गया था। 'रामायण कल्पवृक्ष' का बीजारोपण इसी समय हुआ था।

यह ध्यान देने की बात है कि जैसे राम के जीवन मे पदच्युति और पत्नी-वियोग ने उनको महामानव बनाया था, वैसे ही विश्वनाथ के जीवन में भी इसी प्रकार की परिस्थितियों ने उनको महाकवि बनाया था। विश्वनाथ स्वभाव से कहानी-प्रेमी थे। कहानी-कला की बारीकियों से वे बहुत ही अच्छी तरह परिचित थे। तेलुगु के प्राचीन काव्यों में और सस्कृत के महाकाव्यों में कथाशिल्प का जो कौशल था, उसको उन्होंने पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया था। एक बार उनके पिताजी ने कहा था कि ससार में सबसे सुन्दर और रोचक कहानी भगवान राम की कहानी है, बाकी कहानियाँ रोटी-कपडे की कहानियाँ हैं। यह बात विश्वनाथ के मन में घर कर गयी। जीवन के रिक्त और विविक्त क्षणों में रामकथा को काव्य का रूप देने का विचार विश्वनाथ के मन में आया। जन्म-जन्मान्तर के सस्कार और जीवगत वेदना को लेकर "रामायण कल्पवृक्ष" की रचना का उन्होंने प्रारम्भ किया।

प्रारम्भिक काव्य-रचना ने सत्यनारायण को विश्वनाथ बनाया था तो "रामायण कल्पवृक्ष" ने उनको कवि-सम्राट् बनाया था।

"रामायण कल्पवृक्ष" एक विशालकाय रचना है जिसके प्रणयन में विश्वनाथ को लगभग ३० साल का समय लगा था। इसका मतलब यह नहीं कि ३० साल की इस अवधि मे कवि-सम्राट् ने और कुछ नहीं लिखा था। रामायण की रचना उनकी दिनचर्या का अभिन्न अग बन गयी। इसके साथ-साथ वे अनेक अन्य रचनाएँ करते रहे—उपन्यास, नाटक, समालोचना आदि। उनका प्रसिद्ध उपन्यास "वेयि पडगलु" (सहस्रफण) लगभग उसी समय लिखा गया था जब कल्पवृक्ष की रचना का प्रारम्भ हुआ था। यह उनका सबसे बडा उपन्यास था और इस रचना पर उनको आध्र विश्वविद्यालय का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। यह उपन्यास रामायण कल्पवृक्ष की भाँति विशालकाय रचना है जिसमें आध्र सस्कृति का सर्वस्व समाविष्ट है और साथ ही विश्वनाथ के जीवन दर्शन का भी एक प्रकार से विश्वकोश माना जा सकता है। इस बृहद्‌रचना का सक्षिप्त हिन्दी अनुवाद "सहस्रफण" के नाम से श्री पी वी नरसिंहराव ने प्रस्तुत किया। कथाशिल्पी विश्वनाथ की एक और कलात्मक रचना है—"एक वीरा" जो कि ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित है। इसमे प्रेम के विकास मे स्पर्श लालसा के महत्त्व का मार्मिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण है। उनके अन्य उपन्यासो मे चेलियलिकट्ट (सागर वेला), 'मा बाबु' (हमारा बेटा), 'जेबु दोगलु' (जेबकतरे), 'हाहा हूहू', 'स्वर्गानिकि निच्चेनलु' (स्वर्ग तक के सोपान) आदि अत्यन्त लोकप्रिय हैं। "रामायण कल्पवृक्ष" को प्रेरणा का प्रमुख आधार बनाकर उन्होंने ऐसी अनेक रचनाएँ इस अवधि मे कीं और साथ-साथ "कल्पवृक्ष" भी अपनी कमनीय छाया फैलाता रहा। इस विराट् वृक्ष की छाया में कवि-सम्राट् ने ६० के करीब उपन्यास लिखे, ६-७ समालोचना के ग्रन्थ लिखे और १०-१५ नाटकों की भी रचना की। साहित्य-अकादमी के द्वारा पुरस्कृत रचना "विश्वनाथ मध्याक्करलु" १९५५ की रचना है जो कल्पवृक्ष की रचना का शायद मध्यकाल है। बीच-बीच में विश्वनाथ ने सस्कृत में भी अनेक रचनाएँ कीं। शिव पचशती, देवी त्रिशती आदि प्रसिद्ध काव्यों के अलावा "अमृतशर्मिष्ठम्" जैसे उत्कृष्ट नाटक भी उन्होंने सस्कृत में लिखे थे। कवि-सम्राट् की रचनाएँ हमेशा आध्यात्मिक गम्भीरता से बोझिल रही हों, ऐसी बात नहीं है। "विष्णु शर्मा की अँग्रेजी पढाई" उनकी एक प्रसिद्ध व्यग्यात्मक रचना है जिसमें उस समय के अँग्रेजी पढे-लिखे नवयुवकों की सास्कृतिक दुर्गति का व्यग्यात्मक चित्रण है। साहित्य की प्राय प्रत्येक विधा में कवि-सम्राट् ने अपनी लेखनी आजमाई और हर क्षेत्र में उनको सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला। उनका यह विराट् व्यक्तित्व कल्पवृक्ष की रचना मे पग-पग पर प्रतिबिम्बित होता है।

निसर्ग कथाशिल्पी विश्वनाथ सत्यनारायण को उपन्यास लिखने का जितना शौक था, उतना कहानी लिखने का नहीं था। कहानियाँ उन्होने बहुत कम लिखीं। कथा कहने की उनकी एक अपनी शैली है जिसे वाल्मीकि और नन्नय भट्ट से उत्तराधिकार में उन्होने प्राप्त किया था। उनकी सारी कहानियाँ यथार्थवादी, सुखद, सुखात और प्रभावशाली होती हैं। "इदेमि सम्बन्धमु" (यह क्या रिश्ता है) उनके कहानी-शिल्प का एक सुन्दर उदाहरण है।

एकान्त में बैठकर गम्भीर लेखन करना एक बात होती है और सार्वजनिक सभाओं में खडे होकर अपने विचार सबके मन तक पहुँचाना बिल्कुल और बात है। यह आवश्यक नहीं कि कोई वर्चस्वी लेखक ओजस्वी वक्ता भी हो। विश्वनाथ सत्यनारायण में दोनों गुणों का समन्वय मिलता है। घण्टों-घण्टों वे बडी से बडी जनसभाओं में बोलते रहते थे और श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हुए सुना करते थे। इस प्रकार कवि सम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण में विभिन्न प्रकृति के अनेक गुणों का एक साथ समावेश मिलता है।

उनके व्यक्तिगत स्वभाव में भी ऐसी ही बात थी। कभी-कभी वे बहुत रूखे और चिडचिडे हो उठते थे, पर मन और भाव के बडे भद्र और निर्मल थे। जिस सरलता से वे किसी को भी मित्र बना लेते थे, उसी तरह अपने विरोधी भी खडे करते थे। उनके मित्र उनकी श्लाघा करते नहीं अघाते थे, उन्हें ब्राह्मी का साक्षात् अवतार तक मानते थे तो उनके विरोधीगण, जिनमे अनेक अच्छे-अच्छे लेखक भी होते थे, बिना झिझक उन्हें पुराणपथी और समय और समाज की राह का रोडा जैसे नाम देते थे। वे देखने मे गर्वी, तिक्तकण्ठ और अहम्मन्य लगते थे, पर भीतर से बडे विनम्र थे। देह से दुबले थे, पर आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न थे और वाणी से कठोर, पर आचरण में उदार। १९१९ से १९४५ तक आर्थिक अभाव के कारण उन्होंने कई मुसीबते झेलीं, पर अपने लेखन और काव्य पाठ से जो भी धन कमाया उसे उन्होंने खुले हाथो उन्हे दिया जो कष्ट मे थे। उनका जीवन दो सत्यो के लिए समर्पित था काव्य-कला और लोकहित।

यश और ख्याति की लालसा उन्हे कभी नहीं रही, पर कौन-सा मान-सम्मान स्वय गौरवान्वित होने के लिए उनके निकट दौडा नही आया। जब वे तीस वर्ष के थे, तब तेलुगु समाज ने उन्हे अपना "कवि सम्राट्" घोषित कर उनका अभिनन्दन किया था। विश्वविद्यालयों ने उन्हें कलाप्रपूर्ण और डी लिट् की उपाधियों से विभूषित किया। साहित्य अकादेमी द्वारा वे अपनी काव्यकृति "मध्याक्करलु" के लिए पुरस्कृत हुए, बाद में अकादमी के फेलो भी बने। भारत सरकार ने उन्हे पद्मभूषण की उपाधि प्रदान की। १९५९ में विधान परिषद् के सदस्य नामित किए गये, पर उन्होंने करीमनगर कॉलेज का प्रिन्सिपल बनना पसन्द किया। दो वर्ष बाद सेवानिवृत्त होकर वे विजयवाडा चले गये और "कल्पवृक्षम्" की रचना पूरी करके वहीं फिर उसकी स्निग्ध छाया में रहने लगे। आजीवन आत्मदर्शन में निरत कालजयी रचनाकार सत्यनारायण को भावी पीढियाँ रामायणकार सत्यनारायण के रूप में याद करेंगी।

कारयित्री प्रतिभा के कर्मठ साधक विश्वनाथ सत्यनारायण में भावयित्री प्रतिभा का भी भव्य रूप दिखाई देता है। प्राय सृजनशीलता के साथ अनुशीलन, विश्लेषण तथा सूक्ष्म निरीक्षण की अपेक्षा रखनेवाली समीक्षात्मक प्रवृत्ति समानान्तर गति से प्रवर्तित नहीं होती। पर विश्वनाथ सत्यनारायण में सृजनशीलता और समीक्षात्मक मनीषा का मणिकाचन सयोग देखने को मिलता है। तेलुगु, सस्कृत और अँग्रेजी साहित्य मे उनकी गहरी रुचि का होना तो स्वाभाविक ही था, पर आश्चर्य की बात यह है कि इन तीनो भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य के वे अच्छे समीक्षक भी थे। कालिदास के अभिज्ञान शाकुतल पर उनकी समालोचना (अभिज्ञान की अभिज्ञानता) सस्कृत के समालोचना साहित्य के लिए भी गौरव प्रदान करने वाली रचना है। इसी प्रकार नन्नय भट्ट, अल्लसानि पेद्दना, नाचन सोमना, नदितिम्मना आदि विख्यात तेलुगु कवियो पर उनकी समालोचना पढते समय पाठक का मन कहता है कि सत्यनारायण साहित्य की अन्य विधाओं को छोडकर केवल समालोचना को अपनी लेखनी समर्पित करते तो आज तेलुगु की साहित्य समालोचना का कुछ और ही रूप हमारे सामने आता। लोग प्राय कहते हैं कि कविता का रस केवल व्याख्याकार जानता है, कवि नही। पर विश्वनाथ ने इस उक्ति को निराधार सिद्ध किया था।

सन् १९७० मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत "रामायण कल्पवृक्ष" वाल्मीकि रामायण की भाँति प्रौढ एव परिमार्जित रचना है। केवल मात्रा में ही नही, बल्कि महत्ता मे भी यह आदि काव्य के अत्यन्त निकट पहुँचता है। "कल्पवृक्ष" का कथानक छह खण्डों में विभाजित है। उत्तर काण्ड इसमें नहीं है काण्डों के नाम वही हैं जो वाल्मीकि रामायण में दिए गये हैं। लेकिन विश्वनाथ ने प्रत्येक काण्ड को पाँच खण्डों मे विभाजित किया है। उदाहरण के लिए बाल-काण्ड में इष्टि, अवतार, अहल्या, धनु

और कल्याण नाम के छह खण्ड मिलते हैं। इष्टि में सन्तान की इच्छा से राजा दशरथ के द्वारा अनुष्ठित यज्ञ का वर्णन है। इष्टि का मतलब यज्ञ होता है और ईंट भी होता है। ईंट के आधार पर भवन खडा किया जाता है और रामायण कल्पवृक्ष की बुनियाद भी इसी प्रकार की इष्टि है। ज्ञान, कर्म और इच्छा का समन्वय इष्टि है और यही रामकथा का अभीष्ट तत्त्व है।

इसी प्रकार अयोध्या काड भी पाँच खण्डों में विभाजित है—अभिषेक, प्रस्थान, मुनि-शाप, पादुका और अनसूया। अरण्य काड में दश वर्ष, पचवटी, मारीच, जटायु और शबरी नाम के पाँच खण्ड हैं। किष्किधा काड का पहला खण्ड "नूपुर" है। सुग्रीव जब सीता के आभूषण राम को दिखाते हैं तो राम की आँखें इतनी सजल बन जाती हैं कि वह इनको देखकर पहचान नहीं पाते। इसलिए लक्ष्मण को कहा जाता है कि वह इनको देखकर पहचानने की कोशिश करे। इस पर लक्ष्मण कहते हैं कि "मैं कुडल, केयूर, आदि आभूषणो के बारे में नहीं जानता क्योंकि मैंने उनको कभी देखा नहीं, लेकिन नूपुर (पायल) तो मैं जरूर पहचानता हूँ क्योंकि प्रतिदिन पादाभिवदन के समय मैं इनको देखा करता था। यह लक्ष्मण की पावन भावना को प्रकट करने वाला बडा सुन्दर प्रसग है। इसी को कवि ने "नूपुर" की सज्ञा दी है। किष्किंधा काड के शेष चार खण्ड भी कुछ अजीब हैं—राजपुष्पी, नियम पालन, समीकरण और अन्वेषण।

सबसे सुन्दर विश्लेषण सुन्दर काड का है। इसमें पूर्वरात्र, पर-रात्र, उषा, दिवा और सध्या नाम के पाँच खण्ड हैं। ये पाँचों नाम दिन के पाँच खण्डों के नाम हैं। सुन्दर काड का सारा कथानक एक ही दिन में समाप्त होता है। रात होने के कुछ ही क्षण पहले हनुमान लका में पहुँच जाते हैं, रात भर सीता माता की खोज में लगे रहते हैं, रजनी के पिछले पहरों में ऊषा की उर्मिल वेला में माताजी के दर्शन करते हैं। दिन में सवेरे राक्षसों को जीतकर रावण से मिलते हैं, दोपहर को लंका जलाकर माता को आश्वासन देते हैं और उसी दिन शाम तक अपने मित्रवृद के पास वापस पहुँच जाते हैं। यह सारा काम पूरे एक दिन में समाप्त होता है। इसी इतिवृत्त का सारगर्भित वर्णन विश्वनाथ के सुन्दर काड में एक "आह्निक" के रूप में मिलता है। सुन्दर काड का सबसे सुन्दर प्रसग त्रिजटा का स्वप्न है जिसमें दर्शन, रहस्य और आनन्द का लोकोत्तर सम्मिश्रण है।

युद्ध काड का आरम्भ 'सशय' से होता है। 'कुँभकर्ण' और 'इन्द्रजित्' खण्डों में रामविजय के बीज बोए जाते हैं और 'सशय' 'नि सशय' में बदल जाता है। अन्तिम खण्ड 'उपसहरण' में रावण के सहार और राम के राजतिलक का मनोहर वर्णन है।

इस प्रकार छह कांडों के तीस खण्डों की लगभग पचास हजार पक्तियों में निबद्ध 'रामायण कल्पवृक्ष' आधुनिक तेलुगु साहित्य की विशालकाय कालजयी रचना के रूप में प्रसिद्ध है।

रसात्मक वर्णन-शैली की दृष्टि से बाल काड कल्पवृक्ष का सर्वोत्कृष्ट भाग है। वाल्मीकि की आत्मा सुन्दर काड में और तुलसी का हृदय अयोध्या काड में प्रतिबिम्बित है तो विश्वनाथ की विशिष्टता बाल काड में देखी जा सकती है। बाल काड में ऋषि-मुनियों की कहानियाँ अधिक हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, गौतम आदि ऋषियो की कहानियाँ अत्यन्त रोचक और विचार-वर्द्धक हैं। कथाशिल्पी विश्वनाथ ने विश्वामित्र को एक सफल कहानीकार के रूप में चित्रित किया है। वाल्मीकि के विश्वामित्र भी राम और लक्ष्मण को अपनी रमणीय कथा शैली से प्रसन्न बनाकर पैदल चलने वाले राजकुमारों की थकावट दूर करते हैं। कथाकथन की इस मनोहारिता का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं

कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनि पुगव ।।

मौन साधना में निपुण विश्वामित्र भी राम को देखकर वाग्मी कहानीकार बन जाते हैं। विश्वनाथ की लेखनी में विश्वामित्र कथानायक और

कहानीकार दोनों रूपों में मनमोहक बन जाते हैं। कुशल वक्ता कौशिक की कहानियाँ सुनकर राम और लक्ष्मण ही नहीं, बल्कि आसपास के आश्रमवासी भी रात भर जागकर प्रभात के समय उन्हीं कहानियों को फिर सपने में दुबारा देख लेते हैं। कुशल कहानीकार विश्वामित्र की अपनी कहानी भी अजीब है। काम-वासना के लौकिक धरातल से उपासना के अलौकिक आलोक तक जीवन-यात्रा के विभिन्न स्तरों को पार करते हुए राजर्षि विश्वामित्र अन्त में ब्रह्मर्षि बन जाते हैं और त्रिशकु जैसे शापग्रस्त राजाओं और शुन शेप जैसे निस्सहाय बालकों का उद्धार करने में अपनी प्रतिष्ठा की भी परवाह नहीं करते। वेदमाता गायत्री के द्रष्टा और अपर अन्तरिक्ष के स्रष्टा विश्वामित्र की रोमाचक कहानी शतानन्द के मुँह से सुनकर राजकुमार राम और लक्ष्मण चकित रह जाते हैं। विश्वामित्र ने उनको कई कहानियाँ सुनाई थीं, पर अपने बारे में कभी कुछ नहीं कहा। उनके जीवन की रहस्यमयी बातें शतानन्द के मुँह से सुनने के बाद दशरथनन्दन का आनन्दित होना स्वाभाविक ही है। इस आनन्द का वर्णन विश्वनाथ की रचना में परमानन्द की पराकाष्ठा प्रस्तुत करता है। ऐसा लगता है कि इन्हीं ऋषि-मुनियों की कथा-कथन शैली को आदर्श मानकर विश्वनाथ की काव्य-रचना आगे बढती है।

बाल काड का आरम्भ अयोध्या नगर के वर्णन से होता है। जन-जीवन को अपनी आँखों देखकर प्रसन्न होने वाले राजा दशरथ की रथयात्रा के वर्णन के साथ-साथ अयोध्या का वर्णन चलता है। "इष्टि" खण्ड का सबसे रोचक प्रसग ऋष्यश्रृग का है। काम-वासना से एकदम अनभिज्ञ ऋषिकुमार के हृदय के कामिनियों की विलासमय चेष्टाओ को देखने पर प्रेम की कोमल भावना का जो क्रमिक और सहज विकास होता है, उसका वर्णन करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि सौन्दर्य और प्रेम का यह प्रथम प्रादुर्भाव बहुत कुछ वैसे ही हो रहा है जैसे हृदय के अतस्तल की अपूर्व स्वर लहरी बाहर प्रकट हो रही हो, अन्तकरण में छिपी हुई कोमलता बाहर मगलमय-भावना के रूप में प्रकट हो रही हो, आत्मा के भीतर की आनन्द-रेखा प्रसन्न मुखमडल पर प्रकाश की लेखा के रूप में व्यक्त हो रही हो।

राम की बाल-लीलाओं का वर्णन भी विश्वनाथ की अपनी निजी उद्भावना है। बुढापे में सन्तान पाकर मन ही मन प्रसन्न होने वाले माता-पिता का उल्लास और चार पुरुषार्थों की तरह राजभवन में बढने वाले बच्चों का हास-विलास वात्सल्यरस-शिल्पी सूरदास की याद दिलाते हैं। बालक राम को कोई अपनी बाहों मे उठा लेता है तो वह उसके सिर पर हाथ फेरा करते थे। लक्ष्मण को कोई महिला अपनी गोद मे बिठा लेती तो वह उसके कान और नाक की जाँच करने लगते थे। इन बालसुलभ चेष्टाओ मे कितना गहरा आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है, यह शायद विश्वनाथ और उसके रसज्ञ पाठक ही समझ पाते हैं। ध्वन्यात्मक अभिव्यजना का यह सुन्दर उदाहरण विश्वनाथ की विचक्षण प्रतिभा का नमूना प्रस्तुत कर सकता है।

माँ कौशल्या राम के आग्रह पर उनको अपना नाम सिखाने का प्रयास करती है तो राम इतने क्लिष्ट शब्द का उच्चारण नहीं कर पाता। अन्त मे भोली-भाली माँ अपने को केवल माँ मानकर चलने की सलाह देती है। दशरथ को राम की हर चितवन में, हँसी की हर झलक में, अपने पिता अज की परछाई दिखाई देती है। राजकुमारों को अपने रथ पर बिठाकर जब दशरथ नगर में चल पडते हैं तो नगर के नागरिक हर रोज इस प्रकार देखते हैं जैसे उनको कभी देखा न हो। सारा "अवतार" खड इसी प्रकार के सरस प्रसगों से भरा पडा है।

"अहल्या" खड में पत्थर की तरह पडी हुई अहल्या का फिर से अपनी चेतना प्राप्त करना विश्वनाथ की कल्पना में एक अनोखा चित्र प्रस्तुत करता है। वाल्मीकि की अहल्या की तरह विश्वनाथ की अहल्या भी पत्थर नहीं बनी। पर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध से वंचित विचित्र प्राणी की तरह अदृश्य, अश्रुत, निश्चेष्ट नीरस और गधहीन पडी रही। राम की आवाज कानों में पडते ही उनके

कानों को सुनने की क्षमता प्राप्त होती है, राम के शरीर का स्पर्श कर आने वाली हवा के लगते ही अहल्या के शरीर में स्पर्श भावना जाग पडती है। राम का रूप निहारते ही उनकी आँखों को दृष्टि मिल जाती है। राम को आतिथ्य प्रदान करते ही अहल्या की जीभ में स्वाद उत्पन्न हो जाता है और राम की सास पास पहुँचते ही उनकी नासिका को सूँघने की शक्ति मिल जाती है। इस प्रकार निश्चेष्ट और अचेतन नारी अहल्या राम के ससर्ग से सचेष्ट और सचेत बन जाती है। पाषाण में प्राण भरनेवाला वर्णन विश्वनाथ की मौलिक उद्‌भावना है।

धनुर्भंग के प्रसग मे ध्वनि-तरगों का विभिन्न लोकों मे विभिन्न प्रकार से प्रसारित होना भी एक अनोखी कल्पना है। शैव-लोक, स्वर्ग-लोग, दैत्य-लोक आदि विभिन्न प्रकार के लोको मे यह ध्वन्यालोक नाना प्रकार की भाव-भगिमाओं का सृजन करता है। उदाहरण के लिए शिवलोक मे शिवचाप की ध्वनि का वर्णन है

> हे रबोन्नत शूर्पकर्ण विवर ह्रीकारियै षण्मुख-
> स्फारद्वादशनेत्र गोळविवृति प्राकारमै शैल कन्या
> राजन्नव फाल मडल विभुग्न क्रीडमै याश्वलद्
> गीरुग्रप्रमथबुगा धनुवु म्रोगेन् शैवलोकबुलन्

"कल्याण" खण्ड में सीता और राम के विवाह का विस्तृत और मनोहर वर्णन है। वाल्मीकि रामायण में यह विवाह केवल वैदिक सस्कार तक सीमित और सक्षिप्त है। लेकिन आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राय सभी राम-काव्यों में सीता-राम के विवाह का जीता-जागता चित्रण पाया जाता है जिसमें प्रातीय विशेषताओं की झलक मिलती है। विश्वनाथ ने भी सीता-राम के विवाह में तेलुगुभाषी समाज में प्रचलित वैवाहिक प्रथाओं का हृदयग्राही वर्णन किया है, साथ ही विवाह के आध्यात्मिक महत्त्व की ओर भी मार्मिक सकेत किया है। विवाह के बाद जब नव वधू सीता को लेकर राम अहल्या के आश्रम में पहुँचते हैं तब अहल्या के द्वारा सीता-राम के स्वागत का भव्य वर्णन भी विश्वनाथ की अपनी सूझ है।

विश्वनाथ के सभी पात्रों में कैकेयी का विशिष्ट स्थान है। वाल्मीकि की कैकेयी की तरह वह पापदर्शिनी नहीं है, बल्कि रामदर्शिनी है। राम के जीवन (या अवतार) का आशय वह जानती और पहचानती है और उसी आशय की सिद्धि के लिए वह अपनी बदनामी को भी बडे धैर्य के साथ सह लेती है और राम की सातुर प्रतीक्षा करने वाले वनवासियों की मनोकामना पूरी करने के लिए वह अपनी बात पर डटी रहती है। राम भी कैकेयी के हृदय को पहचानते हैं और उनको श्रीदेवी का अवतार समझते हैं। विश्वनाथ की इस विचित्र कल्पना से चिर कलकित कैकेयी का कलक धुल जाता है और उसका आन्तरिक रूप खुल जाता है। पाठक कवि की कल्पना से सहमत हों या नहीं, पर चकित होकर तनिक विचार करने के लिए अवश्य बाध्य हो जाते हैं।

अनसूया और शबरी के चरित्र भी विश्वनाथ की कल्पना मे सजीव बन जाते हैं। लका से वापस आते समय भी सीता, राम और लक्ष्मण अनसूया का आशीर्वाद लेने उनके आश्रम में थोडी देर के लिए ठहरते हैं। सिर से पैर तक सूखी सूरतवाली शबरी का स्नेहशील आतिथ्य राम और लक्ष्मण को ही नहीं, बल्कि सहृदय पाठकों को भी अपनी ओर खींच लेता है।

वस्तु-विन्यास, पात्र-सृष्टि और रस-सन्तुलन की भाँति विश्वनाथ की भाषा भी प्रौढ, परिमार्जित और प्रसगोचित है। विश्वनाथ के समालोचकों को बहुधा यह शिकायत होती है कि उनकी भाषा अक्सर दुरूह और बोझिल होती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रसग को देखकर विश्वनाथ की वाणी उपयुक्त शब्दों का अनायास चयन करती है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी कुछ कठिन शब्द आ जाएँ तो उसे कवि की विवशता समझना ही उचित है। इसके अलावा आदि-कवि की वाणी की रमणीयता कभी-कभी विश्वनाथ को परवश बना देती है। यही नहीं, तेलुगु साहित्य की हजार वर्षों की परम्परा का

भी लाभ उठाने के लिए सत्यनारायण कभी-कभी लालायित हो जाते हैं। कहीं नन्य भट्ट की प्रसन्न कथामाधुरी से वे अपनी रामकथा को रमणीय बनाना चाहते हैं तो कभी पोतन्ना की भक्ति भावना का स्मरण कर पुलकित और भावुक बन जाते हैं। कहीं भवभूति की भाव-विभूति से वे प्रभावित हो जाते हैं तो कभी अनर्घ राघव के असाधारण शब्द-सौष्ठव को अपने काव्य में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं।

यह कहना शायद सत्य से दूर नहीं होगा कि कवि-सम्राट् की काव्य-चेतना कभी-कभी विद्वत्ता के व्यामोह में पडकर विवश बन जाती है और कभी-कभी सहज सात्विक सरसता को पहचान कर प्रकृतिस्थ भी हो जाती है। पर इतना तो निर्विवाद है कि कवि-सम्राट् मूलत कवियों के सम्राट् हैं, कविता उनके जीवन की आलोक मधुर धारा है जिससे काव्यालोक एक विशिष्ट लोक का सृजन अपने आप और अपने लिए कर लेता है। इसलिए उनकी कविता में पूर्ववर्ती कवियों की प्रतिभा का सार और परवर्ती कवियों की सम्भावनाओं का बीज एक साथ मिल जाता है। वर्तमान शताब्दी का यह सौभाग्य है कि सौ वर्ष की इस अवधि में लगभग सात दशकों को अपनी एकान्त काव्यसाधना से अभिषिक्त करने वाले विश्वनाथ जैसे काव्यतीर्थ इस शतक को प्राप्त हुए हैं। ऐसे वाङमय तपस्वी इस ससार में बहुत कम आते हैं, आते हैं, तो जाते नही।

— डॉ पाडुरग राव

कृतियाँ

काव्य कृतिया

आन्ध्र पौरुषमु	१९१८
आन्ध्र प्रशस्ति	१९२०
श्रृगार वीथि	१९१९-२२
भ्रष्ट योगि	१९१६-२६
गिरिकुमारूनि प्रणय गीतालु	१९२४-२८
मा स्वामि	१९२९
ऋतु सहारमु	१९३३
वरलक्ष्मी त्रिशति	१९३४
शशिदूतमु	१९३४
गोपिका गीतलु	१९३४
गोपालोदाहरणमु	१९३४
झाँसी राणि	१९४०
प्रद्युम्नोदयमु	१९४८
विश्वनाथ मध्याक्करलु	१९५५
विश्वनाथ पचशति	१९५८
रामायण कल्पवृक्षमु	१९३३-६१
भ्रमर गीतलु	१९६६
कुमाराभ्युदयमु	१९६८
रूरू चरित्रमु	१९६९
कृष्ण सगीतमु	१९६९
कुमाराभ्युदयमु	१९६८
रूरू चरित्रमु	१९६९
कृष्ण सगीतमु	१९६९

गीत काव्य

कोकिलम्म पेंड्लि	१९२४
किन्नेरसानि पाटलु	१९२४
पामु पाट	१९४०

नाटक

अवतार परिवर्तनमु	१९१८
सौप्तिक प्रलयमु	१९१९
धन्य कैलासमु	१९२०
नर्तनशाला	१९२४
अनारकली	१९३४
वेनराजु	१९३४
त्रिशूलमु	१९३५
काव्य हरिश्चन्द्र	१९४०
वेद हरिश्चन्द्र	१९४०
अता नाटकमे	१९५७
प्रवाहमु	१९५८
तेलुगु साहित्य पर दस रूपक	१९६२
सत्याग्रहमु	१९६३
लोपला-बयटा	१९६३

समालोचना

नन्नयगारि प्रसन्न कथा	१९३८
अल्लसानि वानि अल्लिका	१९३८
शाकुतलमु योक्क अभिज्ञानता	१९४०
साहित्य सुरभि	१९६९
नाचन सोमना	१९७०
साहित्य मीमासा	१९७०
काव्य परीमलमु	१९७०

उपन्यास

(क) सास्कृतिक

अतरात्मा	१९२०
मुद्दुतरालु	१९३२
हाहा हूहू	१९३२

वेयि पडगलु	१९३३
(ख) सामाजिक	
वीर वल्लडु	१९३०
देवतल युद्धमु	१९४०
परीक्षा	१९४०
मा बाबु	१९४१
चेलियलि कट्टा	१९४२
जेबु दोगलु	१९४६
कुणालुनि शापमु	१९४८
स्वर्गानिकि निच्चेनलु	१९४८
तेरचि राजु	१९४८
शार्वरि नुडि शार्वरि दाक	१९६२
नीला पेड्लि	१९६२
गगुलि प्रेमकथा	१९६३
(ग) ऐतिहासिक	
एकवीरा	१९१९
कडिमि चेट्टु	१९४३
धर्मचक्रमु	१९४५
बद्दन्न सेनानि	१९४५
भगवतुनि मीदि पगा	१९५६
नास्तिक धूममु	१९५७
धूम रेखा	१९५७
स्नेह फलमु	१९५८
पुलि म्रुग्गु	१९५९
चद्रगुप्तुनि स्वप्नमु	१९५९
नदी राजा भविष्यति	१९५९
अश्वमेधमु	१९६०
निवेदिता	१९६०
हेलेना	१९६०
वेदवति	१९६०
नागसेनुडु	१९६०
अमृतवल्लि	१९६०
यशोवति	१९६२
मिहिरकुलुडु	१९६२
कवललु	१९६२
पातिपेट्टिन नाणेमुलु	१९६२
भ्रमर वासिनि	१९६२
प्रलय नायडु	१९६३
सजीवकरणि	१९६३
दिडु किंदि पोक चेक्क	१९६४
चिट्ली चिट्लनि गाजुलु	१९६४
सौदामिनि	१९६३
ललिता पट्टणमु राणि	१९६६
दूतमेघमु	१९६६
दतमु दुव्वेन	१९६६
चदवोलु राणि	१९६९
(घ) राजनीतिक	
पुलुल सत्याग्रहमु	१९५२
वल्लभ मत्रि	१९५६
समुद्रमु दिब्ब	१९५८
दमयति स्वयवरमु	१९६२
(ङ) व्यग्यात्मक	
विष्णुशर्म इग्लीषु चदुवु	१९६२
(च) विविध	
म्रोयु तुम्मेद	१९५९
आरु नदुल	१९६२
बाणावति	१९६३
पुनर्जन्म	१९६४
कहानियाँ	
चिन्न कथलु	१९१९-३४
सस्कृत काव्य	
शिव पचशती	१९४६
देवीत्रिशती	१९५६
शारदा चद्रमौलिसुप्रभातम्	१९६१
गुरूपदेशम्	१९६८
सस्कृत नाटक	
अमृतशर्मिष्ठम	१९५८
गुप्त पाशुपतम्	१९७१

अभिभाषण के अंश

आप, सदा हम कवियों की स्तुति-प्रशस्ति के लिए तत्पर रहते हैं और उसी प्रकार हम कविगण आपके महिमा-सवर्धन को उत्कण्ठित। यह न्याय सगत ही है।

इसी कारण मैं विश्वनाथ सत्यनारायण अपनी प्रशसा-प्रतिष्ठा और प्रफुल्लता को आप सब के अतस् में विराजमान कवियो के हर्षोल्लसित मन की वाछित कामना-पूर्ति की घोषणा मानता हूँ। यह प्रतिफलन आपके और मेरे दोनो के लिए आनन्दमय वरदान है।

'शब्द ओठों पर आये और कविता मे तुतलाये'– यह पक्ति मुझ पर लागू हो सकती है। पालने से उतरते ही मैं तुकबन्दी करने लगा था। अपने जन्म के गॉव से चालीस मील दूर मछलीपट्नम् मे मैं तीसरी श्रेणी मे पढता था। जब मेरे पिता जी मुझ से वहाँ मिलने पधारे तो उन्होने मुझे उसी तरह कविता गढते पाया। वे क्रोध से भर उठे।

मेरे पिता तेलुगु के विद्वान् थे। महाभारत और भागवत उनकी उँगलियों की पोरो पर थे। शायद उन्हे लगा कि यदि मुझे तुकबन्दी करने की धुन लग गयी तो मैं भी एक दिन वैसा ही भिखारी कवि बन जाऊँगा जैसे बहुधा उनके पास आया करते थे। धमकी दी गयी कि मुझे अँगरेजी अध्ययन सीखने को तिलाजलि देनी होगी।

मेरी और उनकी सन्धि हो गयी। यदि मुझे कविता ही चीतना है तो मेरा उद्देश्य होना चाहिए कि मैं तेलुगु में रामायण लिखूँ।

सम्भवतया तेलुगु के पुराने रामकाव्य जो उस समय उपलब्ध थे, पिता जी को पसन्द नहीं थे।

इस प्रकार पिता जी के सम्मुख मैंने यह पवित्र प्रतिज्ञा की कि यदि मेरी क्षमता इस स्तर की हो पायी, तो मैं तेलुगु रामायण का सृजन करूँगा। मैंने यह प्रतिज्ञा १९१३ मे की थी और १९३४ मे मैंने 'रामायण कल्पवृक्षमु' लिखना आरम्भ किया।

इक्कसी वर्ष का अन्तराल!

विद्यार्थी काल मे मुझे तेलुगु के प्राचीन साहित्य के उच्चस्तरीय अध्ययन-मनन का समुचित अवसर प्राप्त हुआ। मेरे गुरुजी श्री वेकट शास्त्री की विद्युत्-ऊर्जा जैसी उपस्थिति ने मछलीपट्नम् के वातावरण को इस प्रकार के अध्ययन के अत्यन्त अनुकूल बना रखा था।

तेलुगु भाषा मे रचना करने वाले सैकडो कवि हैं। किन्तु प्रवीण कवि-गुरु केवल आठ-नौ हैं। उन्होने कवि-गुरु की पदवी कैसे प्राप्त की? इसका रहस्य क्या है?

हमारे साहित्य मे किसी कवि-गुरु की शैली के अनुरूप लिखने वाले को महान् कवि कहा जाता है। किन्तु कवि-गुरु किनकी शैली अपनाते हैं?

अत मैं अपनी रामायण का सृजन यदि करूँगा तो अपनी ही निजी शैली मे।

किन्तु ऐसा कर पाना सहज कार्य नही है। मैंने एक लाख पद्य लिखे। उन्हे फाड डाला और जला दिया।

तब एक समस्या और उभरी। वे सृजेता-गुरु सस्कृत के महान् विद्वान थे। मेरे लिए सस्कृत भाषा का उतना ही ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो गया जितना तेलुगु-भाषा मे विज्ञ लेखक होने के नाते आवश्यक था।

मैंने सस्कृत मे रचित काव्य, नाटक और सस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया।

पर प्रश्न था कि मैं इस लम्बी यात्रा मे किसी पडाव तक पहुँचा हूँ या नही? मैं बहुलता से कविता-रचना करता रहा और स्थानीय

पत्र-पत्रिकाओं मे भेजता रहा। उस समय के सम्पादकवृन्द ने मेरी कविताओ की सराहना की और कविताएँ पाठको के मन भायी।

इसके उपरान्त मैंने कई काव्य लिखे। देश मे उन का स्वागत हुआ। १९२६-२७ के आसपास मैंने स्वय को समसामयिक दिग्गज् लेखको की अग्रिम पक्ति मे खडा पाया।

क्या मैं अब अपनी रामायण रचना प्रारंम्भ करने की स्थिति मे हूँ? मैंने "वाल्मीकि" की झाँकी ली।

इस महान् कथा के प्राथमिक सर्वेक्षण मे मुझे लगा कि वाल्मीकि ने रामायण की रचना मुख्यतया सीता की कथा का मूलगाथा मानकर की। इस तथ्य ने मुझे चकित किया।

रामायण तो राम और सीता की समान-प्रवाही कथा है? कैसे?

प्रारम्भिक पाठ म ही वाल्मीकि-रामायण ने मेरे सम्मुख तीन विराट् प्रश्न प्रस्तुत किये।

प्रथम रामायण स्वय भेद है। आह! अन्ततोगत्वा रामायण मे दोनो की कथा है, राम और सीता की। अत रामायण वेद भी है और काव्य भी। इन दोनो कोणो को दृष्टि मे रखकर रचना-कार्य की साधना दोहरे रूप से कठिन हो जाती है।

द्वितीय वाल्मीकि परमानन्द समाधि मे उतर जाते थे और उनके मुख से प्रत्येक श्लोक ऐसा झरता था कि वह अर्थ-गाम्भीर्य से परिपूर्ण होता।

तृतीय स्वय भगवान् ने अवतरित होकर उन्हे निर्देश दिया था कि वे राम-कथा लिखे।

इस प्रकार तीन प्रमुख प्रश्न उपस्थित थे।

प्रश्नो का उत्तर खोजता मैं कई विद्वानो के पास पहुँचा। और मुझे प्रकाश प्राप्त हुआ। आदिकवि जिस परमानन्द समाधि मे खो जाते थे वह रस-तल्लीनता की अवस्था है।

प्रथम बार भरत मुनि ने, तदुपरान्त सस्कृत वाङमय कोविदो ने कहा है कि रसतल्लीनता जीव और आत्मा की वह तडित विच्छेद अवस्था है जिसमे जीव कामना और आसक्ति से उठकर अनुभवातीत अवस्था में पहुँच जाता है। काव्य का अन्तिम लक्ष्य, पाठक को उसी रसानुभूति की परमानन्द अवस्था मे ले जाना है।

निश्चय किया कि मैं भरत मुनि और सस्कृत वाग्मियो का अध्ययन करुँगा।

यदि रामायण वेदो का सार है, तो मुझे वेदों, उपनिषदो, उनके भाष्यो और षटदर्शनो का समुचित ज्ञान चाहिए और साथ मे मन्त्रशास्त्र, श्री विद्या और वेदागो की जानकारी भी।

और यदि रामायण काव्य भी है तो क्या इसकी रचना-क्षमता के लिए ससार के किसी भी लेखन मे वचित रहना उचित है? सर्वप्रथम है ससार, सृष्टि, मानव-प्रकृति, फिर इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, वन-गाथा, ज्योतिष-शास्त्र व अनेक अन्य विषय। इसलिए रामायण-रचना प्रारम्भ करने से पहले मैंने सब विषयो का किञ्चित् ज्ञान अर्जित किया।

तत्पश्चात् मैंने पश्चिमी विज्ञान और दर्शन का अध्ययन किया और डारविन के सिद्धान्त को सविस्तार पढा। रामायण मे कूट-नीति और सैन्य-सचालनशास्त्र तो सन्निहित है ही, मैं यह नहीं कह सकता कि वैमानिकी तथा उड्डयन-विद्या का भी समावेश नही है।

और फिर? सन्त कवि को तो ब्रह्मा ने रामायण-सृजन की अनुमति दी थी। मैं यह कैसे प्राप्त करूँ?

ब्रह्मा और देवताओ ने मानवीय इच्छापूर्ति के हेतु पृथ्वी पर अवतरित होना दीर्घकाल से छोड दिया है। किन्तु शास्त्रो मे लिखा है कि केवल मन्त्र और जप ही भगवान् को रिझाने मे समर्थ हैं।

मेरे पिताजी का स्वर्गवास १९२७ मे हो गया। उससे पहले मैंने अपनी समस्या उनके सम्मुख रखी थी। चार-पाँच वर्ष पहले उन्होने मुझे दो मन्त्र दिये थे, उनका आदेश मिला कि मैं फिर उन्ही मन्त्रो का सहारा लूँ।

किन्तु वाल्मीकि तो तपस्वी थे। तपस्या क्या है। झूठ न बोलना तपस्या है। निर्धन और साधनहीनो

के हेतु अपनी धन-सम्पत्ति से विलग हो सकना तपस्या है। अपने आन्तरिक कामनावेशो पर प्रभुत्व रख पाना तपस्या है। वेदो का पठन तपस्या है। क्रोधावेश के विस्फोट को नियन्त्रित कर लेना तपस्या है। और, दयनीय बात यह है कि अनेक-अनेक प्रयत्नो के बावजूद भी मैं अन्तिम दुर्बलता पर विजय न पा सका, यद्यपि अन्य दुर्बलताओ पर विजय पाने मे बहुत सीमा तक सफल रहा।

रामायण लिखने के हितार्थ सब कुछ साथ लेने के पश्चात् भी, एक प्रश्न शेष रह गया कि रामायण मुख्यरूपेण सीता-कथा है। मैंने नाग-पूजक सम्प्रदाय के सिद्ध अनुयायियो से भेट की और उन्होने मुझे सीता-माँ के रहस्य में दीक्षित किया।

प्रत्येक मजिल पर पहुँच कर मुझे लगता था कि मैं अब रामायण लिखने योग्य हो गया हूँ। किन्तु फिर देखता कि मजिल की राह मे नित नये रोडे बिछे हैं।

कला क्या है? विद्या या शिल्प क्या है? इनको कैसे प्रयोग मे लाऊँ? उनसे परिचय किस प्रकार प्राप्त करूँ?

सस्कृत और तेलुगु साहित्य की शास्त्रीय रचनाओ की यात्रा मे मुझे उन वस्तुओ का दर्शन हुआ।

साहित्य आलोचना मे 'कला और शिल्प'—ये दोनो शब्द उलझे हुए अर्थो मे प्रयुक्त हुए हैं।

किन्तु मेरे कानो मे यह बात सदा डाली गयी थी कि अँगरेजी के लेखक महान् कलाविद हैं। उस समय तक मैं ग्रेजुएट हो चुका था। तदुपरान्त मैंने अँगरेजी लेखको को पढा, युरोप का साहित्य, ग्रीक नाटक और बहुत से अन्य लेखको को अनुवाद रूप मे पढा। और बहुलता से पढा।

कला या शिल्प—ये रहे अपनी जगह। महा-प्रवीण लेखको मे यह वस्तु पायी जाती है और उनसे सीखी जा सकती है। मैंने सोचा कि मैं इस दिशा मे अपने निजी मन्तव्य का ही आधार लूँगा।

पर, जितना ही मैं रामायण को पढता उतना ही विस्मित रह जाता। उसमे अनगिनत कथाएँ गुँथी हुई हैं। वे क्या है? प्रत्येक कथा का क्या अर्थ है और क्या यह रहस्य? यह सब समझे-बूझे बिना मैं कैसे आगे बढूँ?

लोकातीत और धार्मिक अर्थो से परे उस कथा के वर्णन मे ही सैकडो प्रसग और दृष्टान्त भाव-बद्ध हैं। कोई एक घटना विशेष क्यो और किसी विशेष स्थल पर ही कैसे घटित हो? केवल विद्वत्ता-भर काम न आयेगी। जितना अधिक मैं रामायण को पढता उतना ही भयभीत हो उठता।

क्या मेरे अग्रजजन इन सब बातों से अनभिज्ञ थे? इन सबके 'क्यों' से क्या मैं अपने प्रयत्न से हाथ धो लूँ? मैंने अपने पिताजी से पवित्र प्रतिज्ञा की थी। उसे तोड देना पाप होगा। मेरे हृदय को एक टीस ने मथा। मुझे लगा कि एक अनिवार्य बाध्यता प्रेरित कर रही है 'रामायण लिखो, तुम जीवन के उच्चतम उत्कर्ष को अनुभव करोगे।'

इससे पहले ही मेरी सारी पैतृक सम्पत्ति तिल-तिल करके नि शेष हो चुकी थी। मैं लगभग भिखारी था। मेरे पिता जीवित नही थे। एक बडे कुटुम्ब के पोषण का भार मुझ पर आ पडा। यह कहना व्यर्थ होगा कि मैंने क्या कष्ट सहे और क्या नही सहे।

लडकपन और किशोरावस्था मे मैं दुर्बलकाय था। मेरा निर्बल शरीर प्रत्येक अनुभूति से काँप जाता था। खून का दौरा तेज हो जाता। कर्कश ध्वनि, अशुभ बोल, या विकृत सत्य, जान-बूझकर की गयी खोट- सब मेरे खून को खौला देती थी। इस प्रकार के अनुभव अब नये नही हैं। सब मुझे हो चुके थे। शायद जब भगवान् ने मुझे गढा तो साँचे मे भावना का अतिरिक्त सवेदन और कल्पना-शक्ति का चरम अवदान भर दिया। मैं नितान्त साधारण-सी बात को विचारता और सोचता रह जाता। जीवन जीने मे इन बातो ने बहुत दु ख दिया। दुर्भावना से कहा गया एक शब्द या जान-बूझकर जोर से कहा गया असत्य मुझे क्रोध से पागल कर देता था। इस कारण लोग मुझे बुरा भी समझते। किन्तु मेरी यही दुर्बलता,

कविता-रचना के समय एक वरदान बन जाती।

मैंने इनमें से कुछ प्रवृत्तियों को आदर्शवादी रूप में स्थापित किया। तेराचीराजू में मैंने 'एकवीरा' और 'वासन्ती' का सृजन किया। पुराणवैर ग्रन्थमाला के अन्तर्गत एक उपन्यास 'वेदवती' में मैंने एक और प्रवृत्ति को आदर्शवादिता प्रदान की। और अन्त में अपनी रामायण के 'भरत' को मैंने इन सब प्रवृत्तियों का सार रूप बनाकर गढा।

और एक बात अनकही रह गयी। मेरा स्वभाव है कि मैं सोचा करता हूँ और निष्फल सोचता हूँ। किन्तु यही चिन्तन जब उच्चस्तरीय होता है तो बहुत से छिपे रहस्यों का उद्घाटन करता है और उसमें से नये चरित्र, नयी कथाएँ और नये भावार्थो का जन्म होता है।

उस समय मेरे भीतर एक स्पष्ट अनुभूति उदय हुई कि प्रभु श्री रामचन्द ने मुझे प्रेरित किया है कि मैं रामायण लिखने बैठ जाऊँ।

शायद प्रभु को लगा कि मैं एक विशेष अनुभव में से नहीं गुजरा हूँ उन्होंने मेरी पत्नी का जीवन ले लिया, जिससे मैं विरह की पीडा अनुभव कर सकूँ।

सो ठीक ही है। मैंने अपनी रामायण-रचना प्रारम्भ की। बालकाण्ड के २००० मे से १६०० पद लिखे। मूलरूप से २००० पद प्रत्येक खण्ड के अनुमानित थे।

मेरे बक्से मे आठ या नौ अप्रकाशित साहित्यिक कृतियाँ पडी थीं जिनके चार-पाँच वर्ष बाद छपने पर तथा पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित लेखो के कारण दुगुनी-तिगुनी प्रसिद्धि अर्जित हुई।

दुर्भाग्य भी एक विचित्र वस्तु है। यह वही चोट करता है जहाँ पहले घाव हो। मेरा काम भी छूट गया। तब मैंने तेलुगु-भाषी देश का भ्रमण किया। मैं अपनी कविताएँ सुनाता, साहित्यिक वार्ताएँ करता, और दर्शकों के मस्तिष्क मे ऐसे नये आयामों का दृश्य-पट खोलता जिनके द्वारा वे शास्त्रों मे चित्रित अपने धर्म के रहस्यो मे प्रवेश कर पाते। उनके मन महान् कला के उन क्षेत्रो में प्रसार पाते जो हमारे प्रतिष्ठित लेखको की तेलुगु व संस्कृत की कृतियों में समाविष्ट हैं। हर स्थान पर मुझे स्वागत मिला।

हाँ, तो प्रत्येक बार घर आओ और उनके पेट-पालन का प्रबन्ध कर जाओ जो मेरे लौटने की राह ताक रहे हैं।

मैं जब उन पूर्वकृतियों को ही नहीं छाप सका तो फिर अपूर्ण बालकाण्ड को तो कैसे छपवाता, जब कि उसे पूरा करना भी शेष था।

१९४० में एक महानुभाव से भेट हुई जो मेरी रामायण छपाने को तैयार था। वह मुखत्याला के जमींदार के पुत्र हैं, उनकी आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले में छोटी-सी जमींदारी है। मैंने बालकाण्ड समाप्त किया।

मेरे बिना जाने, और मेरे अनबूझे, एक ऐसी अनुभूति घटित हुई जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है। और, वह यह कि मैं अपनी इच्छानुसार जब चाहता, रामायण नही लिख पाता था।

उस समय तक मैं कई नाटको, उपन्यासों, कहानियों, आलोचनात्मक निबन्धों एव भिन्न-भिन्न प्रकार की छोटी-बडी कविताओ का रचनाकार हो चुका था।

किसी भी पुस्तक का लेखन मुझे एक सप्ताह या दस दिन से अधिक व्यस्त नही रख सकता था। स्वाभाविक ही उसके बाद मैं अपनी अभ्यस्त प्रच्छन्नता मे लौट जाता था। किन्तु रामायण के साथ ऐसा न कर सका। राम इतने हठी थे कि एक क्षण को भी टस से मस नही होते थे।

१९६१ मे मैंने नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। अब मैं पहले जैसा भिखारी नही था।

आन्ध्र सरस्वती की सेवा, पुस्तको की बिक्री, और तेलुगु-भाषी प्रान्त मे प्रत्येक स्थान पर दिये गये सैकडो अभिनन्दनों ने मुझे रोटी-पानी की चिन्ता से मुक्त किया।

मेरी आयु सत्तर वर्ष की हो गयी थी, फिर भी मेरे शत्रु साथ-माथ दौड लगा रहे थे। किन्तु मैं कभी भी उम वर्ग का न हो सका जो प्रतिशोध को अपना धन्धा बना लेते हैं। जहाँ तक हो सका मैंने

औरों की सहायता की और कभी किसी को हानि नहीं पहुँचायी।

१९६१ एक प्रात वायु में स्पष्ट शब्द मुखरित हुए—"रामायण लिखो, पुन लेखनी उठाओ।" ये शब्द मैंने सुने।

अदृश्य दिव्य आदेश था। युद्धकाण्ड अलिखित था। युद्धकाण्ड के २००० पद चार-पाँच महीनो मे लिखे गये। कथानक मे भरत अग्नि-चिता मे कूदने को तैयार थे। ऐसा होगा यह श्रीरामचन्द्र से प्रतिज्ञा हुई थी यदि वह नियम तिथि तक वापिस नही आये। श्रीराम को लौटते समय मार्ग मे विलम्ब हो गया था, इसलिए उन्होने आजनेय को आगे भेज दिया। भरत भावाभिभूत मूर्छावस्था मे थे। अगले क्षण वे अग्नि-चिता मे कूद जाते। केवल आजनेय ही को पता था कि इस दुर्घटना को कैसे रोका जाये।

कुछ दूर ही से आजनेय ने श्रीरामचन्द्र के अयोध्या लौटने का गायन प्रारम्भ कर दिया। हनुमान विचक्षण गायक, विद्वान् और महान् कवि थे।

भरत के आध्यात्मिक और बौद्धिक सन्तुलन को उस गायक ने बेधा। भरत के मुख से एक ध्वनि प्रस्फुटित हुई। भरत की उस मुख-ध्वनि की मैंने मत्तेभ छन्द मे रचना की। तीन पक्तियॉ लिखी गयी, कितु चौथी अवतरित न हुई। वह प्रसव-पीडा थी , लगभग मेरे हृदय के टूटने की कहानी। आँसुओ की धार झर-झर बह रही थी। चौथी पक्ति नही आयी।

विवश होकर मुझे प्रयत्न छाडना पडा। मृत्यु नही आयी तो इसलिए कि वह घटित नही हुई।

देर बाद मुझ ऐसी प्रतीति हुई कि चौथी पक्ति पहले से ही लिखी हुई है। मैंने पूरे पद को पढा और पूरा पद लिख गया। यह वर्णनातीत अनुभव मुझ पर छा गया। मैं जानता हूँ कि वेदों मे इसका उत्तर है।

अब मैं लगभग अपने भाषण के अन्तिम स्थल पर आ गया हूँ। मेरे पिता की आत्मा को, यदि वह अभी तक परमात्मा में समाहित नहीं हुई है, तो सन्तोष की प्राप्ति होगी और वह श्रीरामचन्द्रजी के वरदान-स्वरूप परमानन्द की अनुभूति करेगी।

जितने समय तक मैं उनकी कथा लिखता रहा, श्रीराम ने जो मेरी सहायता की वह प्रभूत थी। महान् कार्य समाप्त हुआ। मैंने सोचा मैं कृतकृत्य हुआ। किन्तु भगवान् की महिमा अनिरुपित है। उनके हिसाब-किताब का ढग निराला है।

एक लाख रुपये का यह पुरस्कार जैसे श्रीराम ने मुझे अपनी कथा लिखाने का पारिश्रमिक दिया , जिसका आधा भाग उन्ही को अर्पित है। पिताजी द्वारा निर्मित विश्वेश्वरनाथ का मन्दिर खण्डहर हो रहा है , उसके पुनरोत्थान की आवश्यकता है। और रामायण का एक चारू-सस्करण भी प्रकाशित होना आवश्यक है।

और, वे सब व्यक्ति जिन्होने मेरी किशोरावस्था से लेकर अब तक 'रामायण कल्प-वृक्षमु' के प्रति अपनी सामर्थ्यानुसार जो कुछ भी किया है, इस कल्पवृक्ष की छाया मे विश्राम करे। न केवल इस कल्पवृक्ष की छाया मे, बल्कि प्रभु के गरुडात्मन् रथ की शीतल छाया मे, जिसके पखो की परत पर परत आत्मतत्त्व से सपूरित है, जिसके नयनो मे मरकतमणि जडे हैं, जिनके बीच मे अग्नि-शिखा दीप्त है

हमारे देह अन्तत परिणत हो आत्मरूप,
तप से सशुद्ध, ऊर्ध्वगामी
क्योकि हम हैं अवकाश-तत्त्वीय।

विष्णु दे

प्रशस्ति
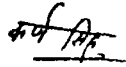
भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७१ के वर्ष का साहित्य-पुरस्कार कविश्री विष्णु दे का उनके काव्य-सग्रह 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६० से १९६४ के बीच प्रकाशित भाषाओ के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

'स्मृति सत्ता भविष्यत् की कविताएँ उस चेतना की अभिव्यक्ति हैं, जिसने उपनिवेश-युगीन भारत एव बगाल की सस्कारच्युत सवेद्यता का अतिक्रमण कर समग्र-मानव के बोधभाव में प्रवेश किया जहाँ अतीत की स्मृतियाँ, वर्तमान की सत्ता और भविष्य की खोज तीनो सहजीवी बनी हुई समायी हैं। इन कविताओ मे गीतिकाव्य और महाकाव्य का, पावन और अपावन का, सहज एकीकरण हुआ है और, 'मै' और 'तू' उनके साथ हाथ मे हाथ डाले सहगमन करते हैं जो 'वे' हैं इतिहास के निर्माता, श्रमजीवी जनसमूह।

विष्णु दे के कवि का विकास एक ऐसी सवेदना के प्रादुर्भाव का द्योतित करता है जो विशिष्ट वैयक्तिक होते हुए भी सार्वभौम है, किन्तु साथ ही जो उस जनता मे, उसकी विकृति-परिष्कृति और सहज लोकरीति में बद्धमूल है जिसकी भाषा का प्रयोग उन्होंने परम्परा और व्यक्तिगत प्रतिभा की अनवरत क्रिया-प्रतिक्रिया के सवहनार्थ किया है। उन्होने रोमानी सौन्दर्यबोध से दूर रहकर अपनी स्वर-सामजस्ययुक्त काव्य-सरचना में प्रकृति, चारुता अनुराग और श्रम के समन्वय से एक अत्यन्त करुण छवि अकित की है। यही वह छवि भी है जिसमे समकालीन राष्ट्रीय प्रयास के लिए अभीष्ट सन्देश निहित है।

दीर्घजीवी हों कवि और देते रहे वाणी जनमानव की प्राणपीडा और अभीप्सा को।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्ष
१० फरवरी, १९७३	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

विष्णु दे

बांग्ला साहित्यकार विष्णु दे (१९०९-१९८४ ई) के काव्य-जीवन की शुरुआत निजी पीडा और एकान्त के दश से शुरू हुई। उनका यह निजत्व निसग, जो अपने एकाकी स्वभाव से जुडा था, धीरे-धीरे निसर्ग मे विसर्जित हो गया। अपने आरम्भिक लेखन के दौर मे स्वय को प्रकाशित करने की भावना का जहाँ अभाव था—वहाँ उस गोपन मे भी—अस्तित्व को जुगाये रखने का सकट आडे आ गया। आत्म सचेतन होने की प्रक्रिया मे जहाँ वह टी एस एलिएट से जुडे वही प्रमथ चौधुरी (१८६८-१९४६) की रचनाओ ने भी उन पर गहरा प्रभाव डाला। लेकिन आत्म सजगता और वृहत्तर ऐतिह्य-बोध उन्हे किसी भी सीमा रेखा में या प्रभाव-वृत्त मे बाँध या समेट न पाया। उन्हे ऐसा जरूर लगने लगा था कि 'मनुष्यो के जगल मे एक परदेसी सैलानी' की तरह वह अपने आत्म-प्रत्यय के लिए भटक रहे हैं। यही भटकाव और तलाश उन्हें मार्क्सवाद के निकट ले आयी और तब उन्हे प्रतीत होने लगा कि उनके कवि व्यक्तित्व को आशिक आश्वस्ति मिली है। यह वह दौर था जब 'उर्वशी और आर्टेमिस' (१९३३) तथा 'चोरा बालि' (१९४७) की कविताएँ लिखी जाने को थी। स्वाध्याय के प्रति गहरी रुझान और सामाजिक दायित्व-बोध के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा ने उनके आत्म ससार को और आदिगत व्याप्त चेतना मे जुडे विचारो ने स्वभावत और अनिवार्यत उन पर प्रभाव डाला, जो उनकी काव्य-मनीषा की अपरिहार्य अग बन गयी। इस विचार सरणी मे उनके साथ और भी कई कवि सम्मिलित थे, जिनमे अरुण मित्र (जन्म १९०९) और सुभाष मुखोपाध्याय (जन्म १९१९) प्रतिनिधि नाम हैं, और जिनकी लेखनी आज तक सक्रिय है।

तत्कालीन साहित्यिक मच पर अपने लेखक मित्रो और समकालीन कवियो के साथ दीखते हुए भी विष्णु दे सबसे अलग रहे। अपनी आरम्भिक रचना, जो कि एक कहानी थी 'पुराणेर पुनर्जन्म या लक्ष्मण' शीर्षक से (ढाका से प्रकाशित प्रसिद्ध साहित्य पत्रिका 'प्रगति' मे) १९२८ मे छपी थी। इसके बाद १९३१ मे 'परिचय' के प्रथम अक मे ही उनकी दो कविताएँ छपी थीं। इसी अक मे मार्सल प्रूस्त की एक कविता का अनुवाद भी छपा था। 'उर्वशी और आर्टेमिस' इस काव्य-रूपक से ही स्पष्ट है कि काव्य-चेतना के स्तर पर वे नवीन प्रयोगो के पक्षधर थे। उर्वशी इन्द्रलोक की प्रसिद्ध

अप्सरा थी जो शापवश भूलोक मे पुरुरवा की प्रेयसी और पत्नी बनकर रही और केन्द्रीय पात्रा के रूप मे इस पर कई कृतियाँ लिखी गयी। 'आर्टेमिस' ग्रीक गाथा की एक प्रसिद्ध पात्रा थी, जो अपने भाई अपोलो के साथ ओलिम्पस के प्रमुख बारह देव-देवी मडल मे प्रतिष्ठित थी और जिसने अक्षत कुमारी बने रहने का वरदान पाया था। वह आखेट की देवी के रूप मे भी मान्य है। इस अपूर्व सुन्दरी को झील मे विवस्त्र देख पाने का सौभाग्य ऐक्टेयॉन को मिला था लेकिन वह आर्टेमिस के शाप से हिरण मे परिणत हो गया। उस पर शिकारी कुत्तो ने धावा बोल दिया और जो उसे चीर-फाडकर खा गये। इस विवरण से स्पष्ट है कि समानान्तर मिथको के विनियोग द्वारा विष्णु दे अपनी काव्य-चेतना को सार्वजनिक विस्तार देना चाहते थे और अपने समकालीनो से विशिष्ट होने की तैयारी मे उनके अपने स्वभाव और स्वाध्याय ने भी बहुत योगदान किया और इससे उनकी आत्मोन्मुखी वृत्तियो को समुचित विस्तार भी मिला।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१-१९४१) और काजी नजरुल इस्लाम (१८९९-१९७६) जो क्रमश भारतीय मनीषा के सस्कृति पुरुष तथा सामाजिक चेतना के प्रतीक और 'अग्निवीणा' वादक थे, ने विष्णु दे को प्रभावित अवश्य किया था लेकिन यह प्रभाव आशिक ही था। इस बात पर उनके आलोचको मे बहस की जाती रही है कि स्वय रवीन्द्रनाथ को विष्णु दे ने कहाँ तक और कितनी दूर तक सराहा था। विष्णु दे ने अपने यौवन मे ही इस बात को लक्ष्य किया था कि 'कल्लोल गोष्ठी' के कवि-आलोचको और समर्थको द्वारा रवीन्द्रनाथ के मूर्तिभजन का प्रयास किस तरह एक षड्यन्त्र मे बदल चुका है और रवीन्द्रनाथ इससे बुरी तरह आहत भी थे। लेकिन अपने स्वभाव के अनुरूप अस्तित्ववादी दर्शन से जुडे रहने और इसके प्रवक्ता होने के कारण और अन्यान्य दर्शनों या मतवादो (यथा अद्वैत और विश्व-मानवतावाद) के पुरोधा एव प्रशसक होने के नाते रवीन्द्रनाथ विष्णु दे के लिए सदैव आदरणीय बने रहे। अपने युवोचित उत्साह मे अन्य कवियो की तरह उन्होने रवीन्द्रनाथ की सार्वभौमिक और सार्वकालिक उपस्थिति की सवर्धना की। बाद में अपने एक काव्य-सकलन 'तुमि शुधु पँचिसे बैसाख' (१९५८, 'क्या तुम केवल बैशाख माह की पचीसवी तिथि हो'—रवीन्द्रनाथ का जन्म दिन) मे उन्होने लोगों की उस मानसिकता का विरोध किया था जो कवियो का जन्मदिन मनाकर ही अपने कर्त्तव्य और दायित्व की इतिश्री मान लेते हैं।

अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियो के प्रशसक होने और उनका नैकट्य पाने के बावजूद विष्णु दे ने अपनी शर्तों पर एक कवि और समग्र कविशिल्पी का जीवन जिया। बाद मे, पॉल एलुयार, लुई ऑराग और पाब्लो नेरुदा की मानवतावादी और सघर्षशील चेतना ने विष्णु दे के काव्य-क्षितिज को और भी विस्तार दिया। लेकिन अपनी भारतीय पृष्ठभूमि—आधारभूत ग्रन्थो (जिनमे शास्त्र-पुराण, गाथाएँ सभी सम्मिलित हैं) का चिन्तन-मनन, उन्हे उन पौराणिक एव मिथकीय सन्दर्भों को और भी परिचित कराने मे सहायक हो सका जो साहित्य मे मूल्य, प्रतीक और अभिप्राय के बतौर बार-बार प्रयुक्त होते रहे थे। भारतीय मिथको के समानान्तर विश्व की विभिन्न सस्कृतियो मे प्राप्त गाथाओं और समानधर्मा दृष्टान्तो की पडताल से उनका काव्य-जगत् नयी उद्भावनाओ और सम्भावनाओ से व्यजित हो सका। समसामयिक राजनैतिक परिवर्तनो और सदर्शों से भी उनके परिचय का दायरा निरन्तर बढता गया। काव्य-प्रणयन के आरम्भिक चरण मे इन हवालों से बोझिल उनकी काव्य-पक्तियाँ अपने जटिल और सन्दर्भ-गझिन विधान से अपने पाठकों को अवश्य ही चमत्कृत करती थी। कहना चाहिए, आतंकित भी करती थी लेकिन १९५० में प्रकाशित 'अन्विष्ट' काव्य-सकलन की कविताएँ इन आयोजनो और उपक्रमो के जटाजाल से मुक्त जान पडती हैं। अपनी परवर्ती रचनाओ 'नाम रेखेछि कोमल

गान्धार' (१९५३), 'आलेख्य' (१९५८), 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' (१९६३), 'एकूश-बाइस' (१९६५), 'सेइ अधकार चाइ' (१९६६), 'रवि करोज्ज्वल निजदेश' (१९७३), 'ईशावास्य दिवानिशा' (१९७४), 'चित्ररूपमत्त पृथिवीर' (१९७६), 'उत्तरे थाको मौन' (१९७७) मे उनका स्वर क्रमश सयत, पारदर्शी और अनाडम्बरपूर्ण होता चला गया। इन सकलनों में उनका द्रष्टारूप अधिक मुखर है जबकि कविरूप अधिक मौन और गम्भीर।

अपने सरोकारों के प्रति चौकस लेकिन अपने इर्द-गिर्द चलने वाले छोटे-बडे साहित्यिक आन्दोलनों एव राजनैतिक धडो से अलग, विष्णु दे की काव्य-चेतना भूमि और भूमा को समर्पित रही। सामाजिक शोषण, अन्याय, श्रेणी विभाजन, वैषम्य आदि पर जहाँ वह करारा प्रहार करते हैं वहाँ काव्य की मर्यादाओं का भी बराबर ख्याल रखते हैं। उसे वे नारेबाजी और पार्टी का हलफनामा नहीं बनाते या पार्टी दफ्तर तक सीमित नहीं रखते। साथ ही, उन पर यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने सर्वहारा या आम जनता के हक की अनदेखी की—इस दृष्टि से उनकी सारी रचनाएँ शोषण, गरीबी, हताशा और वर्ग भेद के विरुद्ध आम आदमी के एकजुट होने का आह्वान करती हैं। इस अभियान-क्रम के दौर में ही कवि ने 'लाल तारा' जैसी कविता लिखी थी, जो उनके प्रसिद्ध काव्य-सकलन 'सन्द्वीपेर चर' में सकलित है। इसमे उच्चै श्रवा की हेषाध्वनि और पक्षीराज गरुड की उडान को प्रतीक रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस कविता को साम्यवादी विचारधारा की सशक्त एव प्रतिनिधि रचना के रूप मे देखा जाता रहा है लेकिन अपनी परम्परागत विजय यात्रा और देश के लोगों के जयगान को ही कवि ने सर्वाधिक महत्त्व दिया है—

"गिरी नहीं गिरेगी भी नहीं, तुम्हारे घोडे की नाल

"प्राणों के इस्पात से सुदृढ तुम्हारा अभियान—

भीरु बन्धुओं के देश में तभी तो

तुम्हारी उन दुर्जय भुजाओ ने गुजाया जयगान।"

(लाल तारा/सन्द्वीपेर चर)

ऐसी भाव-समृद्ध पक्तियों की सख्या न तो कम है और न उनमें दोहराव ही आया है। उनकी कविताओं मे जो वैविध्य है और जितने आयाम हैं वे पाठको और समीक्षको को सचमुच प्रसन्न आश्चर्य में डालने वाले हैं। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ युग की ठीक बाद वाली पीढी मे वे शीर्षस्थानीय कवि-चिन्तक के रूप मे समादृत हो सके। जब उनके समकालीन कुछ अन्य कवि इस जघन्य धरती पर व्याप्त निराशा, हताशा, स्वच्छन्दता के नाम पर आत्म-पलायन, मुक्ति के नाम पर विकृत यौनाचारो को प्रश्रय दे रहे थे और सारे मूल्यों की अवमानना का काव्योत्सव मना रहे थे उस समय विष्णु दे और उन सरीखे समाजचेता कवियो ने व्यक्ति और समाज की पीडा, आशा और आकाक्षा, ताप और अनुताप, दाह और दश को वाणी दी तथा सामाजिक न्याय के साथ व्यक्ति को उसके स्वतन्त्र आत्म-निर्णय के अधिकार से जोडा। लेकिन समान उद्देश्यो और साधनो क बावजूद ऐसे भी बहुत-से कवि थे जो अपनी-अपनी प्रतिज्ञा और प्रतिबद्धता के बावजूद अन्यत्र और अन्यथा व्यस्त होते चले गये। उदाहरण के लिए, सुधीन्द्रनाथ दत्त (१९०१-१९६०) जन-जन के आक्रोश से बचने की खातिर नेतिवाद के आश्रय में चले गये। बुद्धदेव बसु (१९०३-१९७६) कलावाद के अनन्य प्रवक्ता बन गये थे और कवि जीवन के अभ्युदय काल में उन्होंने जिन काव्य धारणाओं का सक्रिय विरोध किया था, क्रमश वे उन्हीं प्रस्थानों या अभिगमों की ओर लौट गये। अमिय चक्रवर्ती (१९०१-१९८६) ने काल की अखण्ड चेतना को निश्चित सदर्भो में एक सीमा तक पकडा था लेकिन बाद में विज्ञानवादी अवधारणाओं के साथ अतीन्द्रियता के तालमेल बिठाने के क्रम में उनके

काव्य की दिशा खो गयी , कहना चाहिए, दृष्टि खो गयी।

अपनी आरम्भिक रचनाओ से चर्चित हो जाने वाले विष्णु दे की 'अन्विष्ट' और 'आलेख्य' काव्य-कृतियो ने उन्हे बाड्ला काव्य-ससार मे पूरी तरह प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी परवर्ती रचनाओ मे उनकी सर्वश्रेष्ठ लम्बी कविता 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' को वर्ष १९७१ में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सम्मानित किया गया। इस सम्मान के पूर्व 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' काव्य-सकलन को वर्ष १९६३ की सर्वश्रेष्ठ बाड्ला कृति होने के नाते केन्द्रीय साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका था। इस सकलन मे कवि-मनीषी विष्णु दे की १९५५ से १९६१ तक की कविताएँ सकलित हैं। 'स्मृति सत्ता भविष्यत्' कविता जहाँ आधुनिक भाव-विचार-बिम्बों से समृद्ध है वहीं यह जातीय अस्मिता की पहचान का मुखर दस्तावेज है। इस कविता मे आत्म-परिचय के लिए सधान मे निकले कवि ने हमारी विडम्बनाओ और सामाजिक विवृतियों के ढेर सारे परस्पर विरोधी चित्र उकेरे हैं। कहना चाहिए कि इस कौशल से जुटाये हैं उनके सारे आशय और अभिप्राय अपने कथन के साथ एक नई गूँज पैदा करते हैं। यह लम्बी कविता हमारी कुठा, कुत्सा, विकृत और विद्रूप मानसिकता से ग्रस्त उस समाज को प्रस्तुत करती है यहाँ व्यक्ति और सस्था दोनो ही अपनी-अपनी पहचान खोकर इसे फिर से पाने की तैयारियो मे लगे हैं। जहाँ न तो साधन की पवित्रता है और न कोई सकारात्मक सकल्प और ना ही कोई दिशा। अपने ऐतिह्य और सस्कृति बोध के कट जाने की पीडा और सामूहिक चेतना से विच्छिन्न और विभक्त व्यक्तिवाद और निरकुश आचरण ने कवि के चित्त में एक खिन्नता भरा तिक्त अवसाद पैदा कर दिया है। वह अपने सामने खडी उस नवीन या वर्तमान पीढी से एक साथ कई सवाल पूछता है जो कि दिशाहीन ही नहीं दिशाभ्रष्ट भी है। देश के धुँधले दर्पण मे प्रस्तुत पीढी और बीस-बाईस वर्ष के युवाओं की आँखों मे यह देश एक-दूसरे के लिए पूरी तरह अपरिचित है। ये युवा अपने को प्रवासी समझते हैं और स्वदेश की स्मृति उनके लिए विलास है। उनके लिए सोलह और अठारह मजिली इमारतों का वैभव ही सब कुछ है। लेकिन महानगर (कलकत्ता) के माथे पर कलक के रूप मे उगनेवाले इन बेढगे, बदसूरत और बेतरतीब कक्रीट के जगल के साथ-साथ यहाँ की कच्ची सडके, गन्दी बस्तियाँ, तग फुटपाथ, बदहाली, भाषावाद, डरावने सपने, महामारी, अभाव, रुदन, भूख, जुलूस, हडताल, बेकारी और निराशा का ही बोलबाला है। हर पीढी की आँख मे विषण्णता और विकलता है।

दरअसल, सभ्यता के सकट और मानवीय भावो और सवेदना के अभाव ने लोगों को इस कदर पत्थर और निष्ठुर बना दिया है कि उन्हे स्वय अपने जिन्दा रहने की कोई आशा ही नही रह गयी है। उन्हे आश्वस्त करने वाली भाषा तक खो चुकी है। इस सवादहीनता के प्रति अब कोई आक्रोश या आग्रह शेष नही रह गया। निराशा की चरमावस्था अब किसी भी प्रकार की आशा या आकाक्षा की अपेक्षा नही जगाती। भूख, अभाव, सत्रास और विरोध का कोई अर्थ ही नही रह गया है क्योकि अकाल, भूख और उत्पीडन के क्षणों का एकमात्र सहारा रुदन भी दम तोड चुका है। लोग इन सारी सवेदनाओं से कटकर रह गये हैं और जाहिर है अपनी सामान्य पहचान और वैशिष्ट्य खोकर व्यक्ति अपने जी-जान और जहान, मन और मानस को गिरवी रखकर किसी सूखे पोखर मे पडा है। विष्णु दे ने 'एकालेर कविता' की भूमिका में व्यक्ति की अस्मिता और समाज की इयत्ता के बारे मे कहा है

"कविता लेखन आत्म-चेतना से परिपूर्ण सृजन कर्म है। और इस दृष्टि से आधुनिक काव्य की वश-(नाद) परम्परा बहुत पुरानी है। लेकिन ऐतिहासिक कारणो से मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता समाज से जितनी ही कटती चली गयी वह समाज से उतना ही अलग-थलग होता गया। और इसी

अनुपात मे यह आत्म-चेतना भी बढती चली गयी।''

अपनी इस विशिष्ट कविता को विष्णु दे ने रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्ध रूपक-कथा को एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ के तौर पर सयोजित किया है। बहुत सम्भव है इस रूपक से उन्होने अपने काव्य का कथ्य या प्रस्थान ग्रहण किया हो। कवि रवीन्द्रनाथ की रचना को पुन प्रस्तुत करते हुए, कवि विष्णु दे ने मत्ता (वर्तमान) के सकट को ही रेखाकित किया है। इस कथा में विवाह मण्डप, मगल-वितान, स्वादिष्ट पकवान, कोहबर, सुहागिनो का गीत, समधनो की ठिठोलियाँ, सहेलियो की छेडछाड, दान-दहेज, उपहार-सामग्री और स्वय वधू की उत्कठा-विह्वल प्रतीक्षा का एक-एक क्षण चित्रित है। शहनाई बज रही है, सुहागिनो की उलू ध्वनि और शख नाद से सारा परिवेश आनन्द मुखरित होने ही वाला है किन्तु जिसके लिए इस मगल परिणयोत्सव का मारा शोभा-वितान रचा गया है, वही अनुपस्थित है। यानी जिस वर की प्रतीक्षा की जा रही है, वही इस दृश्य से नदारद है। इस स्टीक और अद्भुत रूपक विधान से कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने हमारे जीवन की त्रासदी को, आनन्द और अभीप्सा की अधूरी और अभिशप्त यात्रा को, अकित किया था। विष्णु दे ने इस बीज कथा को अपनी इस लम्बी कविता मे पल्लवित किया है और बताया है कि आज हमारे सामने और हमारे बीच बाराती की शक्ल मे चोर, जुआरी, घूसखोर, चाटुकार, सत्ता के पुजारी और भिखारी तथा समाज के घूरे पर खडे वोट माँगते नेता सभी हैं लेकिन विवाह मण्डप और वर मडली के प्रच्छन्न नरक मे प्राणो का सचार करने वाला और अभय का दान प्रदान करने वाला वह उपयुक्त वर गायब है जिसके लिए विवाह-मडप मे प्रतीक्षातुरा कन्या कुँवारी बैठी हुई है।

इस कविता में ऐसे ढेरो प्रसग अनुस्यूत हैं जो कवि की चेतना को बुरी तरह झिझोडते हैं। ये सारे हवाले इस बात के साक्षी हैं कि कवि अपने प्रस्तावित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए देश-विदेश के इतिहासो और श्रेष्ठ सास्कृतिक उपलब्धियो की अनुगूँज को पक्तियाँ प्रदान करता है। चाहे वह अमर सगीत सर्जक बिथोवन हो , चिन्तक नीत्शे, होयल डेरलिन हो या बाखनर फ्रासीसी मैंडरिन हो या अलजीरियाई घुटन--सबको अपनी-अपनी अम्मिता-इयत्ता-मत्ता की तलाश है। लेकिन हम भारत के लोग जान-बूझकर अपन नरक मे, पडे-पडे नारकीय जीवन जी रहे हैं, असमर्थ अपाहिज बनकर। कवि हमारी पतन गाथा और नाटकीय यातना के उन कारणो का भी मकेत करता है, जिसमे आह या दाह ना है--आत्मग्लानि या आत्म-मचतनता नही है। हमारे पास वाणी तो है पर उसकी वाग्मिता या अर्थवत्ता खो गयी है। हमारी धरती पर खडे पेडो पर फल-फूल-पल्लव तो हैं लेकिन उनके रग-रूप और स्वाद खो-बिखर गये हैं क्योकि इनकी जडो का जीवन-रस सूख गया है।

कवि ने इस कविता मे केवल सकल्प (अतीत या स्मृति) और स्थिति (वर्तमान) के प्रभावशाली चित्र ही नही उकेरे हैं, इसमे भविष्य के भी वे सारे सकेत हैं, जिनसे सस्कृति और मकल्प के कल्पवृक्ष को सूखने से बचाया जा सकता है। कवि ने सस्कृति के इस कल्पतरु को 'फूलदानी तहजीब' या 'ड्राइग रूमवाली बौद्धिकता' से हटाकर अखिल वैश्विक चेतना से जोडा है, ताकि मानवीय प्रश्नो को किसी सकीर्ण या छिछले भौगोलिक दायरे तक सीमित न रखा जाय। हालाँकि इस कविता की प्रश्नभूमि व्यक्ति, समाज और 'सुजला सुफला और मलयजशीतला' भारत माता से जुडी है और उन सबको सम्बोधित हैं, तो अब केवल देह रूप मे ही यहाँ विद्यमान है। आत्म सम्मान, आत्म निर्णय और आत्म परिचय के अभाव मे उसका वर्तमान (सत्ता) प्रश्नाकुल है और कवि ने इस रूपक के बहाने उसी व्यर्थ प्रतीक्षा को विस्तार दिया है।

आधुनिक बाङ्ला काव्य मे अपने उत्कृष्ट योगदान के लिए विष्णु दे जितने सराहे जाते रहे हैं उतने ही कठिन भी समझे जाते रहे हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि कविता उनके लिए

आत्मचेतना का सर्वश्रेष्ठ विनियोग ही नही, जीवन का सम्पूर्ण दर्शन है। उन्होंने कविता को जीवन के अतरग क्षणों की सगिनी और साक्षी माना है। उनकी कविता मात्र भाव, शब्द, छद, न्यास, आशय और अन्विति के सार्थक समुच्चय तक ही सीमित नहीं रहती—वह अपनी पूर्व प्रस्तावना और तमाम सभावना के साथ उजागर होती है—और एक नये सिरे से विशिष्ट क्षणो को पारिमार्जित, परिष्कृत और आविष्कृत करना चाहती है। उनके लिए कविता काव्य शास्त्रीय अनुबधो से परे एक अक्षर सत्ता है। कवि का मानना है कविता पर चाहे जितने बाहरी दबाव हो, कविता को अपनी अतरगता बनाये रखने के लिए इन अनुषगो या आरोपित औपचारिकताओ से मुक्त रखना होगा—तभी उसकी मुक्ति सभव है।

कविता अपने आप मे शब्द है—शब्द उसकी अनिवार्य इकाई भी है और उसकी अक्षर सत्ता की सार्थकता भी। इसलिए कवि का कार्य है शब्द को उसका वाछित परिप्रेक्ष्य और आशय प्रदान करना। अपने कवि मतव्य या वक्तव्य की रक्षा करते हुए विष्णु दे कहा तक इसका अनुपालन कर पाये हैं, इस बारे मे उनकी कविता के किसी भी अश को प्रश्न या प्रस्तावना के रूप मे देखा जा सकता है, जिसमे शब्द अपनी उपस्थिति मे मात्र शब्द नहीं रहते, अपनी प्रस्तुति मे सार्थक और जुझारू सवाद बन जाते हैं।

आलोचको ने विष्णु दे की कविताओं में निहित 'शब्द सयोजन में सिद्धि' पक्ष पर सर्वाधिक बल दिया है। वे बाङ्ला कविता के क्षेत्र मे शब्दो के परीक्षण, निरीक्षण और नियोजन के कुशल शिल्पी हैं और शिल्पी से अधिक शब्द-द्रष्टा हैं। शब्द के अनुषग या शब्द सभावना के वाचक गुण धर्म पर विचार करने पर हमें उनके प्रति नतमस्तक हो जाना पडता है। लेकिन इसका अर्थ नहीं कि उनके काव्य मे शब्द-सभार पर,या उनके सयोजन-विनियोजन पर ही सर्वाधिक बल दिया गया हो। प्रकृति उनके काव्य की प्राथमिक और अनिवार्य ऊर्जा है।

निसर्ग के आमत्रण के साथ अन्धकार का आह्वान विष्णु दे के काव्य-सृजन का अभीष्ट भी है और उसकी विरल पहचान भी। अपने एकात निभृत गहन विजन मे स्थित सकेत स्थल को, जहाँ प्रेयसी की लम्बी प्रतीक्षा की जा रही है, प्रेमी कवि ने बार-बार सहस्राक्ष अन्धकार से पोत देना चाहा है। प्रगाढ और प्रशान्त अन्धेरे के इस मनोहर, निरापद और सुखद आयोजन के साथ ही, उसका सृजन पर्व आरभ होता है। बाह्य प्रभावो और अनावश्यक हस्तक्षेप से अपनी अस्मिता को बचाने की 'अभीप्सा', 'उर्वशी और 'आर्टेमिस' की अधिकाश कविताओं में देखी जा सकती है। बाद मे इस वृत्ति को 'नाम रेखेछि कोमल गान्धार' की एक महत्त्वपूर्ण कविता 'अन्धकारे आर' इस तरह व्यजित करती है "अन्धकार से मत डरो अब असह प्रकाश दग्ध है घृणा से आज/दूषित दिन मे रही नही कोई रुचि/एकमात्र अन्धकार ही तो है शुचि/प्रेम का सगीत हुआ घृणा से स्तब्ध/ " कवि की अधिकाश प्रौढ कविताओ मे इस अभिप्राय को सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है।

कवि द्वारा इस प्रस्तावित अधकार मे सारी वाह्य वस्तुएँ, उनकी अनचाही उपस्थिति और अयाचित हस्तक्षेप समाप्त हो जाते हैं। कवि तब अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप, अपने अतरग शब्दो, भावो, बिम्बों और इनके सयोजन को चुनता है। लेकिन इसके पूर्व निसर्ग के तमाम आकर्षक और उत्तेजक उपादानो की अनदेखी कर साधक कवि इस निस्तब्ध और सदाशयी अधकार के निभृत एकात में मिलन आयोजन का अभिषेक करता है, जिसमे कोई बाह्य साधन उपकरण नहीं अन्त करण का भावोत्कर्ष और ऐन्द्रिय हर्षोल्लास ही उसकी आनन्द छवि है। बडी मुश्किल से और जतन से गढे गये इस अन्धकाराच्छन्न मिलन-मडप में वह अपनी मिलनसगिनी का आह्वान करता है। 'उर्वशी' कविता में इस चिरवाछित सयोग क्षण और चिरातुर

प्रणय-निवेदन को विह्वल-स्वर में पक्तिमुखर किया गया है —

"क्षण भर यहाँ ठहरो,
तुम्हारी देह की इस अन्तहीन आमत्रण वीथी मे
विचर सकूँ
हाय, इतना समय कहाँ—बस तुम क्षण भर ठहर जाओ,
क्षण के इस आनन्द आलोक मे
अँधियारी आकाश सभा मे
नृत्यमयी दीप्त दीपावली से
नग्नता मे दीप्त तनु चमका जाओ।"

(उर्वशी/उर्वशी और आर्टेमिस)

ऐहिक और ऐद्रिय होता हुआ भी यह अनुरोध मासल या अश्लील नही। यह स्पर्श्य, दृश्य या श्रव्य बिंबो से नही बल्कि छायाभासो से रूपायित आलोक-पर्व है और इसीलिए अशरीरी या 'वायवीय है, निष्पाप और निष्कलक है। इम निगूढ कुज मे सभवत काल का प्रवेश भी वर्जित है। इस निषिद्ध क्षेत्र मे उर्वशी और पुरुरवा की गाथा को अभिशप्त और क्षणिक आनन्द उर्मियो से सयुत कर—अपने मानवी प्रेम को इन्द्रधनुषी रगिमा प्रदान करता है क्योकि वह इस मिलन उत्सव का एक-एक क्षण पाना और जीना चाहता है। उसे ज्ञात है कि वह पुरुरवा की तरह आजीवन लोलुप या कामातुर बनकर जी नही सकता और अभिशाप के अवसाद को प्रचारित भी नही कर सकता। और उसकी प्रेयसी कोई शापग्रस्त उर्वशी भी नही जो मिलन रजनी की शब्दहीनता मे, विपरीत ग्रहप्रभाव से, प्रेमी की बाँहो मे अधिक देर तक ठहर नही पायेगी।

विष्णु दे की कविता कार्य-कारण की सकारात्मक और सार्थक अन्विति पर बहुत जोर देती है। उनकी प्रकृति वहाँ कवि की प्राणधर्मा सहचरी बन जाती है। इसलिए दोनो को अलग करना असभव हो जाता है। उद्दीप्त भावो पर नियत्रण रखते हुए वे भी अपने आवेगो की तीव्रता को आँकते चले जाते हैं—इन्द्रधनुष की तरह एक छोर से दूसरे छोर तक बाधाहीन और पूरी स्पष्टता तथा अतरगता से—लेकिन अपने मनोभावो को वे निसर्ग के उपादानो से अकित करते हैं और प्रकृति को ऊर्जा और उष्मा से उनकी कविताओ मे एक अकृत्रिम और प्रखर आभा पैदा होती है। उनके रग मे सगीत की लय और छन्द मे सगीत की रागिनियाँ गूँजने लगती हैं

"तेज धूप मे विलीन कर दो स्वर
जलती दुपहरी मे होता रहे स्पन्दित
मेरे दिन की शुरुआत होती है सात रगो से
और रात नीले समदर की स्याही से
मेरी रगो मे, रेशो मे, स्वप्न का आनद
अठखेलियाँ भरता है
गूँजता रहता है उस असीम का सगीत
निरन्तर
रगो के जीवत घटाटोप मे—
शिल्पी का अचूक तूलिकाघात।"

(पाँच प्रहर/नाम रेखेछि कोमल गान्धार)

अपनी युवावस्था से ही अपने हृदय की मारी चाहना और वासना से परिचालित होने के बावजूद अरण्य का आदिम राग और अधकार विष्णु दे की कविताओ का विशिष्ट अभिप्राय रहा है। वहाँ किसी शहरी या नागरिक का आरोपित सौंदर्य बोध नही है, जिसे वह 'फूलदानी सस्कृति' कहते हैं। अपने तन और मन के आदिम किन्तु एकात राग, जिसे 'लिबिडो' कहा गया है, को अभिषिक्त करते हुए उन्होने अपने प्रेम को कृत्रिम आयोजनो और नाटकीय प्रवेश एव प्रयोजनो से बचा रखा है। वे इस घने अधकार को अपने सबसे निकट पाते हैं क्योकि इसी घडी उनकी प्रेयसी उनके सर्वाधिक पास होती है। लेकिन अपनी कतिपय नाटकीय कथा-भगिमा से ग्रथित 'छेद' (विच्छेद) शीर्षक यह कविता विवाद को भी आमत्रित करती है

"यहाँ न तो मूर्खता भरी जलन है और न व्यर्थता का अपमान
न गाँधी जी का नाटकीय विजय अभियान
और ना ही सुदर्शन रूपशिल्पी रवीन्द्रनाथ ठाकुर"

(उर्वशी ओ आर्टेमिस)

स्पष्ट है, रवीन्द्रनाथ की गौरवपूर्ण स्थिति और महात्मा गाँधी के प्रति कवि ने मधुर व्यग्य ही किया है लेकिन तो भी क्या कारण था कि इस मकलन ने रवीन्द्रनाथ सरीख काव्य-मनीषी को आन्दोलित किया था उन्होने इस की भरपूर सस्तुति की थी और इस युवा हस्ताक्षर का स्वागत करते हुए लगातार दो-दो पत्र लिखे थे। इन पत्रो मे युवा कवि की काव्य-प्रवृत्ति की सस्तुति मे उसके यथोचित साहस, सागरशिला जैसी स्थिरता और लहरो के साथ क्रीडापूर्ण प्रवहमानता का उल्लेख किया गया।

विष्णु दे की कविताओ मे बीज, अकुर, धान की बालियाँ, फसले, माटी, धरा, ऋतुएँ, देशकाल नवान्न और इन सबके व्याज से प्रकृति नारी के सग, निरग अधकार मे, मिलन का अभिनव उत्सव बार बार कई रगो, बिम्बो और छदो मे, उन्मुक्त ढग से रचाया गया है। इन आयोजनो का अर्थ यह नही है कि उनकी कविताएँ भूख, गरीबी, शोषण, आतक, अकाल और हाहाकार के बीच जी रहे अकिचन और उदास लोगो के अपमान और अभाव के खिलाफ नही लडती। ऐसे लोगो की नियति और वचना को उनके तमाम सदर्भो के साथ प्रकृति के आईने मे देखने का एक बडा ही गभीर प्रयास 'जल दाओ' (पानी दो) शीर्षक लबी कविता मे देखा जा सकता है। जीवन और जगत के कवि ने इस कविता मे कर्ममय मनुष्य जीवन के साथ उसके लालित्यपूर्ण अभिनय पक्ष को और उसकी नियति को भी दबी जुबान स्वीकार किया है। जीवन के पथ पर बार-बार मिलने वाली यत्रणा या ठोकरो को कवि ने अगीकार ही नही किया, उसे जीवन का सार भी माना और उपहार भी। शायद ठोकरे खाकर ही हम देख सकेगे और सीख पायेंगे। कवि ने यत्रणा के इस अलिखित इतिहास के सबक को इस प्रकार रखा है

"हमारा इतिहास एक-एक पल गिनता है।
उसकी लहर हमारा जीवन-मरण नापती
रहती है
हमारी जीविका मे, जीवन यात्रा मे, देह मन
के विकास मे,
कर्म मे, अपकर्म मे, कर्महीनता मे—कुछ बच
जाने पर भी,
जैसे किसी बर्तन मे जल जमे और बरतन
बर्फ से फट जाय।"

(जल दाओ/अन्विष्ट)

इसके साथ ही, वह अपनी कवि चर्चा मे कही रुकना या ठहरना नही चाहता। वह अपनी अनन्त प्रवहमानता मे ही जीवत क्षणो को पाना चाहता है। उसकी प्रतीक्षा का भी कोई निश्चित पडाव या ठहराव नही। वह अपनी प्राण-स्रोतस्विनी की प्रतीक्षा ही नही करता, उसे जगाता भी है और जिलाता भी। ताकि वह अपनी असज्ञता के बोध से क्लात-श्लथ होकर कही बैठ न जाये और इस तरह सूख ही न जाये। समर्थ कवि हर युग मे यही तो करता है। वह इस अन्त सलिला को निरतर प्रवहमान और गतिशील देखना चाहता है और अपनी प्राण-प्रतिज्ञा के अनुरूप उसे जीवत और आश्वस्त भी करता है। यह कवि की सतत प्रेरणा और प्राणधारा की परस्पर निर्भरता की सुखद आकाक्षा भी है और सर्जनात्मक अनुबध भी

"ओ स्रोतस्विनी!
मैं तुम्हारे हृदय पर पल्लवित छाया बिछावर
तुम्हे जिलाता हूँ।
तुम्ही में मैं जीता हूँ प्रिया
तुम्हारे ही घाट के वृक्ष पर
तुम्हारे ही फूल खिलाता हूँ,
घाट-घाट पर, बाग-बाग मे
मेरी जडो मे पानी दो।"

(जल दाओ/अन्विष्ट)

डॉ रणजीत साहा

कृतियाँ

कविता

१	उर्वशी ओ आर्टिमिस	१९३३
२	चोराबालि	१९३६
३	पूर्वलेख	१९४१
४	बाईशे जून	१९४२
५	सात भाई चम्पा	१९४५
६	सन्दीपेर चर	१९४७
७	अन्विष्ट	१९५०
८	नाम रेखेछि कोमल गान्धार	१९५३
९	आलेख्य	१९५८
१०	तुमि शुधु पचीशे बैशाख	१९५८
११	स्मृति सत्ता भविष्यत्	१९६३
१२	सेई अन्धकार चाइ	१९६६
१३	रूशति पचाशति	१९६७
१४	सवाद मूलत काव्य	१९६९
१५	इतिहासे ट्रैजिक उल्लासे	१९७०

बाग्ला में अनूदित

१	इलियटेर कविता	
२	समुद्रेर मौन	१९४५
३	कैरेमेल डॉल	१९४६
४	हे विदेशी फूल	१९५७
५	माओ-त्से-तुगेर कविता	१९५८
६	अफ्रीकाय एशियाय मुरली मृदगेर तूर्ये	१९७०

सकलन

१	विष्णु दे-र श्रेष्ठ कविता	
२	एकालेर कविता	१९६३
३	बाग्ला देशेर कविता ऐक स्तबक	१९७१

गद्य-लेखन

बाग्ला

१	रुचि ओ प्रगति	१९४६
२	साहित्येर भविष्यत्	१९५२
३	एलो-मेलो जीवन-ओ-शिल्प साहित्य	१९५८
४	साहित्येर देश-विदेश	१९६३
५	रवीन्द्रनाथ ओ शिल्प माहित्ये आधुनिकतार समस्या	१९६६
६	माइकेल, रवीन्द्रनाथ ओ	१९६६
	अन्यान्य जिज्ञासा	१९६७

गद्य-लेखन

अँगरेजी

१	द आर्ट ऑव जामिनी रॉय (जॉम्न इरविन के सहयोग से)	१९४५
२	इण्ट्रोड्यूसिग नीरद मजूमदार	१९४६
३	बगाल पेण्टर्सेज टेस्टिमनी	१९५०
४	ऐन इण्ट्रोडक्शन टु जामिनी रॉय	१९५३
५	पेटिंग्ज ऑव रवीन्द्रनाथ टैगोर, इण्डिया ऐण्ड मॉडर्न आर्ट	१९५७
६	प्रदोष दासगुप्त हिज स्कल्पचर	१९६१
७	सत्येन्द्रनाथ बोस अ लीजेण्ड इन हिज लाइफ-टाइम	१९६३
८	इन द सन ऐण्ड द रेन	१९७२
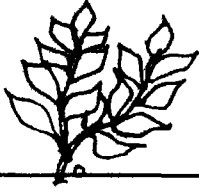
अभिभाषण के अंश

भाषण देना कभी मुझे अनुकूल नही हुआ। मैं केवल एक लेखक हूँ, जैसा कि कवि इलियट ने एक बार जुल्फिकार अली बुखारी से कहा था, जो उस समय लन्दन मे बी बी सी मे थे। वैसे भी कॉलेज मे शिक्षक होने के नाते चौंतीस वर्ष तक लेक्चर देना और बात है, और ऐसी शोभा और शान के जलसे मे बोलना, दूसरी बात।

जैसा कि शायद मैरियम मूर कहते, मेरा सदा से परम्परा-विरोधी विचारो के सयमित वक्तव्य मे विश्वास रहा है, और सार्वजनिक भाषण मे तो यह विश्वास और भी अधिक है। यह नही कि, जैसा कि अब वृद्धावस्था मे पहुँचने पर मैं पाता हूँ कि पर्याप्त गद्य, और उससे भी अधिक पद्य, मेरे पास न हो। किन्तु लेखन तो मैं निरन्तर लगभग पचास वर्षों से करता आया हूँ।

पुरस्कार और सम्मान ऐसे लेखक के लिए एक विचित्र उलझन का कारण हो सकते हैं, जो अपनी अपरिचितता और विनम्रता मे गौरव का अनुभव करता है, यद्यपि ये पुरस्कार किन्ही अशो मे आर्थिक रूप से अवश्य सहायक हो सकते हैं। मेरे साहित्यिक जीवन की यह विचित्र विडम्बना है कि मुझे तीन पुरस्कार प्राप्त हुए और उनमे तीसरा है यह ज्ञानपीठ का १९७१ का इतना विशाल पुरस्कार। भाग्य की विडम्बना इसलिए भी है कि युवावस्था मे जब दिमाग चढा हुआ था, तो मुझे अग्रेजी और फ्रासीसी लेखको के रग-ढग के अनुरूप विद्वता या साहित्यिक मार्ग पर चलकर बाजारू सफलता प्राप्त करने के विचार से मानसिक अवरोध की प्रतीति होती थी। और सच बात तो यह है कि मैंने भाग्य की इस विडम्बना का स्वाद जीवन भर चखा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रभावित होकर वह विद्यार्थी बालक जो उनके लेखो को पढकर प्रचलित शिक्षा-पद्धति के खोखलेपन के प्रति सजग हो स्कूल की पढाई छोडने को तत्पर था और जो अपने धैर्यशाली पिता से इस विषय पर घण्टो बहस करता था, अन्ततोगत्वा अपने वयस्क जीवन को एक परम्पराबद्ध प्राध्यापक के रूप मे प्रारम्भ करने को बाध्य हुआ।

लेखक के रूप मे यद्यपि उस बालक की किशोरावस्था मे भी कभी यह इच्छा नही रही कि वह मुँह-जोर उद्धत बालक बने किन्तु उसका विश्वास था कि किसी भी प्रकार की ऐसी रूढिग्रस्त पद्धतियो से उसका मेल नही है जिनके माध्यम से सहज ही पुरस्कार मिल जाते हैं। पर, देखिये कि मैं आपके समक्ष हूँ। क्या यह एक विचित्र दुरभिसन्धि नहीं जिसमे हास्यविनोद का पुट है? यदि आप मुझ पर हँसे या कम-से-कम मुस्काएँ ही तो मुझे जरा भी नही खलेगा। किन्तु विश्वास रखिये कि मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि मैं अपनी सीमित शक्ति भर अपने प्रति और अपने पाठको के प्रति ईमानदार रहूँ।

मुझसे एक बार नही, अनेक बार पूछा गया है कि मैं लेखक कैसे बना। यह एक लम्बी कहानी है, क्योकि मेरा जीवन भी तो अब काफी लम्बा हो चुका है। विचित्र-सी बात है कि मुझे कविता-लेखन का प्रथम चरण याद आ रहा है। लडके-लडकियो की एक अति सम्मानित पत्रिका ने एक चित्र-माला पर कविताएँ आमन्त्रित की थी। सर्वोत्तम कविता पर पुरस्कार घोषित था। न, एक लाख का नही, बल्कि १० रुपये या २० रुपये का। मैंने प्रतियोगिता मे भाग लिया, कुछ तो इसलिए कि वह एक सुनिश्चित विषय पर लिखने की प्रतियोगिता थी, और कुछ इसलिए भी (और उस कारण की प्रतीति आज अधिक स्पष्ट हो रही है) कि उसके

साथ पारितोषिक जुड़ा था। मैंने प्रत्युत्तर के लिए एक टिकट लगे लिफाफे के साथ कविता बन्द करके भेज दी। उत्तर तो उसका कुछ नहीं आया, पर उस क्षण से मेरी खोज-वृत्ति जागृत हो गयी।
लेखन-क्रिया से उत्पन्न विनोद, प्रास की खोज का उल्लास, विविध छन्दों मे अन्यान्य विषयो पर लिखने का आह्लाद यद्यपि तेरह-चौदह वर्ष की आयु होने तक मेरा कोई लेखन नहीं छपा, तथापि वह कागज पर चीतना उत्साह और अन्वेषण उन्मेष से परिपूरित था। जैसे एक किशोर बालक रूस देश के विस्तृत घास के मैदानो मे, स्टेपीज मे, घोडे की सवारी कर रहा हो। और तब काल के चिरन्तन पट पर अकित था वह जो एक प्रभूत पर्वत था या कि एक महान् सिन्धु अर्थात् रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अनवरत क्रिया-कलाप, और मुझ जैसा बगवासी ही यह प्रतीति कर सकता है कि एक अभिभूत करने वाले गतिशील प्रभाव और अनुभव के रूप मे उस शक्ति का क्या अर्थ था। अवश्य ही उस सूर्यवत् प्रकाश ने मेरे सम्मुख देश-प्रेम का ससार उजागर कर दिया होगा।

कुछ अग्रज लेखक इस युवक रचनाकार की छन्द-विन्यास की प्रवीणता के प्रशसक थे। अब जब उस पिछले दिनो के कौशलपूर्वक लिखे पद्य-लेखन का ध्यान करता हूँ तो स्वय को धन्यवाद देता हूँ कि एक हठात् नाटकीय झटके मे अत्यन्त चतुराई से लिखे गये पद्य-लेखन के दो सौ पन्ने फाड फेके थे। हाँ, सकट का चरम बिन्दु मैंने भी भोगा है।
स्नायुओ के तनाव का एक आह्लादक कसाव। एक वर्ष से कुछ अधिक दिनो तक मैं शारीरिक रूप से अत्यन्त स्वस्थ रहा पर अनिद्रित। काफी समय के बाद एक हृदय विशेषज्ञ भले डॉक्टर ने मेरे पिता को बताया कि उस तनाव और आह्लाद की मन स्थिति ने मेरे दिल और जिगर को क्षति पहुँचायी है। और क्या टी एस इलियट की पुस्तक 'कविताएँ १९२५' और 'सेक्रेड वुड' एक प्रकार से मेरी प्रगति यात्रा का दूसरा पडाव नही थी ? यह भी एक मनोरजक बात है कि किस प्रकार मेरे डॉक्टर के शब्द टी एस इलियट की पक्तियो में प्रतिध्वनित हैं

Lady, three white leopards sat under a juniper tree
In the cool of the day, having fed to satiety
On my legs, my heart, my liver, and that which had been contained
In the hollow round of my skull And God said
Shall these bones live? Shall these Bones live?

भद्र महिला, तीन सफेद चीते बैठे एक हपुषा पेड के नीचे,
दिन की ठण्डक मे छककर खा लेने के बाद
मेरी टाँगे, मेरा दिल, मेरा कलेजा, और वह जो भरा था
मेरी खोपडी की गोल खोखल मे। और, ईश्वर ने कहा,
क्या ये हड्डियाँ जीवित रहे ? क्या ये हड्डियाँ जीवित रहे ?

मुझे याद है कि किस प्रकार मेरी कौशलमयी धारावाही पद्य-रचना की मन स्थिति एक प्रकार की ठिठकती खोजरत अभिव्यक्ति के रूप मे परिवर्तित होती गयी। मुझे याद है कि कैसे एक रात, लगभग दस पक्तियाँ अकस्मात् स्वलिखित-सी प्रस्तुत हो गयी जो स्वत ही आठ-नौ वर्ष के बाद 'जन्माष्टमी' शीर्षक लम्बी कविता मे प्रवाहित हो विस्तार पा गयी और जिसमे एक और पूर्वरचित कविता भी घुल-मिल गयी, जो सुकरातीय ख्याति वाली देवी डायोतिमा के प्रति नाटकीय ढग मे सम्बोधित है और जिसमे उसकी तमोमय यात्रा का वर्णन है। और वह कविता थी कलकत्ता के समसामयिक जीवन को व्यक्त करती हुई, मेरे ज्येष्ठ मित्र सुधीन्द्र नाथ दत्त को समर्पित—

O Freunde, nicht diese tone!

और मैं फिर कृतज्ञता से भरकर टी एस इलियट को याद करता हूँ जिनकी पुस्तक Tradition and Individual Talent मेरी उन्नति मे बहुत सहायक हुई। मेरी अभिलाषा थी और अब भी है कि काश उन्होंने होल्डरलिन के विपरीत मार्क्स का लेखन पढा होता। होल्डरलिन तो मार्क्स को पढता ही कैसे, क्योंकि वह तो जनमा ही मार्क्स से पहले था, किन्तु टी एस इलियट तो पढ ही सकते थे। और तब ऐंग्लो-अमेरिकी सस्कृति को कितना लाभ पहुँचता। आप जानते हैं कि हाइनरिक के भाई टॉमस मान ने एक इसी तरह का विलाप किया था हिटलर के गद्दी पर बैठने से पहले यद्यपि वह था इसका निपट उलटा। काश, मान ने लेनिन को कुछ समय पहले पढा होता और उस पर मनन किया होता! और अब तक तो हम सब जान गये हैं कि आधुनिक कला के स्रोत क्या हैं, जिसमे आधुनिक कविता भी शामिल है, आधुनिक जीवन, और विशेषकर विभाजित दुनिया, और खण्डित समाज सबकी माँग है कि कला-सृजन मे एक भयकर आत्मचेतनता का समावेश हो, जैसा कि मैरिटन ने एक बार लिखा भी था। आधुनिक कविता के विषय मे वैलेस स्टीवेन्स ने लिखा था—

The poem of the mind in the act of finding
What will suffice It has not always had
To find The scene was set it repeated what
Was in the script
Then the theatre was changed
To something else Its past was a souvenir

मानस की कविता थी, इस खोज में कि
क्या देगा तुष्टि।
इसे नही पडा है सदा खोजना यह
दृश्य था सुनिश्चित, स्थिर वह दोहराता
था मात्र वह, जो अकित था पाण्डुलिपि
मे।
फिर नाटक दिया गया बदल,
कुछ और हो गया वह—
उसका अतीत रह गया बनकर एक
स्मारिका।

लगभग साठ वर्ष तक साहित्य को अनवरत रूप से सावधान रहना पडा है। उदाहरणार्थ गाधी जी के राजनैतिक आन्दोलन और उनकी त्रासद मृत्यु ने व्यक्ति को कविता लिखने के लिए झकझोरा और इसी प्रकार जवाहर लाल की हैमलेट-जैसी महानता ने भी। और, यह सत्य है कि मुझे लेनिन के रूस, और स्तालिन के सोवियत सघ ने प्रेरणा दी। और कौन है जो वियतनामियो की वीरता और सघर्ष मे, या बाग्ला देश के आन्दोलन से अछूता रह सकता है?

मैं अपने बारे मे काफी कह गया। विश्वास कीजिये कि ऐसा करने के लिए मुझे स्वय को बाध्य करना पडा है। आप मुझे इसके लिए क्षमा करे। कविता, कविताओ मे है न कि उसके विषय मे दिये गये भाषण या लेख मे। मैं पुन आप सबका आभार मानता हूँ।

रामधारीसिंह दिनकर

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७२ के वर्ष का साहित्य पुरस्कार कविश्री रामधारीसिंह दिनकर को उनके काव्य-नाटक 'उर्वशी' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६१ से १९६५ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

श्री दिनकर ने छायावाद की स्पष्ट और वायवीय विषयवस्तु तथा रूप-विधानोंवाली काव्य परम्परा से विलग होकर आधुनिक हिन्दी कविता को एक ऐसी ओजमयी ऋजु भाषा-शैली दी जो पुनरुत्थानशील राष्ट्रीयता की अदम्य प्रेरणाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुई। वे हिन्दी साहित्य में एक अपूर्व घटना-तथ्य जैसे बनकर आये, क्योंकि जिस सशक्तता से उनकी लेखनी ललकार और विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर सकी उसी से सुशान्त चिन्तन और गीतात्मक भाषा-शैली में मानव मन के कोमल भावों को प्रकट करती आयी। उनके काव्य में इन दोनों प्रवृत्तियों का बार-बार बड़ा मुग्धकर पुनरावर्तन होता है। कोई आश्चर्य नहीं कि अचूक आह्वान-शक्ति और भावात्मक प्रकृति दोनों के सहभाव के कारण उनके काव्य को 'दहकते अगारों पर इन्द्रधनुषों की क्रीडा' से उपमित किया गया है।

पुरस्कार-जयी काव्य नाटक 'उर्वशी' फल-सिद्धि है कवि की प्रतिभा और एक चिन्तक की प्रेमभाव के अर्थ, उद्देश्य और विस्तारों की अन्वेषणा की , मानव की ऐन्द्रिय जगत् से होते चरम परम की शोध की। तीस काव्यकृतियों और, साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'सस्कृति के चार अध्याय' सहित, निबन्ध-कहानी, सस्मरण-दैनिकी, समीक्षा-इतिहास आदि विभिन्न साहित्य-विधाओं की पाचीस प्राजल गद्य कृतियों के प्रातिभ प्रणेता दिनकरजी इसी प्रकार दर्शन और विश्वकाव्य की गहराइयों में पैठते हुए साहित्यिक उपलब्धि के उत्तरोत्तर भव्य शिखरों तक पहुँचने की अविराम आशाएँ बँधाये हुए हैं।

चिरजीवी हों कविश्री!

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्ष
१ दिसम्बर १९७३	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

रामधारीसिंह दिनकर

कविश्री रामधारीसिंह दिनकर का जन्म २३ सितम्बर, १९०८ को मुगेर जिले के सिमरिया ग्राम में हुआ था। पिता एक साधारण किसान थे और दिनकरजी दो वर्ष के रहे होंगे कि उनका हस्तालम्ब परिवार के सिर पर से सदा के लिए उठ गया। परिणामत कवि और उनके भाई-बहनों का पालन-पोषण विधवा माता ने किया।

दिनकरजी का सारा बचपन और कैशोर्य गाँव-देहात में बीता जहाँ दूर तक फैले खेतों की हरियाली थी, बाँसों के घने बन थे, आमों के बगीचे, चिकनी-कोमल काँस के विस्तार थे। स्वभावत प्रकृति की इस विविध सुषमा का प्रभाव दिनकर के मन-प्राण में रचा-बसा रहा। और सम्भवत इसी सहज सवेदनशीलता के कारण अधिक गहरा प्रभाव वास्तविक जीवन की कठोरताओं का पडा जो उनके परिवेश का उतना ही ठोस सत्य थीं।

बाढों की विभीषिका, महामारियों के बँधे हुए फेरे, आये दिन द्वार खडे दुर्भिक्ष, जमींदार-साहूकार के जुल्म, और इन सबके बीच किसान नामक प्राणी का अन्तहीन जीवन-सघर्ष क्या नहीं था जिसे उन्होंने बिलकुल निकट से न देखा हो । अत उनका कवि मन समाजोन्मुखी बने बिना न रहा। फिर तो अन्तस् से जहाँ रस की धार फूटीं वहीं असन्तोष और विद्रोह की चिनगारियाँ भी चिटकीं। वे साहित्य में आये तो दोनों ही स्वर एक साथ लिये हुए ।

मैट्रिक्यूलेशन के बाद १९२८ में दिनकर पटना आ गये और इतिहास में ऑनर्स के साथ १९३२ में बी ए किया। अगले ही वर्ष एक नये-नये खुले स्कूल के वह प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए, पर यहाँ से हटकर १९३४ में उन्होंने बिहार सरकार के अधीन सब-रजिस्ट्रार का पद स्वीकार कर लिया। लगभग नौ वर्ष इस पद पर वह रहे, और यह समूचा काल उनका जैसे बिहार के देहातों में बीता। जीवन का जो पीडित रूप उन्होंने बचपन से देखा था और जिसके जगाये आवेग-सवेग निरन्तर कसकते आये थे, उसे ही इस काल में उनकी तरुणाई के अदम्य ओज-उत्साह और सपनों-भरी दृष्टि-बुद्धि ने और भी प्रत्यक्षता से एक व्यापक रूप में देखा।

फिर तो ज्वार उमडा। और 'रेणुका' आयी, 'हुकार' आयी , 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' भी आये।

'रेणुका' और 'हुकार' की कुछ रचनाएँ यहाँ-वहाँ प्रकाश में आयीं कि अँगरेज शासन-अधिकारियों को समझते देर न लगी कि वे एक गलत आदमी को अपने तन्त्र का अग बना बैठे हैं। और यह समझना था कि दिनकरजी की फाइल तैयार होने लगी बात-न-बात कैफियत तलब होती और चेतावनियाँ मिला करतीं। चार बरस में बाईस बार तो उनका तबादला किया गया। स्थिति यह थी कि उधर सरकार चाहती थी यह परेशान होकर चले जायें, इधर यह न अपनी विवशता के कारण सर्विस छोड सकते थे न आन्तरिक भावनाओं को ही दबा पाते थे।

अन्त को १९४३ में उनका तबादला करके प्रचार विभाग मे पटना भेज दिया गया। पर १९४७ मे देश स्वाधीन हो गया और १९५० म वह बिहार विश्वविद्यालय मे हिन्दी प्राध्यापक एव विभागाध्यक्ष नियुक्त होकर मुजफ्फरपुर आ गये। फिर १९५२ में जब भारत की प्रथम ममद का निर्माण हुआ तो इन्हे राज्यमभा का सदस्य चुना गया और यह दिल्ली आ गये। बारह वर्ष दिनकरजी ममद् के मदस्य रहे, बाद म भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति होकर चले गये। पर अगले ही वर्ष भारत सरकार न उन्हे अपना हिन्दी मलाहकार नियुक्त किया और उन्हे फिर दिल्ली आ जाना पडा। जून १९७१ मे, दिनकरजी यहाँ स निवृत्त हुए।

दिनकरजी उच्चकोटि के उन विरल कवि-चिन्तको मे हैं जो साहित्यकार के रूप मे मफल भी माने गये और मौभाग्यशाली भी। उन्हे प्रारम्भ म ही जनता का आदर-प्रेम और सहृदय विद्वानो का समर्थन प्राप्त रहा। हिन्दी जगत् मे उनकी व्यापक प्रमिद्धि 'हिमालय' शीर्षक कविता से हुई, जो १९३३ मे रची गयी थी। वह काल था जब देश की स्वतन्त्रता का आन्दोलन और सघर्ष घर-घर की बात बने हुए थे जनता इस कविता को दिनकरजी के ओजस्वी स्वर में सुनती और पक्ति पक्ति पर झूम उठती। भारी प्रशसाओं के साथ दो-तीन स्वर्ण-पदक भी उन्हें मिले।

१९४८ में 'कुरुक्षेत्र' के लिए साहित्यकार ससद् इलाहाबाद ने दिनकरजी को पुरस्कृत और अभिनन्दित किया। दो बार उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा का द्विवेदी-पदक भी प्राप्त हुआ। 'उर्वशी' पर तो कई पुरस्कार मिले, जिनमें उत्तर प्रदेश सरकार का पुरस्कार, नागरी प्रचारिणी सभा का रत्नाकर-पुरस्कार और बलदेवदास पदक उल्लेखनीय हैं। १९५९ में वह भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित किये गये और अगले वर्ष 'सस्कृति के चार अध्याय' पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। १९६१ मे भागलपुर विश्वविद्यालय ने डी लिट् की मानद उपाधि दी, और विद्यावाचस्पति, साहित्य-चूडामणि, मनीषी आदि उपाधियाँ तो अनेक शिक्षा सस्थानों से उन्हें प्राप्त हुई। देश की जनता अपना प्रेम प्रकट करने को उन्हे 'राष्ट्र-कवि कहती है।

दिनकरजी न अनेक बार विदेशों का भ्रमण किया है। १९५५ मे पोलैण्ड के राष्ट्रकवि मित्सकविच की शतवार्षिकी के अवसर पर वारसा में हुए अन्तरराष्ट्रीय कवि सम्मेलन मे भारतीय शिष्टमण्डल के नेता बनकर सम्मिलित हुए। १९५७ मे चीन के लेखक सघ द्वारा निमन्त्रित होकर चीन गये, और १९६१ मे भारतीय लेखकों के शिष्टमण्डल के साथ रूस। इसके अतिरिक्त मिस्र, जर्मनी, इग्लैण्ड, फ्रान्स, अफ्रीका, मॉरीशस आदि देशों का भी उन्होने भ्रमण किया है।

दिनकरजी की रचनाओं के अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में तो व्यापक रूप से आये ही हैं, विदेशी भाषाओं में भी उनके अनुवाद समादृत हुए हैं। उनकी कविताओं का एक सग्रह रूसी भाषा में अनूदित होकर मॉस्को से प्रकाशित हुआ है और दूसरा स्पेनी में दक्षिणी अमेरिका के चाइल देश से। 'कुरुक्षेत्र' का तो पद्यानुवाद कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुआ है।

अपने कृतित्व के सन्दर्भ में

दिनकरजी की पहली कविता १९२४ में प्रकाशित हुई थी। एक लघु सग्रह 'बारदोली विजय' १९२८ मे निकला और एक लघु खण्डकाव्य 'प्रणभग' १९२९ में। पर यथार्थ में उनके कवि-जीवन का आरम्भ १९३५ से हुआ माना जाता है जब छायावाद के कुहासे को चीरती हुई 'रेणुका' प्रकाशित हुई और हिन्दी जगत् ने अचकचाकर देखा कि एक सर्वथा नयी शैली, नयी शक्ति, नयी भाषा अपनी अचूक गूँजों से वातावरण को भर उठी है। उत्साह की एक लहर दौड गयी। लगा, जैसे गजदन्ती मीनार में रहनेवाली अप्सरा महसा रेशमी परिधान को छोड जनता के अपने वेश-भाव में जनता के ही जीवन में घुल-मिल रहने के लिए धरती पर उतर आयी हो ।

इसके तीनेक वर्ष बाद जब 'हुकार' प्रकाशित हुई तो दश के युवा वर्ग ने कवि और उसकी ओजमयी कविताओं को कण्ठहार-सा बना लिया। किसी ने दिनकर को हिन्दी का 'जोश' मलिहाबादी कहा तो किसी ने काजी नजरुल। पर सभी के लिए वह अब राष्ट्रीयता, विद्रोह और क्रान्ति के कवि थे। और क्योंकि नयी चेतना के वैतालिक का यह कार्य वह सरकारी सर्विस में रहते हुए कर रहे थे, इसलिए जनता उनके प्रति और भी अधिक श्रद्धालु बन उठी थी। यही शायद कारण भी हुआ कि 'हुकार' के प्रकाशन के लिए सरकार की पूर्वानुमति को दिनकरजी ने आवश्यक नहीं समझा और अधिकारीवर्ग उन्हे बाध्य नहीं कर सका।

सहसा दिनकर को एक झटका लगा जब १९३९ में 'रसवन्ती' और १९४० में 'द्वन्द्वगीत' का प्रकाशन हुआ। अनेक-अनेक प्रशसक-समर्थक तो सोच चले कि यह ज्वालामुखी कण्ठ अन्त को सघर्ष-भूमि से पलायन कर गया। सत्य यह न था, सत्य उनके व्यक्तित्व में ही दो तत्वों के सहगामित्व का था। और छह वर्ष बाद 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' से सबने देख लिया कि दिनकर ने पलायन नहीं किया था, वह तो अपने अभियान का दर्शन बुन रह थ। वस्तुत बेनीपुरीजी के शब्दों मे, "अगारे और इन्द्रधनुष दानो ही दिनकरजी के काव्य में सहवासी रहत हैं कभी एक साथ कभी बारी-बारी।"

'कुरुक्षत्र द्वितीय महायुद्ध के समय की रचना है। किन्तु उसकी मूल-प्रेरणा युद्ध से नहीं, उस देशभक्त युवा मानस के द्वन्द्व से आयी थी जो गान्धीजी की अहिसा को मात्र नीति मानता था और एक दिन समाजवादी या साम्यवादी हो उठा। कवि का अपना निष्कर्ष यही है कि ससार में जब तक समता स्थापित नहीं होती, युद्धो का होना रुकेगा नही। इसी सन्दर्भ मे, हिरोशिमा की विभीषिका को देखकर, कवि ने विज्ञान के आविष्कारो को भी अभिशाप माना, क्योंकि उन्हे नियन्त्रण में रखने की योग्यता मनुष्य में नहीं है। 'रश्मिरथी' उनका एक और प्रधानत वीरता और पौरुष का काव्य है जो १९५२ में आया और उनकी प्रतिष्ठा के प्रसार में सहायक हुआ।

१९५५ मे 'नीलकुसुम' दिनकर के काव्य म एक मोड का द्योतन करने आया। अभी तक उनका काव्य उच्छल आवश का काव्य था, 'नीलकुसुम' ने नियन्त्रण और गहराइयों में पैठने की प्रवृत्ति की सूचना दी। कदाचित् यह प्रभाव था विश्व के समकालीन काव्य साहित्य के अध्ययन का। छह वर्ष बाद 'उर्वशी' प्रकाशित हुई तो हिन्दी साहित्य में अनुभव किया गया कि एक घटना घटित हो गयी। एक ओर कटुता-कोलाहल तो दूसरी ओर गुणकीर्तन-बडाई। धीरे-धीरे थिराव आया और इस काव्य-नाटक को दिनकर की 'कवि-प्रतिभा का चमत्कार' माना गया।

कवि ने इस वैदिक मिथक के माध्यम से देवता और मनुष्य, स्वर्ग और पृथ्वी, अप्सरा और लक्ष्मी, और काम और अध्यात्म के सम्बन्धों का विश्लेषण किया है। वास्तव में अनादि काल से ही मानव काम और अध्यात्म के द्वन्द्व में उलझता रहा है न उसे

छोड़ते बना और न पार पाना सम्भव हुआ। पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम उस उच्च धरातल का स्पर्श करता है जहाँ काम और अध्यात्म की परस्पर दूरी लुप्त हो जाती है। पुरुष यहाँ नारी की कामना भी करता है और उसका अतिक्रमण भी। काम और अध्यात्म के द्वन्द्व से हारकर पुरुरवा ससार से भागता है किन्तु सुकन्या को अकशायिनी बनाकर भी च्यवन तपस्वी ही बने रहते हैं।

दिनकरजी ने माना है कि उन पर प्रारम्भ से ही जितना प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रहा उतना ही मोहम्मद इकबाल का। बाद को इलियट की काव्य-शैली और विचार-दृष्टि ने उनके कवि मानस को छूकर दूर भीतर तक उन्मथित कर दिया। परिणामत उनकी कविताओ ने एक नयी भगिमा को ग्रहण किया। 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'कोयला और कवित्व', 'आत्मा की आँखें', 'सीपी और शख', 'हार का हरि नाम' और, अवश्य, 'उर्वशी' भी इसी नयी भगिमा की झाँकी प्रस्तुत करती हैं।

दिनकरजी अपने युग के एक प्रमुखतम कवि ही नही, सफल और प्रभावपूर्ण गद्यलेखक भी हैं। सीधी-सरल भाषा और अत्यन्त प्राजल शैली में उन्होंने विभिन्न साहित्यिक विषयो पर निबन्ध भी दिये हैं, तो बोधकथा-डायरी-सस्मरण भी, और दर्शन-इतिहासगत तथ्यो के विवेचन भी। अब तक उनकी तीस काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और पचीस गद्य-कृतियाँ।

'दिनकर' जी जीवन भर सघर्षरत रहे। साहित्य और राजनीति दोनो के बीच उनका मन रमता था और इन दोनो ही क्षेत्रों मे उनको सफलता मिली किन्तु उनकी पारिवारिक परिस्थितिया ऐसी थीं कि जीवन के अतिम दिनों में उनको कष्ट और क्लेश के अतिरिक्त कुछ प्राप्त ही नहीं हुआ। उनके अतरग मित्रों को यह ज्ञात है कि इस परिप्रेक्ष्य में ज्ञानपीठ पुरस्कार उनके जीवन के अतिम अध्याय का स्वर्णिम क्षण सिद्ध हुआ। पुरस्कार प्राप्त कर 'दिनकर' जी अभिभूत थे क्योंकि कवि का मन अपनी रचनाओ की स्वीकृति विशेष रूप से सुधीजनों द्वारा उनका प्रशसित और समादृत होना अपनी सबसे बडी उपलब्धि मानता है। ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिला, 'दिनकर' जी के जीवन में एक नयी आशा का सचार हुआ लेकिन फिर एक झौंका आया और गृह क्लेश से उनका क्लान्त मन अब बार-बार पुन इस असार ससार से विदा लेने का सकल्प करने लगा। इसी मन स्थिति के साथ उन्होने अप्रैल, १९७४ में तिरुपति की यात्रा की। जब 'दिनकर' जी मद्रास पहुँचे तो यह एक सुखद सयोग था कि उनके सर्वाधिक स्नेही मित्र श्री गगाशरण सिंह और जयप्रकाश बाबू भी वहीं थे। उसी शाम उन्होंने मद्रास के समुद्र तट पर अपने कुछ मित्रों को अपनी सुदर-सुदर रचनाए सुनाई और तब कोई नहीं जानता था कि आज 23-24 अप्रैल की शाम गगा की गोद मे उत्पन्न दिनकर के अस्ताचल जाने की शाम थी। उसी रात मद्रास में ही 'दिनकर' जी की जीवन लीला समाप्त हो गई और फिर उनका पार्थिव शरीर मद्रास स दिल्ली होकर पटना लाया गया। बिहार की राजधानी पटना के सदाकत आश्रम मे ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया था और फिर वहीं रोते बिलखते बिहार के लोगो ने देश के उस सपूत को अतिम विदाई दी। 'दिनकर' गाव में पैदा हुए, सदा जमीन से जुडे रहे। जीवन भर सघर्ष करते हुए राष्ट्र की भावना को निरन्तर सशक्त भाषा में अभिव्यक्त कर अपनी अद्वितीय रचनाओं के कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने लिए एक अमर स्थान सुरक्षित कर गए हैं और सभी यह मानते हैं कि हमारे देश का हर युग, हर पीढी राष्ट्रकवि 'दिनकर' को सदा-सदा श्रद्धा एव सम्मान सहित याद करती रहेगी।

कृतियाँ

क्र.	कृति	वर्ष
१	प्रणभग	१९२९
२	रणुका	१९३५
३	हुकार	१९३८
४	रसवन्ती	१९३९
५	द्वन्द्वगीत	१९४०
६	कुरुक्षेत्र	१९४६
७	सामधेनी	१९४७
८	बापू	१९४७
९	धूपछाँह	१९४७
१०	इतिहास का ऑसू	१९५१
११	धूप और धुँआ	१९५१
१२	मिर्च का मजा	१९५१
१३	रश्मिरथि	१९५२
१४	दिल्ली	१९५४
१५	नीम के पत्त	१९५४
१६	सूरज का ब्याह	१९५५
१७	नील कुसुम	१९५५
१८	चक्रवाल	१९५६
१९	कविश्री	१९५७
२०	सीपी और शख	१९५७
२१	नय सुभाषित	१९५७
२२	लोकप्रिय कवि दिनकर	१९६०
२३	उर्वशी	१९६१
२४	परशुराम की प्रतीक्षा	१९६३
२५	कायला और कवित्व	१९६४
२६	मृत्ति-तिलक	१९६४
२७	दिनकर की सूक्तियाँ	१९६४
२८	आत्मा की ऑख	१९६४
२९	हार का हरिनाम	१९७०
३०	दिनकर के गीत	१९७३
३१	मिट्टी की ओर	१९४६
३२	चित्तौड का साका	१९४८
३३	अर्धनारीश्वर	१९५२
३४	रेती के फूल	१९५४
३५	हमारी सास्कृतिक एकता	१९५४
३६	भारत की सास्कृतिक कहानी	१९५५
३७	राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता	१९५५
३८	उजली आग	१९५६
३९	सस्कृति के चार अध्याय	१९५६
४०	काव्य की भूमिका	१९५८
४१	पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण	१९५८
४२	वेणु वन	१९५८
४३	धर्म, नैतिकता और विज्ञान	१९५९
४४	वट-पीपल	१९६१
४५	लोकदेव नेहरू	१९६५
४६	शुद्ध कविता की खोज	१९६६
४७	साहित्यमुखी	१९६८
४८	हे राम ।	१९६८
४९	सस्मरण और श्रद्धाजलियाँ	१९७०
५०	मरी यात्राएँ	१९७१
५१	भारतीय एकता	१९७१
५२	दिनकर की डायरी	१९७३
५३	चेतना की शिखा	१९७३
५४	विवाह की मुसीबते	१९७३
५५	आधुनिक बोध	१९७३

अभिभाषण के अंश

ज्ञानपीठ पुरस्कार ने एक शिखर तैयार कर दिया है, जिस पर खडा होने से आदमी सारे देश को दिखायी पड जाता है और उत्सव के दिन क्षण भर को उसे यह अधिकार भी मिल जाता है कि वह कुछ बोले और लोग उसकी बातो को सुने। यह बहुत बडा गौरव है और मैं सच्चे हृदय से उन सभी सहृदय विद्वानो को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे 'उर्वशी' काव्य को इस पुरस्कार के योग्य समझा और मुझे इस उच्च शिखर पर खडा होने का अवसर प्रदान किया है।

जिस विशाल देश मे सोलह भाषाएँ सविधान द्वारा स्वीकृत हो और प्राय सभी भाषाओं मे साहित्य-निर्माण का कार्य हो रहा हो, उस देश मे साहित्य के क्षेत्र मे सार्वदेशिक मच का निर्माण बडा ही कठिन कार्य है। जब भारतीय ज्ञानपीठ ने अपने पुरस्कार की योजना पहले-पहल विज्ञापित की थी, उस समय पुरस्कार-योजना के शुभचिन्तक भी मन ही मन सहमे हुए थे। उन्हे चिन्ता थी कि सभी भाषाओ की पुस्तको के बीच तुलना का कार्य किस प्रक्रिया से सम्पन्न किया जायेगा और तुलना करने के पश्चात्, जब प्रवर-समिति किसी ग्रन्थ को सर्वश्रेष्ठ घोषित करेगी, तब प्रवर-समिति का निर्णय सामान्यत मान्य समझा जायेगा या नही। किन्तु पिछले आठ वर्षो के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि सदाशयता हो और पूरा परिश्रम किया जाये, तो यह असम्भव कार्य भी सम्भव बनाया जा सकता है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने जिस बीहड काम मे हाथ डाला था, उसमे उसे सफलता प्राप्त हुई। इसलिए वह देश मे प्रशसा का पात्र हो गया और पिछले आठ वर्षों में उस पर प्रशसा के जो पुष्प बरसे हैं, ज्ञानपीठ की सेवा उनके योग्य थी। मेरी दृष्टि मे ज्ञानपीठ की इस सफलता का ऐतिहासिक महत्त्व है। स्वराज होने के पूर्व हम अपने देश की अन्य भाषाओ के साहित्यकारो के नाम तब तक नहीं सुनते थे, जब तक वे रवीन्द्र, प्रेमचन्द्र, शरत् या इकबाल न हो जाये। स्वराज्य होने के बाद भारतीय भाषाओ को परस्पर समीप लाने का आन्दोलन आरम्भ हुआ और हमारी प्रत्येक भाषा के लोग अपने देश की अन्य भाषाओ के श्रेष्ठ लेखकों के नाम कुछ ज्यादा सुनने लगे। इस दिशा मे साहित्य अकादमी ने जो कार्य किया है, उसकी महिमा स्पष्ट है। किन्तु इतना कुछ होने पर भी साहित्य मे अखिल भारतीय मच की कल्पना निराकार की निराकार ही रही। उसे साकार करने का श्रेय इतिहास भारतीय ज्ञानपीठ को देगा, इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही है। भारतीय ज्ञानपीठ ने भारत-राष्ट्र का एक बहुत बडा कार्य कर दिया, जिसके लिए मैं उसे बधाई देता हूँ।

ज्ञानपीठ-पुरस्कार से केवल साहित्य की ही सेवा नही हो रही है, उससे भारत की भावात्मक एकता मे भी वृद्धि हो रही है। भारत अपने बौद्धिक व्यक्तित्व को भी ऊपर उठा रहा है, साहित्य के क्षेत्र मे उसके आत्मविश्वास मे भी वृद्धि हो रही है और, अप्रत्यक्ष रूप से, वह अँगरेजी के दबाव से भी निकलता जा रहा है।

ज्ञान का साहित्य मनुष्य किसी भी भाषा मे लिख सकता है, जिसे उस ने भली भाँति सीख लिया हो, किन्तु रस का साहित्य वह केवल अपनी भाषा मे रच सकता है। प्रत्येक ऐसे देश की आत्मा जिसका कोई इतिहास है, उस देश की अपनी भाषा मे बोलती है। भारत की भी आत्मा की भाषा उसकी अपनी भाषा है। अँगरेजी के माध्यम से हमने भारत की महिमा का प्रचार किया है। अन्यथा

अँगरेज और अँगरेजी के युग मे भी भारत की आत्मा की भाषा उसकी अपनी ही भाषा थी। भारतीय भाषाओ का पुजारी होने के कारण भारतीय ज्ञानपीठ श्रद्धा का पात्र है। मैं श्रद्धा के भाव से उसे प्रणाम करता हूँ। अपनी भाषा की उन्नति करना और उन्नत देशो की भाषाएँ सीखना, ये दोनो परस्पर विरोधी कार्य नही हैं। किन्तु भारत को यदि मौलिक राष्ट्र बनाना है, तो उसकी अपनी भाषाओं को सर्वाधिक महत्त्व देना ही पडेगा।

अब मैं इस असमजस मे हूँ कि ज्ञानपीठ को धन्यवाद देने के पश्चात् आज मुझे बोलना क्या चाहिए। देश की रक्षा के लिए किया जाने वाला सघर्ष बडा, परिवार की रक्षा के लिए किया जानेवाला सघर्ष छोटा होता है। फिर भी मैंने सारी आयु इसी छोटे सघर्ष मे बितायी है। दिन का जो ताजा हिस्सा था, वह परिवार के लिए रोटी कमाने मे गया। उसके बाद जो अवसाद की घडियाँ होती हैं, उन्ही मे मैंने साहित्य की साधना की है। फिर भी साहित्य-ससार ने मेरी ओर आँख उठाकर देखने की कृपा की, इसे मैं अपना सौभाग्य और उस प्रभु का वरदान समझता हूँ जिसकी कृपा से मूक बोलते और पगु पर्वतारोहण करते हैं।

लगता है, पृथ्वी पर आने के पूर्व जब भगवान् को प्रणाम करने गया, वे कलाकारो के बीच छेनी, टाँकी, हथौडी, कूँची और रग बाँट रहे थे। लेकिन भगवान् ने मुझे छेनी, टाँकी और हथौडी नही दी, जो पच्चीकारी के औजार हैं। उनके भण्डार मे एक हथौडा पडा हुआ था। भगवान् ने वही हथौडा उठा कर मुझे दे दिया और (जरा-सी आत्मश्लाघा के लिए क्षमा कीजिए) कहा कि जा, तू इस हथौडे से चट्टान का पत्थर तोडेगा और तेरे तोडे हुए अनगढ पत्थर भी काल के समुद्र मे फूल के समान तैरेंगे।

लगता है, जब मैं हथौडा लेकर चला, मैं छेनी और टाँकी की ओर मुड-मुडकर लोभ से देख रहा था। वह लोभ मुझे जीवन-भर सताता रहा है और जीवन-भर मैं इस विचिकित्सा मे पडा रहा हूँ कि कविता का वास्तविक प्रयोजन क्या है। क्या वह मनुष्य को जगाने, सुधारने और उन्नत बनाने के लिए है या उसका काम आदमी को रिझाना और उसे प्रसन्न करना है? या इनमे से कोई भी ध्येय कविता का ध्येय नहीं है? जैसा कि एजरा पॉउण्ड ने कहा है, कविता केवल कविता है, जैसे वृक्ष केवल वृक्ष है। वृक्ष अपनी जगह पर स्थिर खडा है। वह किसी को भी नही बुलाता। फिर भी लोग उसकी हरियाली को देखकर खुश होते हैं, उसकी छाया मे बैठते हैं और, पेड अगर फलदार हुआ तो, वे फलो को तोडकर खा लेते हैं। चेतना के तल मे जो घटना घटती है, जो हलचल मचती है, उसे शब्दों मे अभिव्यक्ति देकर हम सन्तोष पाते हैं। यही हमारी उपलब्धि है। यदि देश और समाज को उससे कोई शक्ति प्राप्त होती है, तो यह अतिरिक्त लाभ है। किन्तु, इतना जरूर है कि पेड मनुष्यो और पक्षियो के नही रहने पर भी फूल और फल सकते हैं, किन्तु पाठक और श्रोता न रहे, तो कवि कविता लिखेगा या नही, इसमे मुझे भारी सन्देह है। अगर सारी दुनिया खत्म हो जाये और केवल एक आदमी जीवित खडा हो, तो कवि होने पर भी, वह कविता शायद ही लिखेगा। मेरी दृढ धारणा है कि कविता व्यक्ति द्वारा सम्पादित सामाजिक कार्य है और शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है।

अपने निर्माण के दिनो मे प्रत्येक नये कवि को उस एक महाकवि का पता लगाना पडता है, जिसके समान वह बनना चाहता है। मेरा दुर्भाग्य या सौभाग्य यह रहा है कि मैंने एक के बदले ऐसे दो महाकवियो का पता लगा लिया, जिनके समान बनने की मुझ मे उमग थी। इनमे से एक थे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जिनके नाम की सारे ससार मे धूम थी और जिनके प्रभाव में आकर भारत की कई भाषाओ मे छोटे-छोटे रवीन्द्रनाथ पैदा हो गये थे, और दूसरे थे सर मोहम्मद इकबाल, जिन्हे नोबेल पुरस्कार तो नही मिला था मगर जिनकी कविताएँ पाठको के रुधिर मे आग की तरगे उठाती थी, मन के भीतर चिन्तन का द्वार खोल देती थीं।

प्रभाव तो इन दोनों कवियों का मुझ पर पहले

ही पड गया। यह पता बहुत बाद को चला कि रवीन्द्र और इकबाल दो ध्रुवों के कवि हैं और वे अकसर आमने-सामने के दो विरोधी क्षितिजों से बोलते हैं। भगवान् के प्रति रविन्द्रनाथ का भाव सम्पूर्ण आत्म-समर्पण का भाव था—

प्रभु, तीमा लागि आँखि जागे।
देखा नाइ पाइ, शुधू पथ चाइ,
सेओ मोने भालो लागे।

किन्तु इकबाल भगवान् के उस प्रकार के भक्त थे जो चाहता है कि मैं भगवान् मे लीन नहीं होऊँगा, भगवान् को ही मुझ मे विलीन होना पडेगा—

खुदी को कर बुलन्द इतना
कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे,
बता, तेरी रजा क्या है।

यह भी कि रवीन्द्रनाथ उपयोगिता को कोई महत्त्व नही देते थे। जहाँ तक उपयोगिता का सवाल है, आदमी और जानवर में कोई भेद नहीं है। मनुष्य का असली व्यक्तित्व तब बनता है, जब वह उपयोगिता के घेरे को लाँघ कर ऐसी भूमि मे पहुँच जाता है जो निरुद्देश्य आनन्द की भूमि है, जहाँ मनुष्य आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर साहित्य का सृजन नही करता, न समाज के किसी स्थूल प्रयोजन की पूर्ति के लिए कविता या चित्र बनाता है।

रवीन्द्रनाथ की तरह इकबाल भी मानते हैं कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। किन्तु, व्यक्तित्व की परिभाषा उनकी कुछ और है। जो आदमी आराम में है, जो सघर्ष से दूर है, जो बडे मकसदो को हासिल करने के लिए जद्दोजहद नहीं कर रहा है, इकबाल उस मनुष्य को व्यक्तित्वहीन समझते हैं। व्यक्तित्व की स्थिति सघर्ष की स्थिति होती है, तनाव की स्थिति होती है, और जो आदमी जितने ही अधिक तनाव में है, उसका व्यक्तित्व भी उतना ही बडा और बलवान है।

शुरू में ही मुझ पर रवीन्द्र और इकबाल का जो विरोधी प्रभाव पड गया, उसके कारण मैं काफी वर्षों तक बेचैन रहा। मेरे निर्माण का समय वह था जब गाँधी जी समस्त देश को जीवन, जागरण, प्रेरणा और सघर्ष से आलोडित कर रहे थे। ऐसा समय क्या कोमल, वायवीय, निरुद्देश्य गीतों का समय होता है? अथवा सम्भव है कि पराधीनता का विरोध, शोषण और साम्राज्यवाद पर प्रहार तथा समता के समर्थन मे गान मैंने भी प्रचार के लिए नहीं, बल्कि इसलिए किया था कि वैसा करना मुझे अच्छा लगता था, आनन्ददायी मालूम होता था। कॉलेज में वर्ड्स्वर्थ की ये पक्तियाँ कदाचित् मैंने भी पढी होंगी

The gods approve the depth
And not the tumult of the soul

लेकिन जवानी भर मुझे इसकी परवाह ही नही रही कि देवताओ की पसन्द क्या है। मुख्य बात यह थी कि गर्म लोहे पर हथौडे की चोट जोर से पडती है या नही। मैं रन्दा लेकर काठ को चिकनाने नहीं आया था। मेरे हाथ में तो कुल्हाडी थी। मैं जडता की लकडियो को फाड रहा था।

लेकिन मुझे राष्ट्रीयता, क्रान्ति और गर्जन-तर्जन की कविताएँ लिखते देखकर मेरे भीतर बैठे हुए रवीन्द्रनाथ दु खी होते थे और सकेतो मे कहते थे, "तू जिस भूमि पर काम कर रहा है, वह काव्य के असली स्रोतो के ठीक समीप नहीं है।" तब मैं 'असमय आह्वान' मे, 'हाहाकार' मे तथा अन्य कई कविताओ मे अपनी किस्मत पर रोता था कि हाय, काल ने इतना कसकर मुझे ही क्यों पकड लिया? मेरे भीतर जो कोमल स्पप्न हैं, वे क्या भीतर ही भीतर मुरझा कर रह जायेंगे? उन्हे क्या शब्द बिलकुल ही नहीं मिलेंगे?

लेकिन शब्द इन कोमल स्वप्नो को भी मिले। 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व-गीत' इन्ही कोमल कविताओ के सग्रह हैं। किंतु विरुद मेरा चारण और वैतालिक का ही रहा। 'हुकार' के आमुख में मैंने स्वय स्वीकार किया था—

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि,
बुनो कल्पना की जाली।

तिमिर-ज्योति की समर भूमि का
मैं चारण, मैं वैताली।

तब सन् १९४३ के आसपास मेरा परिचय 'अदृश्य कवि' इलियट की कविताओं से हुआ। यह मेरी काव्य-चेतना मे आने वाला पहला भूडोल था। पूर्व इसके कि युग की बीमारी अपनी हस्ती का एलान करे, कवि को चाहिए कि वह युग से कह दे कि तुम बीमार हो या बीमार होने वाले हो। इलियट की कविताएँ पूरी तरह मेरी समझ मे नहीं आयीं, लेकिन तब भी मैं मान गया कि उन्होंने युग को यह चेतावनी दे दी है।

मैं बडी ही निश्चिन्तता और आत्मविश्वास के साथ गाता आ रहा था, साम्राज्यवाद की कुरूप छाती मे अपने गीतों के खजर चुभोता आ रहा था, पराधीनता की बेडियो पर उस हथौडे से प्रहार करता आ रहा था, जो मुझे भगवान् से प्राप्त हुआ था। किन्तु, इलियट को पढते ही मैं थोडी देर के लिए ठिठककर रह गया। अरे, इलियट की कविताएँ हम लोगों की कविताओं यानी मेरे गुरू रवीन्द्रनाथ और इकबाल की कविताओ से कितनी भिन्न हैं। फिर मन ने कहा, यह अवश्य ही परिस्थितियो का भेद है। इलियट उस दुनिया के कवि हैं, जो दुनिया समृद्धि की अधिकता से बेजार है, जिस दुनिया ने आत्मा को सुलाकर शरीर को जगा लिया है। किन्तु, हम तो पराधीन देश के कवि हैं। हमारा तो कोई देश ही नहीं है। फिर हम 'मरु देश' की कल्पना कैसे कर सकते हैं ?

मगर इलियट को मैं चाहे जितना भी भूलना चाहता, मैं उन्हें भूल नही पाता था। उनकी कविताएँ समझ मे भले ही नहीं आती हो, किन्तु वे मेरी शान्ति भग करने मे समर्थ थी, मेरे मन को वे अकसर उस दिशा मे भेज देती थीं जिस दिशा मे कही कोई क्षितिज नही था, न कोई किताब खुलकर बन्द होती थी। मेरी चेतना के घाट बँध चुके थे, मेरी चमडी मोटी हो चुकी थी, मेरे मुहावरे अब बदले नहीं जा सकते थे। अतएव, इलियट के लिए यह असम्भव कार्य था कि वे मुझे बदलकर अपनी राह पर लगा ले। लेकिन मन बराबर यह महसूस करता रहा कि इलियट रवीन्द्र और इकबाल से छोटे हों या बडे, यह अलग बात है, किन्तु वे उन दोनों से भिन्न हैं और उनके साथ कविता मे कोई ऐसी अदा उतरी है, जो ससार में और कभी दिखायी नहीं पडी थी। उस समय मैं यह क्या जानता था कि नवीनता का पाठ कविता ने इलियट में ही आकर नही पढा ! यह पाठ इलियट की कविताओ से कोई पचास वर्ष पूर्व वह फ्रान्स मे पढ चुकी थी। लेकिन भारतवासियों को तो भारत से बाहर केवल अँगरेज दिखायी पडते थे। अतएव जब तक अँगरेज नहीं बदले, भारतवासियो ने कविता के क्षेत्र मे बदलने की बात सोची भी नहीं, जो बिलकुल स्वाभाविक बात थी।

आगे चलकर श्री अरविन्द के एक लेख मे मैंने पढा कि भविष्य की कविता मन्त्र के समान छोटी और वैसी ही प्रभावशालिनी होगी। इलियट की कविता मन्त्र कविता का पूर्वाभास है। कविता जिस साधना मे लगी हुई है, उसमे यदि वह सफल हो गयी, तो मन्त्र की तरह सक्षिप्त होना उसका स्वभाव हो जायेगा और वह सकेत मे इस प्रकार बोलेगी, मानो, आगामी पीढियो को कवि चिट्ठी नही, तार भेज रहा हो। मुझे उन कवियो और आलोचको पर तरस आता है जो इलियट की गणना साहित्य के लकडबग्घो मे करते हैं।

रवीन्द्र और इकबाल ने मेरे हृदय-सरोवर को खूब हिलकोरा था। जब सरोवर किंचित् जड होने लगा, उसे इलियट और उनके समानधर्मी कवियो ने फिर से हिलकोर दिया। नयी कविता से मेरे घबराने का एक कारण यह था कि वह मेरी समझ में नहीं आती थी। दूसरे, उसने छन्द की राह छोड दी थी। किन्तु जब मैंने देखा कि चित्रकारी बालू और कोलतार से तथा मूर्तिकारी लोहे के तारो से की जा रही है, तब मैंने भी यह मान लिया कि कविता का गद्य मे लिखा जाना कोई अनुचित बात नहीं है।

मुझे जो कुछ बनना था, रवीन्द्र और इकबाल की कृपा से मैं बन चुका था। अब मुझे यह उम्मीद

नहीं थी कि मुझ पर कविता के नये आन्दोलन का भी प्रभाव पडेगा। लेकिन जो बात जवानी मे नहीं हो पायी, वह बुढापे मे आकर हो गयी। इसी प्रभाव का अदृश्य आरम्भ 'नील कुसुम' मे हुआ, उसका दृश्य प्रमाण 'हारे को हरि नाम' मे मौजूद है। धर्म मे मैं निराकार से सराकार की ओर गया हूँ। कविता मे मेरी यात्रा साकार से निराकार की ओर है। पहले मैं यह जानता था कि कविता कहाँ से आ रही है और वह किस तरफ को जायेगी। अब मुझे यह मालूम ही नही होता कि कविता कहाँ से आती है और क्या उसका गन्तव्य है।

कविता युग के सचित ज्ञान का आख्यान नही है। कविता का क्षेत्र ज्यो-ज्यो नवीन होता जाता है, कवि त्यों-त्यो अधिक गहराई मे उतरता जाता है, और ज्यो-ज्यो वह गहराई में उतरता जाता है, त्यो-त्यो यह बताने मे वह अधिक असमर्थ होता जाता है कि यह सत्य है और वह सत्य नही है। कविता की जो यात्रा गहराई की ओर है, वही उसे अनेकान्त की ओर लिये जा रही है। कवि यह जान गया है कि कोई भी बात जोर से बोलने के योग्य नही है। इसीलिए अब वह निश्चित और अनिश्चित, ज्ञात और अज्ञात के सन्धिस्थल पर काम करता है। मनुष्य इतनी बार धोखा खा चुका है कि उसे अब किसी भी ज्ञान पर विश्वास नही रहा और सत्य को उसने इतनी बार बदलते देखा है कि वह कहीं भी दुराग्रहपूर्वक अडने को तैयार नही है। इसका प्रभाव कविता पर पडना स्वाभाविक था। कविता अब सत्य का उद्घोष नही, उसके अनुसन्धान का प्रयास है। मैं भी 'उर्वशी' मे सिखाने के बदले अनुसन्धान के काम मे ज्यादा लगा रहा हूँ। यह ठीक है कि 'उर्वशी' बहुत से सचित ज्ञान का कथन बडे ही उत्साह के साथ करती है, किन्तु यह सब का सब सच है या नहीं, यह बात मुझे भी मालूम नहीं है। कविता मे एक स्थिति वह भी आती है, जब कवि को अपने अह का लोप करना पडता है अथवा समाधि की स्थिति में देर तक टिके रहने से कवि के अह का आप-से-आप लोप हो जाता है। तब तो भूमि रिक्त रह जाती है, वहाँ कही से स्रस्त होकर कविता खुद-ब-खुद उतर आती है। 'उर्वशी' मे ऐसे कई स्थल हैं। किन्तु उनके बारे में अधिकारपूर्वक बोलना मेरे लिए सम्भव नहीं है, क्योकि जहाँ-जहाँ ऐसे स्थल आये हैं, मेरा अस्तित्व विलुप्त हो गया है। वहाँ जो है, वह कविता है, मैं नही हूँ।

इस प्रसग मे 'उर्वशी' को 'कुरुक्षेत्र' से मिलाकर देखने की उत्सुकता स्वाभाविक है। 'कुरुक्षेत्र' मे प्रकाश है, 'उर्वशी' मे द्वाभा और गोधूलि है। 'कुरुक्षेत्र' की वाणी विश्वास की वाणी है। 'उर्वशी' की वाणी सशय और द्विधा से आक्रान्त है। 'कुरुक्षेत्र' मे मैं धृष्टतापूर्वक गुरू के पद से स्वय बोल गया हूँ। 'उर्वशी' की ऊँचाई पर पहुँचकर मुझे ऐसा लगा कि काश, कोई गुरू मिल जाता, तो उससे पूछ लेता कि असली रहस्य क्या है।

अपने स्वप्न, अपनी कल्पना की व्याख्या कवि स्वय नही कर सकता, न यह काम करने की उसे कोशिश करनी चाहिए। कवि करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डित। फिर भी मैंने यह विवर्जित कार्य इसलिए किया कि मुझे लगा कि इस से आप का किंचित् मनोरजन हो जायेगा। यह वह युग है, जिसमें माध्यम प्रमुख, सन्देश गौण हो गया है। लोग कविता कम, कविता के बारे मे अधिक सुनना चाहते हैं। कवि की जीवनियाँ आज ज्यादा बिकती हैं, उनकी कविताओं की बिक्री कम हो गयी है। कवि की कविता से अधिक महत्त्व अब कवि के साथ की गयी भेट-वार्ता को दिया जाता है।

जिस सभ्यता मे हम जी रहे हैं, वह चौकोर व्यक्तित्व-वालो की नही, विशेषज्ञों की सभ्यता है। ज्ञान के वृक्ष की डालियाँ अब बढ़कर इतनी स्वतन्त्र हो गयी हैं कि एक डाल पर बसनेवाला पक्षी दूसरी डाल के पक्षी की बोली समझने में असमर्थ है। एक समय ऐसा भी था, जब गैलीलियो, वैज्ञानिक होने पर भी, कविता करते थे और लियोनार्डो द विंची को, कलाकार होने पर भी, विज्ञान की सारी बातें मालूम थीं। भारत मे तो कवि अकसर ज्योतिषी भी

हुआ करते थे। खानखाना अब्दुर रहीम केवल शायर ही नहीं, ज्योतिषी और सिपहसालार भी थे। लेकिन अब समय ऐसा आ गया है कि भौतिकी के सारे आविष्कार गणित के फॉरमूलों में बोले जाते हैं। मगर सभी वैज्ञानिक इतने बडे गणितज्ञ नहीं होते कि वे इन फॉरमूलों को समझ सकें। नतीजा यह है कि वैज्ञानिक की बातें सभी वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आतीं। इसी प्रकार कवियों की कविताएँ भी कुछ खास-खास कवि ही समझ पाते हैं। यह स्थिति कविता के लिए सामान्य नहीं, अच्छे-खासे सुधी पाठकों के लिए भी दुखदायी हो रही है। काश, कोई ऐसा कवि पैदा होता, जो इलियट और रिल्के के लिए स्वप्नों को तुलसी की सरलता से लिखने का मार्ग निकाल देता।

देवियो और सज्जनों, अन्त में अपने जीवन का एक और भेद बताकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन-भर गाँधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ। इसीलिए उजले को लाल से गुणा करने पर जो रग बनता है, वही रग मेरी कविता का रग है। मेरा विश्वास है कि अन्ततोगत्वा यही रग भारतवर्ष के व्यक्तित्व का भी होगा।
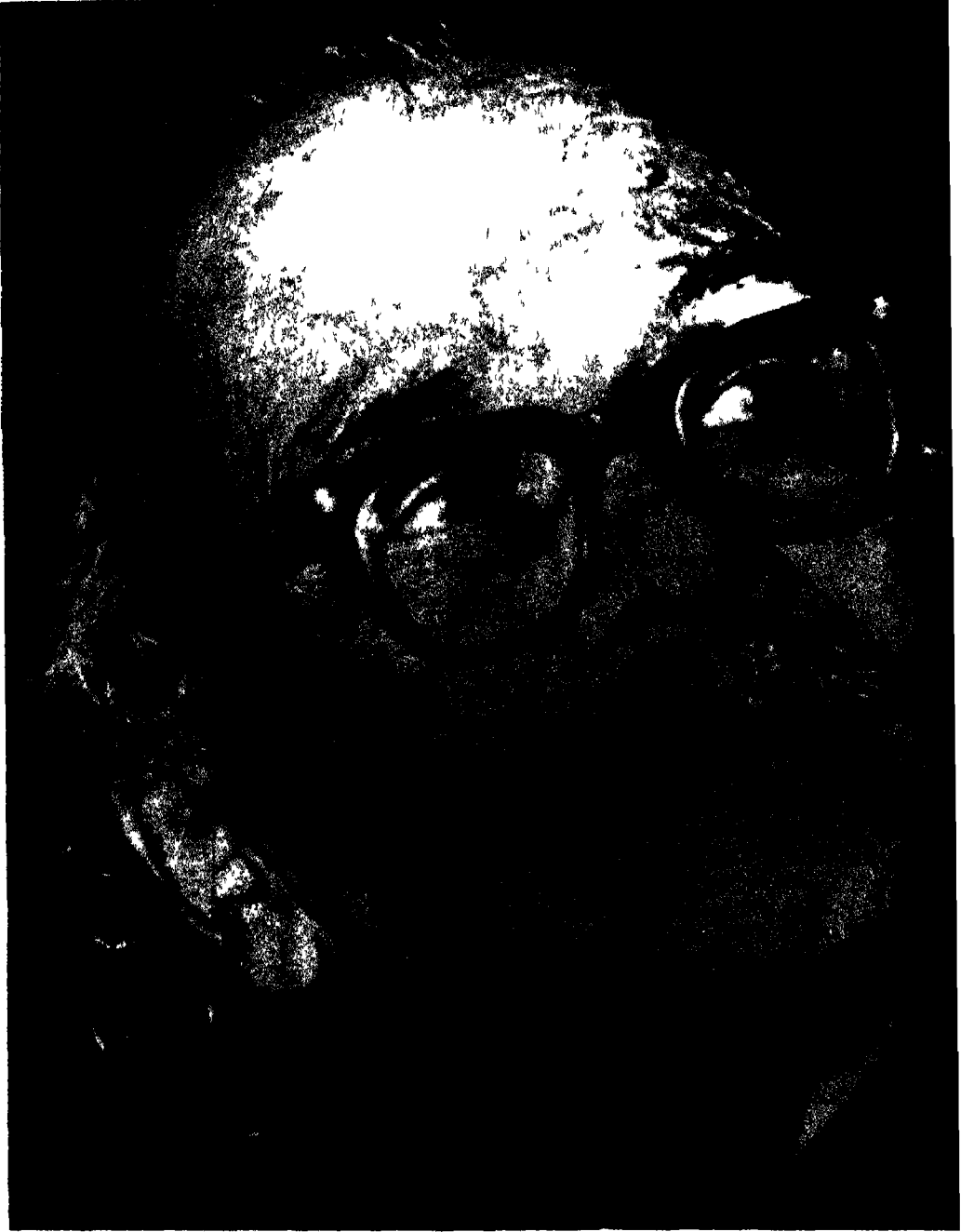
डा. दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे

प्रशस्ति
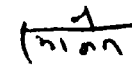
भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७३ का साहित्य-पुरस्कार डॉ दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे को उनके कन्नड काव्य-सग्रह 'नाकुतन्ती' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६२ से १९६६ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किये जाने का सह-गौरव प्राप्त है।

कवि और द्रष्टा बेन्द्रे ने मुखरित किया है मनुष्य जीवन के सौन्दर्य को, उसके सत्रास को, प्रकृति और मानव-व्यक्तित्व की भव्यता को, कर्नाटक और भारत के पुनरुद्‌भवन एव विश्व के भावी रूपान्तरण को, और दशाब्दियों के यात्राक्रम को तथा उस सश्लिष्ट सदर्शन को जो मर्मस्थ है सृष्टि में। विषयवस्तु की इस वि विधिता ने परिणति पायी उस दीप्तिमान व्यग्य-विनोद में, अलौकिक असन्तोष और उल्लास में एव चारुताउदात्तता में जो उनकी पचास से अधिक कृतियों में परिव्याप्त है। इनमें अधिकतर कविता-सग्रह हैं, शेष नाटक-निबन्ध-कहानी सग्रह या अनुवाद। बेन्द्रे एक पथ-स्रष्टा हैं जिन्होंने अनेकानेक लेखकों की कलागत सचेतना को रूपायित किया, और जिन्होंने लोकधुनों पर बँधे गीतों एव जटिल पदों द्वारा विज्ञ और अविज्ञ दोनों को विमुग्ध रखा है।

पुरस्कार-जयी इस कन्नड काव्य-सग्रह 'नाकुतन्ती' में प्रस्तुत किया गया है वर्तमान का व्यग्यात्मक छविरूप, सास्कृतिक अतीत और भविष्य का सशक्त प्रतीकों में निष्कर्ष, और स्थायी एव समग्रात्मक मूल्यों का समर्थन। बेन्द्रे के काव्य में उद्‌घाटित और रूपान्तरित करने की सक्षमता है। व्यक्ति से ब्रह्माण्ड तक सबको इसने समोया हुआ है इसमें काल की राजनीति भी है और शाश्वत की भी।

दीर्घजीवी हों कवि और सलग्न रहें काव्य सर्जना में।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्षा
८ नवम्बर १९७४	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ
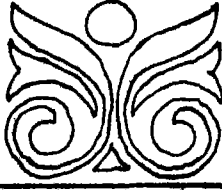
डा. दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे

कविश्री बेन्द्रे का जन्म ३१ जनवरी, १८९६ को धारवाड मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। अकिंचन परिवार दीर्घ काल से अभावग्रस्त था। स्वभावत बेन्द्रे को उत्तराधिकार में दो सम्पदाएँ मिली सस्कारिता और विद्यानुराग। पितामह मर्मी वेदज्ञ थे उनके शिष्यो मे कोई सन्तमना हुए, कोई मनीषी विद्वान्। पिता को गण्डमाला का रोग था उन्होने अपने को जीवित रखा तो इस कर्तव्य-बोध से कि पुत्र को पुरखो की ज्ञानथाती सौंप सके। कवि की चेतना को रूप-दिशा देने में जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही वह माँ थी। माँ भी बेटे को दे सकी तो केवल प्यार, पर यही प्यार था जो बेन्द्रे की मनोभूमि मे प्राणिमात्र के लिए आदर-भाव और इस सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता-पालनहार के प्रति अडिग आस्था को सदा-सदा के लिए रोप गया।

'बालकाण्ड' शीर्षक कविता मे बेन्द्रे ने यहाँ के इन दिनों की कुछ छवियाँ उकेरी हैं। आसपास समाज में किसी भी घर सम्पन्नता न थी, बहुतो के व्यवहार में शिष्टता तक का अभाव था, फिर भी सब ओर एक जीवन्तता थी सब कोई प्रकृति के हास और रोष के साथ बँधे हुए, सब कुछ उसी के ऋतु-रगों और पर्वों के साथ तालबद्ध। सामाजिक या पारिवारिक, कोई कार्य न होता जिसके साथ गीत न जुडे रहते। भक्त और भिखारी, नर्तकिये-स्वाँगी और फेरीवाले तक अपने-अपने गीत लिये आते और इन गीतो की रगारग भाषा उनकी लयो की विविधता, बेन्द्रे के बाल-मन पर छायी रह जाती। भावनाओ के स्तर पर बेन्द्रे का इसी लोक-समाज की नियति के साथ एक तादात्म्य जैसा बन उठा था। लोक-समाज ने भी, १९३२ मे उनका प्रथम कविता-सग्रह प्रकाशित हुआ उससे पहले ही, उन्हे 'अपने कवि' के रूप मे अगीकार कर लिया था।

बेन्द्रे अन्यान्य आधुनिक कवियो की नाईं एक आत्मचेतन कवि हैं। पर इनकी आत्मचेतना औरो से भिन्न है। आधुनिक कवि की आत्मचेतना के मूल में उसका अदम्य अहबोध रहता है, बेन्द्रे की आत्मचेतना एक सहज देन है उनके कविगत जीवन-उद्देश्य सम्बन्धी उच्च धारणा-भावना की। बेन्द्रे सर्वाधिक प्रबुद्धमना कन्नड लेखको में से हैं। स्वभावत प्रारम्भ से ही उनके आगे समस्या रही कि किस प्रकार लोक-समाज के मनोभावों का अपनी निजी बौद्धिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों के साथ तालमेल बैठायें। कितनी सफलतापूर्वक यह

कार्य उन्होंने किया है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी रचनाएँ हैं।

इस प्रकार, चिन्तन और भावानुभूति, वस्तुपरक विषय और आत्मपरक विषय, दोनों को अपनी रचनाओं में समायोजित करने के कारण बेन्द्रे के काव्य को कुछ आलोचकों ने 'बौद्धिक काव्य' का नाम दिया है। यह सत्य है कि उनकी कितनी ही कविताएँ बौद्धिक प्रगीत हैं जब कि अन्य सबके विषय आध्यात्मिक हैं या रहस्यवादी। किन्तु जिस कवि ने मानव जीवन और अनुभूति के प्रत्येक पक्ष को अपने चिन्तन और अभिव्यक्ति का विषय बनाया हो उसकी रचनाओं में समरूपता की अपेक्षा करना कोई अर्थ रखेगा क्या? उनकी एक बडी यशस्कारी कविता है जिसमें उडते पाँखी का बिम्ब प्रस्तुत करते हुए समय की तीव्र वेगयुक्त उडान को दरशाया गया है। विशेषता इस कविता की यह है कि इसके द्वारा समय के सनातन अर्थों का ही नहीं, मानव जीवन और जगत् के इतिहास का भी द्योतन किया गया है। समय को इसमें एक नियत कालावधि के भाव मे भी लिया गया है और निखिल विश्वसृष्टि की एक अतिरिक्त विमा के अर्थ में भी। और इन विभिन्न अर्थ-भगियो को प्रकट किया गया है कविता की अपनी सहज सीमाओ का अतिक्रमण न करते हुए।

यह सचाई है कि बेन्द्रे के काव्य का रहस्यवाद भी कुछ और प्रकार का है और तात्त्विक पक्ष भी। उनमें अडिग आस्था है एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता के प्रति जो सम्पूर्ण विश्वजगत् की सिरजनहार है और सपालनकर्ता भी। वे विश्वजगत् को मायारूप नहीं, वास्तविकता मानते हैं। इसी आस्था के आलोक-सन्दर्भ में उन्होंने मानवीय स्वतन्त्रता और कर्तव्य-भावना सम्बन्धी नाना प्रश्नो को भी निरखा-परखा है और पाया है कि यह सब दैवी इच्छा के अधीन रहा करता है। अवश्य, वह सर्वोच्च दैवी शक्ति स्वेच्छाचारी या निरकुश नहीं होती, वह तो करुणा और प्रेम का भण्डार होती है। भगवान् अपनी सृष्टि की देखरेख उसी चिन्ता-भावना और मार्दवता के साथ करते हैं जो एक माँ की होती है। माँ की नाईं ही अपनी सन्तान को उन्होंने स्वतन्त्रता भी दी है। मातृभाव का यह दिव्यत्व, वास्तव में, बेन्द्रे के काव्य में विषय की दृष्टि से केन्द्रस्थ है। नितान्त अस्त-व्यस्त और आकुल ससार में क्रम और व्यवस्था है तो उस माँ के कारण, और उसी माँ की कृपा से सभ्यता और सस्कृति ने यहाँ विकास पाया। बेन्द्रे के लिए तो नारीमात्र एक अत्यन्त विलक्षण और अथाह जिज्ञासा का विषय है, नारी आत्मा की शक्ति-सामर्थ्य और महत्ता का वर्णन करते वे कभी नहीं अघाते।

बेन्द्रे न रोमासवादी हैं न प्रतिबद्धता के कवि। वह तो एक सम्पूर्ण कवि हैं—ऐसे कवि, जिन्होंने 'युग के चेतना-बिन्दु' के साथ तादात्म्य किया है, ऐसे कवि, जिन्हे भाषा और अभिव्यक्ति पर इतना अधिकार है कि जटिल से जटिल विचार-बोध और अनुभूति को भी प्रत्यक्ष कर दे, और ऐसे कवि, जिन्होंने कन्नड काव्य की भव्य परम्परा को समृद्ध किया है, अनुप्राणित किया है।

'नाकुतन्ती', अर्थात् 'चार तार', कवि बेन्द्रे का एक इधर का कविता-सग्रह है, जिसमें सब मिलाकर चवालीस रचनाएँ आयी हैं। छह का सम्बन्ध है समकालीन लेखको के प्रति उनके अपने नाते के रूप-भाव से और जनतन्त्र के वास्तविक अभिप्राय से। शेष कविताओ मे विचार-चिन्तन और भावनाओं की एक विलक्षण सगति देखने को मिलती है। वास्तव में चार के अक की जो धारणा कवि की अन्तरात्मा मे बसी हुई है, वही उनकी समस्त कविताओं के ढाँचे का मूलतत्त्व है और उसी से उनमें वह भाव-सगति भी आ सकी।

शीर्षक-कविता 'नाकुतन्ती' मे कवि के व्यक्तित्व के चारो पक्षो—मैं, तुम, वह और कल्पनाशील आत्मसत्ता—का वर्णन हुआ है। ये चार पक्ष ही कवि के व्यक्तित्व का चौहरा ढाँचा है, और चार के इसी मूलभूत नियम-तत्त्व को कवि ने ज्ञात किया है अपनी सहानुभूति के सभी, आध्यात्मिक और सौन्दर्यात्मक, क्षेत्रों मे। कविता की सृजन-प्रक्रिया

विषयक छह सॉनिटों में बेन्द्रे ने कविता के चार मूलतत्त्व गिनाये हैं शब्द, अर्थ, लय और सहृदय। संग्रह की एक अन्य कविता में, इसी प्रकार, प्रभावपूर्ण बिम्बों के द्वारा कवि ने वाक्शक्ति के चारों रूपों—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी—का वर्णन किया है। बेन्द्रे की सौन्दर्य विषयक परिकल्पना के भी चार पक्ष हैं—इन्द्रियगत, कल्पनागत, बुद्धिगत, और आदर्श जो उनकी कविता में यथास्थान आये हैं।

चार का यह व्यवस्थित क्रम उनकी सभी कविताओं में अनुस्यूत है। परिणामत उनकी कविताओं में वर्णित सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक अनुभूति का एक ऐसा रूप ले उठती है कि उसके महत्त्व को समझ पाना कठिन हो जाता है।

'नाकुतन्ती' की कविताओं का उद्देश्य मात्र इतना नहीं कि अनुभूति के नव-नवीन क्षेत्रों का अन्वेषण और उद्घाटन करें, उद्देश्य यह भी है कि परिचय में आयी हुई अनुभूतियों को एक नया दृष्टि आलोक दें। ऐसा लगता है मानो कवि प्रयत्नशील है कि ससार से अपने सम्बन्धभाव को कविता के माध्यम से समझ पाये , और साथ ही अपने 'स्व' में पैठ-पैठकर उस नियम-तत्त्व को ज्ञात करके सबके आगे प्रकट कर सके जिसके अधीन विश्व की सम्पूर्ण व्यवस्था चलती है।

काव्य-रचनाओं के अतिरिक्त, बेन्द्रे ने कई नाटक लिखे हैं और कितनी ही गद्य-कृतियाँ भी।

१९८३ में बेन्द्रे जी का निधन हो गया।

कृतियाँ

काव्यकृतियाँ

१ कृष्णाकुमारी
२ गरी
३ मूर्ति मत्तु कामकस्तूरी
४ सखीगीत
५ उय्याले
६ नादलीले
७ मेघदूत
८ हाडु-पाडु
९ गगावतरण
१० सूर्यपान
११ हृदय समुद्र
१२ मुक्तकण्ठ
१३ चैत्यालय
१४ जीवलहरी
१५ नमन
१६ सचय
१७ उत्तरायण
१८ मुगिल मल्लिगे
१९ यक्ष-यक्षी
२० नाकुतन्ती
२१ मर्यादे
२२ श्रीमाता
२३ बा हत्तर
२४ इडु नभोवाणी
२५ विनय
२६ मत्ते श्रावण बन्तु

नाटक

१ हुच्चतगलु
२ होस ससार

कथासाहित्य

१ निराभरण सुन्दरी

आलोचना

१ साहित्य मत्तु विमर्श
२ साहित्य सशोधन
३ विचार मजरी
४ कवि लक्ष्मीषण जैमिनी भारतक्के मुन्नुडि
५ महाराष्ट्र साहित्य
६ कन्नडडल्लि नाकु नायकरत्लगलु
७ काव्योद्योग
८ मातेला ज्योति
९ साहित्यद विराट स्वरूप

मराठी में गद्यकृतियाँ

१ सवाद
२ विट्ठल सप्रदाय
३ शान्तला

अनुवाद

१ उपनिषद रहस्य
२ भारतीय नवजन्म
३ नुरुन्दु कवन
४ कबीर वचनावली
५ भग्नमूर्ति
६ गुरु गोविन्द सिह

अभिभाषण के अंश

जब भी किसी विशेष योग्यता या गुण को मान्यता प्रदान की जाती है तब सदा ही लोगो का एक दल उठ पडता है जो विवाद खडे करता है, और आरोप लगाता है, और तब कथित अपराधी को यही कहकर बैठ जाना होता है कि आत्मा अविनाशी है। मैं इस समय ऐसा कुछ नही कहने जा रहा, मैं तो कहूँगा कि जो हृदय, जो आत्मन् सत्काव्य का स्वागत करता है वह शाश्वत होता है।

मैं कन्नड कविश्रेष्ठ पम्प और कुमारव्यास की जन्मभूमि धारवाड से आता हूँ। मैं देश के उस भू-भाग मे जनमा हूँ जहाँ प्रथम मोक्षगामी बाहुबलि गोम्मट की एक के बाद एक प्रतिमा गडी गयी। कर्नाटक-धारवाड का यह क्षेत्र वही है जिसकी प्रशस्ति का गान आण्डय्य ने अपनी एक रचना मे किया है, जो एक मिथक भी लगती है, और निरी कल्पना-कथा भी। इस रचना को नाम दिया गया है 'कब्बिगर काव', अर्थात् 'कवियो का सरक्षक।'

इसमे वर्णित रति और कामदेव के वियोग और मिलन की विरोधाभासी लीलाएँ, जो नरक को स्वर्ग मे और स्वर्ग को नरक मे बदल देती हैं, अभी भी पूरी तरह समझी नही गयी। वहाँ समस्या होती है माया और जादू की तर्क सगतता की, पर प्रश्न वास्तव मे यह उठता है कि उसमे सगीत, लय-तान की एकता, भी है क्या?

'नाकुतन्ति', अर्थात् 'चोतारा' 'चार तार', मेरा उन्नीसवाँ काव्य-सग्रह है। छह सग्रह इसके बाद भी प्रकाशित हुए हैं, इनमे से दो पहले के सग्रहो मे से चुनी हुई रचनाओ के सकलन हैं। यह अब भाग्य या नियति की बात—उसे सयोग कह लिया जाये चाहे एक निर्णय—कि इसी 'नाकुतन्ति' को ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए चुने जाने का गौरव प्राप्त हुआ। मेरा सौभाग्य यह कि इस पुरस्कार मे उडीसा के एक मेरे लेखक बन्धु सहभागी होने की अतिरिक्त प्रसन्नता मुझे प्रदान कर रहे हैं। यह कोई नयी बात नही। इससे पहले कर्नाटक के ही डॉ कु वे पुट्टप्पा और गुजरात के डॉ उमाशकर जोशी के बीच यह पुरस्कार सहविभाजित हो चुका है। इस पुरस्कार द्वारा सम्मानित होकर भारत भारती की दस सन्तानो मे मेरी भी गिनती हो गयी।

मैं समझता हूँ यह सम्मान पानेवाला ऐसा व्यक्ति मैं ही पहला हूँ जो अपनी मातृभाषा से भिन्न भाषा मे लिख रहा हूँ। यह कन्नड भाषी जनता की अत्यधिक उदारता कि इस अवसर पर मुझसे कही अधिक हर्षित वह है। मेरी प्रसन्नता भी दुगुनी-तिगुनी हो गयी है। दिल्ली के इस समारोह ने उसे चौगुना कर दिया है।

क्या है 'नाकुतन्ति'? जिसमे सब ४४ कविताएँ सग्रहीत हैं, उसका मूलभूत प्रश्न ४ के अक से न हो, यह असम्भव होता। कवि पम्प से पूर्व का कन्नड प्रदेश 'अनन्त चतुष्टय' के दर्शन मे लवलीन रहा है। इसे ही 'सिद्ध पदवी' कहा गया है। हमारे यहाँ शिक्षा का श्रीगणेश 'ॐ नम सिद्धम्' और 'श्री गणेशाय नम' से किया जाता है। कन्नड के चम्पू महाकाव्यो का प्रारम्भ भी 'पचनमस्कार' से किया गया है। प्रत्येक २४ घण्टे बाद फिर आने वाला कोई उष काल अपना पुनरावर्तन नही हुआ करता। प्रेम का कमल जब शान्ति के चतुर्भुज के रूप मे खिलता है तब जीवन की गहराई का बोध होता है। उसकी ज्योति एक नयी सृष्टि के समान प्रकाशित होती है। वह नव-सृजन 'यथापूर्व' नहीं हुआ करता, वह नव-सृजन 'यथा अपूर्व' होता है।

'नाकुतन्ति' मे इसी नित नवीन उष के जन्म का उत्सव-गायन हुआ है। इसमे जैसे एक लोरी प्रस्तुत की गयी है जो दैवी शक्ति की कृपा के

आविर्भाव का उद्‌घोष करती है। सारी सृष्टि एक निष्काम कर्म है। निष्काम न हो तो यह मात्र निरर्थक श्रम है। "नासते विद्यते भाव न अभावो विद्यते सत"। 'नु' एक साधना है, वेदना, एक ताप—जो तप के रूप में परिणत हो जाता है। क्योंकि वह आत्मा के प्रति आत्मार्पण होता है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निधिध्यासितव्य"। वृष का आत्मयज्ञ + नु ही विष्णु हुआ। यही त्रिभुज की प्राणशक्ति है, और यह अनन्तता के द्योतक वृत्त के द्वारा चतुर्भुज के साथ जुड़ा हुआ है। 'नु' ही सृजनात्मक प्रेम के उत्स का प्रतीक है, जिसका 'ना', 'नी', 'आ', 'ता' आदि के योग से मन्त्र जैसा सामजस्य स्थापित होता है। *

$3^3 + 4^3 = 6^3 - 5^3$, बोध और ज्ञान का युग अब हमारे निकट पहुँच रहा है। हम यदि सौ वर्ष तक शान्ति बनाये रखें और प्रेम और प्रकाश का आनन्द लें, तब उस युग को दो सौ वर्ष तक बढा सकते हैं। श्री अरविन्द के जन्म-वर्ष १८७२ से लेकर २२७२ तक की चतुश्शती एक नया कृतयुग है। उसी का दूसरा चरण, १९७२-२०७२, आज चल रहा है। मुझे १९७३ में ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला, यह वास्तव में न मात्र आकस्मिक है न कोई सयोग ही। यह तो सृष्टि-तन्त्र के साथ उस अनन्त के सामजस्य का तर्कसम्मत परिणाम है।

मेरा अनुरोध है कि इस बात को आप लोग कृपया ध्यानपूर्वक सुनें। कर्नाटक ने भगवद्‌गीता के सूत्र "साख्ययोगौ प्रथक् बाला प्रवदन्ति न पण्डिता" को सदा स्वीकार किया है। कन्नड काव्य, वह जैन परम्परा का हो या वीरशैव अथवा वैदिक परम्परा का, सदा ही अक सिद्धान्त पर आधारित रहा है। मेरे मुँह से अस्फुट स्वर भी अकों में निकलते हैं, क्योंकि अक अनायास आते हैं। 'नाकुतन्ति' का विषय अक नहीं है, किन्तु इसके द्वारा प्रकट हो आया है वह स्वरैक्य, वह सामजस्य, जो जीवन में निहित है और जीवन और प्रेम की नवीन पूर्णताओं में चिर विकासमान है।

"इतिहास पुराणाभ्याम् वेदम् समुपबृहयेत्"—ऋषियों ने यह बहुत पहले कहा था। वेद ही काव्य है। 'वागर्थ सपृक्ति' और साख्ययोग सपृक्ति' दोनों समानान्तर चलती हैं और असीम में मिल जाती हैं। समानान्तरता सीमा का बोध कराती है, असीम उससे अप्रभावित है। अवश्य मैं कन्नड में लिखता हूँ, जबकि मेरी मातृभाषा मराठी है। सस्कृत इन दोनों की विरोधी नहीं। और अँगेरजी, उसे भी क्यों अपवाद माना जाये? इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेजी में २६ वर्ण हैं और सस्कृत में ६४ हैं। पर वर्ण-व्यवस्था तो विश्वव्यापी है। हम 4^3 की ओर से 4^4 की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जब 4^4 आकर 5^4 से जुडता है तब एक अद्‌भुत् का आविर्भाव होता है। ध्यानी बुद्धो ने उसकी ओर सकेत किया है। उस अवस्था में चौथी उँगली का सिरा पाँचवी के सिरे को स्पर्श करता होगा।

"पाक्तम् सर्वम्"—अर्थात् यही चतुर्गुणता का पाँचवी की ओर को उन्मेषण आज के युग की माँग है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त, मण्डल १० सूक्त १९१, में इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। अकों का उल्लेख मैं विनोदार्थ नहीं कर रहा। पर जब विज्ञान और सज्ञान तथा अभिज्ञान और प्रत्यभिज्ञान परस्पर सपृक्त होते हैं तब एक महान् अनुभूति होती है। इसी अनुभूति को शुल्व सूत्र में 'सविशेष ज्ञान' कहा गया है, जिसमें शाश्वत यज्ञ-पुरुष के उद्देश्य से चतुर्भुज, वृत्त, अर्धवृत्त और त्रिभुज का वर्णन किया गया है।

आज का दिन, 'यज्ञ-दान-तप काल', एक दुर्लभ सयोग का दिन है। देवी लक्ष्मी आज देवी सरस्वती का अभिनन्दन कर रही है। अतिरिक्त विशेषता का अवसर यह इसलिए और भी हो जाता है कि किसी की योग्यता के सम्मानित किये जाते समय इतना बडा विज्ञ जनो का समाज बिना किसी दुर्भाव के समागत हुआ है और हर्षित है। जीवन के विगत ६० या कुछ अधिक, वर्षों में—पिछली जनवरी मे मेरा ७८वाँ वर्ष पूरा हुआ है—इतना स्वागत-सम्मान मैंने पाया है कि ऐसे समारोहों में सहज भाव से उपस्थित हो जाता हूँ।

मेरे देशवासियों ने मेरा ५०, ६०, ७० और फिर ७५ वाँ वर्ष पूरा होने पर सम्मान किया है। डाक विभाग द्वारा मुझे पद्मश्री पदक और प्रमाणपत्र मिले। साहित्य अकादमी ने तो मेरी जन्म एव कार्य स्थली धारवाड ही आकर मुझे सम्मान प्रदान किया। अपने कन्नड़भाषियों के बीच रहकर सम्मानित होते मुझे सहज सुख-सा अनुभव हुआ। अनेक मित्रों ने समझा कि अकादमी की फैलोशिप से मुझे कुछ मासिक धनराशि प्राप्त हुआ करेगी। ज्ञानपीठ पुरस्कार के रूप में यह सम्मान अवश्य ऐसा मिल रहा है जो आर्थिक दृष्टि से भी महत्त्व रखता है।

कहा भी गया है "काव्य अर्थकृते", अर्थात् काव्य-रचना से कभी-कभी धन की प्राप्ति भी हो जाती है। धन चाहे भी जितना कलकित हो, पर आज के धर्मनिरपेक्ष युग मे उसकी चमक-दमक बिल्कुल ही चली नहीं गयी है। क्या सचमुच धन मे अधिक गरुता है और ख्याति-यश केवल कानो का विषय?

> **"यश है स्वैरा सदृश जो व्रीडा करती**
> **झुक-झुककर आते प्रणय-याचियों से**
> **किन्तु प्रणत होती अल्हड तरुणों पर**
> **और समर्पित सहज निश्चिन्त हृदय पर"**
> **— कीट्स**

एक प्रकार से यश मे कुछ प्रकाश भी होता है। मुझे उसकी उपस्थिति विशेष विचलित नही करती। किसी कवि ने ही कहा भी है कि अपनी मृत्यु के उपरान्त कविगण अपनी आत्मा को धरती पर ही छोड जाते हैं। अवश्य ही, उनकी दोहरी आत्माएँ होती होगी। यो कहा यह भी गया है कि प्रेम और स्वर्ण एक जैसे नही होते स्वर्ण को बाँटा जाये तो वह घटता जाता है। पर मैं स्वर्ण के पक्ष मे भी कुछ अच्छे शब्द कह दूँ "स्वर्ण को जितना भी बाँटा जाये वह रहता स्वर्ण ही है।"

पर धन और मान-सम्मान को यदि अलग कर दे, तब मानव जाति के इतिहास में साहित्य की उपलब्धि क्या है? कहाँ तक यह मनुज को मानव बना सकी? इतिहास का कोई तो कालखण्ड नहीं है जब अपने सामाजिक-राजनीतिक व्यवहार-आचरण में वह पशु या दानव से भिन्न रूप में सामने आया हो। जिसे साहित्य का धार्मिक पक्ष कहेंगे वह तक तो काले धब्बों से मुक्त नहीं है। 'दैवी कामदी' नाम क्या सचमुच सार्थक है? हिरोशिमा और नागासाकी के ठण्डे अगारे निरी राख होकर नहीं रहेगे। मनुष्य जाति मे आज भी न केवल नाना जातियाँ, वर्ण और सम्प्रदाय हैं, बल्कि उसके चुलकते रक्त में और भी न जाने क्या-क्या सरसरा रहा है। साहित्य का रस क्या इस रक्त से गाढा है? क्या सौन्दर्यानुभूति की अपेक्षा दुख और सुख अधिक रुचिकर होते हैं?

प्रचलन मे न रह जाने पर धन का मूल्य मात्र कागज और धातु का रह जाता है। हो सकता है, साहित्य के रूप मे प्रचलित हो चलने पर भाषा भी हमें निराधार आशाओं के प्रति आकृष्ट कर ले। पर वह केवल ध्वनि होगी, उससे अधिक या भिन्न कुछ नहीं , शायद ध्वनि भी निस्सार, विकृत। उसमे प्रकाश ही नही, अन्धकार भी प्रत्यक्ष होगा। वास्तव मे, शान्ति जब भी आयी, प्राय युद्ध की प्रस्तावना होकर, वह काल तैयारी का होता था मानवीय या अमानवीय समस्याओ को कुछ का कुछ समझने की तैयारी का। मानव जाति का इतिहास और है भी क्या? रामायण, महाभारत और भागवत को ही देखे। तीनो का ही अन्त त्रासदी मे होता है भले ही वह उदात्त हो चाहे सामान्य। रावण, दुर्योधन, कर्ण, कीचक—सभी तो श्रोताओ पर अधिक पौरुषवान होने का प्रभाव छोडते हैं। यदि वे विफल हुए भी लगते हैं, तो बहुतो को उनके प्रति करुणा उपजती है और बहुतो की दृष्टि मे वे सम्माननीय तक बन उठते हैं।

कभी एक स्वप्नद्रष्टा कवि जिज्ञासा मे पुकार उठा था न्याय और सत्य-सगत पक्ष को समुचित शक्ति कब प्राप्त होगी? वास्तव मे हमे सामाजिक राजनीतिक की ही चिन्ता अधिक है। जो कालातीत है, शाश्वत है, उसकी चिन्ता कौन करे? क्या जो

दिखने में असम्भव है, पर है सम्भाव्य, वह जीवन का सत्य बनकर कभी भी धरती पर प्रकट होगा? क्या इस प्रचण्ड-आततायी काल के चगुल से सत्यवान के प्राणों को सावित्री लौटाकर धरती पर ला सकेगी ? श्री अरविन्द का महाकाव्य 'सावित्री' वस्तुत प्रेम और सत्य के रहस्योद्घाटन की महाकथा है।

मैं कह चुका हूँ कि कर्नाटक के उस धारवाड क्षेत्र से मैं आया हूँ जहाँ के दो महाकवि अपने समकालीन कवियो से बहुत ऊँचे थे। इनमे एक पम्प थे, जन्म से ब्राह्मण पर आस्था और निष्ठा से जैन, और दूसरे थे कुमारव्यास जिन्होने अपने कर्म विषयक महाकाव्य को ही ईश्वर के प्रति आत्मार्पण के महाकाव्य मे ढाल दिया। इन दोनो ही महाकवियो ने महाभारतगत समस्याओ का अपना विषय बनाया है। एक ने अनेक वीर पुरुषो का विभिन्न वर्णों और विभाओ मे चरित्र-चित्रण किया है। दूसरे ने नियति, श्रद्धा और स्वतन्त्रता के घात-प्रतिघातो द्वारा बडे सुदर्शन प्रकाश की रश्मियो को आविर्भूत किया है। पम्प का महाकाव्य जैन कथा पर आधारित है , पर किस रूप मे अन्त होता है उसका? व्यास के महाभारत की नाई, कलिकाल के आगमन और सर्वनाश की सूचना मे। मैं जो उसके ही देश का हूँ, क्या इससे भिन्न किसी भले भवितव्य को अभिव्यक्ति दूँ? मैं तो अनुभव करता हूँ कि एक नवीन कृतयुग का आगमन होने वाला है।

यह सारा विश्व, ससार, समूचा भूमण्डल एक है। जीवन, मनुष्य, सम्पूर्ण मानवजाति भी एक है। यही एकमात्र सत्य है, वास्तविकता है हमे इसका ही अनुसन्धान करना है, और फिर इसी का साक्षात्कार। साक्षात्कार किया जा सकता है तो सत् का ही। जो असत्, है वह निराशा और कुण्ठा को जन्म देगा। जब तक हम इस सत्य क प्रति अनुरक्त नही होते, इसे ही अपना जीवन-प्राण नहीं बना लेते, तब तक वह शक्ति हमे प्राप्त नही होगी जिससे हम अपना और दूसरो का भला कर सके। जीवन की यही दिशा और यही उसका रूप है जो हमें यथार्थ सौन्दर्य का दर्शन करा सकेंगे और जीवन को आनन्दमय बना सकेंगे।

'नरक के द्वार के मार्ग पर सदुद्देश्यों के पाँवडे बिछे होते हैं'—ऐसा कहा गया है। प्रकृति स्वतन्त्र है, व्यवस्थाबद्ध है, परिणामी है, और समजसयुक्त है। बन्धन और विशृखलता से विकृतियो का जन्म होता है, और असन्तुलित जीवन से नाना असगतियाँ आती हैं। यह प्रवृत्ति प्रलय की पूर्वसूचना होती है।

धरती पर और मानव मे ऐसा कुछ अवश्य है जो एक नयी जीवन-दृष्टि का आह्वान करता प्रतीत होता है। उसके लिए जन-जन को स्वय अपने बनाये हुए आवरण को चीर फेकना होगा। उसके जीव, आत्मा, और अह के बीच दृश्याभासो का आवरण है। अपनी इच्छा-शक्ति से हम उसे नष्ट कर सकते हैं। आज अभाव है तो इसी इच्छा-शक्ति का। आवश्यकता के जीवन के समाधान के लिए जीवन की इच्छा से अधिक अपेक्षित कुछ और नही होता। पर यथार्थ के क्षितिज को विस्तृत करने के लिए, सम्भाव्य के आगमन को सम्भव करने के लिए, गहनतर ज्ञान की आवश्यकता है।

ज्ञात और ज्ञेय के सन्धि स्थल पर एक देवदूत उपस्थित है जिसका रूप और स्वभाव दोनो ही मैत्रीपूर्ण हैं। हमे चाहिए कि आवश्यकता, वास्तविकता, सम्भाव्यता से आगे जाकर सम्भावनाओ की सीमा तक पहुँचे। इच्छा यदि है तो आत्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु नव-सृजन क आगमन को स्वागत-अभिनन्दन देन की कला क लिए समुचित गरिमा अपेक्षित है, और अप्रत्याशित अपरिहार्यता क दैवी तेज-ताप को नर ईश्वरीय कृपा क बिना सह पाना अशक्य होगा।

अपन कवि-जीवन मे मुझे 'उष ' और 'उडान भरता काल' शीर्षक दो कविताओ पर काफी ख्याति मिली है। दोनो कविताएँ हमारे यहाँ क अबोध बालक-बालिकाओ को पढना हाती हैं ,

और जो अध्यापक पढाते हैं वे सम्भवत और अधिक अबोध रहते हैं।

> "शान्ति रसवे प्रीतियिंद मैदोरीतण्णा
> इदु बरी बेळगल्लो अण्णा।"

अर्थात् यह प्रेम से स्फुरित शान्ति है, यह कोई निरर्थक या भ्रामक प्रकाश नहीं। मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ।

दूसरी कविता में मैंने चन्द्रमा, शुक्र, और मगल ग्रहों को बिना सब समझे-बूझे, बस ऐसे ही, अपनी विचार-चेष्टाओं का विषय बना उठने के बारे में कुछ कहा है। पर बहुत पहले की बात है वह। बाद में तो 'माया किन्नरी' शीर्षक कविता मे मैंने ये दो पक्तियाँ लिखीं

> "आतनीतन्नवत यातन्नद यातनेय यात
> किरुगुहोवु निंवहांग
> नानीन नुडि नुंगि तानीन ताने ता तानागि
> तनन्न बयहांग"

इन दिनो मैं अँगरेजी मे भी कविता लिखने मे लेखनी का प्रयोग करने लगा हूँ और कन्नड ध्वनियों को अँगरेजी अर्थद्योतन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

कोई भी द्वार सदा सामने खुले शून्य की ओर को खुलता है। उधर से हमें श्वास मिलती है। प्रेमी जीव आवारा नहीं हुआ करता, यद्यपि उसे बहुत-बहुत दिनों तक आवारों जैसे चक्कर काटने पडते हैं। मैं अब दिल्ली पहुँच गया। अब धारवाड पहुँचने की करनी चाहिए। वहाँ कई और भी जरूरी काम करने को हैं। हाथ जोडकर आप सबको नमस्कार करता हूँ, क्योंकि सम्मानितों की सूची में मेरा स्थान दसवाँ है। "दस तक गिनो"—बडा अच्छा परामर्श था किसी का। और १, २, ३, ४, हो जाते हैं दस। चार तक गिनो तो चार हो जाते हैं दस।

> नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
> देवीं सरस्वतीं चाव ततो जयमुदीरयेत्।।

* कन्नड में नानु = मैं, नीनु = तुम, आनु = आत्मन्, तानु = आप आदि सर्वनाम रूप होते हैं।
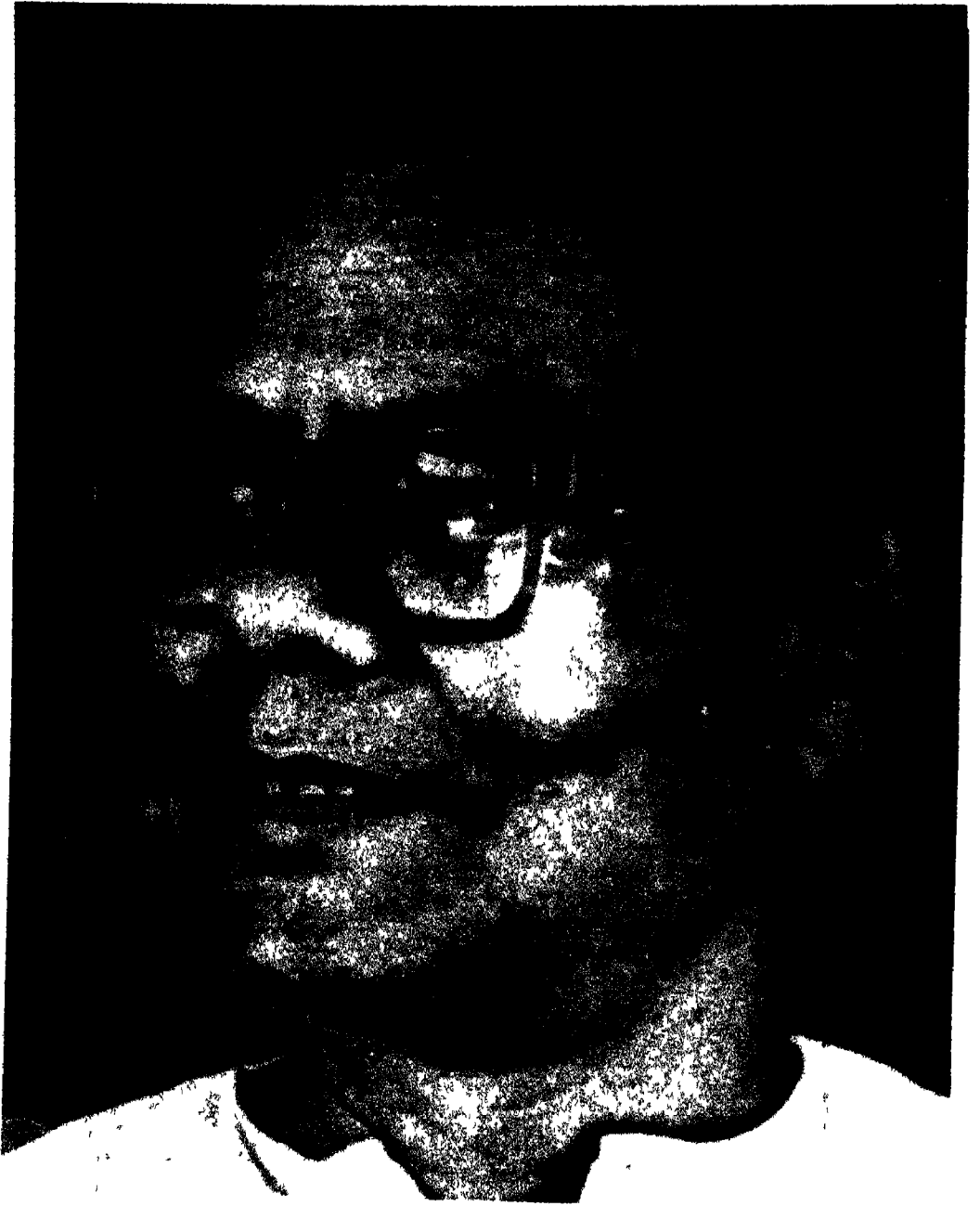
गोपीनाथ महांति

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७३ का साहित्य-पुरस्कार श्री गोपीनाथ महान्ती को उनके उडिया उपन्यास माटीमटाल के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६२ से १९६६ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किये जाने का सहगौरव प्राप्त है।

आदर्श और यथार्थ के समन्वयी, शक्तिशाली उपन्यासकार श्री महान्ती के कथा-साहित्य का परिदृश्य अधिवासित है प्राय पददलित हरिजन और मूक आदिवासी द्वारा, चिरशोषित कृषक और नगर-पल बाबूवर्ग द्वारा जो अस्तित्व-रक्षा के सघर्ष मे ही नि सत्व हो रहता है। निरकुशता और उत्पीडन के नाना रूपो को अनावृता करते भी, उन्होने तिक्त नारो या वर्ग-सघर्ष का कभी सहारा नहीं लिया। मनुष्य यहाँ अन्धकार मे घिरा यातनाओ की दलदल मे धँसा है, किन्तु दृष्टि उसकी फिर भी टिकी है सितारो पर। श्री महान्ती का स्पर्श पाकर समाजत्व भी लोकोत्तर हो उठता है। वे सपोषण और सबन्धन करते हैं, विखण्डन या अस्वीकरण नही। उनकी शैली मे महाकाव्य की गरिमा है और भाषा मे लोकवाणी की सरसता।

पुरस्कार-जयी उपन्यास माटीमटाल' उडीसा के ग्राम्य जीवन का गौरव ग्रन्थ है एक अविराम खोज वहाँ के लाख-लाख जन द्वारा अपनी सामुदायिकता को साकार करने की। यह प्रतीक है समाजत्व मे प्रवेश का जो प्राप्त होता है आधुनिक मनोविज्ञान की 'मैं' और 'तू' और आधुनिक विज्ञान की 'मैं' और 'वह' की द्वैत भावना के अतिक्रमण से। तीस से अधिक कृतियों के बहुमुखी प्रतिभायुक्त रचयिता, श्री महान्ती नव-नवीन विषयवस्तु और शैली के सतत अन्वेषी हैं।

दीर्घजीवी हो वे और सक्रिय रहे साहित्य-सृजन मे।
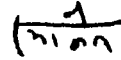
नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्षा
८ नवम्बर, १९७४	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ
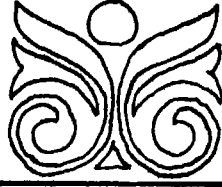
गोपीनाथ महांति

गोपीनाथ महाति का जन्म अप्रैल, १९१४ मे सिधुआ नदी के किनारे बसे नागबाली गाँव में एक प्रतिष्ठित और कुलीन जमीदार घराने मे हुआ था। उस परिवार के बारे मे अनेकों कथाएँ प्रचलित थी, लेकिन सबसे विशिष्ट बात यह थी कि उनके मन में प्राचीन परम्पराओं और मूल्यो के प्रति अगाध श्रद्धा-अनुराग का भाव भरा हुआ था। बारह वर्ष की अवस्था में गोपीनाथ के पिता दिवगत हो गए, जिसके बाद उन्हें अपने भाई के पास पटना जाना पडा। वहाँ से उन्होंने मैट्रिक परीक्षा पूरी की और बाद में कटक से अँग्रेजी मे एम ए किया। शिक्षक बनने की इच्छा में आर्थिक कठिनाई और कॉलिजो में रिक्त स्थानो के अभाव के कारण बाधा पडी। १९३८ में उनका उडीसा एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस में चयन हुआ। उनकी पहली नियुक्ति जाजपुर में हुई। उन दिनों उस इलाके में जोरो की बाढ आई हुई थी। सरकारी कर्मचारी के रूप में बाढ का उनका यह अपना पहला अनुभव था। आगे चलकर 'माटी-मटाल' लिखते समय इस अनुभव से उन्हें काफी मदद मिली। जाजपुर के बाद सन् १९४० से उनकी तैनाती उडीसा के दक्षिणी घाट के आदिवासी अचल में कर दी गयी। उस समय कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उनकी यह तैनाती उडिया और भारतीय साहित्य के लिए वरदान सिद्ध होगी।

लिखना गोपीनाथ ने १९३६ से ही प्रारम्भ कर दिया था। वैसे १९३० से १९३८ के बीच का काल गोपीनाथ महाति के लेखक-जीवन का निर्माण-काल माना जा सकता है। तीन प्रभावों की छाप उन पर पड रही थी। दो पश्चिम के, एक भारत का। मार्क्स एव रूसी क्रान्ति और फ्रायड पश्चिम के प्रभाव थे, और गाँधीजी एव राष्ट्रीय आन्दोलन भारत का था। गोपीनाथ गम्भीर और व्यापक अध्ययन मे लगे रहते थे। रोमाँ रोलाँ और गोर्की उन्हें विशेष प्रिय लगते थे। वे उन दिनों साहित्यिक विधा-रूपों मे नये-नये प्रयोग किया करते और प्रचलित रोमैंटिक अभिरूचियों का खुला विरोध। उन्होने स्वय इस काल को पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की अविराम खोज का काल बताया है। अपना पहला उपन्यास 'मन गहिरर चाष' पूरा करने में उन्हें दो वर्ष लगे। उसके बाद वह निरन्तर लिखते रहे। उन्होंने कई विधाओं में लिखा है पर कथा-साहित्य उनका विशेष क्षेत्र रहा है। उनके २० उपन्यास व ८

कहानी-सग्रह प्रकाशित हुए हैं। गोपीनाथ का कथा-ससार उनके व्यक्तित्व और ठोस अनुभव की उपज है। उनके कथा-साहित्य को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—आदिवासियों से सबधित रचनाएँ, नगर-वासी जन-समाज से सबधित कथा-कहानिया और माटी-मटाल। इनमें से तीन रचनाओ पर गोपी बाबू ने अत्यधिक ख्याति अर्जित की है 'परजा', 'अमृतर सतान' और 'माटी-मटाल'। विषय-वस्तु के स्तर पर उन्होने निर्धनो-शोषितो, पददलित असहायो और निरीह आदिवासियों के पक्ष का सदा समर्थन किया है। उनके लिए यह साहित्यिक चमत्कारिता या फैशन की बात नही है, इसका सम्बन्ध उनकी बडी गहरी आस्था से है। शोषण, चाहे किसी भी रूप मे हो, ('परजा' मे आदिवासियो का, हरिजन मे श्रमिक का और 'दानापानी' मे नगर के एक छोटे क्लर्क का), वह सहन नही कर सकते। लेकिन उनके अतर का साहित्यकार केवल इस शोषण के वर्णन से सन्तुष्टि नहीं पाता, उनकी अन्तर्दृष्टि यह भी खोजती है कि मनुष्य शोषण की विषम परिस्थितियों से कैसे तालमेल बिठाता है और उससे उबरने के लिए क्या-क्या करता है।

कोरापुट मे आदिवासियो के सान्निध्य मे उनके साथ उठने-बैठने, हँसने-रोने, खाने-पीने और नाचने-गाने मे उनके और उनके समाज को समझने का पूर्ण अवसर मिला। सरकारी कर्मचारी के रूप मे आदिवासी अचलो मे रहते समय एव आदिवासी विकास सस्थाओ से जुडकर इन्सान की गन्ध, अवहेलित जन-जातियो की भाषा और सस्कृति, उनका शोषण आदि देखकर उन पर सोचने को बाध्य हुए। इसलिए आदिवासियों में परजा, कध, गदबा, कोल्ह, डब आदि का सान्निध्य पाकर महाति जी उनके साथ घुलमिल गए थे। वे अपने उपन्यासों मे इसी शात, सरल और निरीह जगली आदिवासियों के मानव-प्रेम का जयगान करने के आग्रही दिखाई देते हैं। नौकरी के दौरान इन आदिवासियो से वे इस कदर जुडे हुए थे कि कोरापुट जिले के जमींदारों और साहूकारों ने गोपीनाथ महाति के विरूद्ध जनवरी, १९५३ में एक प्रतिवेदन लिखकर तत्कालीन प्रधानमत्री से महाति जी की शिकायत भी की थी। वैसे तो अपने सेवाकाल मे गोपी बाबू उडीसा के विभिन्न भागों में रहे पर कोरापुट और आदिवासियों से उनका जन्म-जन्मान्तर का नाता हो गया। आज जब वह सेवा से अवकाश ग्रहण कर भुवनेश्वर मे रह रहे हैं, मन से अब भी अपने को वही का निवासी मानते हैं। 'परजा' और 'अमृतर सन्तान' इन सम्बन्धो की देन है। ये दो उपन्यास क्रमश कोरापुट जिले के दो आदिवासियो—परजा व कध की गाथाएँ हैं। एक स्तर पर ये उपन्यास इन आदिवासियो के जीवन सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अभिलेख हैं, लेकिन गोपी बाबू की कल्पनाशील सृजनात्मकता ने इनको कला के उत्कृष्ट ग्रन्थो मे परिवर्तित कर दिया है। इन्ही उपन्यासो के कारण अब तक के त्यक्त और तिरस्कृत परजा और कध आधुनिक उडिया बोध के अभिन्न अग बन गए हैं।

'परजा' पहाडो और जगलो के बीच बसे एक गॉव के एक परजा परिवार की पीडा और व्यथा की कहानी है। वास्तव मे इस एक परिवार के माध्यम से आदिमजाति ''परजा' की जीवन-झाँकी प्रस्तुत की गई है। परिवार का पूरा सघर्ष इस बात के लिए है कि उनके जीवन मे भी कोई सूर्य-किरण आ जाए। लेकिन विषम परिस्थितियाँ उनका साथ नही छोडतीं और उनके सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं। अन्त मे पिता और पुत्र धैर्य की अन्तिम सीमा पार करके क्रोध के वशीभूत उस साहूकार की हत्या कर देते हैं जिसने उनकी जमीन हडप ली थी, उनको दास बना रखा था और बहन के साथ व्यभिचार किया था। हत्या करते समय वह कहते हैं ''हाँ, तुमने दगाबाजी से हमारी जमीन ले ली है लेकिन तुम उसको भोग नहीं सकोगे। कभी नहीं, कभी नहीं '' मूलरूप से कहानी सरलता और दुष्टता के सघर्ष की है जिसमे दुष्टता की विजय होती है। इस उपन्यास मे महाति जी ने जिस सामाजिक समस्या

को प्रस्तुत किया है वह एक सर्वकालिक समस्या है। शोषक और शोषित का मघर्ष, सघर्ष से उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ तथा शोषित के दिल मे बदले की भावना आदि मानवीय भावो का चित्रण बडी बारीकी से इस उपन्यास मे किया गया है। उपन्यास के ४४५ पृष्ठों मे महाति जी ने परजाओ की सामाजिक स्थिति, जीविका के साधन, पर्व त्यौहार, अन्धविश्वास, परम्परावादिता, विवाह, बलिप्रथा आदि का व्यापक व रोचक चित्रण किया है। इस तरह यह उपन्यास आदिवासी परजाओ का एक सार्थक दस्तावेज बन गया है।

'परजा' की सरचना नाटकीय है लेकिन 'अमृतर सन्तान' चिन्तन-प्रधान है, इसलिए कि कध अधिक पुरातन आदिमजाति है जिसको अपने अतीत का बोध है। मनुष्य ही अमृत सन्तान है। वह हमेशा अधेरे से रोशनी की ओर जाने की चेष्टा करता है, मौत मे भी जीवन तलाशता है, सघर्ष और पीडा से आनन्द की उपलब्धि करने का प्रयास करता है। इसी महत्वपूर्ण उपलब्धि के लिए महाति जी ने इस भारी-भरकम उपन्यास की रचना की जिसे आगे चलकर सन् १९५५ मे साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह भी, यद्यपि एक भिन्न स्तर पर, एक ग्रामीण परिवार की कहानी है जिसका केन्द्र-बिन्दु है पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध। गाँव का मुखिया दिउडू एक अन्य लडकी पिओटी जो कि कुछ समय आदिमजाति क्षेत्र से बाहर भी रही है, के साथ रहने लगता है और अपनी पत्नी पुयू का परित्याग कर देता है। निरीह पुयू अपने पुत्र को लेकर पति का घर छोड देती है लेकिन अपनी जाति की परम्परागत आस्था से बल पाती है। थरथराते होठो और आँसू भरे चेहरे से वह सूर्योदय को देखते हुए अपने से कहती है, जीवन ने केवल मधुरता दी है, न दुख, न मृत्यु। कध लोगो की यह आस्था और विश्वास अजेय मानव चेतना का प्रतीक है। दिउडू एक जटिल चरित्र है। दुष्ट पक्ष यहाँ भी है पर उतने ही बल के साथ सद्‌गुण पक्ष भी अत तक सक्रिय बना रहता है। तभी कहानी के अत मे पुयू की गोद मे उसके पुत्र हकीना को मेडोना की गोद मे 'जीजस' की उपमा दी गयी है।

'माटी-मटाल' जिस पर महाति जी को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला, की पार्श्वभूमि आदिमजाति क्षेत्र न होकर उडीसा का ग्रामीण क्षेत्र है। बी ए पास करने के बाद रवि अपने गाँव के लिए कुछ करना चाहता है और इसीलिए गॉव आता है। लेकिन अपने पिता के आग्रह के कारण उसे नौकरी ढूँढने शहर जाना पडता है। यही से उपन्यास शुरू होता है। परन्तु रवि शहर मे नौकरी नही करता और गॉव वापस लौट आता है। पिता का समर्थन न मिलने पर भी रवि अपने निश्चय पर अटल रहता है और गॉव को एक पारिवारिक सूत्र मे बाँधने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। यह प्रयोग कुछ अश तक सफल भी होता है। उसके आदर्श का प्रभाव दूसरो पर पडता है और जन-मानस मे उसका एक विशेष स्थान बन जाता है। यही है इस उपन्यास की कथा। इस कथा की छाया मे उपन्यासकार रवि और छवि के मधुर सम्बन्धो को भी निर्मित करता है। रवि की छवि से पहली बार भेंट हुई जब वह शहर से गाँव लौट रहा था। पूरे उपन्यास मे दोनो केवल दो-तीन बार मिलते हैं और आपस मे बहुत कम बाते करते हैं। फिर भी दोनो को सदा यह आभास रहता है कि उनके बीच कोई बहुत ही गहरा सम्बन्ध है और यही गहरा सम्बन्ध उपन्यास को पूरी तरह प्रभावित किए रहता है।

'माटी-मटाल' का कलेवर अपने कथानक से भी कही बडा है और यही बात उसके पात्रो और काल के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। 'माटी-मटाल' के पात्र प्रतिनिधि नहीं हैं। अपने अन्तर की ऊर्जा से ही वे अपने गन्तव्य की ओर प्रेरित होकर आत्मतुष्टि प्राप्त करते हैं। काल के परिप्रेक्ष्य में इस उपन्यास में उडिया ग्राम्य-जीवन का सम्पूर्ण रूप उजागर होकर सामने आता है। लेकिन इससे भी अधिक, एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्तर पर उपन्यास इस सन्दर्भ को और अधिक व्यापक बना देता है, यह उन मानवीय स्थितियों का भी मनोवैज्ञानिक और

सौष्ठवपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है जो कि कभी 'कालबद्ध नही होती।

कलात्मक स्तर पर भी 'माटी-मटाल' का शिल्प अत्यधिक सुन्दर है। उपन्यास एक पराजित मनोदशा मे आरम्भ होता है।

> ' आज वह चला जा रहा है, नौकरी करने। वह, रवि जिसके अपने जीवन के प्रति कुछ स्वतन्त्र विचार थे। उस देवदारू तले खडे-खडे मझले शहर की बत्तियो की ओर देखता हुआ उसके भीतर का अव्यक्त व्यक्तित्व भी मानो अनजाने सामने आकर खडा हो गया है और कहने लगा "मुझे यो न रास्ते मे बेच फैंको, मैं जीवित रहना चाहता हूँ, फूल की तरह खिलना चाहता हूँ।"

धीरे-धीरे वातावरण मे परिवर्तन होता है और अन्त मे एक गहरे उल्लास और कौतूहल की भावना का उदय होता है। इस परिवर्तन की कलात्मक अभिव्यक्ति दो सूर्यास्तो क विवरण मे भी मिलती है, जो उपन्यास के आरम्भ और अन्त मे दिए गये हैं। उपन्यास क प्रारम्भ का सूर्यास्त रवि की मनोदशा को चित्रित करता है। इसमे दुख और मनुष्य की अनिश्चयता और निरीहता का मिश्रण है, ऐसा लगता है कि कही कोई स्थायित्व ही नही है और सब कुछ अन्धकार के विनाश की ओर बढ रहा है। लेकिन उपन्यास के अन्त का सूर्यास्त आत्म-विश्वास और स्थायित्व का बोध कराता है।

कलात्मक दृष्टि से रवि और छवि के विवाह के प्रसग को भी बडे सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया गया है। एक ओर छवि के पिता सिन्धु चौधरी रवि और छवि के सम्बन्धो को सामान्य प्रेम-प्रक्रिया की परिणति न मानकर उसका बहुत सुन्दर वस्तुपरक विश्लेषण करते हैं। दूसरी ओर जब विवाह के प्रश्न पर रवि अपने पिता के सामने आता है, वहाँ एक टकराहट दिखायी गयी है दो पीढियो की, दो मूल्य वर्गों की। ऊपर-ऊपर पिता अडिग रहते हैं, पर भीतर से सारा बल टूट चलता है और फिर तो सामने यही रहता है कि जो पेड पुराना हो उसका क्षय हुआ करे और नये पौधे फूटते-बढते जाएँ।

रवि और छवि के जटिल सम्बन्धो मे ही उपन्यास का मूल महत्त्व दिखाई देता है। एक डेसपरेट और असहाय अवस्था से शुरू करके रवि और छवि अपने को व्यवस्थित कर लेते हैं। और यह प्रक्रिया अपने वातावरण के आसपास के छोटेपन को तोडती हुई जीवन के विस्तार और वैभव मे मिल जाती है। यही है माटी मटाल के शिल्प की भव्यता।

'माटी-मटाल' की यह आलोचना की गयी है कि यह अनेको छोटी-छोटी बातो के अनावश्यक विवरण से अत्यधिक लम्बा हो गया है। इसमे कुछ सच्चाई है लेकिन यह नही भूलना चाहिए कि सामान्य पाठक ग्राम्य-जीवन के अन्तरग क्रियाकलापो से अन्तर्भूत-सा ही रहता है। गाँव का पूरा रूप दिखाने के लिए, उसका चरित्र उभारने के लिए और पात्रो को समझने के लिए इस प्रकार के विवरण बहुत आवश्यक होते हैं। माटी-मटाल के रूप को तो अधिकतर इन विवरणो ने ही सवारा है।

गोपी बाबू के कथा ससार के प्रेरणा-स्रोत यथार्थ हैं, यह निर्विवाद है। चाहे आदिवासियो के, चाहे दलितवर्ग के और चाहे सुविधाभोगियो के सन्दर्भ मे हो—उनके कथानको मे जीवन और कर्मठता की एक विशेष प्रकार की सहज अभिव्यक्ति है। विभिन्न प्रकार के विषयो और मनोभावो के अबार मे और अत्यधिक भिन्न-भिन्न सामाजिक परिवेशो मे जी रहे पात्रो के चरित्र-चित्रण मे गोपी बाबू परिस्थिति-जन्य सकीर्णता और दैनन्दिन जीवन के सुपरिचित स्वार्थों की निर्लिप्तता से ऊपर उठकर मानव की अजेय चेतना की कीर्ति फैलाने मे अत्यन्त सफल हुए हैं। शोषण के विभिन्न रूपो को दिखाते हुए उनकी कथाएँ शोषक और शोषित के सम्बन्धो को इतनी निर्ममता और सच्चाई से चित्रित करती हैं कि पाठक को इससे किसी वर्ग के प्रति रोष और दूसरे वर्ग के लिए सहानुभूति उपजने से अधिक जटिल मानवीय स्थिति का बोध होता है।

यह सब गोपी बाबू के कलात्मक दृष्टिकोण के कारण ही सम्भव हुआ है। और यही है उनके शिल्प की विशिष्टता। इसके माध्यम से वह एक सामाजिक स्थिति का "मेटाफिजिकल" स्तर पर लाभ उठाते हैं। शोषितवर्ग का विद्रोह केवल किसी अन्य वर्ग से सामाजिक न्याय पाने की प्रक्रिया मात्र न रहकर मनुष्य का निर्यातना की क्रूरता से अपनी रक्षा करने का सार्वभौमिक प्रयास बन जाता है।

कृतियाँ

उपन्यास

१	मन गहीरर चाष	१९४०
२	दादिबुढा	१९४४
३	परजा	१९४५
४	अमृतर सतान	१९४७
५	हरिजन	१९४८
६	शरत बाबुक गली	१९५०
७	राहुर छाया	१९५२
८	दुई पत्र	१९५४
९	सपन माटि	१९५४
१०	दाना पानी	१९५५
११	शिव भाई	१९५५
१२	अपहच	१९६१
१३	लय-विलय	१९६१
१४	तन्त्रिकार	१९६३
१५	माटिमटाल	१९६४
१६	पाहान्ता	१९७१
१७	आकाशसुदरी	१९७२
१८	अनल नल	१९७३
१९	दिग दिइडी	१९७९

कहानी-सग्रह

१	घासर फूल	१९५१
२	पोडा कपाल	१९५१
३	नव वधू	१९५२
४	छाइ आलुअ	१९५६
५	रण ढण्डोल	१९६३
६	गुप्त गगा	१९६७
७	नाँ माने नाहि	१९६८
८	उडन्ता खइ	१९७१

नाटक

१	मुक्तिपथे	१९३७
२	महापुरुष	१९५८

निबन्ध-सग्रह

१	कलाशक्ति	१९७३

जीवनी

१	दीपम् ज्योति	१९६५
२	उत्कल मणि	१९६७

अन्यान्य

१ आदिवासियो की भाषाओ पर आठ पुस्तके

२ हिन्दी, बाग्ला, अँगरेजी से अनूदित चार पुस्तके

अभिभाषण के अंश

मेरा आशय यह नहीं है कि एक भारी-सा भाषण सुनने के कष्ट में आपको डालूँ। सच यह है कि कुछ बहुत कहने के लिए मेरे पास होगा भी क्या ! मुझे तो सदा ही यही लगा है कि अपने को सप्रेषित करने का सबसे सहज और सगत साधन लेखक के पास कोई हो सकता है तो उसका वह साहित्य-सृजन ही जो उसके अपने भीतर के एकान्त मे जनमा हो। जो सम्मान मुझे आज प्रदान किया गया है, इसे भी मैं अपने 'व्यक्ति' के प्रति नही मानता, यह सम्मान उन मूल्यों का है जिनका द्योतक मेरी रचनाओ के द्वारा होता है।

मैं लेखक कैसे बना, यह समझा पाना दुष्कर है , ठीक जैसे यह बता पाना कि मैं जो हूँ वह कैसे हुआ। मनुष्य और उसकी नियति की व्याख्या नही की जा सकती , जो भी विवरण दिया जायेगा वह अपना ही अधूरापन प्रकट करेगा। पर जीवन के प्रारम्भिक काल मे यह इच्छा कभी मन मे छिपे-छिपे अवश्य जगी होगी कि मैं भी लिखूँ। ऐसा न होता तो मेरे भाव और चेष्टाओ मे जो एक विलक्षणता थी वह न आती। और उस इच्छा को उकसावा दिया होगा मेरे अग्रज के उदाहरण ने। मैं स्कूल जाने लगा उससे भी पहले से वे लिख रहे थे। आज वे, श्री कान्हूचरण महान्ति, उडीसा के एक प्रतिष्ठित उपन्यासकार हैं। मैं कॉलिज मे था तब तक भी उनके कई उपन्यास प्रकाशित होकर चर्चा का विषय बन चुके थे। उनसे मिले प्रोत्साहन और उडिया साहित्य के प्रति मेरे सहज श्रद्धा-अनुराग भाव का सिचन पाकर मन की वह इच्छा बल पकड उठी। उडिया साहित्य का इतिहास हजार वर्ष लम्बा ही नही, गौरवपूर्ण भी है अनेक ख्यातिप्राप्त नाम उसके साथ जुडे हुए हैं। मैं स्वय भले ही अँगरेजी साहित्य का विद्यार्थी था, पर मेरी तीव्र इच्छा थी कि अपनी मातृभाषा की समृद्धि के लिए भरसक मैं भी कुछ करूँ। सबसे बढकर बात यह कि मैं हृदय से चाहता था कि जीवन और जगत् को जिस रूप मे मैंने देखा-जाना उसे प्रकाश मे लाऊँ, उसके जो अर्थ और भाव मैंने समझे उन्हे प्रकट करूँ, और उन मूल्यो को अभिव्यक्ति दूँ जो मुझे प्रिय थे, मेरी दृष्टि से अभीष्ट थे। स्वभावत अपने अन्यान्य समवयस्को की नाईं मुझे भी लगता था कि मेरे कुछ अपने विचार हैं जो औरो से भिन्न हैं, नये हैं।

और इस प्रकार, मैं अभी कॉलिज मे ही था कि मेरी कहानियाँ और एक नयी-सी कथाशैली मे ढली समीक्षात्मक रचनाएँ मासिक पत्रिकाओ मे आने लगी। पाठक जगत् से उन्हे सराहना मिली। कुछ समय बाद मैंने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया , और जब-जब मन किया, अन्यान्य साहित्यिक विधाओ मे भी लिखा। पर कभी भी मेरा लक्ष्य उस आनन्द के अतिरिक्त कुछ और न होता जो मुझे लेखन से प्राप्त हुआ करता। वैसा आनन्द कही और मिलता भी न था। शायद यही कारण भी था कि मेरा लेखन चलता रहा। मुझे न कभी लोकप्रियता की इच्छा हुई, न प्रचार-ख्याति की। यह भी मैं जानता था कि लेखन को आजीविका का साधन नही बनाया जा सकता। यही सोचकर मैंने सरकारी नौकरी भी की। फिर तो लेखन-कार्य के लिए समय दे पाना सम्भव होता तो अवकाश की घडियो को काटकर, या इसलिए कि घर के कामो का भार बिना आपत्ति किये पत्नी ने अपने ऊपर झेला। मुझसे छिपा न था कि अपने को टिकाये रखने के लिए, लेखक को समाज से किसी खास रिआयत की अपेक्षा नही होनी चाहिए। मैंने कभी की भी नही। मुझे जीवन के लिए सघर्ष करते नाना विघ्न और बाधाओ का सामना करना पडा है। पर

वे सब कटु और विभिन्न अनुभूतियाँ न हुई होती, उन चुनौतियों से लोहा न लिया होता, जिनके बिना मनुष्य का श्रेष्ठतम रूप ही उजागर नही होता, तो मैं नहीं सोच पाता कि मेरे पास लिखने के लिए होता भी क्या।

मेरा जितना भी लेखन है, वास्तव मे सब जीवन को जीवन के नाते, औरो के नाते, और सामान्यत ससार के नाते जीने की प्रक्रिया मे, अन्तरात्मा के निभृत एकान्त मे सत्य के साथ मेरे अन्तरग और नितान्त वैयक्तिक साहचर्य का समूर्तन है। सारा लेखन, जैसा भी वह है, अपने से ही आया है और विभिन्न परिस्थितियो, विचार-चिन्तन तथा सवेदनाओ की ऐसी भावावस्था से जनमता हुआ आया है जहाँ एक विलगाव भी था और परिव्याप्तता भी थी। इस परिव्याप्तता का माध्यम भी बडा सूक्ष्म था उसमे जहा एक ओर विराग और भक्तिभाव की समर्पणशीलता थी वहाँ दूसरी ओर परिपूर्णता और आनन्द की ससिक्तता भी थी।

पूर्ण सत्य किसी की भी पकड के परे रहता है। मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है तो यथासम्भव घटना-दृश्यो के ही द्वारा। इसके लिए उसे साधन मिले हैं इन्द्रियाँ, मन, सवेदनशक्ति और मनोवेग। इन साधनो को अत्यधिक सवेदनशील भी बनाया जा सकता है यदि प्रेम और सहानुभूति के कारण उपजे पर-चिन्ता भाव के ही प्रति कोई आत्मसमर्पित हो रहे। कभी-कभी अतीन्द्रियता की अवस्था मे भी सत्य की अनुभूति हुआ करती है। मेरे विचार से तो ऐसी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का साहित्य मे समावेश होना चाहिए। इतना ही नही, आवश्यक यह है कि साहित्य, फिर, विविधतायुक्त जीवन के यथार्थ स्पर्श का अनुभव करा सके और उसके अर्थ और गौरव को बोध दे सके। पूर्ण सत्य वास्तविक जीवन को अस्वीकार नही कर सकता, जिसके कठोर पक्ष भी होते हैं और सुखद पक्ष भी। वह सुन्दर और कुरूप दोनों मे रहता है, यौवन मे भी जरा मे भी, पीडा मे भी हर्ष-मोद मे भी, आशा मे भी उल्लास मे भी। मैं नही मानता कि साहित्य पीडा, कुरूपता, दुर्बलताओ और अप्रियता का किनारे बचाता चले न ही उसे इन्हीं मे सलिप्त हो रहना चाहिएँ। मैं नही चाहता कि साहित्य का विषय निरी निरर्थकताएँ, अस्वाभाविकता, और जो जीवन से दूर-विलग हो, वह सब बने उसका तो लक्ष्य हो कि उन मूल मानवीय मूल्यो का उद्घाटन करे जो मनुष्य की सामर्थ्य के अन्तर्गत आ सकते हैं। मैं साहित्य मे केवल बाह्यताएँ ही नही, गहराई और गुरुत्व भी देखना चाहता हूँ।

जीवन मे मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है और जैसी मेरी स्वाभाविक सहानुभूतियाँ हैं, उस सबके कारण मैंने प्राय ही शोषण, अत्याचार, अन्याय, क्रूरता और निर्दयता की भर्त्सना की है और ढोग, पाखण्ड, भ्रष्टता और मिथ्यात्व को नगा किया है। इनसे उन पर विपत्तियाँ आती हैं जो इनका आखेट बनते हैं और जिन पर इनका अपराध होता है वे मनुष्यता के स्तर से ही गिर चुकते हैं। मैं तो उन हजारो-लाखो मे से केवल एक हूँ जो आज के इस क्रूर और अन्यायपूर्ण जीवन-जगत् मे सामाजिक न्याय के लिए पुकार कर उठते हैं, जहाँ पैसा ही एकमात्र मापदण्ड है और जहाँ अपने रहने और जीने की व्यवस्था एव सारी देखभाल हरेक को स्वय ही करनी होती है।

यह अवश्य है कि मेरे लेखन का विषय आदिवासी, हरिजन, मजूर, किसान, निम्न मध्यवर्ग और अन्य दलित लोग हैं। किन्तु यह इसलिए कि मैं इन्हे मानवप्राणी से भिन्न किसी और रूप मे देख ही नही सका। मेरी दृष्टि में ये मात्र सामाजिक या आर्थिक धारणाओ के भाव में कभी आये ही नही। यही शायद कारण भी हुआ कि इनकी स्थिति मुझे और भी अधिक त्रासिक लगी। क्योकि, मनुष्य के द्वारा मनुष्य के ऊपर चिन्ताएँ-समस्याएँ न भी ढहायी गयी होती, तो भी वर्तमान परिस्थिति मे जीना और रहना यो भी दूभर बना हुआ है। जो स्वय एक दुर्बल प्राणी है, अनेक-अनेक जिसकी सीमाएँ हैं, उसे ही आज दुर्योग-सयोग के व्यग्य

और काल के क्रूर थपेडे झेलने होते हैं। वह बस जीता होता है, कुछ से कुछ होता जाता है और फिर क्षय होता हुआ अन्त को अनन्त काल की पृष्ठभूमि मे नि शेष हो रहता है।

किन्तु अनजानी और अकस्मात् आयी आपदाओ से अतिम क्षण तक जूझते हुए जो रूप उसका सामने आता है वह एक त्रासिक वीर नायक का होता है। उसके रोम-रोम मे जिजीविषा बसी होती है जो अतिम क्षण तक बनी रहती है। इसीलिए, कैसी भी परिस्थिति आये, वह खोजता है तो केवल प्रकाश, उल्लास। सृजन करने मे उसे सुख मिलता है, परिस्थिति और परिवेश को अनुकूल बनाने मे वह जुटा रहता है, और जहाँ उजाड-विजन हो वहाँ अपनी बस्ती बनाता है। इस प्रकार विश्व मे अपनी हस्ती को वह बनाये रखता है और आस्था, प्रेम, समवेदना, सद्भाव की भित्तियो पर अपने ससार को खडा करता है। स्वतन्त्रता का वह प्रेमी होता है, तो भी कितनी ही बातो मे उसे औरो के अधीन रहना पडता है। अपना निजी व्यक्तित्व और अपनी एकान्तता उसे प्रिय होते हैं पर प्रिय उसे मित्रता, मेलजोल, और समाज-वास भी लगते हैं। सग-साथ और सहचरता की ललक उसमे जैसे जन्मजात होती है।

अपना जो कुछ है उसे अपने स्वत्व मे बनाये रखना उसका स्वभाव है, पर उसी प्रकार औरो को दे देना भी उसकी प्रकृति है , सबसे अधिक सुख ही उसे आत्मत्याग मे मिलता है। नाना परिवर्तन उसे आये दिन अगीकार करने पडते हैं पर उसकी अपनी मूल प्रकृति, उसके अपने मूल गुण, कभी नहीं बदलते। एक साथ वह जीव भी होता है पदार्थ भी, पशु भी और देवता भी। सहज प्रकृति उसकी सदा भले की ओर जाती है , व्यवहार की भूमि पर आकर भले ही भीतर का पशु आगे बढ जाता है। निस्सन्देह वह एक जटिल प्राणी है, लघु रूप में एक समूचा ही विश्व। अनेक विरोधी तत्त्वो का वह बना हुआ रहता है, अनेक सघर्ष उसके भीतर चला करते हैं , बाहर की दुनिया से उसके सम्बन्ध उलझे हुए ही नहीं होते, अलग-अलग आयामों के भी रहते हैं। पर यह सब होते भी, एक अन्तर्भूत अन्विति और एकत्व का भाव उसमे सदा रहता है।

उसके सम्बन्धो में, सबसे पहले आता है, प्रकृति जगत् से उसका घनिष्ठ लगाव-जुडाव जो अक्षुण्ण रहता है भले ही वह कही जगल मे रहे या अन्यत्र। वह जैसे प्रकृति का एक अग होता है उसकी हर लय-ताल को वह अनुभव करता है और उसमे एक सान्त्वना-आश्वास पाता है। उसके और प्रकृति के बीच एक अटूट आदान-प्रदान चला करता है। प्रकृति मे ही उसका सारा उल्लास, चैन, और मन की निश्चिन्तता का भाव बसे रहते हैं। उसे लगा करता है कि प्रकृति है तो वह भी है अपने होने की सगतता ही उसे प्रकृति मे दिखाई पडती है। सच तो, अपने जीने की प्रक्रिया मे से ही जो कुछ अर्थ वह जीवन का समझ पाता है, उसे ही वरदान मानकर जीने के लिए जिया करता है। प्रकृति ही उसे छाँव देती है जब अपनी जटिल सामाजिक परिस्थितियो मे वह तपने लगता है, और वही होती है जो उसके मन और कार्यशक्ति को मस्तिष्क की उथल-पुथल मे रुँध रहने से भी रोक लेती है।

पर बहुत बार अपनी सनक और मूढता मे जो कुछ वह माने आता है और उसके आधार पर करता जाता है, वही प्रकृति की लय-ताल के साथ मिला हुआ नही रहता और तब उसे बडा कष्ट होता है। वास्तविक जीवन मे आघात और कष्ट रहते ही हैं। स्वय मनुष्य के भीतर अशुभ प्रेरणाएँ होती हैं और बाहर चारो ओर अशुभ शक्तियाँ। उसकी अपनी पशु-प्रकृति मे न केवल क्षुद्रता और स्वार्थीपन रहते हैं, बल्कि क्रूरता और मिथ्यात्व भी। नियत्रित न रखे जाये तो ये तत्त्व उभर उठते हैं और सामाजिक स्तर पर आकर जब सक्रिय होते हैं तब ये ही शोषण, अन्याय, निर्दयता, घृणा, कलह, हिंसा एव अन्यान्य अनगिनत बुराइयो को जन्म देते हैं। छोटे-छोटे ग्रामो और ग्रामवासी दलो की भी यही कहानी है, और इस विशाल जगत् के रगमच की भी।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने जिन अपार सम्भावनाओं का प्रवेश कराया है उनके सहारे अकल्पनीय सीमा तक भला भी किया जा सकता है और अनिष्ट भी। पर अभाव, समस्याएँ, असन्तोष, यातना-कष्ट और कलह-सघर्ष ये सर्वत्र बने हैं। परिवर्तनों का परिणाम यह होता आ रहा है कि जीवन का सन्तुलन भग हो रहे, सँजोये हुए सारे मूल्यों का विघटन हो जाये और मनुष्य स्वय यन्त्रवत् चालित कुछ ऐसा हो रहे कि उसका अस्तित्व तक पर जोखिम हो। यही क्या अन्त होना है? नही। अन्तरस्थ ज्ञान-चेतना न कभी पराजय स्वीकार करती है न हताशा ही। मनुष्य में आस्था, आशा, साहस सब हैं और है इनकी सहज-अन्तर्जात शक्ति। यह उसे सामर्थ्य दे सकती है कि अपनी समस्याओ पर विजय-लाभ करे।

जो शक्तियाँ विघटन करने मे लगी हुई हैं वे ही मानव मात्र को परस्पर एक करने की ओर भी प्रवृत्त हैं। बदलता हुआ युग, बदलती हुई जीवन-दशाएँ, सबको बरबस एक-दूसरे के निकट ला रही हैं। जैसे ही वे स्थिति की प्रत्यक्षता से अवगत होंगे, और देर-सवेर होगे अवश्य, उनके सामने स्वाभाविक विकल्प ही परस्पर शान्ति और मैत्री का, हर्ष का और जीवन का होगा, कलह, सघर्ष और विनाश का नहीं। कोई और मार्ग ही सम्भव नहीं। एकमात्र औषधि हो सकती है तो मानव के अन्तरात्मा की विवेक-शक्ति ही, अपने को जीवित रखने की उसकी सकल्प-शक्ति ही।

मेरी मनुष्य में आस्था है, उसकी अन्तत विजय और विमुक्ति के प्रति विश्वास है। भावशून्य और निरपेक्ष तर्क भले ही मनुष्य को इन्द्रियों का सपुज बताकर निरा न-कुछ ठहरा दे, पर प्राणों की दीपशिखा तो भीतर फिर भी रहती है। मनुष्य यदि यह नहीं, मनुष्य यदि वह नही, फिर भी शुभ और शाश्वत तो वह रहा। मेरा विश्वास है कि समूचा विश्व फिर जैसे एक ही घर-परिवार होगा, प्रत्येक जन प्रेम के बन्धन मे बँधा, एक-दूसरे का और एक-दूसरे के लिए होगा, वहाँ हर व्यक्ति को अपने पूर्णतम विकास का आश्वासन रहेगा और समाज में सब कोई बडे सुसगत रूप में यथास्थान अवस्थित होंगे। और यही सब तो है जो मैंने 'माटीमटाल' में कहना चाहा है।
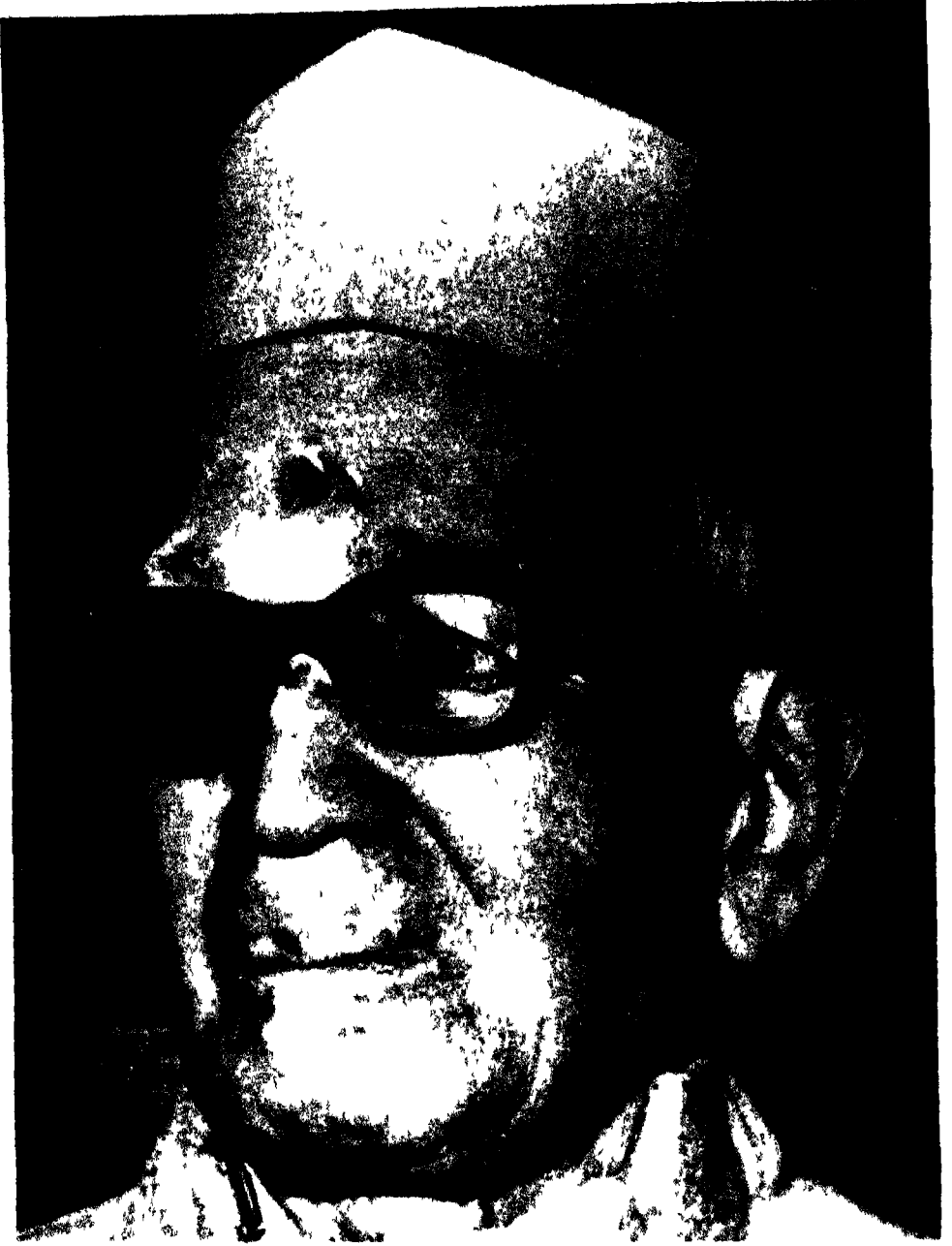
विष्णु सखाराम खांडेकर

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७४ का साहित्य-पुरस्कार श्री विष्णु सखाराम खाण्डेकर को उनके मराठी उपन्यास 'ययाति' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९५८-१९६७ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

अग्रवर्ती मराठी लेखको मे आधी शताब्दी से अधिक से प्रतिष्ठित, श्री खाण्डेकर साहित्यिक निष्ठा और दायित्व-भावना के समर्थक-प्रतीक के रूप मे सामने रहे हैं। उनके काव्य-साहित्य और गद्य को गाधीवाद और समाजवाद के समन्वय की एक ऐसी अनूठी परिकल्पना ने आलोकित किया है जो अपनी सशक्तता से महाराष्ट्र एव, अनुवादो के माध्यम से, देश मे अनगिनत पाठको के दृष्टिकोण को दिशा दत आय हैं। प्रतिकूल परिस्थिति, अस्वास्थ्य और अब दृष्टि-विहीनता के रहते भी खाण्डेकरजी ने साहित्यिक और सास्कृतिक गति-विधियो के साथ सगति रखी है और भारत की नवचेतना एव प्रगतिशीलता के दृढ समर्थक रहे हैं।

ययाति उनकी उत्कृष्ट रचना है जिसमे कथा और काव्य, मनोविज्ञान और दर्शन ताना-बाना बनकर समाये हैं और जिसकी विषयवस्तु समकालीन भी है कालातीत भी, भारतीय भी है सार्वभौमिक भी। इसके मुख्य चरित्र जीवन्तता के प्रतीक हैं और उनके पुरातन प्रतिमानों मे अगाध अर्थवत्ता अनुप्राणित करने मे खाण्डेकर सफल हुए हैं। एक प्राचीन मिथक का आधुनिक वाग्भगी द्वारा 'ययाति' मे नवसर्जन करके उन्होंने एक चिरस्थायी सन्देश आज के मानव जगत् को दिया है जो एक श्रान्त-क्लान्त दानव की नाईं आत्मा का बहिष्कार किये हुए भौतिक मे ग्रस्त है।

श्री खाण्डेकर का आयुष्य सदा सुख और शान्ति से मण्डित रहे।

	उमाशंकर जोशी	शान्तिप्रसाद जैन
नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्षा
२६ फरवरी, १९७६	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

विष्णु सखाराम खांडेकर

सन १९१९ से लेकर १९७५ तक मराठी सारस्वत की वैविध्यपूर्ण परिक्रमा करने वाले 'जीवनवादी' यायावर श्री विष्णु सखाराम खाडेकर का जन्म ११ जनवरी, १८९८ को सागली, महाराष्ट्र मे हुआ। बचपन मे पिता का स्वर्गवास होने पर, उन्हे पिता के बडे भाई श्री सखाराम खाडेकर ने गोद ले लिया और 'गणेश' के बदले उनका नाम 'विष्णु' रख दिया। बचपन से ही शारीरिक रूप से अस्वस्थ और कमजोर होते हुए भी वह अपनी स्कूल के मेधावी छात्र माने जाते थे। १९१३ मे मैट्रिक मे अच्छे अक प्राप्त करने के बाद, उन्होने पुणे विश्वविद्यालय की कलाशाखा मे प्रवेश लिया। स्नातक की उपाधि प्राप्त करने से पहले ही परिवार की आर्थिक स्थिति बिगड गयी और उन्हे अपनी शिक्षा अधूरी छोडकर घर लौटना पडा। इस दौरान उनका अपना स्वास्थ्य भी बिगड रहा था। उन्हे स्वस्थ होने मे तीन साल लग गये। १९२० मे उन्होने कोकण के शिरोडे नामक गाँव की पाठशाला मे अध्यापन का काम शुरू किया, यहीं उनका जीवन की सच्चाई का पहला साक्षात्कार था। अपने जीवन के अठारह साल उन्होने इसी गाँव मे बिताए, जिसके सस्कार और मधुर स्मृतियो की सुगन्ध-सुरभि जीवनभर उनके साथ रही।

खाडेकर के लेखन की शुरुआत १९१९ मे 'उद्यान' पत्रिका मे छपी व्यग्य लेख माला से हुई जिसका शीर्षक 'श्रीमत् कलिपुराण' था। उसी दौरान उन्होने अन्य पत्रिकाओ मे भी साहित्य की समीक्षा करने वाले लेख लिखे। आधी सदी से भी लम्बे कालखण्ड मे विपुल साहित्य सृजन करने वाले खाडेकर की साहित्य सृष्टि मे सत्रह उपन्यास, तीन कहानी-सग्रह, चार रूपककथा सग्रह, छह प्रबन्ध, नौ समीक्षा ग्रन्थ, तीन चरित्र, अठारह चित्रपट कथाएँ और एक नाटक, एक अनुवाद के साथ कई ग्रन्थो का सपादन भी शामिल है। इतनी सुदीर्घ, विपुल साहित्य सेवा का विचार करने के लिए उसे किन्ही स्थूल विभाजन या कालखण्ड मे बाँटना या सहेजना सम्भव नही तो भी पहला खण्ड १९१९ से १९४२ तक और दूसरा १९४२ से १९७५ तक बाँटना उचित होगा।

मराठी साहित्य के इतिहास के अनुसार इस कालखण्ड की प्रमुख प्रेरणा था मार्क्सवाद और फिर गाँधीवाद। मार्क्सवाद दरिद्रता से सहानुभूति रखता था, मानवता के गुण गाता था, अस्तित्व की विविध कसौटियो पर चिकित्सा करता था, धनहीनो के प्रति

अनुकंपित था। इतना ही नही, वह समाज के कमजोर वर्गों के शोषण के विरोध मे सघर्ष की ललकार उठाकर सामाजिक क्रान्ति और उज्ज्वल भविष्य के सपने दिखाता था। बचपन मे गरीबी का सामना करते आने वाले बुद्धिवादी और सवेदनशील खाडेकर के स्वप्नपूजक आशावाद को मार्क्सवाद मे नि सन्देह प्रेरणा मिली थी और फिर आगरकर, श्री कृ कोल्हटकर, हरिभाऊ आपटे, और राम गणेश गडकरी के साहित्य ने उन्हे मानवतावादी सुधारणाओ के प्रति सचेत बना दिया। उनके १९३४ मे प्रकाशित दो उपन्यास 'उल्का और 'दोन ध्रुव' इस प्रभाव को प्रमाणित करते है। समाजवादी क्रान्तिदर्शिता और भावुकता का अद्भुत सगम 'उल्का' को खाडेकर स्वय भी अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानते थे।

लघुकथाएँ और उपन्यास उन्होन पहले भी लिखे थे। १९३० मे प्रकाशित 'हृदयाची हाक' (जो उनका प्रथम उपन्यास था) और 'काचनमृग' ने उन्हे अपूर्व लोकप्रियता प्रदान की थी। उसके बारे मे खाडेकर की यह धारणा थी कि उस लोकप्रियता के लिए उपन्यास के कलागुणो से ज्यादा उनके सामाजिक जीवन के ऊपर एक महत्त्वपूर्ण घराने के प्रामाणिक चित्रण करने का उनका प्रयास था। उनके पाठक उन पर लुब्ध थे लेकिन वह स्वय से असन्तुष्ट थे। अलकारविभूषित भाषा-शैली की गरिमा ने उन्हे कीर्ति अवश्य दी थी लेकिन आत्मसन्तोष नही, वह लोकप्रियता उन्हे दीपावली की चकाचौंध कर देने वाली जगमगाहट जैसी लग रही थी जिसमे पाठको की आँखो को कौंधने का सामर्थ्य अवश्य था लेकिन उनके मन की गहराईयो को छूकर उनका मार्ग-दर्शन करने की दीप्ति नही थी। अपने लेखन की यही कमी उन्हे शल्य बनकर चुभ रही थी। जीवन के सजीव स्वभाव चित्र और ज्वलत प्रश्नों के ताडव नृत्य के बीच रहते हुए, उनको अनदेखा कर प्रचलित, लोकप्रिय मार्ग को अपनाकर कल्पनारम्य उपन्यास लिखना उन्हे अस्वाभाविक लगता था। उनके अन्दर जो अपूर्णता थी उसने उन्हे बेचैन कर दिया था। खाडेकर और उनके समकालीन फड़के मे शायद यही सबसे बडा विरोध था। कला कला के लिए सिद्धान्त के पुरस्कर्ता फडके कला के पुजारी थे और सौन्दर्य के प्रेमी। खाडेकर 'कला जीवन के लिए' मानते थे, उनकी तलस्पर्शी प्रतिभा ने मानव मन को बडी गहराई मे समझा था। तत्त्वचिन्तक दृष्टिकोण, निजी और सामाजिक अनुभूतियो की सवेदनशीलता, निरीक्षण की सूक्ष्मता और वैचारिक प्ररणा का मणिकाचन सयोग उनके सस्कारशील साहित्य की विशेषताएँ है।

खाडेकर की स्वप्निल वृत्ति या मानसिकता पर समीक्षको ने हमेशा बडा प्रश्न चिह्न लगाया है लेकिन इस बारे मे उनका कहना था, करुणोदात्त हेतुवाद ने उन्हे हमेशा आकर्षित किया है। प्रीति और ध्येयवाद जीवन का शृगार है और शृखलाएँ भी, उन्हे एक झटके से तोडा नही जा सकता। कोई भी ध्येय अपने आपमे एक उदात्त स्वप्न ही होता है। ऐसे सपने आसानी से सच नही होते अक्सर तो वह टूट जाते है किसी न किसी रूप मे उनके पीछे पडने वालो के हिस्से दुख ही आता है। लेकिन यह दुख सात्विक होता है जो आत्मशक्ति को बढाता है। एक लेखक के रूप मे खाडेकर की यह भूमिका थी कि मानवता की भक्ति यही मनुष्य का धर्म है, मानव जीवन के विकास की सही हकदार भोगवादियों की विजय नही, हेतुवादी की पराजय है जिसका समर्थ प्रतिबिम्ब साहित्य के यथार्थचित्रण मे आना चाहिए। एक रचनाकार के रूप मे खाडेकर का यह तत्वज्ञान उनकी कथाओ मे और उपन्यासो मे कलापूर्ण दृष्टि से आविष्कृत होता है।

खाडेकर की स्वाभाविक प्रवृत्ति एक कवि की होते हुए भी कवि के रूप मे वह बहुत कम जाने गये थे। उनका गद्य भी पद्य जैसा छदात्मक, लयात्मक और अलकरणयुक्त था। उन्होने अपने लेखन के शुरुआती दौर मे 'कुमार' या 'अनामिक' के नाम से कुछ कविताएँ लिखी थी। अपने शैशव से लेकर १९३५ के कालाविधि मे उन्होने काफी

कविताएँ लिखी थीं, लेकिन उनके समग्र काव्य सभार के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उन्होंने उपन्यास को अपनी विधा अवश्य बनाया लेकिन उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति का परिपाक उल्का जैसे उपन्यास में मिलता है—जिसमें तीन पात्रों की सात कविताएँ भी शामिल हैं। उनकी 'अरण्यरोदन' (१९२५), 'धीर एकच पणती मिणामिणनी' (१९३४) तथा 'रात्र नको चादणी' (१९३५) आदि कविताएँ कवि मन की आर्तता और क्षुब्धता को बहुत अच्छी तरह दर्शाती है।

१९२५-३५ का दशक खाडेकर की कथायात्रा की परिक्रमा का था। उनकी कथाओं मे भी, उनकी गम्भीर मनोवृत्ति तथा गाँधीवाद और समाजवाद से प्रभावित जीवन दृष्टि की आभा सुस्पष्ट दिखायी देती है। उन्हीं दिनो मे ना सी फडके भी लोकप्रियता की लहर पर सवार थे। फडके की कथाओ में रोमानी प्रेम भावनाओ के मुक्त आविष्कार को छोडकर कोई अन्य गुणविशेष नही था। लेकिन मोपासाँ, टॉल्सटॉय और डिकेन्स से प्रभावित खाडेकर की कथा मे ध्येयवाद, समाजाभिमुख मानवी मूल्य, सामाजिक अन्याय और ऊँचनीच का विरोध और गहरी सवेदनशीलता थी। उन्हे शायद महान् कहानीकार कहा नही जा सकता लेकिन फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी कहानियो की अपनी एक स्वतन्त्र पहचान थी। उनमें पाठकों के मन को सुसस्कृत करने की सामर्थ्य थी। मराठी मे रूपकात्मक साहित्य के अभाव को अपनी सूचक, सशक्त और कल्पक रूपक कथाओ से पूरा करने वाले शायद वह एकमात्र लेखक थे। उन्होने खलील जिब्रान की रूपक कथाओ का अनुवाद भी किया था।

खाडेकर का यह विश्वास था कि ललित कृति मे विचार प्रेरणा या अनुभूति की विशालता जब सर्वस्पर्शी भावनाओ के रूप में आविष्कृत होती है तो उसमें एक अनोखे आकर्षण का निर्माण हो जाता है जिसका अनुरोध प्रकाण्ड पडित से लेकर ढाबे पर पेट की खातिर नौकरी बजाने वाले नौकर तक सबके मन को छू जाता है और वही कला की महानता की अन्तिम पहचान होती है। वह यह भी मानते थे कि केवल रचनाकौशल्य या वाग-विलास से सजीव साहित्य का निर्माण हो नहीं सकता, लेखक को उसकी रचना से विशुद्ध आत्माविष्कार के अप्रतिम आनन्द का अनुभव होना भी उतना ही आवश्यक है। १९४२ मे प्रकाशित 'क्रौंचवध' कहानी गाँधीवाद का प्रभाव उजागर करती हुई यथार्थ के अत बाह्य स्तरों पर अन्धकार के विरुद्ध प्रतिकार का स्वर है। गहरी दार्शनिक दृष्टि,जीवन्त चरित्र चित्रण और काव्यात्मक शैली इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं। वैचारिक उपन्यासों की परम्परा को खाडेकर का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।

'क्रौंचवध' के बाद ग्यारह साल उन्होने जैसे लेखन से मुँह फेर लिया था। ये ग्यारह साल उन्होंने बहुत बेचैन मन स्थिति मे बिताए देश की आजादी के पहले और शुरू के कुछ सालो मे उन्हें सत्य और दभ, त्याग और लोभ, मानवता और दानवता समान्तर रेखाओ मे आगे बढती नजर आ रही थी। उन दिनो में जैसे वह किसी भयानक खाई के किनारे से गुजरती सँकरी पगडडी से एक-एक कदम आगे बढते हुए सनातन मूल्यो की तलाश मे भटक रहे थे। उनके लेखन के श्रद्धास्थान जो उनकी साहित्यनिर्मिती के प्रेरणास्रोत थे। उन्हे वह अनुभव सशोधन की कसौटी पर अच्छी तरह परख रहे थे। यह अनिश्चितता उनके आत्मबल पर बहुत बडा बोझ थी। ग्यारह साल की इस अधेरयात्रा की सुबह 'अश्रु' (१९५४) मे हुई और इस तरह खाडेकर का मौनव्रत टूटा।

अपने युग मे फडके का अपवाद छोडकर शायद खाडेकर ऐसे एकमात्र लेखक थे जो साहित्य की तीन विधाओ लघु कहानी, उपन्यास और ललित निबध लेखन मे सक्रिय थे। १९२७-५९ के बीच लिखे उनके ललित निबध अधिकतर व्यक्तिव्यजक या आत्मपरक थे जिसमे उनके आत्मसघर्ष की झलक मिलती है। उनके व्यक्तिगत जीवन मे आये सुख-दुख के प्रसगो का चित्रणात्मक प्राजल निवेदन

इन आत्मकथन निबधों में मिलता है। इनमें से कई निबध व्यक्ति चित्रणात्मक और चिंतनात्मक भी हैं। मुक्त मनोविहार, सहज शैली और अनौपचारिक उत्स्फूर्त निवेदन इन निबधों की विशेषताएँ है।

क्रौंचवध के बाद जैसे खाडेकर के उपन्यास लेखन का दूसरा पर्व शुरू हुआ, जिसका सशक्त प्रतिनिधित्व 'ययाति' (१९५०) करता है। 'ययाति एक तरह से पुराणकथा का पुनर्लेखन कहा जा सकता है क्योंकि यह कथा पहले महाभारत मे और उसके बाद कई पुराणों में आयी है। खाडेकर के समीक्षक उसे इहलोकवादी जडवादी की कथा कहते है। जीवनवादी उपन्यासकार खाडेकर ने इस पुराणकथा को आधुनिक आशय की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर उसकी सघनता को सौंदर्य का एक ऐसा रूपविन्यास दिया कि वह कथा समकालीन न रहकर एक चिरतन सत्य बन गयी।

'ययाति' एक ऐसे भोगासक्त, मोहविवश सम्राट् की कथा है जिसे चिरयौवन की अमिट तृष्णा अपने युवा पुत्र से उसके यौवन का दान लेने पर बाध्य कर देती है और फिर भी ऐसा नहीं कि 'ययाति' सिर्फ विकार-वासनाओं से विकृति की सीमा तक पीडित विलासी है, वह एक पुण्यवान, पराक्रमी, धर्मकृत्यदक्ष, सवेदनशील, दानी सम्राट भी है जिसकी यह शोकान्तिका नहीं, आर्ष शुभ-कथा है। कामाध व्यक्ति का डर, दुर्दम्य वासना और मन की अश्रद्ध अस्थिरता ययाती में है। किसी भी हेतु या लक्ष्य पर उत्कट श्रद्धा न होने की वजह से जन्मसिद्ध कायिक पशुत्व में खुद का दुख और अकेलापन डुबोने का असफल प्रयास करनेवाली, तथा पशुत्व का प्रदर्शन एव उसके समर्थन में जीवन की सार्थकता ढूँढनेवाली आधुनिक पीढी का ययाति एक रूपकात्मक प्रतिनिधि नजर आता है। अनिर्बंध स्वातत्र्य के दायित्वशून्य तत्वज्ञान का वह प्रतीक है। अगर ययाती मनुष्य की भोगलालसा का प्रतीक है तो दूसरी ओर कच मनुष्य के बौद्धिक आनद और शक्ति को, मानव अश के उत्थान में लगाने का प्रयास है। लेखन के लिए पुराण कथावस्तु के आधुनिकीकरण में कथ्य की पुनर्रचना करना आवश्यक होता है। कच के सदर्भ में खाडेकर ने भी शायद ऐसा ही किया है। महाभारत में कच सजीवनी की प्राप्ति के लिए शुक्राचार्य की शरण में जाता है और उसे प्राप्त कर लेने पर चला जाता है। उसके बाद महाभारत में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन खाडेकर ने कच को ययाति के कथानक में पुनर्निमत्रित करके उसे कुछ ऐसी आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति से उभारा है कि वह भारतीय सस्कृति और तत्वज्ञान के सशक्त धारक के रूप में उपन्यास का अतिम नायक बनकर पूरे कथानक पर छा जाता है।

भारतीय तत्त्वज्ञान में वैराग्य का सर्वोच्च स्थान रहा है लेकिन फ्रायड और मार्क्स की तरह खाडेकर की भी धारणा है कि प्रकृति ऐसा सत्य है जिसे नकारा या झुठलाया नहीं जा सकता, उसकी तुष्टि के उपरात ही सस्कृति के शिल्प का निर्माण हो सकता है। अगर प्रकृति को पाप या मिथ्या मानकर जबरन अस्वीकार किया गया और मोक्षसाधन के लिए अस्तित्ववाद के सभी आयाम त्याग भी दिये तो उसका परिणाम व्यक्ति की निजी अर्थशून्यता में होना अनिवार्य हो जाता है। यती का मानसिक असतुलित अवस्था में गिरीकुहरों में भटकते फिरना इसी का प्रमाण है। सामाजिक तत्त्वज्ञान के रूप में खाडेकर को भोग और त्याग के बीच के सघर्ष अमान्य हैं। उनकी प्रस्तुति एक अस्तित्ववादी की प्रस्तुति है जो भोग के अतिरेक और अप्राकृतिक सयम के बीच सतुलन प्रस्थापित करना चाहती है।

अभिव्यक्ति के रचना माध्यम की दृष्टि से भी 'ययाति' एक अभूतपूर्व कलाकृति है। उपन्यास के कथासूत्र को सभी प्रमुख पात्र ययाती, कच, देवयानी, शर्मिष्ठा, पुरु अपने-अपने आत्मकथन से आगे बढाते हैं। निवेदन प्रथम पुरुष में होने की वजह से अभिव्यक्ति को पूर्ण उन्मुक्तता और गहराई प्राप्त होती है जो पात्रों के अंतर्मन से पाठकों के मन का सीधा तार जोड देती है। इससे कथ्य भी गतिशील और नाट्यपूर्ण बन जाता है।

कलात्मक परिपक्वता और उद्देश्य की तात्विक गहराई से समृद्ध 'ययाति' मराठी साहित्य विश्व को बहुमूल्य देन है जिसे राज्य पुरस्कार, साहित्य अकादेमी पुरस्कार (१९६०) और ज्ञानपीठ पुरस्कार (१९७४) से गौरवान्वित होने का सम्मान प्राप्त हुआ है।

'ययाति' के साथ खाडेकर के रूपकात्मक उपन्यास का दौर खत्म हुआ। 'अमृतबेल' (१९६७) उनके उपन्यास लेखन कौशल का पूर्ण विकसित प्रस्थान है वह एक ओर जहाँ पुरानी धरोहर को सँजोए रखना चाहता है वहाँ नवयुग के परिवर्तन का स्वागत भी करता है। आधुनिक युवा वर्ग के सघर्षमय यथार्थ में सम्बद्ध वृत्ति से सँभाले हुए चिरतन मानवीय मूल्यो की सुदरता और प्रेम भावना की अलौकिक महानता इस उपन्यास की विशेषताएँ है।

अठारह फिल्म कथाओं के लेखक खाडेकर ने मराठी फिल्मों के स्वर्ण युग को भी (१९३०-६५) अपना योगदान दिया था। मराठी चलचित्र को एक सुरुचि स्तर और प्रतिष्ठा देने मे वह मास्टर विनायक के साथ बराबर के हकदार थे। कुछ कथाओं के कथासूत्र उन्होंने अपने उपन्यास और लघु कहानियों से लिये थे—'छाया', 'देवता', 'अमृत', जैसी सामाजिक फिल्मों ने उनकी प्रतिष्ठा को बढावा दिया।

नाटक के प्रति प्रेम और निष्ठा मराठी लोगों के मन में स्वाभाविक रूप से रची-बसी होती है, नाट्य प्रेम से खाडेकर भी वचित नहीं थे। उनके लिखे सात नाटकों मे से सिर्फ एक नाटक 'रकाचे राज्य (१९२८) प्रकाशित हुआ। उनके विचार में नाटक जीवन के रसोत्कट प्रतिबिंब को करीबी से चित्रित करने वाली साहित्य की सर्वश्रेष्ठ विधा थी। बचपन से नाटक खेलने के शौकीन खाडेकर नाटककार के रूप में असफल रहे लेकिन उन्होंने नाट्यसमीक्षा से सबधित विपुल लेखन कार्य किया। उनकी आलोचना की विशेषता यह है कि नाटक के दोनों पहलुओं को, उसके साहित्यिक रूप और प्रायोगिक रूप को समान महत्व दिया, राम गणेश गडकरी और मराठी नाट्य ससार पर लिखे उनके प्रबध इस बात को प्रमाणित करते है।

खाडेकर ने लेखक की समाज के प्रति निष्ठा और कर्तव्यभावना को अपने मन में सदैव उजागर रखा। उनकी समाजशीलवृत्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि समाज और साहित्य के अन्योन्य सम्बन्ध को उन्होंने सम्मानपूर्वक स्वीकारा था और दोनों की एक-दूसरे के माध्यम से बडी सम्मानपूर्वक सेवा की। समाज ने भी उन्हें कई उपलब्धियों और पुरस्कारों से अलकृत किया। १९५९ के मराठी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष पद सुशोभित करने का गौरव प्राप्त हुआ था, उन्होंने चालीसवें मराठी नाट्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। साहित्य अकादेमी ने इन्हें महत्तर सदस्यता प्रदान कर अपने सर्वोच्च सम्मान से (१९७०) गौरवान्वित किया। और भारत सरकार ने उनके भारतीय साहित्य समृद्धि को बहुमूल्य योगदान की प्रशसा में उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलकृत किया।

खाडेकर की जीवन दृष्टि के बारे मे उनके समीक्षकों का आक्षेप था कि वह आदर्शवादी स्वप्ननगर के चिरनिवासी थे लेकिन खाडेकर की यह आस्था थी कि साहित्य एक सामाजिक शक्ति है जिसमें सामाजिक उद्‌बोधन और परिवर्तन लाने की क्षमता है। महान लेखक होने के साथ-साथ वह अच्छे इन्सान भी थे। जीवनपराङ्-मुख कला का उनकी दृष्टि में कोई मोल नहीं था। वह मराठी पाठकों की तीन पीढियो के शीर्षस्थ साहित्यकार होने के साथ-साथ अपने युग के बहुचर्चित और बहुअनूदित लेखक भी थे।

उनकी जीवनी 'एक पानाची कहाणी' प्रकाशित होने के पहले ही वर्ष १९७६ में उनका देहान्त हो गया। जीवन के अन्तिम चरण तक वह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को अपना रचना सहयोग देते रहे। खाडेकर का साहित्य सभार एक सवेदनशील विचारवत का अविनाशी सास्कृतिक स्वप्न है और सामान्य आदमी का चिरस्थायी सास्कृतिक सचित भी।

— अरुंधती देवस्थले

कृतियाँ

उपन्यास

हृदयाची हाक, (१९३०)
काचनमृग, (१९३१)
उल्का, (१९३४)
दोन ध्रुव, (१९३४)
ययाती, (१९५९)
अमृतवेल, (१९६७)

कहानी संकलन

विद्युत प्रकाश, (१९१७)
दवबिंदु, (१९३७)
कल्चर्ड मोती, (१९४२)
प्रसाद, (१९५७)
ढगाआडच चादण, (१९७२)

लघुनिबंध संग्रह

वायुलहरी, (१९३६)
सायकाल, (१८४४)
नवे किरण, (१९४६)
मझधार, (१९५९)
रिमझिम, (१९६१)

प्रबंध व समीक्षा

गडकरी व्यक्ती आणि वाड्मय, (१९३२)
वा म जोशी व्यक्ती आणि विचार, (१९४८)
केशवसुत काव्य आणि कला, (१९५९)
गोकर्णीची फुले, (१९४४)
फुले आणि काटे, (१९४६)
रेषा आणि रग, (१९६१)
ध्वज फडकत ठेवू या, (१९७५)

अभिभाषण के अंश

भारत में जिस प्रकार अनेक-अनेक जल-सम्पन्न नदियाँ हैं, उसी प्रकार यह विभिन्न साहित्य-सम्पन्न भाषाओं का भी देश है। नदियों ने यहाँ के लोक-जीवन को भौतिक समृद्धि दी है, तो भाषाओं ने प्राचीन और आधुनिक काल में उसके सास्कृतिक पक्ष को सपोषित किया है। यहाँ का जन-मानव शताब्दियों से अपने मन और प्राणों के लिए अभीष्ट आहार रामायण और महाभारत से प्राप्त करता आया है।

अभी तक ऐसा कोई व्यासपीठ यहाँ नहीं था जहाँ से देश की समस्त भाषाएँ और उनके साहित्य अपनी मूलभूत एकात्मता का उद्‌घोष कर सके। आधुनिक विज्ञान उत्तर की जलधाराओ को दक्षिण की जलधाराओं के साथ जोडकर समूचे देश को समृद्ध बनाने के प्रयत्नों में लगा है। उसी प्रकार की भूमिका, मेरा विश्वास है, भारतीय ज्ञानपीठ भी सम्पन्न करेगी और देश की विभिन्न भाषाओ एव साहित्यों के बीच की दीवारे नहीं रह जायेंगी। वाग्देवी से मेरी यही प्रार्थना है कि देश की सास्कृतिक एकात्मता को साकार करने की यशस्विता वह ज्ञानपीठ को प्रदान करे।

मैं पचपन वर्षों से सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में क्रियाशील हूँ। मेरे जैसे व्यक्ति को, जिसे पढने-लिखने का व्यसन बचपन में लगा हो, अब वृद्धावस्था के आ जाने पर भी उससे मुक्त हो पाना कठिन है। अपने इस आधी शताब्दी लम्बे लेखक-जीवन की ओर मुडकर देखता हूँ तो मुझे स्टीवेन्सन की एक कविता स्मरण हो आती है। उसमें एक बच्चा कागज की छोटी-छोटी नावे बनाकर नदी में छोडता जाता है और इस कल्पना में रहता है कि वे सब सागर तक ही नहीं, उसके पार तक पहुँचेंगी। अपनी अबोधता में इस सत्य को वह ग्रहण नहीं कर पाता कि वे कागज की हैं और कुछ ही समय बाद नहीं रह जायेंगी। सृजनशील साहित्यकार का भी ऐसा ही रहता है। अबोध बालक की नाईं वह भी सपनो और कल्पनाओं मे जिया करता है।

साहित्य का सृजन सत्त्वहीन कुहरे मे से एक सुन्दर आकृति गढ लेने जैसे होता है। इन आकृतियों में से बहुत कम ही सदा के लिए बनी रह पाती हैं। बसन्त में पेड-पौधे नये-नये पत्तों से सज उठते हैं, पर शिशिर के आने पर पत्तियाँ मुरझा-मुरझाकर झड पडती हैं और धूल में मिल जाती हैं। ठीक ऐसा ही सृजन के प्रत्येक क्षेत्र में घटित होता है। फिर भी लेखक को, जब-जब वह नया सृजन करता है, एक नशे-जैसी अपूर्व हर्षोल्लास की अनुभूति होती है। लेखक अपनी उस मूल दृष्टि-कल्पना को बार-बार अनुभूति में पकड पाने का प्रयास किया करता है। मेरी रचनाएँ भी इसी प्रकार का प्रयास है।

ऐसे लेखक को अपना पथ अपने आप ही खोजना-बनाना होता है। प्रारम्भिक अवस्था मे वह अपने पूर्ववर्ती प्रतिभावान लेखकों का अनुसरण करता है। किन्तु ज्यों-ज्यो वह साहित्य के राजमार्ग पर आगे बढता है उसे अपने लिए वहीं कहीं किनारे से एक नयी पथरेखा दिख उठती है। इस पथरेखा को जैसे अपने आप ही बनाया होता है, बहुत बार तो कोई सहयात्री तक उसका नहीं रहता। कभी-कभी उस पथ पर बढते उसके चारो ओर अँधियारी घिर आती है, पर मानव जीवन और जगत् को समझ पाने की उत्सुकता मे वह एकाकी ही बढता चलता है। जितना भी प्रयत्न वह करे, उसकी यह खोज पूरी कभी नहीं होती। अधिक से अधिक जीवन के बहुमुखी सत्य का कोई एक पक्ष

ही उसकी दृष्टि-कल्पना पकड़ पाती है, सम्पूर्ण सत्य कभी नहीं।

'ययाति' भी मुझे ऐसे ही अपनी पथरेखा के किनारे की कँटीली झाड़ियों में छिपे फूल की तरह मिला। उसकी सुगन्ध ने मेरी भूख और प्यास सब भुला दी। 'ययाति' से पूर्व मैं काफी लिख चुका था। वह सारा लेखन शब्द-अर्थ, कल्पना-भावना, और विचार आदि के सौन्दर्य का प्रतिबिम्बन करता था। उसके अधिकाँश के द्वारा एक सामाजिक ढाँचा भी प्रस्तुत हुआ। पर सौ-सौ दुख-सुख-भरे मानव मन को, उसकी आँखों आगे उतराते सोनल सपनों को, और उसे भयभीत करनेवाली सनातन समस्याओं को चित्रित करने में सामाजिक ढाँचा प्राय अपर्याप्त ठहरता है। उस समय प्रतीति होती है कि पुराण-कथाओं को नानी-दादी की कहानी बताकर उपेक्षित करना कितना अर्थहीन है।

ऐसा ही एक सवेदनशीलता का क्षण था जब मन में इस उपन्यास का बीज बोया गया। मेरे चारों ओर का समाज भौतिक समृद्धि के एकागी प्रभावों में पड़ा परम्परागत नैतिक मूल्यों को नष्ट करने में प्रवृत्त था। ऐसा लगता मानो मदमस्त हाथी के पाँवों तले कोमल-कोमल फूल रौंदे जा रहे हों। सत् और असत्, पाप और पुण्य के बीच की सीमा-रेखाएँ अधिकाधिक अस्पष्ट होती जा रही थीं। दूसरों के दु ख के प्रति जो सहज सवेदनशीलता मानव के मन में होती है वह क्षीण हो चली थी। समाज की मनश्चेतना पर लोभ का अनिर्बन्ध अधिकार था। प्राचीन आस्थाओं को ढहाया जा रहा था और उनके स्थान पर नयी आस्थाएँ निर्माण करने के प्रयत्न असफल हो रहे थे। अधिकाँश समाज इस भ्रमजाल में फँसता जा रहा था कि इन्द्रिय-सुखों को छोड़ जीवन में पाने के लिए और कुछ नहीं होता। यह एक बहुत ही भयावह अनुभव था , और इसी अनुभव ने मुझे प्रतीति करायी कि जिस सत्य का उद्घाटन आज के युग के लिए आवश्यक है उसे ययाति की पुराण-कथा के द्वारा किया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों मैं इस उद्देश्य से उस कथा के भीतर पैठा, मुझे लगता गया कि निर्बन्ध लोभ और निरकुश कामवासना में परिणामों की दृष्टि से आश्चर्यजनक साम्य है। आज का सामान्य जन भी बीसवीं शती के यन्त्र-युग की देन भौतिक समृद्धि के ऊँच-ऊँचे शिखरों से आकृष्ट हुआ उसी ओर को उन्मुख है। उसे लगने लगा है कि वे शिखर उसे पुकार-पुकारकर अपनी ओर बुला रहे हैं। इस दौड़ में यह तक उसे भूल गया है कि अपना सन्तुलन ही खो बैठेगा, क्योंकि सन्तुलन को बनाये रखने के लिए नैतिक समर्थता आवश्यक होती है और इसका तो उसमें अभाव होता है। जीवन का रूप ऐसा हो चला था मानो किसी नदी में भयकर बाढ़ आयी हो और वह चारों ओर की धरती को निगल ले। 'ययाति' के द्वारा मैंने इसी सबका चित्रण करने का प्रयत्न किया है।

सामान्य जन ही सच में धरती में रगमच पर चलते जीवन के बहुरगी नाटक का नायक होता है। वही यदि अपने को समय के प्रवाह में छोड़ बैठे तो सारा दृश्य बदल जायेगा और नाटक का रूप-रग और का और हो रहेगा इसीलिए मेरे मन में सामान्य जन के सन्दर्भ को लेकर 'ययाति' की कथा आकार ग्रहण करती गयी। मनुष्य अपनी ऊँचाई को कितना भी बढ़ा ले, आकाश के तारे तक तोड़ने का प्रयत्न करे, किन्तु अपने पाँव उसे धरती पर ही जमे हुए रखने होंगे। अन्तराल में खड़े रहना असम्भव है। सामान्य जन इस सत्य को समझे यह बहुत आवश्यक है। जिस मिट्टी में वह जनमता है और जहाँ पालन-पोषण पाता है, उसे देखने चलें तो परत पर परत चढ़े काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि मनोविकार ही वहाँ मिलते हैं। एक सीमा तक अवश्य ये विकार उसकी प्रेरणा के स्रोत बनते हैं और उसके उत्कर्ष में सहायक होते हैं। पर साथ ही वे जैसे एक अग्नि-शिखा भी होते हैं जिसे अबाध बढ़ने दिया जाये तो घर को ही राख कर दे।

क्या चाहता है आखिर मनुष्य अपने जीवन से ? सबसे अधिक यही कि वह और उसका परिवार

सुख-चैन से रह सके। मगर इच्छाएँ मूलत ऐसी नहीं होतीं कि तृप्त की जा सकें। परिणाम यह कि लोभ और काम विकारों में मनुष्य अपना सन्तुलन खो बैठता है। एक लोककथा है न? एक अन्धी बुढिया भरपेट अन्न के लिए भगवान् से रोज-रोज प्रार्थना करती है। भगवान् प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं और उससे वरदान माँगने को कहते हैं। भोले-भाले देवता ने समझा था कि बेचारी बुढिया अधिक से अधिक दृष्टि दान माँगेगी। मगर बुढिया तो परम चतुर! उसने वरदान माँगा कि अपने पोतों-परपोतों को राजसिंहासन पर बैठे राज्य करते देखूं! इसी लोककथा का मर्म ऐलेग्जेण्डर महान् की उस आख्यायिका में भी देख मिलता है जहाँ राज्य पर राज्य विजय करते आने के बाद वह अन्त मे फूट-फूटकर रो उठता है कि अब और विजय करने के लिए राज्य नहीं रहे!

मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि अपनी सुरक्षा और निश्चिन्तता के लिए अपेक्षित सभी कुछ चाहे। और यह भौतिक और आत्मिक दोनो स्तरों पर, क्योंकि जीवन दोनो स्तरो पर चलता है। शारीरिक भूख मिटाते समय वह वासनात्मक स्तर पर रहता है, पर आत्मिक भूख की शान्ति के लिए उसे भावनात्मक स्तर पर आना पडता है। पहला स्तर प्रकृति का है, दूसरा सस्कृति का। इन दोनो के बीच सन्तुलन बैठाना बहुत कठिन होता है। दोनो जैसे जरासन्ध की देह के दो भाग हो। सहज और ठीक स्थिति मे रखे जाने पर वे जुड जाते हैं और एक जीवित प्राणी खडा हो उठता है और द्विधा करके विपरीत दिशाओ मे फेक दिये जाये तो उस असुर का प्राण नाश हो जाता है।

विज्ञान ने इस बीसवी शताब्दी मे जो लम्बी-लम्बी तेज पग-डगे भरी हैं उनके फलस्वरूप मानव जीवन प्राय बिल्कुल ही ऐहिक बन गया है। काया को आज इतनी प्रधानता दी जाती है जितनी कभी नहीं दी गयी। पहले युगो का मानव परलोक को भी उतना ही वास्तविक मानता था जितना इस लोक को। इसीलिए नैतिक मूल्यो पर आधारित एक जीवन-पद्धति का निर्माण वह कर सका। इन नीति-नियमों मे कितने ही थे जो सामाजिक जीवन और आचरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। किन्तु बहुत से उनमें प्रतिरोधक भी थे उनसे समाज के एक लघु अग, शासकों और विशिष्ट जनों के विशेष अधिकारो को बनाये रखा जाता था। ये प्रतिरोधक नीति-नियम भारतीय समाज को अब भी जकडे रहें, इससे बडी ट्रैजेडी आज के युग की और नहीं। युग की तो माँग है कि उन पुरातन मूल्यों को नष्ट कर दिया जाये जिन्होंने इन बन्धनों को जन्म दिया। सच तो, मान्यता अब यह बन चली है कि समाज के लिए आवश्यक न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध हैं न कोई मूल्य। और यह तो वास्तव में एक बहुत ही भयावह स्थिति होगी।

कितना भी भौतिक विकास हो जाये और कितनी भी निष्ठा विज्ञान के प्रति हो, मनुष्य के भीतर एक प्रकाश की चिनगी ज्योतित रहती है जो देह से अलग होती है। महात्मा गाधी ने एक बार कहा था कि उन्हे यदि मनुष्य मे इस प्रकाश के न होने का विश्वास होता तो जीवन ही उनके लिए दूभर हो जाता। वास्तव मे इस प्रकाश-कण के अस्तित्व से कोई मनुष्य इनकार नही कर सकता जो प्रकृति के स्तर से उठकर सस्कृति के स्तर पर पहुँच चुका है। निरे प्रकृति के स्तर पर रहने का अर्थ होगा पशुओ जैसा जीवन जीना , और ऐसे जीवन मे तो न कही शान्ति होगी न किसी को सन्तोष। देह की भूखे मिटाने के लिए मनुष्य अपने मे केन्द्रित हो रहता है, पर आत्मा की माँग को पूरा करने के लिए उसे काया के खोल से बाहर आना पडता है। यह बाहर आने की सामर्थ्य वास्तव मे उसकी आत्मा की सामर्थ्य होती है। इस सामर्थ्य के ही कारण उसमे औरो के साथ सम्बन्धित होने का भाव-बोध आता है, उसे उनके सुख-दु ख के साथ सहानुभूति होती है, और दूसरों के दु खों पर अपने लिए सुख सँजोते नीचता का भान होता है। इस प्रकार फिर उसमे यह विचार और विवेक जागृत होते हैं कि जाने-अजाने औरो के प्रति अन्याय नही

करना चाहिए।

यह सब बताने मे मेरा उद्देश्य केवल इतना रहा कि ययाति की कथा को लेकर चिन्तन-मन्थन करते हुए जो विचारों के तूफान मन में उठे उनमे से एक को तो आप पर भी प्रकट कर दूँ। प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार के चिन्तन का सर्जनात्मक लेखन के साथ क्या सम्बन्ध? पर लेखन का ध्येय यदि सृजन है तो तीव्र अनुभूतियों की अभिव्यजना उसका कार्य। इस पर कोई-कोई कहेंगे कि कला की सारी कोमल सृजनात्मकता ही तब तो विचारों के बोझ तले दब-घुटकर रह जायेगी। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह आपत्ति निरी निराधार नहीं। लेकिन भले ही सृजनात्मकता और वैचारिकता दोनों भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, फिर भी रचना को ओजस्वी और सशक्त बनाने मे विचार-चिन्तन का सहयोग चाहिए। जिस प्रकार त्रिवेणी सगम में सरस्वती की धारा अदृश्य रहती है, उसी प्रकार सृजनशील लेखक का विचार-मन्थन भी रचना मे सामने दिखाई नही देता। वह तो उसकी सृजनशक्ति में घुल-मिलकर रस का रूप ले रहता है। इसके अतिरिक्त, ज्यों-ज्यो जीवन का स्वरूप बदलता है, साहित्य सृजन के सीमान्त भी विस्तृत होते जाते हैं। इन पचास वर्षों के पाश्चात्य सर्जनात्मक साहित्य पर एक दृष्टि डालें तो प्रकट होगा कि विज्ञान के कारण आधुनिक साहित्य की विषयवस्तु और अभिव्यजना-रूप, दोनों में भारी परिवर्तन आये।

सृजनशील लेखक का रचना-स्वातन्त्र्य सदा अबाध रहना चाहिए। उसे ऐसे आदेश कोई नहीं दे सकता कि वह इस विषय पर लिखे और उस पर नहीं। यदि कोई देता भी है तो लेखक उस ओर ध्यान नहीं देगा। उसकी तो सारी छटपटाहट केवल इस बात के लिए रहती है कि जो सुन्दर-सुन्दर सपने उसकी आँखों आगे उतरा आये हैं उन्हें वाणी दे सके। पर कितनी भी उत्कट क्यों न हो सुन्दर को अभिव्यक्ति देने की इच्छा-लालसा, उसका सवेदनशील मन चारों ओर के दुख-दैन्य को देखकर बेचैन हुए बिना नहीं रहेगा। बीते युगों में यह कठिन न था कि औरों की चिन्ताओं-आपदाओं की ओर से पीठ मोडे हुए अपने सृजन में लगे रहें। किन्तु आज समूची मानवता के दुख और कष्ट इतने उग्र और विराट हो उठे हैं कि लेखक न उन्हें अनदेखा कर सकता है न उनसे बचकर अलग रह सकता है। सारी स्थिति जैसे उसकी अपनी प्रतिभा-क्षमता के लिए एक चुनौती बनी हुई है।

हर पीढी के प्रतिभाशाली और मनीषी जनों के मन की यह इच्छा-भावना होती है कि अपने समय के मानव समाज को अन्तर्बाह्य कुरूपताओं से भरसक मुक्त करें। सृजनशील साहित्यकार भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। उसके सामने एक बहुत बडी समस्या है। विज्ञान ने इतनी-इतनी प्रगति की है, फिर भी हर ओर दुख ही दुख है। मानव की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता विज्ञान में है, पर सामाजिक व्यवस्था की उपजायी असमानताओं के कारण अन्य सारी असमानताएँ और भी उग्र हो उठती हैं। पीढियों से समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के नारे घोषित होते आ रहे हैं। पर व्यवहार-आचरण में कहीं भी तो इनका चिन्ह दिखाई नहीं देता। अपेक्षा और वास्तविकता के बीच का भारी अन्तराल आज के मानव को गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश किये हुए है। क्यों है यह स्थिति? मुख्यत इसलिए कि विज्ञान की दी विलक्षण शक्ति ने उसके बाह्य को तो और का और बना दिया है, किन्तु उसका आभ्यन्तर बहुत नहीं बदल सका है। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त हो आने पर एक अमेरिकी जनरल ने कहा था, "अपनी अणुशक्ति को देखते हम भीमकाय मानव हो सकते हैं, पर नैतिकता के आधार पर तो निरे अबोध बालक ही हैं।" नैतिकता के क्षेत्र में मानव जाति जैसे अभी भी प्रारम्भिक अवस्था में है। उसके मन और बुद्धि पर अधिकार आवेगों-सवेगों का है, विवेक-भावना का नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो, मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क एक-दूसरे के साथ सगत करते हुए नहीं

चल रहे। उसका हृदय और मन यदि ऐसी ही अविकसित ओर अनगढ़ता की अवस्था में बने रहते हैं तब मानव के सारे ऊँचे-ऊँचे सपने निरे सपना ही रह जायेंगे।

साहित्य सदा से मनुष्य का सहायक रहता आया है। यही उसके लिए आशाओं का और साहस और शौर्य का प्रेरणा-स्रोत हुआ है। भले और बुरे का ज्ञान भी इसी के द्वारा उसने प्राप्त किया। वास्तव में यथार्थ और महान् साहित्य उसकी चेतना-भावनाओं के भीतर तक पैठकर उसके सारे विचार-चिन्तन और व्यक्तित्व का अग बन जाता है। यों ऊपर-ऊपर से देखने पर लगेगा कि साहित्यकार केवल मात्र मनुष्य की दैहिक पीड़ा-व्यथाओं को और उसके हर्षोल्लास की अनुभूतियों का ही चित्राकन करता है। पर वास्तव में उसका ध्येय होता है उस दीपशिखा को उकसा देना जो उसकी प्राणात्मा में सतत् विद्यमान रहती है। समय के बदलने पर जीवन के मूल्य भी बदलते हैं। साहित्य का यह अपना निजी कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है कि उन परिवर्तनों का स्वागत करे और युगानुकूल जीवन-मूल्यों की स्थापना करे। भगवती वाग्देवी से मेरी यही प्रार्थना है कि अपने देश की महान् साहित्यिक परम्पराओं को बनाये रखने की हमें शक्ति प्रदान करे।
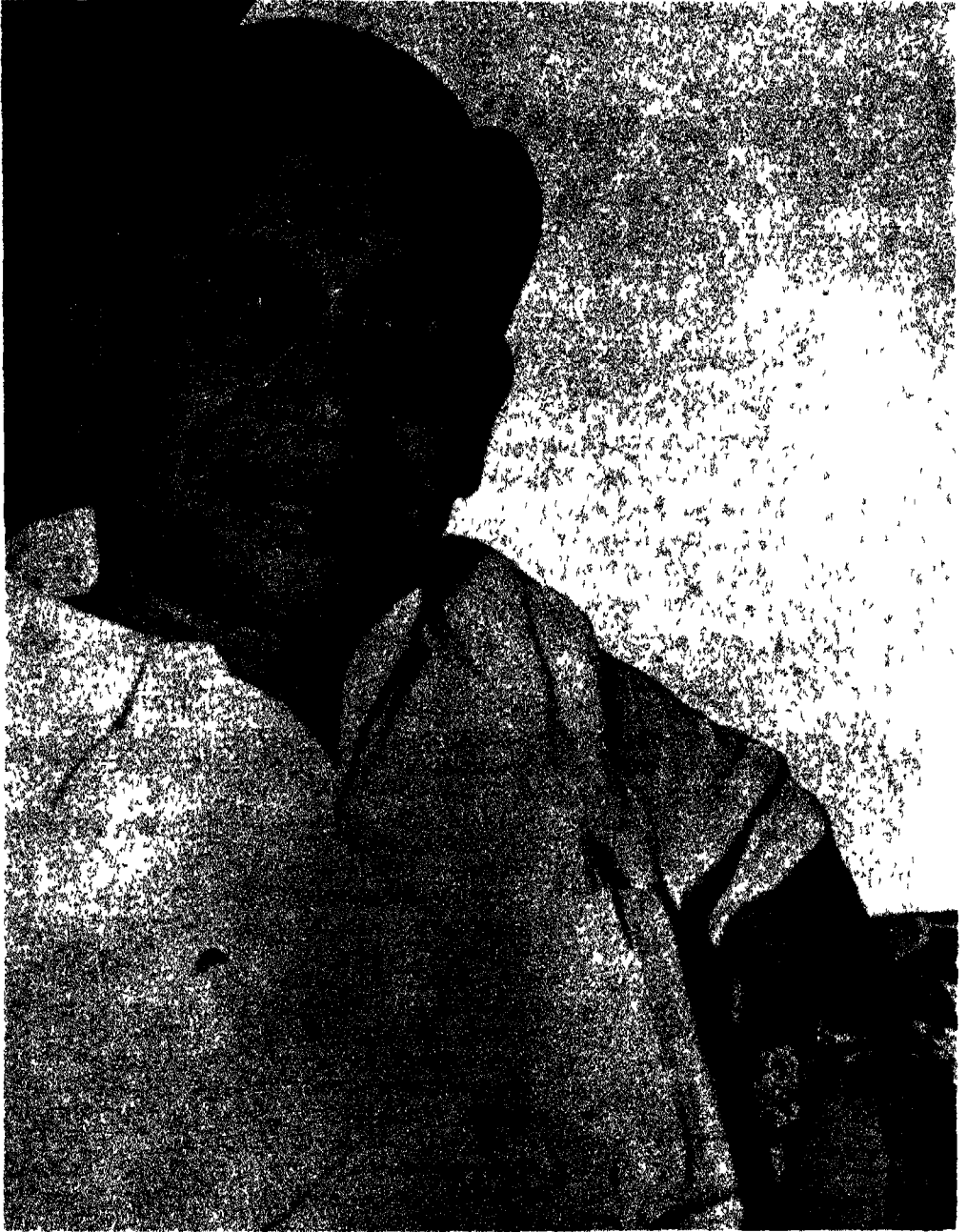
अखिलन्

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १° ७५ का माहित्य-पुरस्कार पे वै अखिलन्दम्, सुपरिचित नाम अखिलन् को उनके नमिष उपन्यास 'चित्तिरप्पावै (चित्रित प्रतिमा) के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९५९-१९६८ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् मर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

अखिलन् अपनी अन्त प्रेरणा और हृदयगत भावनाओ से विवश होकर इमी उद्देश्य मे साहित्य-सृजन मे प्रवृत्त हुए कि अपने आदर्शों और युगीन सामाजिक परिवेश से उद्भुत भाव-चेतना क सम्प्रेषण द्वारा आत्मतोष प्राप्त करें। उपन्यासकार क रूप मे उनका नाम देश-विदेश के तमिष समाज मे घर-घर मुखर है माथ ही उनकी कृतियो क अध्ययन-मूल्याकन क प्रति विश्वविद्यालय तथा प्राध्यापन-क्षेत्र भी आकृष्ट हुए हैं।

अखिलन् न इम विक्षोभ-भरे समाज क मर्वहारा वर्ग सतत परिवर्ती मध्यवर्ग शीर्ष उद्योगपति भावनासिक्त कलाचेता युवक, और सामाजिक सोपान का नैतिकता-विहीन आरोही वर्ग सभी का चित्रण ऐसे भावात्माह एव कलात्मक रूप-सृजन की सन्तुलित अन्विति क साथ किया है जा बरबम मुग्ध और वशीभूत कर लत हैं। चित्तिरप्पावै म मनुष्य की चिरन्तन ममस्याओ मे म शुभ और गर्हित सौन्दर्य-बाध और उपयागिता अर्थात् कला-माधना और अर्थ सचय क चिरद्वन्द्व की समस्या पर सघन प्रभावपूर्णता क साथ विचार किया गया है।

चिरजीवी हो अखिलन् और वर्षों-वर्षो तक देत रहे जगत-जीवन मम्बन्धी अपन भाव-चिन्तन के सुफल !

नयी दिल्ली
१७ सितम्बर, १९७७

अध्यक्ष	अध्यक्ष
प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

अखिलन्

पी० वी० अखिलन्दम् का, जो साहित्य जगत में अखिलन् के नाम से विख्यात हैं, जीवन का आरम्भ हुआ एक निरे सामान्य नागरिक के रूप में हुआ। छोटा-सा गाँव था पेरुगलूर जहाँ 1923 मे वे जनमे। पिता फॉरेस्ट रेंजर थे और स्वभावत उनकी बडी साध थी कि बेटा आई सी एस बने। काश उन्हें कल्पना भी होती कि बेटे के नक्षत्रों ने उसके लिए एक और ही कहीं अधिक यशस्कर भविष्य सँजो रखा है। सचमुच किशोर वय में भी अखिलन् का स्वय अपना रुझान न केवल किसी बडे पद के प्रति न था बल्कि ऊँची शिक्षा तक के प्रति न था। चौथी कक्षा में थे अखिलन् जब 1938 में अचानक पिता-विहीन हुए और अर्थकष्ट और निराशाओं ने उन्हें चारों ओर से घेरा। इन दिनों की अनुभूतियाँ प्रेरणा बनीं और 1939 में उनकी सबसे पहली कहानी 'अर्थकष्ट से मृत्यु' प्रकाश में आयी।

कुछ दिन बीते कि महाकवि भारती, श्री विक और बकिम की रचनाओं ने उनके मानस में राष्ट्रीयता की चिनगी चिहुँका दी। परिणाम यह कि 1940 में मैट्रिक्युलेशन करते ही उनका अनिवार्य धर्म गान्धीजी की पुकार पर स्वतन्त्रता-सग्राम में भाग लेना बना। अपने मित्रों के सहयोग से उन्होंने एक 'शक्ति युवा सघ' बनाया और जी-जान से आन्दोलन में कूद पडे। 'भारत छोडो' की ललकार गूँजी तो अखिलन् ने मुक्त भाव से सरकार-विरोधी कहानियाँ लिखना शुरू कीं, मगर किसी पत्र-पत्रिका को साहस न हुआ कि एक को भी प्रकाशित करे। थोडे समय बाद वह 'इनूबम्' नामक एक नयी पत्रिका से सहायक सम्पादक के रूप में सम्बद्ध हो गये, पर अपने विचारों के कारण बहुत दिन टिके न रह सके। स्वतत्रता सग्राम से जुडने के कारण उनपर गाँधीवाद का बहुत प्रभाव पडा। उनका कहना है-- "सत्य के लिए और वास्तविक मानवीय स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष निरन्तरता के साथ करना होता है। हमारा प्रयत्न हो कि देश में न कहीं अभावग्रस्तता रह जाये न किसी प्रकार की अज्ञानता। जीवन में सौन्दर्य-सम्पन्नता भी तब तक नहीं आ सकती जब तक सामान्य से सामान्य नागरिक को भी इस बात की अनुभूति और प्रतीति नहीं होती कि उसके प्रति किसी भी स्तर पर अन्याय होने की सम्भावना नहीं है। अवश्य, किसी भी दशा में उग्रता का प्रवेश मन में न होने पाये। अभीष्ट परिवर्तन हमें चेतना और भावना के स्तर पर लाना है। यही हमारा लक्ष्य हो,

यही हमारी अपनी आस्थाओं की केन्द्रभूमि।"

बाद को 1945 में वह रेलवे मेल सर्विस में सॉर्टर के काम पर नियुक्त हुए। यही काल था उनके जीवन का जब उन्होंने 'पेन' शीर्षक अपना पहला उपन्यास लिखा। प्रतिष्ठित तमिष मासिक कलैमगल ने इस प्रतियोगिता में प्रथम स्थान देकर पुरस्कृत किया। अखिलन् तब 23 के थे। उनके इस उपन्यास की कथावस्तु में, सच तो, पिता की वह साध ही प्रतिमूर्त हुई थी जो उन्हे एक बडे आई सी एस ऑफिसर के रूप में देखने की थी। यहाँ उपन्यास का नायक अपनी नवोढा पत्नी और उसके पिता के निरन्तर आग्रह पर इग्लैण्ड जाता है और आई सी एस में चुन लिया जाता है, किन्तु भारत लौटकर आने पर उस उपलब्धि को वह हवा मे उडा देता है और देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेता हुआ जेल चला जाता है। तीस वर्ष पूर्व प्रकाशित इस लघु उपन्यास के हिन्दी, बाग्ला, कन्नड, मलयालम आदि कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद निकले।

कलैमगल पुरस्कार से सदा के सकोची और लजालु अखिलन् के आत्मविश्वास को बढावा मिला, और अपनी सामर्थ्य से अवगत होने पर उन्हें एक अपूर्व बल की प्रतीति हुई। वास्तव में कलैमगल सम्पादक श्री कि वा जगन्नाथन् ने उनकी प्रतिभा को सर्वप्रथम पहचाना और उन्होंने ही अखिलन् के भीतर सुप्त पडी सृजन-शक्ति को उकसावा दिया। फिर तो प्रकाश की किरणें फूटती चली आयीं और जो आलोक और ऊष्मा लोकमानस को प्राप्त हुई उसने जहाँ एक ओर हार्दिकता और सहानुभूति की भावनाओं को प्रोत्साहन दिया वहीं दूसरी ओर बुराइयों को छार-खार कर सकने का उत्ताप भी मन में जगाया।

देश के 1947 में स्वतन्त्र होने के बाद अखिलन् का तेनूकासी से तिरुच्चिराप्पल्ली को स्थानान्तरण हुआ। दस वर्ष उन्होंने यहाँ सॉर्टर का काम किया। दौडती ट्रेनों में कभी दिन को तो कभी रात को डाक की सॉर्टिंग जैसा उबाने-थकाने वाला काम करते होते भी, अखिलन् की आन्तरिक लगन ही थी जो वे साहित्य-सृजन के लिए फिर भी समय और साहस जुटा सके। वस्तुत जो सब भीतर उमडा करता वह अदम्य था। इसके अतिरिक्त, सारे-सारे समय वह भले ही सॉर्टिंग में लगे रहते, फिर भी नये-नये स्थान और प्रकार-प्रकार के लोग देखने में आते ही। यो नित नयी अनुभूतियाँ होतीं और ये अखिलन् के अन्तर्जात सृजेता शिल्पी के विचार-चिन्तन में घुल-मिल जातीं और बन उठतीं साहित्य-सृजन की प्रेरणा।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान देश की स्वाधीनता के लिए जो सशस्त्र सघर्ष और युद्ध नेताजी सुभाष बोस ने अँगरेजी सेनाओं के साथ बर्मा और मलेसिया में किया उसके प्रति अखिलन् के मन मे विशेष लगाव और आदरभाव था। आई एन ए के अनेक सैनिकों ओर सेनानायकों से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध भी थे। अखिलन् की भावनाओं और पीडाओ ने अभिव्यक्ति पायी 'नेंजिन अलैगल' में। उनका यह उपन्यास 1951 मे प्रकाशित हुआ और 1955 में तमिष अकादमी पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ। दो वर्ष बाद 'वाषवु एगे' प्रक ाशित हुआ। यह उपन्यास जाति-भेद की समस्या को लेकर लिखा गया था और कुछ दिनों बाद इसे फिल्म का रूप भी दिया गया।

सब मिलाकर बारह वर्ष से कुछ अधिक रेलवे मेल सर्विस में अखिलन् रहे। इस बीच उपन्यास और कहानी-सग्रह मिलाकर उनकी बीस कृतियाँ प्रकाश में आयीं। किस प्रकार एक के बाद दूसरी कृति उनकी ख्याति और प्रतिष्ठा को बढाती जाती थी, इसे देखने-जानने की उन्हें कभी चिन्ता ही न हुई। पर 1954 में हुई एक घटना ने उन्हें बाध्य कर दिया। हुआ यह कि कोई महाशय स्वय अखिलन् बनकर जगह-जगह गये और स्वागत-सत्कार और आदर-भेंटें बटोरते रहे। अखिलन् की जानकारी में बात आयी तो उन्हें

सामने आना पड़ा और उस छलिये को न्यायालय से दण्ड मिला।

धीरे-धीरे आर एम एस का काम अखिलन् को अखरने लगा और 1958 में, जिन दिनों वे 'पावै विलक्कु'' लिखने में लगे थे, नौकरी से उन्होंने हठात् त्यागपत्र दे दिया। तभी वे त्रिची से मद्रास भी आ गये। कितने ही साहित्य-मर्मियों के मत से 'पावै विलक्कु' और 'चित्तिरप्पावै' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। 'चित्तिरप्पावै' के कारण तो उनका नाम तषिषनाडु के घर-घर ही नहीं, श्रीलका और मलेसिया और सिंगापुर मे बसे लाखो तमिष-भाषियो तक भी पहुँचा। अखिलन् के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छवि उनकी ही किसी एक कृति मे अकित हुई है तो वह 'चित्तिरप्पावै' में।

अखिलन् ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। 1961 मे आया 'वेगैयिन मैन्दन' उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास है जिसे 1963 में साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया। 1965 में फिर 'कयल विषि' निकला, इस पर उन्हें 1968 मे तमिष विकास परिषद् का पुरस्कार मिला। ऐतिहासिक वर्ग का अखिलन् का तीसरा उपन्यास है 'वेत्री तिरुनगर' जो 1966 में प्रकाशित हुआ।

इसके बाद आया 1973 में प्रकाशित एक सामाजिक उपन्यास 'एगे पोगीरोम्' इसमें समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार और न्याय एव नैतिकता-प्रिय लेखक की प्रतिक्रिया का चित्रण किया गया है। अखिलन् को इसी पर 1976 में राजा अण्णमलै चेट्टियार पुरस्कार मिला है।

अखिलन् की बड़ी अभिलाषा थी कि उनका सारा समय उनका हो और उसे साहित्य-सृजन में लगायें। पर ऐसा सात वर्ष से अधिक चल न सका। इस बीच यद्यपि उनके कई श्रेष्ठ उपन्यास लिखे गये और वे लोकप्रिय भी बहुत हुए, मगर घर-परिवार चलाने की समस्या फिर भी बनी रहती। सयोग से इस बीच आकाशवाणी के मद्रास केन्द्र में उन्हें एक मन का स्थान मिल गया और उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। इससे यह हुआ कि उनके परिचय और सम्पर्कों के क्षेत्र विस्तृत और व्यापक हो गये।

अखिलन् को अनेक बातों में सर्वप्रथमता का गौरव मिला है। वह सर्वप्रथम तमिष लेखक हैं जिन्हें सोव्यित लेखक सघ के बुलावे पर 1973 में कजाकिस्तान की राजधानी अल्मा-अता में हुई ऐफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन में भारतीय शिष्टमण्डल के सदस्य बनकर सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। दो वर्ष बाद मलेसियन तमिष लेखकों के आग्रह पर उन्हें कुआलालम्पुर में आयोजित लेखक सम्मेलन में भाग लेने के लिए जाना पड़ा। यहाँ विभिन्न नगरों में उनका स्वागत-सम्मान किया गया और 'चिन्दनैक्कलैन्जियम्', अर्थात् चिन्तन-कला-धनी, उपाधि से उन्हें विभूषित भी किया गया। वहीं सर्वप्रथम इन्हें अवसर मिला कि रबर के बागानों में काम करने वाले तमिष भारतीयों की दुरवस्था को अपनी आँखों देख सकें। इतने द्रवित हुए सब देख-जानकर अखिलन् ने 'पाल मरक्काट्टिनिले' उपन्यास लिखा।

कहने को अखिलन् का लक्ष्य अपने सृजन से लोकमानस तक गान्धीजी के विचार-आदर्शों को पहुँचाना रहा है। यही अपनी कृतियों के द्वारा वह करते भी आये हैं। किन्तु वह पहले तमिष लेखक हैं जिन्हें यह गौरव मिला है कि नितान्त बौद्धिक क्षेत्र भी उनके कृतित्व को अपने अध्ययन-अनुशीलन का विषय बनाना आवश्यक समझें। मदुरै विश्वविद्यालय ने 1974 में उनकी रचनाओं पर एक विचारगोष्ठी आयोजित की। गोष्ठी चार दिन चली और तीस से अधिक विद्वानों एव साहित्य-समीक्षकों ने उसमें भाग लिया। विश्वविद्यालय ने वहाँ पढ़े गये प्रबन्धों को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है, साथ ही टिप्पणियों सहित अखिलन् की एक ग्रन्थसूची भी निकाली है।

अखिलन् के कृतित्व का अध्ययन विदेशों तक में किया जा रहा है। इस दृष्टि से भी समकालीन

तमिष लेखकों में उन्हें ही सर्वप्रथमता का गौरव मिला है। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के भारतीय साहित्य अनुशीलन विभागों ने उनकी कृतियों को अपने अध्ययन-क्षेत्र में सम्मिलित किया है। उनकी रचनाओं का अनुवाद तो अनेक भारतीय तथा अँगरेजी, जर्मन, चेक और रूसी भाषाओ में व्यापक रूप में हुआ और किया जा रहा है।

'चित्तिरप्पावै', जिसको ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है, तमिष गद्य की काव्यमयता का तो सुन्दर उदाहरण है ही आधुनिक तमिष उपन्यास साहित्य के प्रौढता प्राप्त करने का प्रतीक भी माना जाता है। लेखक ने यहाँ आदर्शवादी चित्रकार अन्नामलै और उसकी चिर-प्रशसिका, भारतीय नारीत्व का मूर्त रूप, आनन्दी के जीवन और सघर्षों का बडा मार्मिक चित्रण किया है। अन्नामलै की सहज मानवीयता और पावन सौन्दर्यबोध से प्रभावित हो आनन्दी उसके प्रति हृदय से अनुरक्त है। आनन्दी को पिता की आशिष भी प्राप्त है। किन्तु विवाह-सूत्र मे उसे बँधना पडता है माणिक्कम् के साथ, जो एक चरित्रशून्य व्यक्ति है और जिस किसी भी प्रकार से दोनो हाथों धनलाभ करना ही जिसका एकमात्र लक्ष्य है।

माणिक्कम् औरो के मूल्य पर उत्कर्ष की सीढियाँ चढता जाता है, दूसरो के घरो की नीवों पर अपने महल-दुमहले खडे करता है। पर तब उसकी चरित्रशून्यता का लाभ लेकर वैभव के सारे पार्षद व्यसन उस पर और घने होकर छाते हैं फिर अन्त को वह क्षण आता है जब पत्नी आनन्दी का सौभाग्य-चिन्ह 'मगलसूत्र' उसके हाथों झटका खाकर टूटता है और आनन्दी बन्धन-मुक्त हो जाती है। मगलसूत्र का टूटना और परिणामत आनन्दी का विवाह-बन्धन से अपने को मुक्त समझना वास्तव में एक प्रतीक है उस क्रान्ति-सन्देश का जो इस उपन्यास के माध्यम से अखिलन् युग और समाज को देना चाहते हैं। माणिक्कम् से मुक्त होकर आनन्दी नया जीवन शुरू करती है अपने को अन्नामलै के साथ परिणय-सूत्र में पिरोकर।

अखिलन् की इस अनूठी कृति का भावसार है कला मनुष्य के जीवन से भिन्न नहीं होती, उसमें अगभूत हुई रहती है। कला ही मनुष्य को अपनी नैतिक निष्ठाएँ स्थिर करने, अपने समूचे व्यक्तित्व का निर्माण करने में साधन और सहारा बनती है। एक स्थल पर लेखक के शब्द हैं "अपने निजी जीवन को भीतर से सुन्दर बनाओ, सहज-सरल और सत्यता का प्रतिरूप बनाओ और इस ध्येय को साकार करो कि माधुर्य से घर भरा हो, विशाल हृदयता से समाज, एव यथार्थ मानवीयता से मानव जगत।"

उनका निर्धन 1988 में हुआ।

—ए ए हकीम

कृतियाँ

उपन्यास

१	मगिय निलवु	१९४४
२	पेन्	१९४७
३	इन्ब निनैवु	१९४९
४	तुनैवि	१९५१
५	सिनेहिदी	१९५१
६	सन्दिप्पु	१९५२
७	नैंजिन् अलैगल	१९५३
८	अवलुक्कु	१९५३
९	वाषवु एगे	१९५७
१०	पावै विलक्कु	१९५८
११	वेंगयिन मैंदन	१९६१
१२	पुदु वेल्लम्	१९६४
१३	पोन मलर	१९६५
१४	कयल विषि	१९६५
१५	वेत्री तिरुनगर	१९६६
१६	चित्तिरप्पावै	१९६८
१७	कोल्लैकारन्	१९६९
१८	एगे पोगिरोम	१९७३

कहानी

१	सक्तिवेल	१९४६
२	निलविनिले	१९४८
३	आन्-पेन्	१९५०
४	अमरावतिक्करैयिल	१९५०
५	सेनूकरुम्बू	१९५२
६	सान्ति	१९५२
७	वषि पिरन्दटु	१९५४
८	भिक्षुवदेल्लाम्	१९५६
९	कुषन्दै सिरत्तदु	१९५७
१०	सहोदरर अण्ड्रो	१९६३
११	ओरुवेलै सोरू	१९६७
१२	नेल्लूर अरिसी	१९६७
१३	एरिमलै	१९७०
१४	सतिय आवेसम्	१९७४
१५	पसियुम रूसियुम	१९७४

निबन्ध

१	मणमक्कलुक्कु	१९५३
२	कलैयुम् वइरुम्	१९५६
३	इलैञरुक्कु	१९६२
४	कदैकलै	१९७२
५	सोवियत् नाट्टिल्	१९७५

बाल-साहित्य

१	तग्ग नगरम्	१९५०
२	सिवप्पु विलक्कु	१९५५
३	कन्नान कन्नन्	१९५८
४	नल्ल पैयन्	१९५८

नाटक

१	वाषविल इनूबम्	१९५५

अभिभाषण के अंश

मैं सुदूर दक्षिण के उस क्षेत्र से आता हूँ जो तिरुवल्लुवर, इलगोअडिगल, कम्बर, आलवार्स, नायनमार्स, रामलिंग स्वामीगल और सुब्रह्मण्य भारती जैसे महान् कवियों और चिन्तकों की भूमि है। स्वभावत मुझे दो हजार वर्षों से भी अधिक की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपराएँ उत्तराधिकार में मिली हैं। किन्तु, साथ ही देश के अन्यान्य भागों की साहित्यिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों के प्रभावों से भी मैं अपने को अलग नहीं रख सका हूँ। स्वामी विवेकानन्द और बंकिमचन्द्र चैटर्जी के कृतित्वों से मैंने बहुत-बहुत प्रेरणा ग्रहण की है। पर सबसे अधिक प्रभाव मेरी भावचेतना पर महात्मा गाँधी का पड़ा है। उनकी सत्य-निष्ठा और न्याय-भावना ने ही मुझे प्रतीति करायी कि देश और देशवासियों के प्रति मेरा कितना विपुल दायित्व है। प्रतीति और प्रत्यक्ष आचरण में बड़ा अन्तर होता है। मैंने लेखन के माध्यम से इसी अन्तर को भरने का प्रयत्न किया है।

क्यों लिखता हूँ मैं ? या, अपनी तरुणाई के दिनों तक जाऊँ तो, क्यों लिखना प्रारम्भ किया मैंने ? वास्तव में कोई पहले से सोची हुई योजना या आकांक्षा मेरी न थी कि लिखूँ, लेखक बनूँ। मुझे विवश मेरी अपनी परिस्थितियों और देश की दुरवस्था ने किया कि गुलामी और अपने जैसे लाख-लाख जन की दयनीयता पर उमड़े आते विद्रोह भाव को किसी प्रकार अभिव्यक्ति दूँ। जो सामग्री इसके लिए चाहती वह बिन माँगे ढेर की ढेर सामने प्रस्तुत थी। न कहीं उसे खोजने जाना था न लाने ही, केवल खुली आँखों देखना और मन में उतार लेना था।

इस प्रकार मेरा सारा प्रारंभिक लेखन विदेशी सत्ता की गुलामी, देशवासियों की गरीबी, और सामाजिक भेदभावों से उपजे रोष का उद्गार मात्र है। तरुणाई की उस ध्वंसकारी और मनचाहे निर्माण सँजो लेने की कल्पनाओं-भरी भावदशा से उबरा तो अपने को मैंने एक प्रेमासक्त युवक के रूप में पाया। परिणाम यह कि मेरी रचनाओं की कथावस्तु एक नया रंग ले चली और उसमें मानवीय सम्बन्धों की स्निग्धता और विकलताएँ प्रतिबिम्बित होने लगीं। किन्तु पागलपन की उस अवस्था में भी अपने हिन्दू समाज की वे सब बुराइयाँ, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच विभेद करती हैं, मुझे निरन्तर क्षुब्ध और पीड़ित करती रहीं। इन्हें अनावृत रूप में समाज मे सामने लाने और इनकी गर्हणा करने में मुझे सन्तोष मिलता। बाद की कृतियो में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद की प्रवृत्तियों को दरशाया है। इधर अब मेरे लेखन का विषय है आज के मानव समाज की प्रमुख प्रवृतियाँ धन-वैभव की आराधना, अधिकार और सत्ता की धुन, और इन्हें पाने के लिए कैसे भी अनैतिक साधनों का उपयोग।

'कला, कला के लिए' का सिद्धान्त मुझे कभी नहीं रचा। मैं जिस साँचे में ढला हूँ वह है वल्लुवर का एक वचन "बिना प्रयोजन मुँह से एक शब्द भी मत निकालो।" मैं तो भाषा की सरलता-सुबोधता और बात को सीधे-सीधे कह देने में विश्वास रखता आया हूँ। इस विषय में मेरे मार्गदर्शक हुए महात्मा गाँधी। उनका कहना था कि कला और साहित्य का रूप तो ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक जन की समझ में आ जाए। यह मेरी एकान्त आकांक्षा है कि देश के लाख-लाख जन तक पहुँच सकूँ। और इसके लिए पत्र-पत्रिकाएँ

और अल्प-मोली पॉकेट बुक्स से बढ़कर अच्छा साधन और कौन-सा होगा?

अपने लेखन में मैं एक बात में बहुत दृढ़ रहा हूँ मैंने सार्वजनिक माँग को अपने ऊपर कभी हावी नहीं होने दिया। अर्थात् मैंने ऐसा साहित्य कभी नहीं दिया जो अस्थायी हो, केवल गुदगुदाता हो। मेरे विचार से तो साहित्य का धर्म ही है मनुष्य की चेतना-भावना को निर्मल और उदार बनाना, हीन बना देना नहीं। मैं न केवल उच्च वर्गों के लिए लिखने के पक्ष में हूँ न एकान्त-सेवी हो रहने के। मैं तो सबके बीच सामने आकर जन-साधारण तक पहुँचना चाहता हूँ। मैं स्वय एक सामान्य मानव हूँ और अपने समान सामान्य मानवों के लिए ही लिखने में लगा हुआ हूँ।

मेरा तो प्रयत्न रहता है कि पाँवों को इस धरती की मिट्टी में जमाये हुए मैं आकाश तक पहुँचूँ। इस बात में अन्तर्विरोध दिखायी दे सकता है, अन्तर्विरोध है नही। उस प्रकार का प्रयत्न बिल्कुल सम्भव है। स्वय महात्मा गान्धी उसका एक उज्ज्वल उदाहरण हैं। उन्होने कहा है "कला उसे कहेंगे जो मनुष्य को नैतिकता के पथ पर आगे बढ़ा ले जाये और उसकी विचार-भावनाओं को ऊँचा उठा सके। वह यदि उसके नैतिक अध पतन का कारण बनती है तब वह कला नहीं, अश्लीलता है।" गान्धीजी तो सौन्दर्य-भाव का दर्शन ही सत्य में या उसके माध्यम से करना चाहते आये। उनकी दृष्टि से तो रूप-आकृति आदि बाह्यताए सब अप्रासगिक होती हैं। इसे हम 'गान्धीवादी यथार्थता' का दर्शन भी कह सकते हैं।

इन दिनों मैं इसी बात को अपनी तरह से भी स्पष्ट करने में लगा हुआ हूँ। कहाँ तक कर पाता हूँ, मैं नहीं कह सकता। पर यह मेरी दृढ़ धारणा बन गयी है कि किसी भी रचना की प्रयत्नपूर्वक बनायी-सँवारी हुई रूप-आकृति नितान्त कृत्रिम हुआ करती है और इस प्रकार के प्रयोगों की ओर मैं ध्यान भी नहीं देना चाहता। वास्तव में रचना का रूप तो उसकी विषयवस्तु और उसके चरित्रों एव घटना-प्रसगों के सर्वथा अनुरूप होना चाहिए। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वह हमारी स्वाभाविक सृजनात्मक प्रवृत्ति की ही सहज उद्भूति होता है, होना चाहिए।

दो शब्द अपने चरित्रों के विषय में भी कहूँ। समाज में भले लोग भी होते हैं, बुरे भी, लालची-स्वार्थी और विवेकरहित भी, और आदर्शवादी, भावनाशील, भोले-भाले भी। मेरे उपन्यासों में आपको सभी का दर्शन होगा। 'चितिरप्पावै' का नायक अण्णामलै आदर्शवादी और भावनाशील युवक है निरा सरल-निर्दोष, शिशु-सा। मैंने वास्तव जीवन में उस जैसे व्यक्ति देखे-जाने हैं, विशेषकर कला जगत् में। मुझे उनके साथ निकट रूप में मिलने-जुलने का अवसर भी मिला है। मेरा अण्णामलै कल्पना-सृष्टि नहीं, वास्तव जीवन से लिया हुआ एक छवि-अकन है। इसी प्रकार अन्य अनेक चरित्र भी हैं।

सच मानिए, मेरी रचनाओं के अधिकतर पात्र ऐसे ही हैं जिनका मेरे व्यक्तिगत जीवन के साथ कोई न कोई सम्बन्ध रहा है। मैंने उन्हीं लोगों का चित्रण किया है जो मुझे प्यार देते हैं या क्षुब्ध करते हैं, जो मेरे सहायक बने हैं या जिन्होंने मेरे साथ छल-कपट किया है। यह अवश्य है कि अनुपात-भेद कुछ-न-कुछ सब कहीं रखा है।

अपने जीवन में मुझे अपने भाग के हर्ष भी मिले हैं और क्लेश-विषाद भी। लेखक का जीवन तो यों भी उस व्यक्ति के जैसा होता है जो एक ही समय मे दो घोड़ों पर चढ़ने का प्रयत्न करता हो। वह यदि अपने आदर्शों पर चलते हुए आन्तरिक भावनाओं को लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त करने में लगता है तो व्यवहारगत जीवन में असफल हुआ रह जाता है, और यदि धनार्जन की ओर उन्मुख होता है तब यह एकपतिका सृजनेश्वरी तत्काल विच्छेद पर उतर आती है। इसकी तो अपेक्षा होती है कि उसका सपूर्ण ध्यान, अविभक्त रूप में, इसे ही मिले, यहाँ तक कि अपनी सासारिक आवश्यकताओं की ओर से भी वह विमुख हुआ

रहे।

यह दो घोड़ों के बीच सन्तुलन बनाये रखने का कार्य सचमुच ही कठिन और जोखिम का होता है। भगवती सरस्वती ने मुझे अनेक बार कठिन परीक्षा में डाला है। मुझे जीवित रहने के लिए विवश होकर समय-समय पर निरे सामान्य काम करने पडे हैं , मगर कभी भी न देवी सरस्वती की आराधना छोडी न ही उसे व्यापार-व्यवसाय का रूप देना सोचा।

देश का यह सर्वोच्च साहित्य-पुरस्कार, जिसे प्राप्त करने की अभीप्सा किसी भी भारतीय लेखक के मन में स्वभावत होगी, मुझे ऐसे समय मिल रहा है जब मुझमें न कार्य-शक्ति की कमी है न अपने सत्यान्वेषण की उमगों की। मुझमें तो एक नयी आस्था जग उठी है कि अब दूसरे घोडे पर पाँव रखने की आवश्यकता से मुक्त होकर, मैं नये-नये क्षितिजों की ओर निरन्तर बढ सकूँगा। सरकस का नट बनकर मुझे अब नहीं रहना होगा।

मेरा अन्वेषण चल रहा है मुझे सत्य और न्याय भाव के माध्यम से सौन्दर्य का दर्शन करना है। आपके आशीर्वाद और आपकी सद्भावनाओ का मुझे विश्वास है।
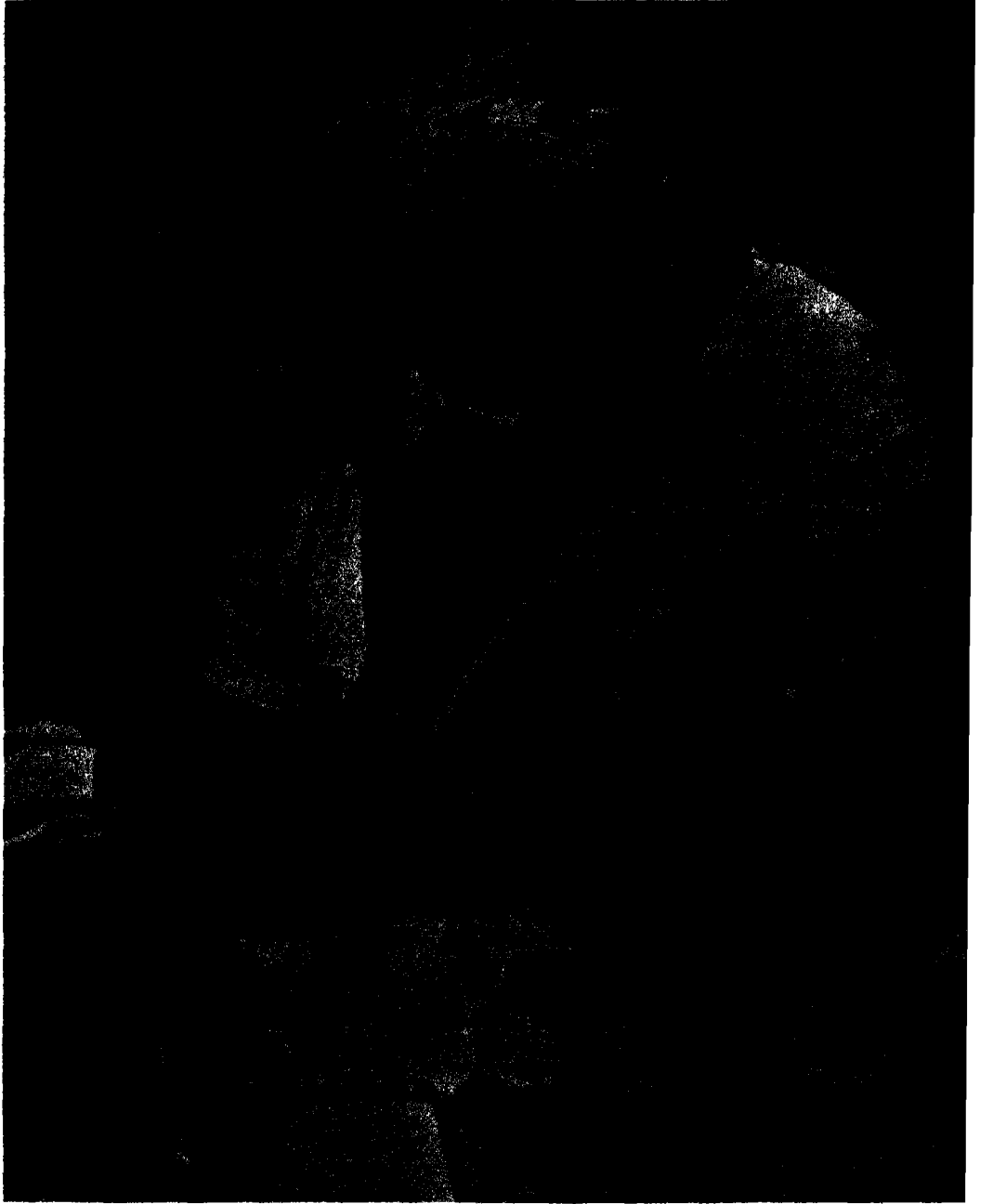
आशापूर्णा देवी

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७६ का साहित्य-पुरस्कार श्रीमती आशापूर्णा देवी को उनके बाग्ला उपन्यास 'प्रथम प्रतिश्रुति' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६०-६९ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

अग्रवर्ती बाग्ला लेखकों में लगभग आधी शताब्दी से प्रतिष्ठित श्रीमती आशापूर्णा देवी ने अपने अविराम कथा-साहित्य-सृजन द्वारा बाग्ला जीवन के ही नहीं, मानव स्वभाव के अनेक पक्षों को प्रकाशित किया है। उनकी रचनाओं मे व्याप्त व्यग्य और विनोद के मृदुल सस्पर्श का गुम्फन उनकी समुन्नत सहृदयता और विवेकशीलता का द्योतक है। उनकी सहज-सरल किन्तु अत्यन्त प्रभावपूर्ण कला तथा निराडबर और मुग्धकर विषयवस्तुओं के चयन ने उन्हें अनगिनत पाठक उपलब्ध कराये हैं।

'प्रथम प्रतिश्रुति' उनकी उत्कृष्ट रचना है। इसमें बगीय नारी की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर क्रमिक विमुक्ति के इतिवृत्त को उद्घाटित किया गया है। समूची कथा एक तेजस्वी उपन्यास के रूप में विकसित हो उठी है जिसका केन्द्र बिन्दु कथा-नायिका सत्यवती है-उसका जीवन और सघर्ष है, और हैं वे उपाय-साधन जिनके द्वारा उसने क्रमश उन्मुक्तता उपलब्ध की। कृति में तत्कालीन बाग्ला नारी की मनोहारी छवियाँ ही नहीं उकेरी गयी हैं, लेखिका ने मानव स्वभाव पर ऐसी सटीक टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की हैं जिनकी प्रासगिकता बहुत व्यापक है। इसमें रूपायित हो आयी है वह प्रक्रिया जिससे भारतीय नारीत्व उचित गरिमा पा सकी है।

सुखी और दीर्घजीवी हों आशापूर्णा देवी और अपने योगदान से बाग्ला कथा-साहित्य को अधिकाधिक समृद्ध करें।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्ष
२६ अप्रैल, १९७८	भारतीय ज्ञानपीठ	प्रवर परिषद्

आशापूर्णा देवी

आशापूर्णा देवी का बचपन और कैशोर्य कलकत्ता में ही बीता। विवाह के बाद वे दो वर्ष तक कृष्णनगर मे रहीं। उनके पिता एक कलाकार थे और मा साहित्य की जबरदस्त पाठक। उनके पास अपना कहने को एक छोटा-मोटा पुस्तकालय भी था घर पर ही 'प्रवासी', 'भारतवर्ष', 'भारती', 'मानसी', 'मर्मबानी', 'अर्चना', 'साहित्य' और 'सबुज पत्र' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती रहती थीं। बंगाल साहित्य परिषद, ज्ञान विकास लाइब्रेरी तथा चैतन्य पुस्तकालय से भी पुस्तकें आ जाती थी। एक कट्टरपथी परिवार के नाते आशापूर्णा को उनकी दूसरी बहनों के साथ स्कूली पढ़ाई की सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी लेकिन परिवार में उपलब्ध पुस्तकों को पढ़ने की कोई रोक-टोक न थी माँ के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रभाव आशापूर्णा के कृतित्व पर सबसे अधिक पडा। आरम्भिक रचनाओं के उनकी बाल्य-जीवन की कटु-मधुर स्मृतियाँ कई रूपों और आयामों में अकित हुई हैं। उनके परपरागत परिवेश ने पूर्वस्वीकृत मूल्यों और आधुनिक भाव-बोध को समझने में और दोनों के तनाव से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को निरूपित करने में बडा योगदान दिया है।

आशापूर्णा देवी की आरम्भिक रचनाएँ द्वितीय महायुद्ध के दौरान लिखी गयी थीं। हालाँकि तब उनकी कहानिया किशोरवय के पाठको के लिए होती थीं। प्रबुद्ध पाठकों के लिए उनकी पहली कहानी 'पत्नी ओ प्रेयसी' (१९३७) ई के शारदीय 'आनन्द बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हुई थी। तब से लेकर आज तक पिछले साठ वर्षों से , नारी के तन और मन के दो अनिवार्य ध्रुवान्तों के बीच उठने वाले कई शाश्वत प्रश्नों को, पारिवारिक मर्यादा और बदलते सामाजिक सन्दर्भों मे, आशापूर्णा ने जितनी प्रौढ़ता और विविधता से रखा है उतना सम्भवत किसी साहित्यकार ने नहीं।

आशापूर्णा देवी का पहला कहानी-सकलन 'जल और आगुन' (१९४०) ई में प्रकाशित हुआ था तब यह कोई नहीं जानता था कि बाङ्ला ही नहीं, भारतीय कथा-साहित्य के मच पर एक ऐसी कथानेत्री व्यक्तित्व का आगमन हो चुका है जो समाज की कुठा और कुत्सा, सकट और सघर्ष, जुगुप्सा और लिप्सा को अपने पात्र-ससार के माध्यम से एक नया प्रस्थान और मुक्त आकाश प्रदान करेगी। इसके साथ, अन्य असख्य नारी

पात्रों—माँ, बहन, दीदी, मौसी, दीदी, बुआ तथा घर के और भी सदस्य, नाते और रिश्तेदार यहाँ तक कि नौकर-चाकर की मनोदशा का भी जितनी सहजता और विशिष्टता से प्रामाणिक अकन उनके कथा-साहित्य में हुआ है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये सभी हमारे ही समय और समाज के सवालों से जूझते-टकराते हैं और हमारे ही प्रतिरूप नजर आने लगते हैं।

यह सच है कि आशापूर्णा को विश्वविद्यालय की औपचारिक पढाई और ज्ञान-विज्ञान की किताबी दुनिया नहीं मिली। लेकिन अपने बाल्य काल से ही वे इस अनजानी लेकिन जिज्ञासा और कौतूहल से भरी दुनिया का साक्षात्कार करती रहीं। यह ठोस, खुरदुरी, निर्मम और अयाचित दुनिया रोज किसी-न-किसी रूप में नये वातायन और वातावरण के साथ उनके सामने उपस्थित हो जाती और अपने अनोखे और अजूबे पात्रों का सभार उनके लिए जुटा देती लेकिन आशापूर्णा देवी ने चयन का अधिकार सुरक्षित रखा और एक स्त्री होने के नाते उन्होंने स्त्री-पात्रों की मानसिकता, उनके नारीसुलभ स्वभाव की दुर्बलताओं—दर्प, दभ, द्वद्व, दासता और अन्यमनस्कता का चित्रण भी अपनी रचनाओं में किया। अनगिनत नारी पात्राओ के पारदर्शी ससार द्वारा इन रचनाओ में सामान्य किन्तु अविस्मरणीय पात्रों का एक ऐसा विश्वसनीय, अविराम एव जीवन्त ससार मुखरित है, जिसकी अबाध और जटिल यात्रा का पथ भले ही गरीबी, शोषण, अभाव, कोलाहल, उन्माद, प्रेम-घृणा और अवसाद से परिपूर्ण हो लेकिन जहाँ जीवन और परिवेश के बीच एक अटूट और सार्थक सवाद चलता रहता है।

'प्रेम और प्रयोजन' (१९४५) आशापूर्णा देवी की पहली औपन्यासिक कृति थी। यह आज से लगभग ४६ वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। लेकिन इसके सारे सवाल और सन्दर्भ आज भी प्रासगिक प्रतीत होते हैं। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि जितनी निर्मम है अन्तर्कथा उतनी ही मार्मिक। एक तरफ प्रकृति के नियम अपरिवर्तनशील हैं लेकिन दूसरी तरफ जीवन अपनी विविधता में अपरिहार्य और अनिवार्य सघर्षों के सम्मुखीन जा खडा होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में और बमबारी की अफवाह से सहमे और स्याह पडे कलकत्ता शहर में बेरोजगार युवकों के लिए इतना अवकाश नहीं रह गया था कि वे रोजमर्रा का जीवन जियें लेकिन दैनदिन जीवन के प्रयोजन ने उन्हें बता दिया कि समय की चुनौतियों को भावुकता में नहीं बल्कि सक्रियता से जिया जा सकता है। स्त्री-पुरुष की पात्रता, मनीषा और पात्रो की सामर्थ्य और सीमा को भी कहीं-कहीं शक-विरल सम्वाद से रेखाकित किया गया है। केवल पुरुषों को दोषी समझने वाली नारी की मानसिकता को रेखाकित करते हुए इस उपन्यास का एक पात्र अमरेश कहता है, "गार्गी, मैत्रेयी, लीलावती, क्षणा वगैरह प्रागैतिहासिक या मिथकीय नारियों की चर्चा बार-बार इसलिये की जाती है कि समसामयिक दौर मे ऐसी असाधारण महिलाओ की कमी है। मान लिया कि स्त्री-जाति को शारीरिक रूप से पुरुष समाज ने अनेक बधनो मे बाँध रखा है मगर क्या उसके मन और मानस को भी किन्हीं जजीरो मे जकड रखा है।

यह तय है कि वर्तमान पीढी की चेतना और मानसिक स्वतन्त्रता को पुरानी पीढी स्वीकृति नही देती। पुरानी पीढी कहलाने वाली निवर्तमान पीढी ने भी अपने वर्तमान मे इसी वचना को झेला था। नयी-पुरानी पीढी के द्वन्द्व को उक्त उपन्यास की कथा-नायिका मन्दिरा बडे प्रभावी ढग से मुखर करती है। यहाँ तक कि अपने प्रेमी अमरेश को भी अपने प्रेम की दुहाई देकर स्वय विवाह के लिए औपचारिक प्रस्ताव देती है। उसका विश्वास है कि प्रेम ही जीवन का आदर्श हो सकता है। वह दृढ उत्तर के साथ अपने प्रश्न रखती है "क्या प्रेम हमें बडा नहीं बनाता? हमें ऊपर नहीं उठाता? हमारी सारी कुठाओं को धो-पोंछकर हमें निष्कलक नहीं बनाता? हमारे बीच अगर प्रेम सच्चा है तो वह कभी हममे हीन भावना नहीं जगा सकता"

भारतीय कथा-साहित्य के परिदृश्य के पिछले पचास-साठ वर्षों में हमारे लेखक वर्ग स्वाधीनता-आन्दोलन की प्रेरणाओं, स्वतन्त्रता प्राप्ति, नयी-पुरानी सरकार, व्यवस्था परिवर्तन, नारी शिक्षा स्वातन्त्र्य, कामकाजी महिलाएँ, नगरों का अभिशप्त जीवन, मूल्य सकट जैसे तमाम विषयों से जूझता रहा है। उनकी कृतियाँ सामाजिक दबावों और ऐतिहासिक आवश्यकताओ के साथ ही, इस अर्थ में विशिष्ट, सजग और अलग रही हैं कि वे तमाम समस्याओ और सरोकारों या छोटे-बडे आन्दोलनो को सडको पर नहीं, घर की चारदीवारी के अन्दर रखकर उनका समाधान प्रस्तुत करती हैं ताकि उनकी परस्पर निर्भरता और सार्थकता बनी रहे। उनका पहला और अन्तिम सत्य का लक्ष्य पात्र का विवेकपूर्ण आत्मसघर्ष होता है—भले ही इसमे वह पराजित हो जाये। वे पात्रों के आस-पास घटित होने वाली घटनाओ का सूक्ष्म अकन कर विवरण प्रस्तुत करती हैं तभी किसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं। उनके पात्र अखबारी या चिकनी पत्रिकाओ के हैरतअगेज कारनामो वाले आयातित पात्र नही होते—वे हमारे साथ चल रहे जीवन के अनखुले पृष्ठो और अनचीन्हे सदर्भों को इस तरह खुलकर व्याख्यातित करती हैं कि उन्हे अचानक सामने पाकर यही प्रतीत होता है कि इस जानी-पहचानी दुनिया का सबसे जरूरी हिस्सा हमारी नजरो से अब तक ओझल क्योकर रहा? सृजन के लम्बे अनुबन्ध को सामाजिक प्रतिबद्धता से जोडकर आशापूर्णा अपने समय के विवादास्पद दौर की भी साक्षी रही हैं। मूल्यों का सकट और पीढियों का टकराव जैसी समस्याओं को उन्होंने अपनी विचार वयस्कता से देखा है और अप्रिय निर्णय भी दिये हैं। इस बात की कभी ताईद नहीं की कि किसी समझौते को किसी तात्कालिक सदर्भ मे उपयुक्त मान लिया जाये और बाद में उसे गलत, अन्यायपूर्ण या अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया जाये। उनकी सारी स्थापनाएँ भारतीय परिवेश, मर्यादा और स्वीकृत तथा प्रदत्त पारिवारिक ढाँचे के अनुरूप होती हैं। लेकिन वे नारी के आत्मनिर्णय और आत्मगौरव को सर्वाधिक महत्त्व देती हैं। नारी के आत्मसम्मान और सामाजिक अन्याय के खिलाफ खुद नारी के सकारात्मक दृष्टिकोण की उन्होंने भरपूर वकालत की है। लेकिन उनकी नारी-पात्राओं का रुख आक्रामक या समाज सुधारक का नहीं होता। अपनी तैयारियो के अनुरूप ही सबसे पहले वे अपने आप से लडती हैं। यह अघोषित लडाई अन्दर ही अन्दर वर्षों तक चलती रहती है। जबकि सतह के नीचे जलनेवाले ज्वालामुखी के लावे की हलचल कभी-कभार ही दीख पडती है। और अचानक जब वह ज्वालामुखी फूट पडता है तो ऐसे सारे तर्क थोथे और आचार झूठ और आरोपित लगने लगते हैं।

आशापूर्णा भारतीय नारी के आधुनिका होने के नाम पर उच्छृखल या पारिवारिक मर्यादाओं की अनदेखी करने का न तो प्रस्ताव रखती हैं और न ही उसकी ऐसी कोई पैरवी करती हैं जिससे कि अपनी किसी बात को एक जिद्दी दलील के तौर पर उद्धृत किया जाये। दरअसल आशापूर्णा की पात्राओ की दुनिया विरोध या बनामवाद से कही अधिक अपने आन्तरिक रचाव पर विशेष बल देती है। इन पात्रो को पता है कि जो दुनिया उनके इर्द-गिर्द है, वह ठीक वैसी नही है जैसी कि दीख रही है। स्वय पुरुष वर्ग भी उन सस्कारों, सुविधाओ और अक्षमताओ और दुर्बलताओ से घिरा है। यह वर्ग जब अपनी व्यक्तिगत असफलताओं को अपनी वामा या पत्नी के मत्थे मढना चाहता है तो स्वाभाविक है इस अन्याय का स्वय स्त्रियो द्वारा विरोध किया जाये। लेकिन ज्यादातर मामलो मे ऐसा सभव नही हो पाता ताकि घर की सरचना पुरुषकेन्द्रित बनी रहे और रूढिगत मर्यादा का पालन होता रहे। आशापूर्णा मर्दों की इसी कुठावृत्ति पर कुठाराघात करती हैं। इससे प्रत्यक्ष तौर पर जो कुछ टूटता नजर आता है वह आकस्मिक तौर पर वाछित न भी हो लेकिन अप्रत्यक्ष तौर पर ही सही नारी का मनोबल और आत्मगौरव अन्तत टूटने से बचा लिया जाता है और लेखिका के कथ्य या

वक्तव्य को वहीं अभिप्रेत या वांछित सफलता मिलती है। उन्होंने समाज के विभिन्न स्तरों पर, ऐसे असख्य पात्रों की मनोदशाओं का चित्रण किया है, जो अबोले हैं, बड़बोले हैं, या जो खुद नहीं बोलते—भले ही दूसरे लोग उनके बारे में हजार तरह की बातें करें।

आशापूर्णा कोई समाजशास्त्री, शिक्षा शास्त्री या दार्शनिक की मुद्रा ओढ़कर या बहुत आधुनिक या प्रगतिशील लेखिका होने का मुखौटा नहीं लगातीं। साथ ही, इस बात की कभी परवाह नहीं करतीं कि उनके अनुभव का ससार घर-परिवार की छोटी सी दुनिया तक सीमित है। वे अपनी जमीन और अपने सन्दर्भ में खूब अच्छी तरह देखती परखती हैं—लेकिन सम्बन्धों या सन्दर्भों की भावुकता को वे अन्यथा महत्त्व नहीं देतीं—जो कि बाङ्ला के अधिकाश लेखकों की कमजोरी रही है। ऐसा नहीं कि पात्रों के किशोर प्रेम, विवाहपूर्व प्रेम या विवाहेतर प्रेम सम्बन्धों और इनके विभिन्न प्रतिरूपों या प्रस्थानों पर उन्होंने नहीं लिखा, लेकिन इस बहाने जीवन भी किसी अभिशाप की छाया को ढोते रहने और समाज में विशिष्ट बने रहने का ढोंग उन्हें कतई पसन्द नही। आशापूर्णा ने अपने स्त्री पात्रों को अनजाने और अपरिचित कोने से उठाया और सबके बीच और सबके साथ रखा। उसे रसोईघर की दुनिया से बाहर निकालकर बृहत्तर परिवेश देना चाहा। लेकिन इसमें जहाँ नारी का माता-पत्नी और बेटी वाला शाश्वत रूप सुरक्षित रहा, वहाँ सामाजिक बदलाव की भूमिका में भी उसके सक्रिय और वांछित योगदान को अकित किया गया। ऐसा नहीं था कि सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में स्त्री-जाति को अपने अधिकार क्षेत्र में रखने या "पैरों की जूती" बनानेवाला पुरुष वर्ग ही इसके लिए जिम्मेदार था। नारी मन की यह गुलामी उसकी मध्यकालीन या सामन्ती कुंठा का परिचायक है, जिसमें औरत मात्र शय्या सुख के लिए पाली या खरीद कर हरम में डाल दी जाती थी।

अपनी बहुपठित और बहुचर्चित औपन्यासिक कृति 'प्रथम प्रतिश्रुति' (१९६४) में सत्यवती के माध्यम से न केवल नारी जाति के आत्म-सम्मान का बल्कि एक जागरूक लेखिका के रूप में आशापूर्णा के सतेज सर्जक व्यक्तित्व और आदर्शोन्मुख यथार्थ का परिचय मिला। वास्तव में यह कृति एक औपन्यासिक त्रयी की पहली कड़ी है। इस क्रम में दो अन्य कृतियाँ हैं—'सुवर्णलता' और 'बकुलकथा'। व्यक्ति-स्वातत्र्य के लिए पल-पल प्रायोजित सामाजिक प्रताडना तथा घर और घराने की मर्यादा के नाम पर कदम-कदम पर गर्हित रूढ़ियों के विरूद्ध सत्यवती का विद्रोह उस युग के नारी मन का ही वांछित प्रतिरूप था—जिसने एक विद्रोहिणी का रूप धारण कर भी अपने सामाजिक ढाँचे को नही तोडा बल्कि उसे मर्यादित और व्यवस्थित किया था। सत्यवती की भूमिका यहाँ न तो निरकुश थी और न उच्छृखल—वह धीरे-धीरे अपने अनुभव के बलबूते पर सकल्प को गति और दिशा देती है। यह ठीक है कि उसके विद्रोह का धरातल घर-परिवार और अतरग सामाजिक सरोकारों तक सीमित है। बृहत्तर समाज के साथ उसका सीधा सपर्क नहीं। अपने सीमित साधनों के बावजूद, केवल अपने दायित्व और विवेक के बल पर वह इस सघर्ष को तीव्र मुखर करती है। अपनी निम्नमध्यवर्गी पारिवारिक विवशताओ के बीच किसी रूढ़िग्रस्त परिवार मे छोटी-छोटी प्रताडनाओ के विरूद्ध एक नारी का सघर्ष धीरे-धीरे किस तरह विराट हो उठता है—'प्रथम प्रतिश्रुति' इसका विलक्षण उदाहरण है।

'प्रथम प्रतिश्रुति' की नायिका सत्यवती का वैचारिक आग्रह अन्यथा आरोपित परिवेश के विरूद्ध था और वह एक नये समाज के निर्माण का आधार तो था ही प्रतिवाद का प्रतीक भी। लेखिका यहाँ स्त्री पात्र को भी पुरुष पात्र जैसी प्रतिष्ठा और मर्यादा प्रदान करना चाहती है। वह उस रूढ़ अचलायतन को तोडना चाहती है जबकि यही पात्राएँ अपने आगामी रूपान्तर में यानी सुवर्णलता

(१९६६) के रूप में तो 'बकुल कथा' की बकुल या अनामिका देवी के रूप में सामाजिक तौर पर कहीं अधिक प्रौढ और गतिशील है। ये दोनों स्वय आशापूर्णा देवी के निजी जीवन, युगबोध और युगान्तर बोध के प्रत्यय को प्रतिकृत और प्रतीकित करती है। सत्यवती (प्रथम प्रतिश्रुति) और सुवर्णलता के चरित्र की विशेषताएँ बार-बार उनकी कथा-कृतियों में अलग-अलग पात्रो में निरूपित हुई हैं। इस धारावाहिकता में जीवन और जगत के प्रति लेखिका के प्रौढ दृष्टिकोण की बार-बार किन्तु प्रभावी पुनरावृत्ति हुई है और भी अधिक पैनेपन के साथ। उनके नारी केन्द्रित उपन्यासो में उठायी गयी समस्या का प्रश्न बिन्दु यह है कि हमारा समाज पुरुष निर्मित और पुरुष शासित है। सृजन मे अपनी श्रेष्ठ सहभागिता के बावजूद इस समाज मे नारी और पुरुष का समान मूल्याकन नही होता। पुरुष की बडी-से-बडी कमजोरी समाज पचा लेता है। लेकिन नारी को उसकी थोडी-सी चूक के लिए भी पुरुष समाज मे कठोर दण्ड की व्यवस्था है, जबकि इसमे पुरुष की लिप्सा का अश कही अधिक होता है और बात फिर वही पहुँचती है जहाँ से शुरू हुई थी। नारी अपने मूल अधिकारो से तो वचित है लेकिन सारे कर्त्तव्य और दायित्व उसके हिस्से मढ दिये गये हैं।

आशापूर्णा का मानना है कि भारतीय नारी का सारा जीवन सामाजिक अवरोधो और वचनाओं में ही कट जाता है जिसे उसकी तपस्या कहकर हमारा समाज गौरवान्वित होता आया है। इस षड्यत्र मे शास्त्र और सामाजिक सस्थाएँ भी बराबर की भागीदार रही हैं। इस विडम्बना को और नारी जाति की असहायता को ही वाणी देने में उनकी सृजनात्मकता सुकारथ हुई है। इसी मुखर प्रतिवाद को एक आवश्यक हस्तक्षेप के तौर पर सामने लाने के लिए सत्यवती की पात्रता प्रतीक पात्र में ढल गयी। इसमें तत्कालीन समाज की वे तमाम विसगतियाँ और असमानताएँ भी न्यस्त हो गयीं जो स्वय हमारे समाज में तब भी मौजूद थीं और दुर्भाग्य से आज भी विद्यमान हैं। आशापूर्णा मानती हैं कि सामाजिक विकृतियाँ और सस्थागत दुर्बलताएँ हर युग मे रही हैं लेकिन उन पर मानवता के जरिये ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

यहाँ तक कि लेखिका ने उच्चवर्गीय या धनी-मानी परिवारो की स्त्रियो की विवशता या दयनीयता का भी चित्रण किया है, जहाँ अब भी वे कोई निर्णय नही ले सकतीं। यही कारण है कि सामाजिक दृष्टि मानवीय समस्याओ के समाधान में आडे आती हैं और उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की बीच की खाई निरन्तर चौडी होती जा रही है और परस्पर विश्वसनीयता के बदले टकराव का वातावरण पैदा हो जाता है। 'सुवर्णलता' की पात्रता मे इसी टकराव को अपने निकटतम अतीत के साथ जोडकर देखा गया, जिसमें तमाम बदलाव के बावजूद बिखराव के रोये-रेशे विद्यमान थे। और लेखिका की वह लडाई जो 'प्रथम प्रतिश्रुति' में शुरू हुई थी 'बकुल कथा' तक आते-आते और भी तीव्रतर हो गयी थी। सामाजिक रूढियो और मान्यताओ के खिलाफ अपनी आवाज उठाते हुए उक्त कृतियों के न्यास भले ही बदल गये। उनकी प्रगतिकामी भावधारा और अन्तर्वस्तु वही रहे। इसी चेतना को "गाछेर पाता नील" (१९६९) की सुनन्दा, मीनाक्षी और विजया की अपनी-अपनी लडाई मे देखा जा सकता है। विडम्बना यह है कि युगो के अवसाद और अधकार से व्यक्ति अपनी तमाम अर्जित योग्यताओ के बावजूद बचा नही पाया। 'प्रथम प्रतिश्रुति', सुवर्णलता की सत्यवती, सुवर्ण और 'बकुल कथा' की बकुल, शम्पा, नमिता और पारुल में मैके और सुसराल और दोनों के बीच घटित होने वाली अतरग और बहिरग समस्याएँ बडी तीव्रता से चित्रित हैं। और तीसरी पीढी की असहाय बकुल को अतत अपने चतुर्दिक खडे किये गये व्यूह से बाहर आना पडता है और उन सारे कार्य दायित्वो को निबाहना पडता है जो पहले केवल कोई पुरुष पात्र ही किया करता था या कर सकता था। वह

अपने जीवन के त्रासदायक क्षणों, सामाजिक उपेक्षाओं को नये सन्दर्भों में देखती है और यह महसूस करती है कि किन-किन अवसरों पर अपनी पराजय और अवमानना के स्वीकार कर लेने की विडम्बना खुद उसके जीवन में अवरोध के क्षण या अवसर मुहैया करती है। अपनी या समस्त नारी जाति की पराजय और कुण्ठा को स्वीकार करते हुए आशापूर्णा की अनामिका देवी उन पात्रों को जीवन्त लेखनी प्रदान करना चाहती है जो जीवन मे हार नहीं मानती और खुद अपना रास्ता चुनती हैं।

आशापूर्णा ने अपनी कृतियो मे भाव, भाषा और मुहावरे के साथ-साथ जीवत सवाद, शिल्प और कथा-न्यास को एक नयी जमीन और पहचान दी है। इस दृष्टि से वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्‌चन्द्र, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, माणिक बन्धोपाध्याय और समरेश बसु 'कालकूट' के समकक्ष जा ठहरती हैं—जिन्होने भाषा को उसके खुरदरेपन मे जीते हुए भी उसमें निहित कविता, करुणा और छन्द को जुगाये रखा है। आशापूर्णा ने भाषा की युक्तियो को इतनी स्वाभाविकता से अपने कथा-न्यास मे सजोया है कि इस पर अलग से विचार करने की ज़रूरत है। अपने पात्रों के सवाद और उसमे निहित आशय को वे एकवचन के साथ-साथ बहुवचन में परिणत कर देती हैं। तब किसी पात्र का कोई सवाद, आत्म-कथन या उसका छोटा-सा अश अचानक वामन से विराट रूप में परिणत हो जाता है। और तब वह शब्द प्रश्न वक्तव्य जीवनदर्शन बोध प्रत्यय सत्य और मन्त्रधर्मा हो जाता है। साथ ही, वह किसी कविता का सच भी प्रतीत होता है। सवाद या कथन (आत्मालाप) का यह उत्कर्ष उनकी रचनाधर्मिता की विशिष्ट पहचान है।

अनेको कहानियो और सवा-सौ से भी अधिक उपन्यासो के बाद आशापूर्णा जीवन के नवे दशक में आज भी उसी तीव्रता और तन्मयता से लिख रही हैं। "सीढ़ी भाँगा अक" (नवीनतम उपन्यास) में भी उन्होने पीढ़ियो के द्वन्द्व को आधुनिक-बोध और समसामयिक सन्दर्भों मे रखा है।
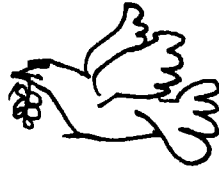
कृतियाँ

उपन्यास

१	प्रेम ओ प्रयोजन	१९४४
२	अनिर्वाण	१९४५
३	मित्तिर बाडी	१९४७
४	वलय ग्रास	१९४९
५	अग्नि-परीक्षा	१९५२
६	योग-वियोग	१९५३
७	नवजन्म	१९५४
८	कल्याणी	१९५४
९	निरजा पृथिवी	१९५५
१०	शशीबाबूर ससार	१९५६
११	उन्मोचन	१९५७
१२	नेपथ्य नायिका	१९५७
१३	जनम-जनम के साथी	१९५७
१४	अतिक्रान्त	१९५७
१५	छाडपत्र	१९५९
१६	प्रथम लग्न	१९५९
१७	समुद्र नील आकाश नील	१९६०
१८	उत्तरलिपि	१९६०
१९	मेघ पहाड	१९६०
२०	तीन छन्द	१९६१
२१	मुखर रात्रि	१९६१
२२	आलोर स्वाक्षर	१९६१
२३	दिनान्तेर रग	१९६२
२४	आर एक झड	१९६२
२५	नदी दिक्हारा	१९६२
२६	एकटि सन्ध्या एकटि सकाल	१९६२
२७	सोनार हरिण	१९६२
२८	जौहरी	१९६२
२९	मायाजाल	१९६२
३०	दोलना	१९६३
३१	ऊडो पाखी	१९६३
३२	बहिरग	१९६३
३३	जीवन-स्वाद	१९६३
३४	वेगवती	१९६३
३५	अबाह सगीत	१९६४
३६	उत्तारण	१९६४
३७	जनतार मुख	१९६४
३८	लघु त्रिपदी	१९६४
३९	दुये मिले एक	१९६४
४०	शूक्ति सागर	१९६४
४१	रानी शहरेर कनागली	१९६४
४२	प्रथम प्रतिश्रुति	१९६४
४३	युगे युगे प्रेम	१९६५
४४	सुखेर चाबी	१९६५
४५	सुओरानीर साध	१९६५
४६	सुरभि-स्वप्न	१९६५
४७	वृत्त-पथ	१९६५
४८	सुवर्णलता	१९६६
४९	रगेर ताश	१९६६
५०	माया दर्पण	१९६६
५१	शेष राइ	१९६६
५२	नील परदा	१९६६
५३	दुई मेरु	१९६६
५४	स्वर्ण केना	१९६६
५५	नीलाजना	१९६६
५६	विम्बवती	१९६६
५७	रातेर पाखी	१९६६

५८ जुगलबन्दी १९६६
५९ बालूचरी १९६७
६० सेई रात्रि एई दिन १९६७
६१ समुद्रकन्या १९६७
६२ अन्या माटी अन्य रग १९६७
६३ अनवगुठिता १९६७
६४ अन्तर्बाहिर १९६७
६५ जाहा चाय ताहा १९६८
६६ दुइ नायिका १९६८
६७ विजयी बसन्त १९६८
६८ समयेर स्तर १९६८
६९ शुधू तारा दूजने १९६९
७० जली कटा रोदे १९६९
७१ मन -मर्मर १९६९
७२ द्वितीय अध्याय १९६९
७३ गाछेर पाता नील १९६९
७४ दर्शकेर-भूमिकाय १९६९
७५ नील बन्दर १९६९
७६ विरही विहग १९६९
७७ नैंय छैंय १९७०
७८ मनेर मुख १९७०
७९ की पायनी १९७०
८० अनिन्दिता १९७०
८१ निभृत आकाश १९७०
८२ मध्येय समुद १९७०
८३ दूरेर जानला १९७१
८४ झिनुके सेई तारा १९७१
८५ चाँदिर जानाला १९७२
८६ दर्पणे छाया १९७२
८७ रात्रीर पारे १९७२
८८ रेल लाइन १९७२
८९ जार दा दाय १९७२
९० शिकली-काटा पाखी १९७३
९१ नक्शा-काटा घर १९७३
९२ तरगहीन १९७३
९३ ओरा बँडँ हँये गैलो १९७३
९४ बकुल कथा १९७४
९५ भालोबाशार मुख १९७४
९६ हारानो खाता १९७४
९७ जे आर दर्पणें १९७४
९८ कखनो दिन कखनो रात १९७५
९९ हँयतो सबाई ठीक १९७५
१०० हे ईश्वर तोमार यवनिका १९७५
१०१ पलातक सैनिक १९७६
१०२ लोहार गरदेर छाया १९७६
१०३ वशधर १९७६
१०४ उत्तरपुरुष १९७६
१०५ समय-असमय १९७६
१०६ एई जुग एई मॅन १९७६
१०७ आवृता-अनावृता १९७७
१०८ पाखीर खाँचा खाँचार पाखी १९७७
१०९ सोनार कौटो १९७७
११० चार देवालेर बाइरे १९७७
१११ सप्त सिन्धु दश दिगन्त १९७७
११२ ओरा भाँगेना १९७७
११३ जुगान्तर यवनिका पारे १९७८

कहानी-संग्रह

१ जल आर आगुन १९४०
२ सागर-सुखाये जाय १९४७
३ श्रेष्ठ गल्प १९५३
४ स्वनिर्वाचित गल्प १९५५
५ आर एक दिन १९५५
६ सरस गल्प १९५६
७ पूर्ण-पत्र १९५६
८ स्वप्न शर्बरी १९५६
९ गल्प पचाशत १९५९
१० पाँखीमहल १९५९
११ नवनीड १९६०
१२ केशवती कन्या १९६१
१३ मनोनयन १९६१
१४ छाया सूर्य १९६२
१५ अतलान्तिक १९६२
१६ सोनाली सन्ध्या १९६२

१७. साज-बदल १९६२
१८ जलछवि १९६३
१९ काँच पूती हीरे १९६७
२० भोरेर मल्लिका १९६७
२१ आकाश माटी १९७५
२२ त्रिनयनी १९७७
२३ एक आकाश अनेक तारा १९७७

संकलन

१-३ रचना सम्भार खण्ड १, २, ३ प्रकाशित

अभिभाषण के अंश

सम्प्रति देश में विभिन्न साहित्यिक पुरस्कार दिये जाते हैं। किन्तु ज्ञानपीठ पुरस्कार उन सबसे भिन्न एक अनुपम भव्यता से मण्डित है। इसके लिए ज्ञानपीठ अभिनन्दनीय है। वास्तव मे साहित्य का कार्य-दायित्व मनोरजन प्रस्तुत करना ही नही होता, वह तो राष्ट्र की शिक्षा और सस्कृति का परिचय-स्तम्भ हुआ करता है। उसका दायित्व होता है अतीत की निधि को सुरक्षित रखना, वर्तमान को गतिमय बनाना और भविष्य की रूप-रचना प्रस्तुत करना। यही कारण है कि सजेता कलाकार ही नही बल्कि साहित्य के विकासकामी सभी वर्ग धन्यवाद एव कृतज्ञता के पात्र होते हैं। साहित्य के प्रति अन्तर में वास्तविक उत्साह और लगन न हो तो ज्ञानपीठ पुरस्कार जैसी भव्य योजना सम्भव ही न होगी।

मुझे इस प्रश्न का बहुधा सामना करना पडा है कि मैं साहित्यिक क्षेत्र में कैसी आयी और क्या मेरे प्रेरणा-स्रोत थे। इसका उत्तर देने के लिए मुझे आधी शताब्दी से भी अधिक पीछे की ओर जाना पडेगा। सच तो इसका प्रारम्भ बिल्कुल जैसे अकस्मात् ही हुआ। बस, जैसे एक खेल, एक कौतुक हो। मैं तब १३ की थी। हठात् एक उमग-सी मन में उपजी कि कुछ लिखूँ। इतनी प्रबल थी यह उमग कि कुछ मिनटो मे ही एक कविता हाथों की अजुलि मे जनम चुकी थी। इतने पर ही मैं चुप न रह सकी। मैंने उसे एक सुपरिचित बाल-पत्रिका में प्रकाशनार्थ भेज दिया। मेरी धारणा है कि मेरी वह प्रथम रचना यदि अस्वीकृत होकर लौट आयी होती तो वहीं विराम लग गया होता। किन्तु आश्चर्य कि उसे प्रकाशित ही नहीं किया गया बल्कि उसके बाद से सपादकों की ओर से रचनाओं के लिए निरन्तर अनुरोध किये जाने लगे मेरे उत्साह में और भी अभिवृद्धि हुई जब एक साहित्यिक प्रतियोगिता में मुझे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। मैं तब केवल १५ की थी, पर उस समय की स्मृतियाँ मेरे मन में जीती-जागती बनी हैं।

सौभाग्य से बाद को भी मेरी कोई रचना सपादकों द्वारा कभी लौटायी नही गयी। मेरा विश्वास है कि सपादकों के यहाँ से निरन्तर आते रचनानुरोध ही उस काल में मेरे प्रमुख प्रेरणा-स्रोत थे। तभी से निरन्तर मैं लिखती आ रही हूँ, बिना कभी भी यह देखे-सोचे कि कब वह खेल-कौतुक की जैसी बात मेरे कार्य-जीवन का एक अभिन्न अग बन गयी। आज उस समूचे अतीत की ओर दृष्टि डालती हूँ तो लगता है कि इस अविराम लेखन की धारा पर उतराती हुई मैं अब वहाँ आ पहुँची हूँ जिसे अन्तिम चरण कहा जायेगा।

मैं अपने को इसलिए भी भाग्यशाली मानती हूँ कि एक रुढिग्रस्त परिवार में रहते हुए भी मुझे लेखन-कार्य से कभी न रोका गया न हतोत्साहित ही किया गया। इसके विपरीत मुझे अपने स्नेहिल एव उदारमना पति की ओर से सदा प्रोत्साहन और सहारा ही मिला। यही शायद इस बात का कारण बना कि अपने गार्हस्थ जीवन को मैंने सदा अधिक महत्त्व दिया, भले ही साहित्यिक जीवन मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान रहा है। मेरे भीतर के ये दोनो व्यक्तित्व एक साथ अग्रसर होते हुए परस्पर एक इकाई मे विलीन होते गये हैं, परस्पर टकराव का क्षण कभी नहीं आया।

दूसरे जिस प्रश्न का मुझे जब-तब सामना करना पडा है वह है मेरे सृजन की मूल सामग्री क्या है? उत्तर मेरा यही हो सकता है कि मेरे समस्त रचित साहित्य की एकमात्र आधारिक सामग्री हमारे समाज का सामान्य जन-मानव वर्ग है—वे असहाय प्राणी हैं जिनकी पीडित आत्माओं की कराहें स्वर नही पातीं, मात्र सिसकियों के रूप में प्रकट होती

हैं। इन्हीं असख्य प्राणियों का नितान्त घटनाशून्य जीवन, और इनके बनते-मिटते मानस का, नाना प्रकार की उलझनों मे रुधे-फसे दिन-रातों का मानचित्र प्रस्तुत करती हैं मेरी रचनाएँ। अपने परिचित क्षेत्र से बाहर पाँव रखने का मैंने कभी दुस्साहस नहीं किया।

पर देखें तो, वे जन-मानस जो बडे परिचित-से लगते हैं, क्या सचमुच उतने पारदर्शी होते हैं जितना हम समझते हैं ? क्या हम सचमुच उनके स्वभाव और प्रकृति के अन्तस्तल तक इतना पैठ सकते हैं कि उन्हे ठीक से देख-समझ सके ? विश्लेषण करने पर मुझे ऐसा लगा है कि मानवीय चेतना जिन तत्त्वों की बनी होती है वे प्राय विरोधाभासी होते हैं। न तो मानव मन की अधियारी गहराइयो तक पैठ पाना सम्भव होता है न जीवन के मूलभूत सत्यो को उद्घाटित करना ही।

कदाचित् महत्वहीन-से लगने वाले मानवो मे ही कितने ही रग, घटनाओं के अनेक स्रोत, उच्च-उदात्त विचार और गहरी उपलब्धियाँ छिपी पडी हो सकती हैं , और इसके विपरीत, तथाकथित बुद्धिजीवियो और प्रतिष्ठित भद्रजनों मे सकुचित मनोवृत्ति का राज्य हो सकता है। सत्य तो यह है कि व्यक्ति हमेशा यह नही जान सकता कि उसकी वास्तविक आकाक्षाएँ क्या हैं, वह जीवन में क्या पाना चाहता है और क्या अस्वीकारना चाहता है। यह वाकई आश्चर्यजनक है कि उसके मन का अवचेतन स्तर जैसे चेतन पहलू को नियत्रित करता है।

मानव चरित्र के बारे मे ऐसी भावना मुझे बचपन से ही विचारमग्न कर देती थी। उस आयु की अपरिपक्व दृष्टि मेरे मन मे एक विचित्र भावना उत्पन्न करती थी। मुझे ऐसा अनुभव होता प्रतीत होता था कि मेरे समक्ष रहस्य का एक अज्ञात परदा उठने वाला ही है। यह भी भान होता कि जो मानव मन दृष्टिगोचर हुआ वह उसके अस्तित्व का सम्पूर्ण भाग नहीं था। वह केवल एक खड था। मन का वह प्रदेश जो हमारी आँखों में छिपा रहता है वह भी उसके अस्तित्व का एक महत्वपूर्ण भाग है और यहीं पर उसके जीवन और उस जीवन के सत्य के बीच चलते सघर्ष की कुजी है।

कभी-कभी ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में सामाजिक मानव के कृत्रिम पहलू को देख पाती हूँ जो बनावट और नाटकीयता मे फँसा हुआ है, जो न सिर्फ दूसरो को वरन् स्वय को भी छलता है। अपने पर उसका कोई वश नहीं होता, क्योंकि जीवन मे अनावृत सत्य का सामना करने का साहस उसमे नहीं होता। परिस्थितियो को लेकर नहीं, अपने स्वय के मानसिक रुझानो के आगे भी आदमी लाचार है। कभी-कभी यह अनुभूति मुझे करुणा, कभी परिहास और कभी-कभी तो जुगुप्सा से भर देती है। ऐसा भी हुआ है कि मेरा मन ऐसी आशका से भर उठा है कि इस ससार मे कुछ भी आशा करने को नही है क्योकि यह ससार ही विनाश की ओर झुक रहा है। मैंने जैसे-जैसे अधिकाधिक अनुभव एकत्रित किये हैं। जीवन की चिरतन शक्ति मेरे मन मे प्रकटी है। ससार आशा, आस्था तथा प्रेम के सन्देश को पुष्ट करता है और यह भी दिखाता है कि मनु की सन्तान को अमृत की एक अक्षुण्ण निधि का आशीर्वाद प्राप्त है। वह अजेय है, अविनाशी है।

ऐसी भावनाओं और दृष्टि-चेतना ने मुझे अधिकाधिक लिखने की ओर प्रवृत्त किया है। मैंने इन विचारो को अपनी नई कहानियो मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। बाद को प्रारम्भ से ही उद्वेलित करते आते प्रश्नो से जूझने के लिए कुछ और अधिक विस्तृत वस्तु लिखने की आकाक्षा मैंने अनुभव की। यह कहा जा सकता है कि मेरी उसी आकाक्षा का परिणाम 'प्रथम प्रतिश्रुति' है।

मेरी युवावस्था के अनदेखे प्रश्नों ने लगभग यह रूप ले लिया है   जिस समाज को मानव ने ही निर्मित किया है उसी समाज की दृष्टि में आदमी और आदमी के बीच इतना अन्तर क्यों है ? हमारे समाज की बनावट में असगत असमानताएँ क्यों

हैं ? मुट्ठी-भर शक्तिशाली व्यक्तियों पर यह धुन क्यों सवार है कि वे ही इस दुनिया पर राज करें ? अकसर हमारा समाज पुराणों के अनुचित कृत्यों को सहन कर लेता है, जबकि स्त्रियों को एक मामूली-सी कमजोरी के लिए भी कडा दण्ड दिया जाता है। यह भेद-भाव क्यों हो ? जीवन के हर व्यापार में स्त्री को उसके अधिकार से क्यो वचित रखा जाये ? वे हरम के दमघोंट अँधेरे मे अपना जीवन काटें, ऐसा क्यो ?

यह स्वभाविक ही था कि मैं अपने विचार पुरुषो से अधिक स्त्रियों पर केन्द्रित करूँ। क्योकि मुझे अपना बचपन और युवावस्था रुढिवादिता के प्रतिबन्धों में बिताने पडे हैं। स्त्रियों की असहाय अवस्था और अव्यक्त पीडा ने मुझे अत्यधिक विचलित किया। इन सारे उद्‌घाटनों ने मुझे दिन पर दिन दुखित किया और मेरे मस्तिष्क मे विद्रोह और प्रतिवाद का एक विशाल पर्वत खडा कर दिया। यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'प्रथम प्रतिश्रुति' की नायिका 'सत्यवती' मेरे हृदय के उन मौन प्रतिवादो का प्रतीक है। वह ऐसी बालिका है जिसकी सजग आँखो के सामने प्रारम्भिक काल मे ही पारम्परीय सामाजिक प्रथाओं की त्रुटियाँ उद्‌घाटित हो चुकी हैं और वह तुरन्त विद्रोही प्रतिकारों में मुखर हो गयी है।

'प्रथम प्रतिश्रुति' मेरी कथात्रयी का पहला सोपान है। यद्यपि यह अपने आपमें सम्पूर्ण है किन्तु अन्य दोनो—सुवर्णलता और बकुलकथा—एक-दूसरे की पूरक हैं। इन तीन उपन्यासो के माध्यम से मैंने विगत, मध्य तथा वर्तमान कालखण्डों की तीन पीढियों के सामाजिक इतिहास को पकडने की कोशिश की है। इतिहास ने इतना ही किया कि इस ससार के उत्थानों और पतनों का, विद्रोहों-युद्धों और साम्राज्यों के उत्कर्ष तथा अवसान का लेखा-जोखा रखा। किन्तु वह इतिहास ढँके-छिपे घरों की घटनाओं का ब्योरा नहीं देता। वहाँ भी उथल-पुथल और विद्रोह होते हैं, आन्दोलन होते हैं और मुक्ति प्राप्त करने के लिए निराशोन्मत्त दुस्साहस किये जाते हैं। अन्त पुरों के जीवन मे कायापलट ला देने वाले परिवर्तन का आलेख सामाजिक उपन्यासों में ही सुरक्षित है। मेरे यह तीन उपन्यास उस सामाजिक इतिहास के कुछ चरणो को अकित करने के मेरे विनम्र प्रयत्न का ही उदाहरण हैं।

किन्तु यह सच है कि आधुनिक काल मे परिवर्तन के कारण जीर्ण-शीर्ण समाज का रूढ ढाँचा अब नहीं रह गया। स्त्रियों ने जो वैधानिक स्थिरता प्राप्त कर ली है उसके कारण अपनी असहाय अवस्था पर विजय प्राप्त कर ली है। वे बन्द दुनिया से बाहर आ गयी हैं और उन्होंने एक मजबूत आधार प्राप्त कर लिया है। मैं इसे एक दैवीय आशीर्वाद समझती हूँ कि मैं इस आधुनिक सामाजिक विकास की कम-से-कम एक गवाह तो रही हूँ। फिर भी मुक्ति की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है। आने वाली पीढी को एक धार्मिक प्रतिज्ञा की तरह इसे पूरा करना है, और देखना है कि समाज मे मानव की तरह रहने का अधिकार प्रत्येक स्त्री को मिल जाये। भविष्य के प्रबुद्ध कलाकार, लेखक तथा कवि इस प्रक्रिया के अगुवा होगे। हमारा देश उत्सुकता से उनकी पगध्वनि की प्रतीक्षा कर रहा है।
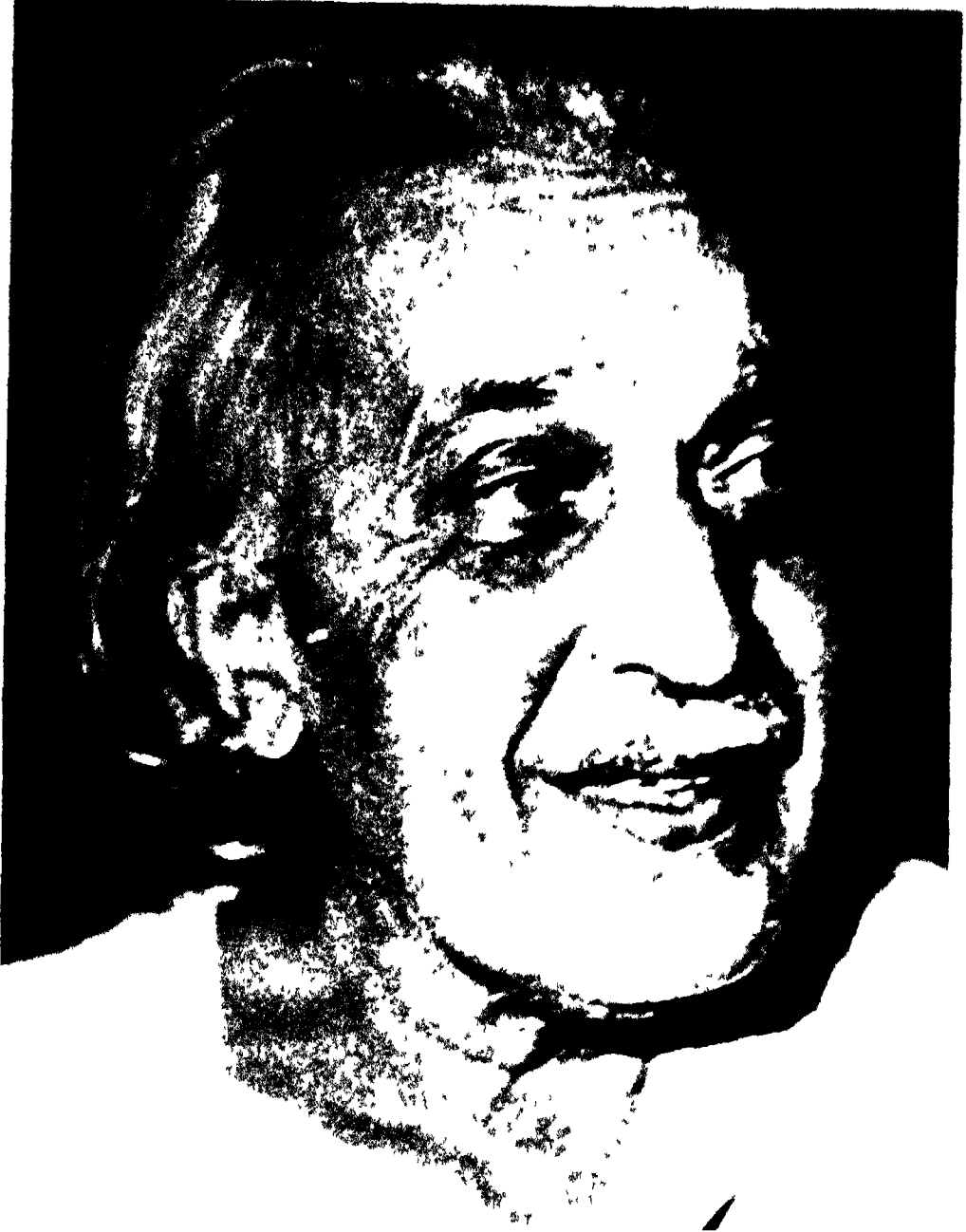
के. शिवराम कारंत

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७७ का साहित्य पुरस्कार डॉ शिवराम कारत को उनके कन्नड उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६१-७० के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओ के मर्जनात्मक साहित्य मे विधिवत् सर्वश्रष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

सत्य और सौन्दर्य क प्रबल जिज्ञासु कारतजी गाधीवादी आदर्श-प्रेरित युवा से क्रमश विकास करते हुए अनुभवसिक्त और परिबुद्ध मानवतावादी के रूप मे प्रतिष्ठित हुए हैं। जीवन को यथार्थ और सम्पूर्णता मे निरख पाने क अविराम प्रयत्न मे वे साहित्य और विज्ञान सगीत और नृत्य, चित्रकला और स्थापत्य जैसे ज्ञान और कला क विभिन्न क्षेत्रो मे अन्वीक्षण करते आये हैं। उनकी बौद्धिक कुतूहलता, कलागत सवेद्यता और सर्जनात्मक प्रतिभा ने विविध और बहुमुखी उपलब्धियाँ अर्जित की हैं जिनके अन्तर्गत शब्दकोश, विश्वकाश और यात्रावृत्तो स लेकर सगीत रूपक, निबन्ध, कहानी और एकाकी तक आते हैं और आता है नटीय कर्णाटक क अनूठे लाक-नृत्यनाट्य यक्षगान क सजीवन मे उनका यागदान।

किन्तु उनकी प्रतिभा की दीप्ति प्रकट हुई है उपन्यासकार के रूप मे। उनकी सब लगभग २०० प्रकाशित कृतियो मे ३९ उपन्यास हैं। इनमे जीवन के प्रति कारतजी का दृष्टि-भाव समाविष्ट हुआ है। इनके ही माध्यम से प्रत्यक्ष होती है उनकी व्यापक मानवीय सहानुभूति, अविचल सत्यनिष्ठा, समाजगत प्रामाणिक विचार-चिन्तना, निसर्ग के प्रति सहज श्रद्धा और प्रसादयुक्त व्यग्य-विनोदप्रियता।

पुरस्कार-जयी उपन्यास मूकज्जिय कनसुगलु एक असामान्य व्यक्तित्व, एक वृद्धा विधुरा, के चतुर्दिक सकेन्द्रित है जिसकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं सत्यनिष्ठा, अपरिसीम करुणाभाव और सौम्य सदयता। बडी विशिष्टता है इसकी अधिमानसिक शक्ति जिसके सहारे यह धर्म और जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करती है और मानवजाति की सम्पूर्ण अनुभूति को अभिव्यक्ति देती है।

अधिकाधिक समृद्ध करत रहे डॉ कारत अपने यशस्कर अवदान द्वारा भारतीय साहित्य को और मण्डित करें उनके जीवन को अधिकाधिक सुख और शान्ति।

बम्बई	अध्यक्ष	अध्यक्ष
२० जनवरी, १९७९	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

के. शिवराम कारंत

शिवराम कारत एक विशिष्ट श्रेणी के उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। साथ ही कई अन्य विषय-क्षेत्रो में भी उनका कृतित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गिना-माना जाता है। वे शब्दकोशकार और विश्वकोशकार हैं, और कर्नाटक की लोक-रग कला 'यक्षगान' के अन्यतम शोधकर्ता एव सस्कारक हैं। जहा कोशों के सन्दर्भ मे उनके ज्ञान और क्षमताओं के साथ कई पक्ष उजागर हो आये, रगकला जैसी सर्वथा साहित्येतर विषयभूमि ने उनके समर्थ नृत्य-नाटककार रूप से साक्षात्कार कराया।

इतना ही नही, कारतजी जन्मजात विद्रोही भी हैं। और विद्रोही चलते अर्थों में नहीं, अन्याय के विरुद्ध आग्रह रखने के भाव मे। वयस के साथ उनका जीवन के प्रति दृष्टिभाव नरम हो आया है, पर भीतर अग्नि-स्फुलिग बने के बने हैं और अन्याय या एकाधिकार भावना के कहीं भी दिखाई पडते ही भडक उठते हैं। अपने अनगिनत पाठकों की दृष्टि मे वे एक आदर्श पुरुष जैसे हैं स्वाधीन, निष्कपट, निर्भय, और अपने मे पूर्ण। जन-समाज एक प्रकार से उनका पुजारी है उन्होंने जितना कुछ किया है उसके लिए और इसके लिए कि वे स्वय अपने विश्वासों के धनी हैं, उनके जीवन में-समेकता है, और विगत का अस्वीकार किये बिना वे वर्तमान में जीना जानते हैं।

१० अक्तूबर, १९०२ को कोट नामक ग्राम के एक मध्यवर्गीय ब्राम्मण परिवार में जनमे शिवराम एक बहिन और आठ भाइयों में से थे। पिता शेष कारत आठ आना मासिक वेतन पर स्कूल में अध्यापक थे। बाद में वे कपडे का धन्धा करने लगे। अपने सभी बच्चों को उन्होंने स्कूल में पढाया, भले ही सारा समाज कहता रहा कि 'अँग्रेज़ी शिक्षा' ब्राम्मण सन्तान के लिए अकाक्ष्य है, अपावनकारी है।

शिवराम के मन में बचपन से ही प्रकृति के प्रति बडा आकर्षण था। इसीलिए उनका अधिकाश समय या तो गाँव के पोखर किनारे बीतता या फिर घर के पिछवाडे सागर की उन्मत्त लहरों को निहारते जाता। स्कूल की पढाई ने उन्हे कभी नहीं बाँधा। यही बडा कारण हुआ कि १९२१ में गाँधीजी की पुकार कान में पडते ही वे कॉलेज छोडकर चले आये और रचनात्मक कार्यक्रम मे लग गये। सन् १९२१ मे कॉलेज से मुक्त हुआ। तब मैंने केवल ब्रिटिश सरकार से ही सम्बन्ध नहीं छोडा, कहना चाहिए कि अपरोक्ष रूप में मुझसे कहने और

पूछने-वाले सभी से सम्बन्ध तोड लिये। मेरा ऐसा 'बे-लगाम' जीवन रहा है। पर उस पर जो बाहरी नियन्त्रण था वह 'बे' नही था। अब वह जमाना पूरी तरह बीत गया है।

शिवराम कारत सदा की नाईं प्रचलित स्कूलों के आज भी कडे आलोचक हैं। इन्हें वे क्षम्य मानते हैं तो केवल बच्चों के लिए जेलों की तुलना मे। उच्च शिक्षा के लिए भी उनके मन में कोई आदरभाव नहीं है, उनके मत से प्रचलित शिक्षा उदापूर्ति का साधन भले बनती हो, व्यक्तित्व के निर्माण का तो नहीं। आगे चलकर इस समूची शिक्षा-पद्धति के प्रति अनास्थावान कारत स्वय शिक्षाविद् बने। इस क्षेत्र मे उनके अवदान को जो मान्यता मिली उसी का यह प्रमाण है कि देश के तीन-तीन विश्वविद्यालयो ने उन्हे डी लिट् की उपाधि से विभूषित किया।

उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से बहुत पहले ही भाप लिया था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में कहाँ-कहाँ क्या कमी और दोष हैं और फिर अवसर आते ही अपनी विचार-कल्पनाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए वे स्वय पाठ्य-पुस्तके लिखने और शब्दकोशो और विश्वकोशो तक को तैयार करने मे जी-जान से जुट पडे। कोशो के निर्माण क्षेत्र मे अग्रगामी और पथ-प्रदर्शक होने का गौरव तो उन्हें मिला ही, उनकी इन रचनाओं ने यह भी प्रत्यक्ष कर दिया कि बालक और तरुण दोनों के ही मन की उन्हे कितनी सच्ची परख-पहचान है और कितनी सफलतापूर्वक वे अपने को दोनो के लिए ग्राह्य बना सकते हैं।

कारतजी के रचे बाल-साहित्य को भी यदि सम्मिलित करें तो उनकी सब कृतियों की सख्या २०० बैठेगी। उनके लेखन का प्रारम्भ नाटकों से हुआ। अनेक रूप और प्रकार के थे, पर गाँधीजी के विचारादर्शों से सप्रेरित सुधारवाद का स्वर प्राय सभी में मुखर हुआ। किन्तु आगे चलकर, जैसा एक स्थान पर कारतजी ने स्वय व्यक्त किया है, "मैंने जब इनके फलस्वरूप किसी को भी सुधरते नहीं पाया तो व्यर्थ समझकर नाटक लिखना छोड दिया।"

अच्छा भी हुआ यह। इसके बाद से फिर उन्होंने अपना ध्यान व्यक्ति मानव और उसकी स्थिति-परिस्थिति को देखने-समझने की दिशा मे सकेन्द्रित किया। इसी का प्रतिफलन हुए हैं उनके वे ३९ उपन्यास जो एक के बाद एक प्रकाश में आये और जिनसे परिलक्षित होता है कि चारों ओर के वास्तविक जीवन को उन्होंने कितनी सूक्ष्मता के साथ परखा-पहचाना था। अपने इस अवलोकन में सबसे अधिक जिस बात से वे प्रभावित हुए वह थी बडी से बडी दुखद घटनाओं के बीच भी बनी रहने वाली मनुष्य की सहज जिजीविषा। अवश्य, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हुए मूल्यों के ह्रास के प्रति उनके मन में घनी पीडा है, किन्तु फिर भी वे अडिग आशावादी हैं, क्योंकि मानव की स्वभावगत करुणा और सहानुभूति भावना मे उनकी आस्था अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है। उनकी दृष्टि मे अधिक महत्त्व इस बात का नहीं होता कि चिरन्तन सत्यो की अन्तिम क्षण तक रक्षा नहीं की गयी, बल्कि इसका होता है कि सकट की घडियों में भी उन्हे त्यागा नहीं गया।

लेखन के अपने प्रारम्भिक काल मे कारतजी ने 'झूठे देवी-देवताओं' के विरोध में आवाज उठायी थी। किन्तु समय के साथ-साथ उनका भाव यह हो चला कि परम्परा कितनी भी पुराणपन्थी क्यो न हो, उसे अपने स्थान पर बना रहने देना चाहिए यदि वह विकास मे सहायक होती हो। इस प्रकार, उपन्यासकार के रूप मे कारतजी का ध्यान जन-मानव की आस्थाओ, विचार-धारणाओं तथा उसे क्रियाशील बनानेवाली अन्यान्य भावनाओं के अध्ययन-विश्लेषण की ओर अधिक सकेन्द्रित हुआ है। उनकी मान्यता है कि आज के सन्दर्भों में जनमे हुए और जीने वाले व्यक्ति का जीवन स्वभावत सरल नही हो सकता, उसके ऊपर अनेक-अनेक भीतरी और बाहरी स्थितियों का दबाव रहता है। कारत मानवीय करुणा और सहानुभूति-भावना को मनुष्य का सहज और विशिष्ट गुण मानते हैं।

इसीलिए उनका कोई उपन्यास नहीं है जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस भावधारा के दर्शन न होते हों।

पुरस्कार-जयी उपन्यास 'मूकज्जिय कनसुगलु' में कारतजी ने अन्वेषण की एक सर्वथा नयी और विराट यात्रा-दिशा ग्रहण की है। उनका उद्देश्य पुस्तक के माध्यम से प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की मानव-सभ्यता का परिचय देना रहा है। उन्होंने इसलिए सुविधा की दृष्टि से एक ऐसी विधुरा वृद्धा की कल्पना की है जिसकी कुछ अधिमानसिक सवेदनाएँ जाग्रत हैं। वे इस कृति के द्वारा यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि ईश्वर-सम्बन्धी मनुष्य की धारणा इतिहास में निरन्तर बदलती आयी है और सेक्स जैसी जैविक प्रवृत्तियाँ इतना अनिवार्य अग है जीवन का कि 'वैराग्य धारण' के नाम से उनकी वर्जना सर्वथा अयोग्य है।

यह वृद्धा महिला, देश के प्राचीन मूल्यो के प्रतिनिधि-रूप, एक अश्वत्थ वृक्ष के तले बैठी हुई अपने पौत्र को, अर्थात् हम सभी को, दूर सुदूर अतीत का चित्र दर्शन कराती है और इस प्रकार मिथ्यात्व और छलनाओं के आवरण को उघाड देती है। प्रत्येक प्रसग मे उनका बल एक ही बात पर होता है, कि हम जीवन को, जैसा वह था और जैसा अब है, सबको एक साथ लेते हुए सम्पूर्ण रूप में देखे। उसकी सहानुभूति नागी के प्रति उमडती है जो दुखिया है और पुरुषवर्ग द्वारा सताई हुई है। आदि से अन्त तक इस उपन्यास में एक साथ दो काल-छोरों को हाथ में रखकर कारतजी ने अपना वक्तव्य मूकज्जी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

'मूकज्जी' का अर्थ है, वह अज्जी (आजी-दादी) जो मूक है। इस उपन्यास में डॉ कारत ने अस्सी वर्ष की एक ऐसी विधवा बुढिया पात्र की सृष्टि की है जिसमें वेदना सहते-सहते, मानवीय स्थितियों की विषमता देखते-बूझते, प्रकृति के विशाल खुले प्रागण में, बरसो से एक पीपल के नीचे बैठते-उठते, सब कुछ मन ही मन गुनते-गुनते एक ऐसी अद्भुत अतीन्द्रिय क्षमता जाग्रत हो गई है कि उसने प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की समस्त मानव सभ्यता के विकास को आत्मसात् कर लिया है। किन्तु, मात्र इतिहास-क्रम बताना इस उपन्यास का उद्देश्य नहीं है। इतिहास तो मूकज्जी की परा-चेतना का एक आनुषगिक अग है। वास्तव में तो यह उपन्यास अनेक क्रिया-कलापों और घटनाओं के सदर्भ में मानव-चरित्र की ऐसी छवि है जिसमें हम सब और हमारी सारी मनोवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं। मूकज्जी अपने पोते के माध्यम से इतिहास की ही ऊहापोह नहीं करती, अनेक पात्रों की जीवन-गाथा में अपनी समस्त कोमल सवेदनाओं को सम्मिलित करती है और हमे सिखाती है कि ससार की सबसे बडी शक्ति और मनुष्यता का सबसे बडा गुण है 'करुणा'। 'सिखाती है' कहने से एक भ्रामक धारणा बन सकती है कि उपन्यास का उद्देश्य नैतिक है। किन्तु व्यग्य तो यह है कि मूकज्जी सारी नैतिकताओ को चुनौती देती चलती है, और एक ऐसी वस्तुपरक यथार्थ दृष्टि प्रस्तुत करती है जो परम्परागत धारणाओं पर प्रबल प्रहार करती है। हम चौंकते हैं कि यह क्या कह दिया इस बुढिया ने। और जो कहा यह तो हमारी श्रद्धा से, हमारी धार्मिक मान्यता से, हमारी सामाजिक धारणा से, मेल नही खाता। यही 'चौंकना' हमें सिखाता है जीवन को नयी दृष्टि से देखना, सम्पूर्णतया से देखना। मूकज्जी, जिसने स्वय जीवन की वचना भोगी है, सेक्स और कामभोग के सम्बन्ध मे वाचाल हो गयी है, वैज्ञानिक हो गयी है। सच्ची ललक और सच्ची जीवन-अनुभूति के लिए मूकज्जी के दर्शन में कुछ भी वर्जित नहीं है। वर्जित है पाखण्ड, वर्जित है त्रास, वर्जित है अन्याय, वर्जित है नारी का, दीन-असहाय का दोहन। मूकज्जी कहना चाहती है कि जीवन जीने के लिए है, और जिसने जीवन को जीना नहीं जाना, समग्रता से जीना नहीं जाना, उसका तत्त्वचिन्तन, उसकी तपस्या और उसका सन्यास स्वस्थ नहीं है। नास्तिकता तो यहाँ नहीं है,

किन्तु 'अन-आस्तिकता' यदि यहाँ है तो यह निषेध की दृष्टि नहीं है, स्वीकृति की दृष्टि है।

कारतजी की एक अन्य चर्चित कृति है उनकी आत्मकथा 'पगले मन के दस चेहरे'। यह पुस्तक उन्होंने पाठकों को 'जीवन के अनेक क्षेत्रों में अपनी मानसिक साहसिकताओं का आभास देने के लिए' लिखी है।

स्वय लेखक के शब्दों में इस पुस्तक का सार यह है "मैं अपने मन को पगला क्यों कहता हूँ? इसका कारण यह नहीं कि मैं यह पागलपन नहीं चाहता बल्कि उसे मैं पसन्द करता हूँ। ऐसे पागलपन के कारण ही अनेक ऐसे साहस करके जिन्हें करना नहीं चाहिए, मुझे अपना और दुनिया का पागलपन समझ में आया है। इसके अलावा इसका एक और भी विशेष कारण है। मैं अपना सारा बचपन अपने दिशाहीन विद्यार्थी जीवन मे ही खो बैठा। जब मैंने अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया तब देशाभिमान ने अपनी ओर आकर्षित किया। मैं असहयोग आन्दोलन मे कूद पडा। विष्णु के यदि दस अवतार हैं तो मेरे ध्येय ने सोलह अवतार लिये। देशप्रेम, स्वदेशी प्रचार, व्यापार, पत्रकारिता, अध्यात्म साधना, कला के विभिन्न रूप—फोटोग्राफी, नाटक, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, सगीत, सिनेमा—इतना ही नहीं समाज-सुधार, ग्रामोद्धार, शिक्षा के नये-नये प्रयोग, उद्योग—यह सब मेरे कार्यक्षेत्र रहे। और भी नये-नये प्रयोग चल ही रहे हैं। कभी मैं एक प्रेस का मालिक भी रहा हूँ। पुस्तक लेखन से लेकर उसे छाप कर बेचने तक का काम किया है। स्वतन्त्र जीवन से लेकर सन्यास के जीवन से गुजर कर गृहस्थ भी बना हूँ। केवल अपनी खिडकी से बाहर झाँकने वालों को भले ही इन सब परिवर्तनो में कोई परस्पर सम्बन्ध न दीखे पर वास्तविकता ऐसी नही है। इस यात्रा में कोई और व्यक्ति यदि मेरे साथ होता तो उसे पता चलता कि यह सब यात्रा के अलग-अलग पडावहैं।"

कारतजी ने कला जैसे अनेक रूप और गूढ विषय पर भी सारगर्भित लेखन किया है। प्रारम्भ उन्होंने कर्णाटक कला में किया, अब विषय-क्षेत्र सम्पूर्ण-विश्वव्यापी कला हो उठा है। इस दिशा में उन्होंने गम्भीर और व्यापक अध्ययन ही नहीं किया है, लाठी और झोला लिये हुए देश-देश में घूमते फिरे हैं और काल-काल की कला कृतियों को, अपनी पारखी आँखों देखा है और समझा है। कारतजी भारतीय कला, स्थापत्य और मूर्तियों की विशिष्टता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका मूल्याकन विश्व-कलाकृतियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना उचित समझते हैं। देश में कम ही विद्वान् हैं जिन्हें कला-विषयक इतना ज्ञान हो जितना इन्हे है और इनके समान अधिकारपूर्वक बोलने और विवेचन कर सकने वाले तो प्राय नही ही हैं।

अपने कला-विषयक ज्ञान और आधिकारिकता के ही बल पर कारतजी ने यक्षगान के अन्तरग में प्रवेश करने का साहस किया। इस क्षेत्र में उनका योगदान उतने ही महत्त्व का माना जाता है जितना कथकली के क्षेत्र मे महाकवि वल्लतोल का। कारतजी ने अपने गम्भीर एव सुविस्तृत शोधो और तदनुरूप कल्पनाशक्ति के समायोग से यक्षगान कला को नये आयाम भी दिये हैं और साथ के साथ उसे अधिक व्यापक, अधिक व्यावहारिक होने योग्य भी बनाया है।

उन्होंने नौ-नौ घण्टे के मूल लोक-नाटको के स्थान पर दो-दो घण्टे के नृत्य-नाटक रखे हैं, भाषा-सीमा के परिहार मे सवादो को हटा दिया है, और विषय और दृश्यों के साथ सगीत-नृत्य की गतिलय को ऐसे मुग्धकर रूप मे एकमेक किया है कि मन पर देर-देर बाद तक प्रभाव छाया रहता है। ये नृत्यनाटक कारतजी की कला-क्षमता और सृजन-शक्ति के ही साक्ष्य नहीं हैं, उनकी आन्तरिक आधुनिकशीलता और देश के वर्तमान कला-सन्दर्भों में उनकी विचार-दृष्टि की सुसगतता के भी सूचक हो जाते हैं।

कृतियाँ

नाटक

१	कर्णार्जुन	१९२७
२	साविर मैलिय	१९२९
३	गर्भगुडि	१९३२
४	नारद गर्वभग	१९३२
५	एकाक नाटकगलु	१९३३
६	मुक्तद्वार	१९३४
७	दृष्टि सगम	१९३६
८	हेंगादरेणु	१९३७
९	विजय	१९४४
१०	गीतानाटकगलु	१९४६
११	नवीन नाटकगलु	१९४६
१२	बित्तिद बेले	१९४७
१३	ऐदु नाटकगलु	१९४७
१४	जबद जानकी	१९५४
१५	मगलारति	१९५६
१६	कीचक सैरन्ध्री	१९७०
१७	हेमन्त	१९८२
१८	जूलियस सीजर (अनु.)	१९८४

उपन्यास

१	देवदूतरु	१९२८
२	कन्याबली	१९३२
३	चोमन दुडि	१९३३
४	सरसम्मन समाधि	१९३७
५	मरलि मण्णिगे	१९४१
६	बेट्टद जीव	१९४३
७	हेत्तलातायी	१९४५
८	मुगिद युद्ध	१९४५
९	औदार्यद उरुलल्लि	१९४७
१०	सन्यासिय बदुकु	१९४८
११	कुडियर कूसु	१९५१
१२	चिगुरिद कनसु	१९५१
१३	जारुव दरियल्लि	१९५२
१४	बत्तद तोरे	१९५३
१५	गोण्डारण्य	१९५४
१६	ओड हुट्टिदवरु	१९५४
१७	समीक्षे	१९५६
१८	नम्बिदवर नाक नरक	१९५८
१९	शनीश्वरन नेरलल्लि	१९६०
२०	जगदोद्धारना	१९६०
२१	अलिद मेले	१९६०
२२	अल निराल	१९६२
२३	इद्दारु चिंते	१९६४
२४	ओंटि दानि	१९६६
२५	इन्नोंदे दारि	१९६८
२६	मूकज्जिय कनसुगलु	१९६८
२७	मैमनगल सुलियल्लि	१९७०
२८	उक्किदा नोरे	१९७०
२९	केवल मनुष्यरु	१९७१
३०	धर्मरायन ससार	१९७२
३१	कन्नडियल्लि कडात	१९७६
३२	अदे ऊरु अदे मर	१९७७
३३	मूजन्म	१९७४
३४	नवु कट्टिद स्वर्ग	१९८०
३५	गेद्द दोड्डस्टिके	१९७९
३६	नष्ट दिग्गलगगलु	
३७	अन्तिद अपरजी	१९८६
३८	इकयेम्ब	१९७५
३९	कन्निडु कणारु	

कहानी-संग्रह

१ हसिवु १९३१
२ हावु १९३१
३ तेरेय मरेयल्लि १९३६

निबन्ध-रेखाचित्र

१ ज्ञान १९३२
२ चिक्कदोड्डवरु १९४१
३ मैलु कल्लिनोंदिगे मातुकतेगलु १९४४
४ हल्लिय हत्तु समस्तरु १९४४
५ देहज्योतिगलु मत्तु प्राणिप्रबंध गलु १९४८
६ मैगल्लन दिनचरियिंद १९५१

जीवनी-आत्मजीवनी

१ हुच्चु मनस्सिन हत्तु मुखगलु १९४८
२ के के हेब्बार १९५५
३ स्मृति-पटलदिंद खड एक १९७७
४ स्मृति-पटलदिंद खड दो १९७८
५ स्मृति पटलदिन्द (तृतीय भाग) १९७३

यात्रावृत्त

१ अबुविंद बर्माक्के १९५०
२ अपूर्व पश्चिम १९५४
३ चित्रमय दक्षिण कन्नड १९३४
४ चित्रमय दक्षिण हिन्दुस्तान १९३८
५ पातालदल्लि पयण १९७२
६ पूर्वदिन्द अत्यपूर्वक्के १९८२

कला विषयक

१ भारतीय चित्रकले १९३०
२ कलेय दर्शन १९५०
३ यक्षगान बयलाटा १९५७
४ यक्षगान १९७१
५ डैन्स रिचुअल्स ऑव कर्नाटक १९६१
६ चालुक्य वास्तुशिल्प १९६९
७ कर्नाटकदल्लि चित्रकले १९७२
८ भारतीय-वास्तुशिल्प १९७५
९ कला प्रपच १९७८
१० यक्षगान १९७४
११ कर्णाटक पेंटिंग्स १९७३
१२ भारतीय शिल्प १९७५
१३ चालुक्य वास्तु शिल्प १९६९
१४ कला प्रपच (विश्व कलाएँ) १९७८

विश्वकोश-शब्दकोश-विज्ञान विषयक

१ बाल प्रपच १९३६
२ सिरिगन्नड अर्थकोश १९४१
३ विज्ञान प्रपच-१ १९५९
४ विज्ञान प्रपच-२ १९६०
५ विज्ञान प्रपच-३ १९६२
६ विज्ञान प्रपच-४ १९६४
७ गृह विज्ञान १-३ १९२९
८ कोलि साकणे १९४९
९ साउथ इडिया रिवर्स १९६१
१० विचित्र खगोल १९६५
११ नम्म भूखण्डगलु १९६७
१२ हक्किगलु १९७२

विविध

१ जीवन रहस्य १९२८
२ बालवेय बेलकु १९४५
३ प्रजाप्रभुत्वन्नु कुरितु १९४६
४ जानपद गीते १९६६
५ शिक्षण-पद्धति सार्थक-वाकालु १९६७
६ विचार साहित्य निर्माण १९६८
७ नागरिकतेय होस्तिलल्लि १९७२
८ बिडि बरहगलु १९७०

अभिभाषण के अंश

मैंने अपना अधिकतर लेखन कन्नड भाषा मे ही किया है जो मुझे परिवार और परिवेश से सहज रूप से प्राप्त थी। इसमे कुछ कठिनाई नही हुई। आप सबकी भाँति, मैं भी अपने विचार और भावनाओ को समुचित कुशलता से, अपनी मातृभाषा मे अपने इर्द-गिर्द के व्यक्तियो के सामने प्रस्तुत करने लगा। किन्तु जब, और जिस प्रकार, परिवर्तित परिवेश के अनुकूल मेरा व्यक्तित्व सधने-सवरने के क्रम मे भिन्न अस्तित्व मे ढलने लगा, तो मुझे इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पडा कि जीना और जीवन किन तत्वो से बना है। मेरे लिए यह एक गम्भीर कार्य व्यस्तता थी। इस विषय मे परम्परा से प्राप्त विचारो से मेरी सहज तुष्टि नही होती थी। मैं अपने अनुभवो पर गम्भीरता से विचार करता। और ऐसा करना, बहुधा, मेरी मान्यताओ को झकझोर देता था। अपने घर और गाँव से बाहर निकलने, अपनी उम्र के लडको के साथ खेलने-झगडने और अपनी जिज्ञासा-पूर्ति के लिये धीरे-धीरे पूरे कर्नाटक का चक्कर लगा डालने ने मेरी दृष्टि मे विशाल अन्तर ला दिया। इस अनुभव ने मुझे विषाद और हर्ष दोनो की अनुभूतियाँ दीं और दोनो प्रतीतियो ने मुझे दु ख और सुख के विषय में छान-बीन करने को प्रेरित किया। बहुत से दु ख परम्परा की अन्ध स्वीकृति से उपजी विसगति से होते हैं। प्राकृतिक विपत्तियाँ भी शोक और पीडादायक बन जाती हैं। अनेक-अनेक विचारको और उपदेशकों द्वारा बताये गये समाधान और सान्त्वनाएँ, इन समस्याओं को सुलझाने में सहायक होती दिखाई नहीं देती, क्योकि मनुष्य की भी तो अपनी सीमायें हैं। पुरखों की कही बातों की भावुक स्वीकृति भी तब उतनी ही असहाय हो जाती जितनी की अन्धी परम्पराओं द्वारा स्थापित कठोर नैतिक मान्यताओ का अनुसरण। इस सब ने मुझे भ्रमित कर दिया। इस कारण आत्म-चिन्तन मेरी विवशता बन गयी। सन्तो के वचन या शास्त्रो की उक्तियो से मुझे सन्तोष नही होता था। अत मुझे एक शिल्प और शैली को विकसित करना पडा जो नितान्त मेरी अपनी थी। इस क्रम मे भाषा को पुष्पित-पल्लवित करने मे रुचि लेने का स्थान, मुझमे उद्भूत आग और उत्साह ने ले लिया।

वर्षों के अन्तराल ने धीरे-धीरे मेरे लेखन के स्वरूप मे परिवर्तन ला दिया। प्रारम्भिक दिनों मे समस्याओ तक मेरी पहुँच एक भावुक और सुधारक के रूप मे थी जो, अधिकाँश, कल्पना पर आधारित थी, न कि मानव के मानस को समझने की रुझान पर। किन्तु जैसे-जैसे अनुभव का क्षेत्र विस्तृत हुआ, मैंने जीवन को और प्रकृति के साथ उसके उलझाव को अधिक गहराई से समझा। इस उलझाव को समझना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्य सबके साथ अपने निजी उलझाव का। पारिवारिक समस्याएँ भी उतनी ही पेचीदा थी जितनी कि बहुत-सी सामाजिक समस्याएँ। शुरू मे उन समस्याओं को मैं भावुकता के धरातल पर लेता था। किन्तु इसका स्थान आत्मपरक मनोभाव ने ले लिया, जिसमे व्यग्य का पुट था जिसे मैं भावुकता के बाद की अगली सर्वोत्तम स्थिति मानता हूँ। किन्तु जब मैंने पाया कि व्यग्य और कटाक्ष की प्रचुर मात्रा भी समाज-सुधार को लाने मे असफल हैं, तो अन्ततोगत्वा मुझे समवेदना और सह-अनुभूति की विषय-निष्ठ वास्तविकतावादी दृष्टि को अपनाना पडा।

मैंने यह भी पाया कि क्योकि मैं लेखक हूँ इसी नाते मैं किसी अन्य व्यक्ति से उत्तम नही हूँ। सब मानवीय समस्याएँ जैसी मेरी हैं, औरों की भी हैं। इसलिए, मैंने सोचा, मैं अपने लेखन का आधार

उन्हीं अनुभव-प्रतीतियों को बनाऊँगा जो खरी और सच्ची हों। ऐसे अनुभवो की अभिव्यक्ति जन-सामान्य के समक्ष सृजनात्मक कला के रूप मे व्याख्यायित करना मेरा उत्तरदायित्व है। मुझे प्रतीति होने लगी कि साहित्य जीवन को समझने का एक प्रतिफेल है। उधार लिये विचार और आदर्श मेरे निजी अनुभवो की व्याख्या करने मे सहायक नहीं होंगे। किन्तु यह आसान काम नही। पर इस पर निर्भर करता है कि किस व्यक्ति ने कितना ज्ञान अर्जित किया है। इस प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति तब ही सम्भव है, जब हम अपने विकास के छोटे से भू-खण्ड को वृहत् ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ से जोडकर देखने की बुद्धि और क्षमता रखते हो। इस ज्ञान का मर्म है भूखण्डल मे रहने-बसने वाले जीव-जन्तु और वन-वनस्पति के बीच, दृश्य-अदृश्य सम्बन्धो को हृदयगम करना। इस मार्मिक ज्ञान मे समाहित है मानव-सभ्यता की विकासकाल से लाखों-करोडों वर्ष पहले के जीवन और मनुष्य के बीच की कडी भी है।

मनुष्य के अन्य स्पन्दनशील जीवन-प्राण से भिन्न रखकर जीवन की व्याख्या नही हो सकती। पशुओ के आचरण की ओर आँख मूँद कर रहने से जीवन समुचित रूप से परिभाषित नही होता। स्वार्थ, प्रत्येक प्राणी-मात्र की अनिवार्य प्रवृत्ति है, जिसके बिना व्यक्ति जी नहीं सकता। किन्तु निजी स्वार्थ को परिवार, कबीले और जाति वर्ग से ऊपर मानना शेष प्राणियों के लिए सुख और विसगति उपजायेगा। प्रत्येक पशु-प्राण, जिसमें मानव भी सम्मिलित है, जीवित रहना चाहता है। जीवित रहने के लिए वह भोजन करता है, और विश्राम करता है। अपनी सन्तति की वृद्धि के लिए वह प्रेम करता है, ससर्ग करता है और निज का पुनर्सृजन करता है। जीवित रहने के लिए वह लडाकू बनकर अपनी रक्षा करता है। अन्त में यह सीखना होता है कि मृत्यु अश्वयम्भावी है, जो जीवन के अध्याय की इति है। यहाँ नैसर्गिक बुद्धि की महत्तवपूर्ण भूमिका है। सीखी हुई आदतें और ज्ञान, बाकी शेष के पूरक हैं। प्रेम और घृणा जोडने और तोडने की भूमिकाएँ अदा करते हैं। जीवन की उलझने इतना हतप्रभ कर देती हैं कि मुझे बहुधा लगा है कि मैं अपने अनुभवो की व्याख्या करने मे निरा बालक हूँ। किन्तु फिर भी यही अनुभव मुझे स्वान्त सुखाय लिखने को बाध्य करते रहे हैं।

अब कुछ शब्द उस उपन्यास के विषय में, जिसे ज्ञानपीठ ने सम्मानित किया है। मैंने अपने अनेक उपन्यासो मे समसामयिक समाज के सन्दर्भ मे यौन समस्या पर अपने विचारो को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। सामाजिक निषेधो की चिन्ता न करते हुए, मैंने यह समझाने की चेष्टा की है कि ये यौन-विषयक आयाम विशेष आनन्द और पीडा देते हैं। मनुष्य या पशु मे यौन भावनाओं की भूमिका एक अद्भुत नाटक है जो अस्तित्व को आश्चर्यजनक ढग से समृद्ध करती है। बाह्यस्तर पर, प्रेम, स्त्री और पुरुष का शारीरिक सयोग करता है। भावना के स्तर पर, वह उन्हे मिला भी सकता है, या विच्छिन्न करके दूर पटक सकता है। वह दूसरो मे ईर्ष्या भी उपजा सकता है। इसके शारीरिक आकर्षण वासना को उत्तेजित करते हैं और मनुष्य को घातक पशु तक बना सकते हैं। मनुष्य की कई सन्ततियों को प्रेम और प्यार की डोर मे यह बाँध सकता है। अत इसमे आश्चर्य ही क्या कि हजारो वर्षों की मानव-सभ्यता के विकास काल से यह विषय मानव समाज के ध्यान को सर्वाधिक केन्द्रित करता रहा है। मनुष्य के इस विशाल मस्तिष्क को धन्यवाद।

मेरी पुस्तक 'मूकज्जी' मे यौन के मानवीय, अतीन्द्रिय व अन्य विविध पक्षों की चर्चा है, जो हमारे अतीत इतिहास मे विकसित होते रहे गुहा-मानव से प्रारम्भ होकर वर्तमान युग तक के लम्बे इतिहास-काल को समेटती है। यहाँ चर्चा है यौन की सर्चक शक्ति की, यौन के धार्मिक प्रतीक के रूप की, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में यौन-स्थिति की। इन सबका तर्क-संगत पद्धति से विवरण है—यौन, एक सर्जक-शक्ति , यौन, एक

धार्मिक प्रतीक, यौन, देवी-देवता के रूप में, यौन, पौराणिक गाथाओं में, यौन वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मे आदि।

क्योंकि यह विषय-वस्तु हजारों वर्षों के अन्तराल के विस्तार की थी, इसलिए इसे मैंने नयी शैली से नियोजित करने का प्रयत्न किया। 'मूकज्जी' (या दादी-नानी माँ) को जो मेरे इस कार्य की प्रमुख विधात्री है, अतीन्द्रिय मनोवैज्ञानिक शक्ति प्राप्त है। इस उपन्यास की केन्द्रिय नारी मूकज्जी ब्राह्मण परिवार की बाल-विधवा है। दमित जीवन और परादृष्टि ने उसे अपने घर मे ही शास्त्रो को सुनने का पूरा अवसर दिया। उसने अपने मामा के दुष्कार्यों की चर्चा भी सुनी, जिसने एक तेली की पत्नी को दुराचार की राह पर ले जाकर, बाद मे निर्दयता से भाग्य-भरोसे छोड दिया। 'मूकज्जी' जब यौवन अवस्था मे उन्माद रोग से पीडित हुई तो सबने समझा कि उस पर भूत-प्रेत का प्रभाव है। फलस्वरूप उसे स्थानीय ओझाओ के हाथो अनेक पीडा-यातनाए सहनी पडी। उसके पश्चात् बहुत लबे समय तक उसने अपना मुँह बन्द कर लिया। किन्तु परिपक्व वृद्धावस्था मे उसमे एक छठी इन्द्रिय जागृत हो उठी, जिसने उसके समक्ष यौन के सब रहस्यों के पट खोल दिये। उसकी इस अतीन्द्रिय शक्ति ने उसे परोक्ष-चेता बनाया। यह यौन शक्ति के पूरे इतिहास की पैठ पा जाती है कि किस प्रकार इस शक्ति ने धर्म, योग, विरक्ति, काम और प्रेम के माध्यम से अभिव्यक्ति पायी। यह एक ऐसी प्रेरक सबल शक्ति है जो गौरवमय उत्कृष्ट ऊँचाइयों तक पहुँचा सकती है, और मनुष्य जाति को जघन्यतम अधोगति मे भी ढकेल सकती है।

मूकज्जी विशाल-हृदय नारी है और है बहुत स्पष्टवक्ता। इस विशेषता के कारण वह हमें परम्पराओ और प्रचलित विश्वासो के बारे में सोचने को बाध्य करती है। इस प्रयत्न मे, अन्य बहुत सी मान्यताएँ प्रश्न बनकर खडी हो जाती हैं। एक बालिका होने के नाते, वह केवल देवी के मातृरूप को मान्यता देती है किन्तु अन्य कई स्वीकृत मान्यताओ—जैसे अवतारवाद, सयास या काम के प्रति तिरस्कार-भाव पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। मनुष्य में यौन भावना के प्रति जो छद्मभाव है, इस पाखण्ड को अनावृत करती है और इस प्रकार के अनेक काम करती है।
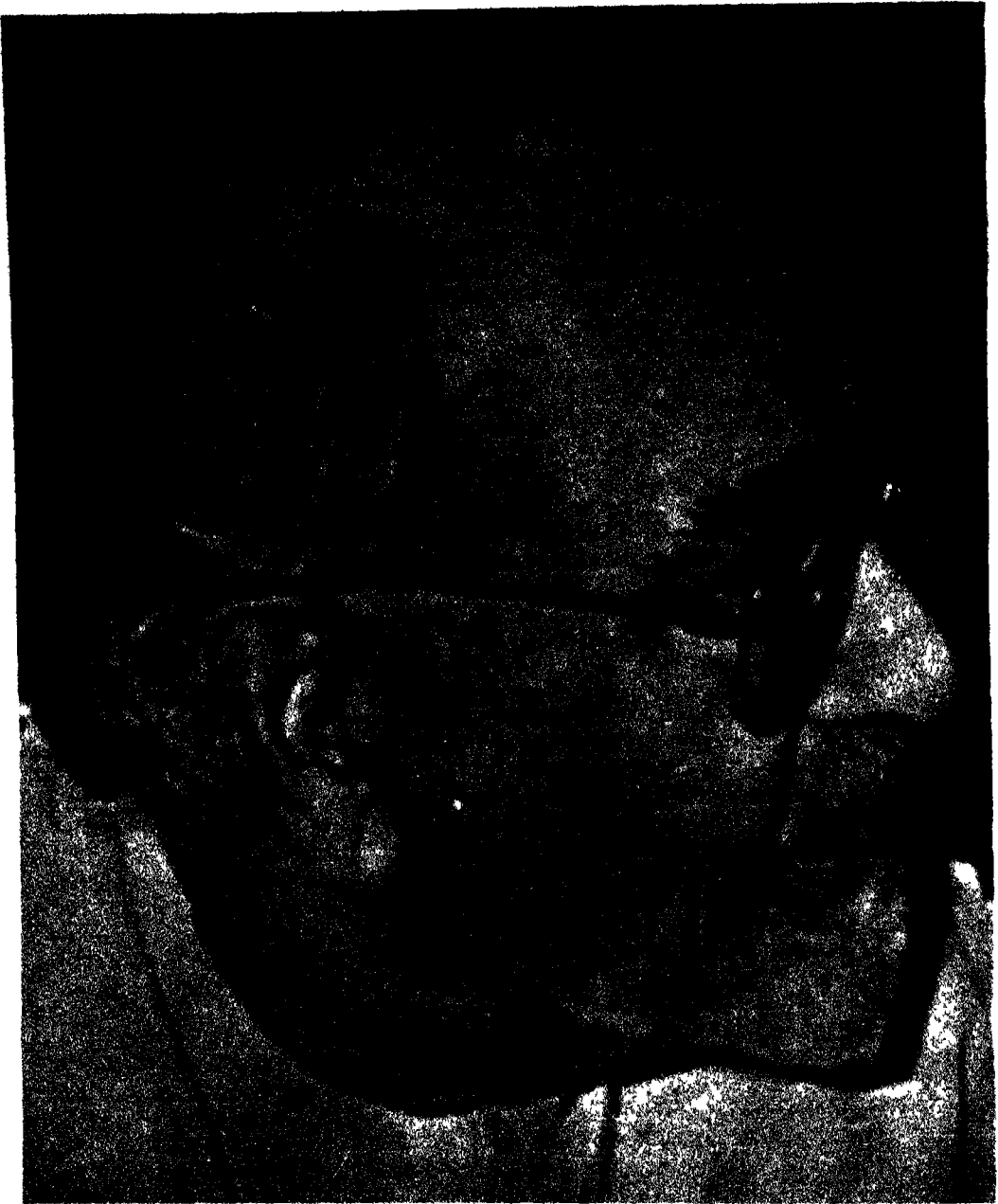
अज्ञेय

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का यह १९७८ का साहित्य पुरस्कार श्री अज्ञेय (सच्चिदानन्द वात्स्यायन) को 'कितनी नावों में कितनी बार' के लिए समर्पित किया जाता है जिसे १९६२-७१ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विविधत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

महान् साहित्य की परम्परा में अज्ञेय की कृतियाँ भी भीतर के अशान्त सागर को मथकर अन्तर्जगत् की घटना के प्रत्यक्षीकरण द्वारा जीवन, मरण, दु ख, अस्मिता, समाज, आचार, कला, सत्य आदि के अर्थ का साक्षात्कार कराती हैं। उनका सवेदन भारत की धरती में बद्धमूल रहते लगातार आधुनिक पाश्चात्य और पारम्परिक भारतीय दृष्टियों में सामजस्य खोजता रहा है। अपनी व्यथा और तर्कातीत बोध को निमित्त बनाकर वह जन-जन की व्यथा और बोध की पहचान कराते हैं। सान्द्र ऐन्द्रियता के साथ कठिन सयम का निर्वाह करते उनके ललित काव्य में धरती और मानव का उत्सव मनाते प्रेमी का उल्लास, मूल्यों का आधार खोजते चिन्तक के सन्यस्त भाव से एकप्राण रहता है। इन रचनाओं की लय पाठक को उस *'अखण्ड बह्‌मा के मौन'* के छोर तक ले जाती है *जिसमें अर्थ बसता है*, जिसमें आनन्द और विस्मय समाधि मे परिणत हो जाते हैं।

यौवन की भाव-सान्द्रता वाली कवि-दृष्टि वय के साथ धुँधला जाती है। किन्तु *अर्थ* की खोज में दिगन्तों तक पहुँचती एकाग्र दृष्टि क्रमश समर्थतर और विशदतर होती है। 'कितनी नावों में कितनी बार' एक तीर्थयात्रा का काव्य है। सचमुच कितनी बार कवि कितनी नावो में निकला है अपने सत्य के अनुसन्धान मे, जिसकी छोटी-सी ज्योति कुहासे से घिरकर भी एक झलमल प्रभामण्डल बनी रहती है।

वय का सातवाँ दशक पूरा करते हुए अज्ञेय ने कवि, उपन्यासकार, निबन्धकार, सम्पादक और आलोचक के रूप मे हिन्दी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्ति को सँवारा और लगभग आधी शती तक उसका दिग्निर्देश किया है। उनकी सर्जनात्मक सकल्पना अक्षुण्ण है। भारतीय ज्ञानपीठ की कामना है कि यह सर्जक प्रतिभा चिरायु हो।

कलकत्ता	अध्यक्ष	अध्यक्ष
२८ दिसम्बर, १९७९	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ
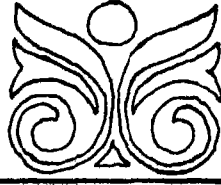
अज्ञेय

बड़े रचनाकार की एक पहिचान यह हो सकती है कि उसका कृतित्व उसके अपने युग की सवेदना से किस रूप में और कितनी दूर तक प्रतिकृत है, और यह कि उस युग की केन्द्रीय समस्या को उसने कहाँ तक लक्षित किया है। इस सन्दर्भ में यदि आधुनिक जीवन-क्रम का हम विश्लेषण करें तो पाएँगे कि समकालीन सभ्यता का गठन अधिकाधिक यन्त्र को केन्द्र में रखकर हो रहा है। यन्त्र में आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, सम्प्रेषण की नहीं। इसलिए यन्त्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक-दूसरे के सम्पर्क मे तो आ रहे हैं, पर उनमें पारस्परिक सम्प्रेषण और उससे उत्पन्न समझदारी का अभाव होता जा रहा है। यन्त्र से गति बढी है, पर प्राय अनुभावनशक्ति की कीमत पर।

यदि हम इस स्थिति पर आगे विचार करे तो पाते हैं कि गति ज्यों-ज्यों बढती जाती है—और वह उत्तरोत्तर तेज़ी से बढ़ती ही जाती है—त्यों-त्यों मनुष्य की अनुभावन क्षमता छीजती जाती है, क्योंकि स्मरण-शक्ति की ही तरह अनुभावन-शक्ति की भी अलत एक सीमा है। स्मरण-शक्ति सक्रिय रहती है विस्मरण के सहारे। नयी घटनाओं को याद रखने के लिए हम पुरानी को भूलते जाते हैं। पर अनुभव तो क्रमश व्यक्तित्व का अग बन जाता है जिसे काट कर निकाला नहीं जा सकता। मानवीय अनुभवों को सँजो कर रखने के लिए भावात्मक अतराल चाहिए जैसे आधुनिक महानगरों के आबादी-क्षेत्रो के बीच हरित पट्टियाँ छोड दी जाती हैं। ये अतराल कैसे बने, और बने रहें, यह इस शताब्दी के लिए और आगे के लिए भी एक विषम समस्या है। कला-रचनाओं को इस अतराल मे उगना है, और मनुष्य का मनुष्य से सम्पर्क एक सीमा के बाद बचाए रहना है। या कि अपने माध्यम से उन्हे जोडना है।

राजनीति, यन्त्र और सचार-साधनों की साँठ-गाँठ के इस युग में हमें इस रूप में विकास करना है जिससे मनुष्य की अनुभूति और उसके व्यक्तित्व का क्षरण न हो। प्रविधि और यात्रिकी के खतरों का चित्रण ऑल्डस हक्सले की प्रसिद्ध कथा-कृति 'द ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में हुआ है, और सर्वसत्तावादी राजनीतिक पद्धति का ऑरवैल की रचना 'ऐनीमल फार्म' में, जहाँ सब बराबर हैं, पर कुछ लोग 'अधिक बराबर' हैं। मानवीय व्यक्तित्व इन दोनों व्यवस्थाओं में आहत और क्षरित होता

है। इन विषमताओं से बचने का उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य न तो यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य से ही। नये समाज और ससार की यह केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिए।

आधुनिक साहित्य में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की ऐसी गहरी और सार्थक चिंतना स ही वात्स्यायन 'अज्ञेय' के कृतित्व में मिलती है। समकालीन जीवन के जिन खतरों की ओर अभी सकेत किया गया, उनसे उबरने के लिए मनुष्य के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए विकसित करना ही, पुरानी शब्दावली में, आधुनिक जीवन का सबसे बडा पुरुषार्थ है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व मूलत स्वाधीन होगा, और स्वाधीन होकर ही दायित्त्व का अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए महायुद्ध में फासिस्टों के विरूद्ध न्याय के पक्ष का समर्थन करने में दायित्त्व स्वीकार के लिए गाँधी ने भारतीय स्वाधीनता को पहली शर्त माना था। अज्ञेय ने अपने कृत्तित्व में बुनियादी तौर पर मानव व्यक्तित्व की इस स्वाधीनता, सर्जनात्मकता और दायित्व को सूक्ष्म और प्रभावी रूप में अकित किया है। उनके काव्य, कथा-साहित्य, यात्रा-वृत्त, समीक्षा में यही मौलिक दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है। विभिन्न रचना-माध्यमों में यह दृष्टि-गत एकनिष्ठता बडे लेखन की एक और पहिचान कही जा सकती है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जयशकर प्रसाद जिसके पूर्ववर्त्ती उदाहरण हैं। जैसा सकेत किया गया, यत्र में आकृति और प्रसार की क्षमता है, पर सर्जन की शक्ति वहाँ नहीं। सर्जन व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में ही सभव है—

यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया। ('भीतर जागा दाता')

अनुभव अद्वितीय सभव हो पाता है, क्योंकि अज्ञेय के अनुसार "ईश्वर ने मानव के रूप में अपनी प्रतिमा का निर्माण किया। कुशल शिल्पी होने के नाते उसने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनाई, भिन्न होने के कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम कर सकीं।" ('आत्मनेपद' एकात साक्षात्कार)और प्रेम तथा उसकी वेदना में ही जैविक सृष्टि तथा कलात्मक सर्जन दोनों की प्रक्रिया गतिशील होती है। अज्ञेय की पक्तियाँ हैं—

एक क्षण-भर और
लबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोडता चट्टान को।
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता-रूप को परुते ('सर्जना के क्षण')

इस तरह कवि के यहाँ अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्तित्व (कोरा व्यक्ति नहीं) का वैशिष्ट्य और सर्जनात्मक क्षमता—मानवीय अस्तित्व और उसकी सार्थकता के यही मूल उपादान हैं। मृत्यु के अस्तित्ववादी आतक और तज्जन्य अनर्थकता से सर्जनात्मक होकर ही उबरा जा सकता है।

अज्ञेय के कृतित्व से यह आधारभूत वस्तु अपने विभिन्न पक्षों और सन्दर्भों में अकित हुई है। विडम्बना यह है कि मृत्यु के अस्तित्ववादी आतक के समक्ष भारतीय जीवनप्रियता की मूल वस्तु को प्रतिपादित करने के बावजूद अज्ञेय को समकालीन समीक्षा मे आँख मूँद कर 'अस्तित्ववादी' घोषित किया जाता रहता है। कुछ वैसे ही जैसे छायावाद के आरभिक दिनों में उसे १९वीं शती के अँग्रेजी रोमान्टिक काव्य की अनुकृति समझा जाता था। यह सही है कि अस्तित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पाई हो, पर अपने उत्तरकालीन कृतित्व के आरम्भ से ही लेखक का यत्न रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से भिन्न और अधिक सगत दृष्टि विकसित की जाए। 'आँगन के पार द्वार' सकलन की कविताएँ, 'अपने-अपने अजनबी' शीर्षक उपन्यास, तथा 'एक बूँद सहसा उछली' शीर्षक यात्रावृत्त और 'जर्नल'—१९६०-६१ में प्रकाशित इन तीनों कृतियों में माध्यमगत भिन्नता

के बावजूद जीवन-प्रियता की मूल वस्तु अभिव्यक्त हुई है, और तीनों रचनाओं में आस्था-आस्तिकता का एक सर्वथा नया स्तर उभरा है। यहाँ ईश्वर का भी साक्षात्कार सर्जन के रूप में होता है। 'अपने-अपने अजनबी' में सेल्मा की मृत्यु होने पर योके सोचती है—"ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है—उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है"—यह महत्त्वपूर्ण उपपत्ति समूची रचना के केन्द्र मे है। अज्ञेय के इस चिंतन में जीवनप्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था—विशेषत यूरोप के 'पिएर कूवीर' मठ की प्रेरणा और जापान की जेन पद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है। और बाह्य प्रभावो को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए तो लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' की भूमिका में उसने कहा है, "प्रस्तुत सग्रह मे अनुवादों को छोडकर अन्य कविताओ में भी पूर्व के (और पश्चिम के भी क्यो नहीं?) प्रभाव मिलेगे, लेखक सभी का स्वीकारी है बद घर मे प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशा से आता है—पर खुले आकाश में वह सभी ओर से समाया रहता है, इसी मे उसका आकाशत्व है।"

ऐसे सश्लिष्ट व्यक्तित्व से अज्ञेय ने पश्चिमी मृत्यु के आतक को भारतीय जीवन-प्रियता और आस्था के सहारे अतिक्रमित करना चाहा है। इससे उनके कृतित्व का महत्त्वाकाक्षी रूप ही प्रमाणित होता है, जिसने आधुनिक सन्दर्भों मे भारतीय रचना-परम्परा को समृद्ध किया है। सृजन के इस रहस्य की आत्मदान के रूप मे व्याख्या रचनाकार ने 'आँगन के पार द्वार' मे सकलित लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' में की है, जो अपने विधान मे निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का स्मरण दिलाती है। दोनों कविताओं में शक्ति और सृजन को अतर और बाह्य की टकराहट मे देखने का यत्न किया गया है। 'शक्ति पूजा' के अत में है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के वन्दन में हुई लीन।

और 'असाध्य वीणा' को साधने वाला केशकबली अन्त मे कहता है—

"श्रेय नहीं कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वय शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी "

'अपने' और 'सब कुछ की तथता' का यह अद्वैत निराला और अज्ञेय को गहरे सवेदनात्मक स्तर पर जोडता है। आत्मदान के माध्यम से 'शक्तिपूजा' के राम शक्ति साधन करते हैं, और आत्मदान के ही माध्यम से 'असाध्य वीणा' का कलावत वीणा को साधता है। यही शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार है। निराला ने अपने लिए कथानक बगाल में प्रचलित राम-कथा से चुना, अज्ञेय ने एक जापानी लोक-कथा से। अलग-अलग देश-काल मे ढली मूर्तियो को इन कलाकारों ने सहज पत्थर मान कर उसके खडों से फिर नयी रचना की।

अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या मे भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभूति है। सर्जनात्मकता की समस्या से सतत जूझने वाले रचनाकार के लिए यह उचित है कि वह भाषिक सर्जन की क्षमता को गहरे ढग से समझे। अज्ञेय की कई प्रसिद्ध कविताओं में भाषा और अनुभूति के अद्वैत को व्याख्यायित करने का यत्न हुआ है। 'कलमी बाजरे में', 'शब्द और सत्य', 'जितना तुम्हारा सच है' जैसी कविताओं की मूल वस्तु सर्जन और भाषा का अन्तर-सम्बन्ध है। अज्ञेय ने एक जगह लिखा है, "मैं उन व्यक्तियों में से हूँ—और ऐसे व्यक्तियों की सख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि मानते हैं।" ('आत्मनेपद', पृ २४०) यहाँ 'अच्छी भाषा' का अर्थ अलकृत या चमकदार भाषा नहीं है, वरन् 'अच्छी भाषा' की अच्छाई इसी

में है कि वह भाषा और अनुभूति के अद्वैत को स्थापित करे। अज्ञेय की काव्यभाषा उनकी इस मान्यता का समर्थन करती है। भाषा की अनेक भंगिमाओं को निखारते-निखारते उन्होंने भाषा का सबसे प्रभावी रूप 'मौन' के स्तर पर अनुभव किया है। पर इस मौन से शैथिल्य नहीं, तनाव व्यजित होता है, ऐसा तनाव जो कलाकृति को सहारता है–

तू काव्य
सदा-वैष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भारहीन, गुरु
अव्यय।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अघ्रात
अनूठा होता जाता है। ('चक्रात शीला')

यह काव्य द्वारा 'छला जाना' सम्भव हो पाता है, क्योंकि वह 'सदा-वेष्टित', 'चिर-तनित' है, और रचना का यह तनाव भाषिक द्वन्द्व की विकासमान अर्थ-प्रक्रिया से बनता है। इसलिए कवि के अनुसार–

मौन भी अभिव्यजना है
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो। ('जितना तुम्हारा सच है')

अज्ञेय के सन्दर्भ में यह 'मौन' मितकथन है, कहने और कहने के बीच अनकहना है, तथा और गहरे स्तर पर आत्मदान का भाव है, जहा बोलना मानो आक्रमण है, मौन ही अपने को दे देना है। समकालीन समीक्षा की यह एक विकट विडम्बना है कि आत्मदान के लिए प्रतिश्रुत अज्ञेय को 'व्यक्तिवादी' कहा जाता रहा है। समीक्षा के इस रूप में 'व्यक्ति' और 'व्यक्तित्व' के बीच विवेक नहीं किया गया।

अज्ञेय का सक्षिप्त जीवन-वृत्त–प्रमुखत विद्यानिवास मिश्र के साक्ष्य पर–इस प्रकार है सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म फाल्गुन शुक्ल सप्तमी सम्वत् १९६७ (विक्रमाब्द), तदनुसार ७ मार्च, १९११ को कुशीनगर (उत्तर प्रदेश) के खुदाई शिविर में हुआ। पिता प हीरानद शास्त्री भारत के पुरातत्त्व विभाग में प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ थे, और भारत के पुरातत्त्व विभाग की नींव डालने वाले भारतीय पडितों में उनका अपना स्थान है। वे बडे स्वाभिमानी और प्रबुद्ध पडित थे। कठोर अनुशासन में विश्वास करते थे, पर साथ ही अपनी प्रत्येक सन्तान की प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से प्रस्फुटित होने का उन्होंने अवसर दिया। माँ का नाम व्यन्ती देवी था। इनसे बडे दो भाई ब्रह्मानन्द और जीवानन्द, और सब से बडी बहिन थीं। उन का नाम स्वभाव इनसे मिलता है। नाम शीलवती और यदि किसी का सबसे अधिक प्रभाव है इन पर तो बडी बहिन का ही है। ये बहिन इनकी कवच थीं। बचपन में जितने ये हठीले थे, उतनी ही अपनी सचाई के लिए वे हठीली थीं। बचपन पिता की नौकरी के चक्कर के साथ कई स्थानों की परिक्रमा में बीता। कुशीनगर में जन्म, फिर लखनऊ, श्रीनगर-जम्मू घूमते-घामते परिवार १९१९ ई में नालदा पहुँचा। वहाँ पिता ने हिन्दी लिखाना शुरू किया। इस के बाद १९२१ में परिवार उदकमण्डलम् (अँग्रेजी उटकमड या ऊटी) गया, पिता ने इनका यज्ञोपवीत कराया और वात्स्यायन का कुल नाम दिया। घर पर ही भाषा साहित्य, इतिहास और विज्ञान की आरभिक पढाई शुरू हुई और साथ ही साथ लिखाई भी। १९२५ में इन्होंने मैट्रिक की प्राइवेट परीक्षा पजाब यूनिवर्सिटी से दी, और इसके बाद दो वर्ष मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में एव तीन वर्ष फॉर्मन कॉलेज, लाहौर में सस्थागत शिक्षा पाई। वहीं बी एस-सी और अँग्रेजी में एक वर्ष एम ए का पूरा किया। इसी बीच भगतसिंह के क्रान्तिकारी दल में चले गए और १९३० में गिरफ्तार हुए। छह वर्ष जेल और नजरबन्दी भोग कर १९३६ में कुछ दिनों तक आगरा के प्रसिद्ध पत्र 'सैनिक' के सम्पादक-मडल में रहे, फिर मेरठ के किसान आन्दोलन में काम किया। १९३७-३९ में 'विशाल भारत' (कलकत्ता)

के सम्पादकीय विभाग में रहे। कुछ दिनों तक ऑल इंडिया रेडियो में रह कर १९४३ में सैन्य सेवा में प्रविष्ट हुए, पूर्वी मोर्चे पर रहे। १९४६ में सैन्य सेवा से मुक्त होकर ये शुद्ध रूप से साहित्य-सेवा में लगे। मेरठ और उसके बाद इलाहाबाद और अन्त में दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया। 'प्रतीक'—पहले द्वैमासिक, फिर मासिक का सम्पादन किया १९४७ ई से। 'प्रतीक' ने हिन्दी के आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों को सशक्त मच दिया, और साहित्यिक पत्रकारिता का नया इतिहास रचा। १९५२ से १९५५ के बीच देश की यात्रा, और १९५५ से १९६१ तक देशान्तरों की यात्रा के दौर चले, कुछ यात्राएँ अध्ययन के निमित्त और कुछ अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन के निमित्त हुईं। १९६५ से १९६८ तक साप्ताहिक 'दिनमान' के सम्पादक रहे। फिर कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में भारतीय साहित्य और सस्कृति के अध्ययन को निर्देशन दिया। १९७१ में जोधपुर विश्वविद्यालय ने तुलनात्मक साहित्य के आचार्य-पीठ पर इन्हें बुलाया। १९७२ में जयप्रकाश नारायण के आग्रह पर अँग्रेजी साप्ताहिक 'ऐवरीमैन्स' का सम्पादन-कार्य सँभाला, पर १९७३ में उससे अलग हो गए। 'प्रतीक' को नया नाम 'नया प्रतीक' देकर १९७३ से निकालना शुरू किया और अपना अधिक समय लेखन को देने लगे। इस अवधि में देश-विदेश में अनेक व्याख्यान दिए। इन व्याख्यानों का सम्बन्ध अधिकतर-भारतीय अस्मिता, भारतीय चेतना और भाषा-सम्प्रेषण के प्रश्नों से था। इस अवधि में वैचारिक गद्य की रचना अधिक हुई। १९७७ में जर्मनी-यात्रा से लौटकर दैनिक पत्र 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादन का भार सँभाला। अगस्त १९७९ में वहाँ से अवकाश ग्रहण किया। १९६८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य वाचस्पति' की और १९७१ में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने डी लिट् की मानद उपाधि से विभूषित किया। १४वाँ ज्ञानपीठ पुरस्कार १९७९ में मिला। (यह वृत पुरस्कार-समारोह के अवसर पर प्रकाशित पुस्तिका के आधार पर।)

प्रखर भौगोलिक तथा व्यावसायिक यायावर-वृत्ति के बावजूद सन्तोष, कपिला मल्लिक तथा इला डालमिया के साथ कुछेक वर्षों के अन्तराल पर दाम्पत्य जीवन व्यतीत किया। घर की तलाश उत्तरोत्तर तीव्र होती गई। १९८७ में मृत्यु (४ अप्रैल) के कई दिन पूर्व 'कैवेंटर्स ईस्ट' (नयी दिल्ली) के अहाते में एक वृक्ष-घर का निर्माण पूरा हुआ, जिस में गृह-प्रवेश का आयोजन उसी दिन प्रस्तावित था जिस दिन स्थपति नहीं रहा। अन्तिम कविताओं में से एक जैसे कवि का समाधि-लेख बन गई—

मैं सभी ओर से खुला हूँ
वन-सा, वन-सा अपने में बन्द हूँ
शब्द में मेरी समाई नहीं होगी
मैं सन्नाटे का छन्द हूँ।

एक निगाह में समझा जा सकता है कि परिस्थिति तथा अनुभवगत वैविध्य की दृष्टि से यह कैसा समृद्ध जीवन-वृत्त है, जो न जाने कितने रूपों में पक कर रचना में उतरता है। यहाँ रोचक लगता है यह याद करना कि अपने रचना काल के आरम्भिक वर्षों में अज्ञेय ने एलियट के प्रसिद्ध निबन्ध का भावानुवाद 'रूढि और मौलिकता' शीर्षक से किया था ('त्रिशकु' में सकलित), और वहाँ से लेकर इस उक्ति को "कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचनेवाली मनीषा का पृथकत्व स्पष्ट होगा" जैसे अपनी रचना का एक निर्देशक सिद्धान्त घोषित किया। एलियट के अन्यथा निर्देशों के बावजूद पिछले वर्षों मे उनकी कई सागोपाग जीवनियाँ लिखी गईं हैं। इन जीवनीकारों ने बार-बार लक्षित किया है कि एलियट का यह सिद्धात उनके अपने रचना-क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, अर्थात् उनका जीवन-वृत्त उनके कृतित्व में अनेक रूपों में आता है। ठीक यही बात अज्ञेय के बारे में कही जा सकती है। कवि के साथ-साथ कथाकार होने के नाते अज्ञेय में यह सम्भावना एलियट से कुछ

अधिक ही बनती है, और अनेक स्थलों पर चरितार्थ भी हुई है। अपनी घोषित वृत्ति में आत्मकथात्मक होने के कारण यह प्रवृत्ति 'शेखर एक जीवनी' में सर्वाधिक है, जो फिर 'नदी के द्वीप' में आगे जारी रहती है। कविताओं–कहानियों में यह स्पष्ट ही स्फुट रूप में है। और ऐसा होना किसी रचनाकार के लिए साहित्यिक सकोच का कारण नहीं माना जा सकता। जीवन-वृत्त और सामाजिक परिवेश दोनों रचना में उतरते और व्यक्त होते हैं, पर रचना-जगत के तर्क पर, न कि सीधे–सीधे सासारिक इतिवृत्त के तौर पर। कुल मिला कर इस प्रसग में लगता यह है कि एलियट की तरह अज्ञेय ने भी अपने पाठक-वर्ग को झुठलाया है रचनाकार व्यक्तित्व और भोक्ता व्यक्ति के अलगाव को लेकर। इस स्तर पर ये दोनों—और ये दोनों ही क्यों अन्य भी—अपने वक्तव्यों में बडे मायावी लेखक हैं। यह भी शायद किसी कदर बडे लेखक की एक और पाहेचान कही जा सकती है।

अज्ञेय का झुकाव अपने उत्तरकालीन लेखन में देसीपन की ओर अधिक हुआ है। उत्तर अज्ञेय के इस मुख्य रचना-ससार में देसीपन से अभिप्राय महज देशज शब्दावली से नहीं है। यहाँ देसीपन कवि के समूचे दृष्टिकोण में निहित है, जो शब्द-समूह, विषय-वस्तु और उसकी बुनियादी सहानुभूति में प्रतिफलित होता है। 'नदी की बाँक पर छाया' की एक छोटी कविता है 'पडिज्जी'—

> अरे भैया, पडिज्जी ने पोथी बन्द कर दी है।
> पडिज्जी ने चश्मा उतार लिया है
> पडिज्जी ने आँखें मूँद ली हैं
> पडिज्जी चुप-से हो गये हैं।
> भैया, इस समय
> पडिज्जी
> फकत आदमी हैं।

यहाँ 'पडिज्जी' शब्द-प्रयोग के उच्चारण-रूप से लेकर कविता में अतर्निहित भाव-बोध और दार्शनिक स्तर के सहज कौतूहल और कौतुक में भी आम आदमी का चरित्र उभरता दिखता है। तब समझ में आता है कि अज्ञेय के उत्तर काव्य में 'फकत आदमी' का चित्रण फकत भाषा में करने का कैसा सघन प्रयास हुआ है। यहाँ अज्ञेय ने 'पोथी बन्द कर दी', 'चश्मा उतार लिया है', 'आँखें मूँद ली हैं', 'वे चुप हो गये हैं', 'और इस समय फकत आदमी हैं'।

उत्तरकालीन जीवन में अज्ञेय का सम्पर्क समाचार-पत्रकारिता के साथ काफी रहा साप्ताहिक 'दिनमान' और 'दैनिक नवभारत टाइम्स' के वे सम्पादक थे। इस सम्पर्क को लेकर उनकी कविता में और उत्तरकाल में सर्जनात्मक लेखन के क्षेत्र में उन्होंने काव्य रचना ही विशेष रूप से की है—अखबार का गुणात्मक प्रभाव आता है, और अन्त तक बना रहता है। अज्ञेय के उत्तर-काव्य में परिवर्त्तन कई तरह के हुए हैं। एक ओर देश-दशा पर उनकी कविताओं की सख्या क्रमश बढती जाती है, दूसरी ओर सामान्य घर और घरेलू जीवन के विविध उपकरण उनके लिए अधिकतर उपजीव्य बनते गए हैं। इनके साथ-साथ उन की कविता की भाषा, उसकी मुद्रा और लय में देसीपन घर करता जाता है। बोलचाल की घरेलू भाषा पर आग्रह उनके यहाँ पहले भी था, पर अब वह आग्रह धीरे-धीरे काव्य-प्रक्रिया का अग बन गया है। रचना के ये तीनों पक्ष स्पष्ट ही एक गहरे स्तर पर परस्पर सम्बद्ध हैं, और एक दूसरे को गुणात्मक रूप में प्रभावित करते रहे हैं। 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (१९७०) से लेकर 'ऐसा कोई घर आपने देखा है' (१९८६)—जिसे समग्र रूप में अज्ञेय का उत्तर-काव्य कहा गया है—में देसी की यह प्रतिष्ठा क्रमश बढती गई है। इस गुणात्मक परिवर्त्तन के पीछे किसी सीमा तक कवि के समाचार-पत्रकारिता से सम्पर्क को देखा जा सकता है।

अपने परिवेश से प्रतिकृत होकर यों बराबर सीखते जाना कालजयी लेखक की अतिम पहिचान कही जा सकती है, जिस प्रसग में अब तक निराला का नाम सबसे ऊपर आता है।

कृतियाँ

अज्ञेय (१९११-१९८७) की रचनाओं का काल-क्रम

कविता भग्नदूत (१९३३) चिंता (१९४२), इत्यलम् (१९४६), हरी घास पर क्षण भर (१९४९), बावरा अहेरी (१९५४), इद्रधनु रौंदे हुए ये (१९५७), अरी ओ करुणा प्रभामय (१९५९), आँगन के पार द्वार (१९६१), *कितनी नावों में कितनी बार* (१९६७), *क्योंकि मैं उसे जानता हूँ* (१९७०), सागर-मुद्रा (१९७०), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (१९७४), महावृक्ष के नीचे (१९७७), नदी की बाँक पर छाया (१९८१), ऐसा कोई घर आपने देखा है (१९८६), प्रिजन डेज एड अदर पोएम्स (अँग्रेजी में १९४६)

उपन्यास शेखर एक जीवनी, भाग १ (१९४१)– भाग २ (१९४४), नदी के द्वीप (१९५१), अपने-अपने अजनबी (१९६१)।

कहानियाँ विपथगा (१९३७), परम्परा (१९४४), कोठरी की बात (१९४५), शरणार्थी (१९४८), जयदोल (१९५१), अमरवल्लरी (१९५४), ये तेरे प्रतिरूप (१९६१), अज्ञेय की कहानियाँ, भाग-१ (१९५५), भाग २ (१९५७), भाग-३ (१९६०), भाग-४ (१९६५)।

सस्मरण स्मृति-लेखा (१९८२)

यात्रा-वृत्त अरे यायावर रहेगा याद? (१९५३), एक बूँद सहसा उछली (१९६०)।

नाटक उत्तर प्रियदर्शी (१९६७)

निबन्ध-आलोचना- व्याख्यान सब रग ('कुट्टिचातन्' नाम से १९५६), सब रग और कुछ राग (१९७०), कहाँ है द्वारका (१९८२), छाया का जगल (१९८५), त्रिशकु (१९४५), आत्मनेपद (१९६०), हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य (१९६७), आलवल (१९७१), लिखि कागद कोरे (१९७२), अद्यतन (१९७७), जोग लिखी (१९७७), सवत्सर (१९६८), स्रोत और सेतु (१९७८), व्यक्ति और व्यवस्था (१९७९), अपरोक्ष (१९७९) युग-सधियों पर (१९८१), कवि-दृष्टि (१९८३), स्मृति के परिदृश्य (१९८७)।

डायरी-जर्नल भवन्ती (१९७२), अन्तरा (१९७५), शाश्वती (१९७९)।

अनुवाद श्रीकात (मूल-शरच्चद्र चट्टोपाध्याय अँग्रेजी में–१९४४), द रेजिग्नेशन (जैनेन्द कुमार के 'त्यागपत्र' का अँग्रेजी रूपान्तर–१९४६), 'दसन्स लास्ट हॉर्स' (धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोडा') का अनुवाद।

सम्पादित ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४२), तारसप्तक (१९४३), दूसरा सप्तक (१९५१), तीसरा सप्तक (१९५९), चौथा सप्तक (१९७९), पुष्कारिणी भाग-२ (१९५३), पुष्कारिणी सम्पूर्ण (१९५९), नये एकाकी (१९५२), नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ। (सयुक्त रूप से १९४९), हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ (१९५२), रूपाम्बरा (हिन्दी प्रकृति-काव्य का सकलन १९६०)।

संकलन आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय (सम्पादक-विद्यानिवास मिश्र १९६३), सुनहले शैवाल (१९६५), पूर्वा (१९५० तक की कविताएँ १९६५), सर्जना के क्षण (१९७९), सदानीरा (अज्ञेय का सम्पूर्ण काव्य, दो भागों में १९८६)।

अभिभाषण के अंश

आज का भारतीय भाषाओं का लेखक जिन कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों में साहित्य रचना करता है, वैसी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना किसी युग में किसी देश के साहित्यकार को नही करना पड़ा होगा। फिर भी वह अडिग निष्ठा से अपना काम करता है, इस का जितना श्रेय स्वय उसकी सकल्प-शक्ति को है, उतना ही उन गुरुजनों की दृष्टि को, अस्मिता की जडो की उनकी अचूक पहचान को है, जिसने भारत के लोक-मानस को न केवल गूँगा हो जाने से बचाया ही बल्कि उसके लिए आत्म-प्रकाशन का एक पुन सस्कृत, तेज पूत माध्यम भी प्रस्तुत किया।

यह ऋण कितना बडा है इसकी ओर साधारणतया हमारा ध्यान नहीं जाता, जैसे कि हम साधारणतया अपने चेहरो मे अपने पितरों की आकृतियाँ नहीं पहचानते। व्यक्तिगत रूप से मैं अपने गुरु-स्थानीय स्व मैथिलीशरण गुप्त की स्मृति को, और उनके निमित्त से औरों को भी, जिनके नाम अभी नहीं गिनाऊँगा, प्रणाम करता हूँ। पर भारतीय भाषाओं मे लिखने वाले मेरे कितने समकालीनों की स्मृतियो में ऐसे कितने प्रेरणा-स्रोतों की छवि उभरती होगी जिनके कारण ही उनका लिखना और लिखते रहना सम्भव हुआ, जो आज होते तो इस बात पर गर्व करते कि जो सम्मान स्वय उन्हें नहीं मिले, वे जिन्हें मिल रहे हैं उनके निर्माण में उनका भी योग रहा और उन समकालीनों में कई ऐसे भी होंगे जो उस सम्मान के कम से कम उतने ही पात्र हैं जितना मैं इस सम्मान का जो आज मुझे दिया जा रहा है, इसका तीखा बोध मुझे है। यह पुरस्कार-नियमावली से उत्पन्न एक सयोग ही है कि पुरस्कार मुझे दिया जा रहा है, इसे स्वीकार करते समय मैं उनका भी मानस अभिवन्दन करता हूँ। यह पुरस्कार मेरा नहीं, उस बिरादरी का है जिसमें मेरे अग्रज भी हैं, इसी भाव से मैं इसे ग्रहण करता हूँ, इसी भाव से इसका उपयोग कर सकूँ इसके लिए मैं उनका आशीर्वाद चाहूँगा।

पुरस्कार-आयोजन के लिए मैं आभारी हूँ, पर यह असत्य होगा यदि मैं यह भी न कहूँ कि इसे लेकर मेरे मन में एक द्वैध भी है। यह तो है ही कि देश और प्रदेश की (और क्यो नहीं इस नगर की भी ?) वर्तमान स्थिति मे ऐसे समारोह सन्दर्भहीन जान पडते हैं। पर उससे अलग भी एक शका मन में उठती है। अनुपार्जित धन विकृति पैदा करने वाला होता है, इसका प्रमाण हम चारों ओर देख सकते हैं—ठीक इन दिनों तो ज्वलन्त रूप में, जबकि देश के राजनैतिक जीवन की दिशा निर्धारित करने वाली प्रबल शक्ति के रूप में सर्वत्र अनुपार्जित धन का ही खेल दीख रहा है। तो यह जो पुरस्कार की राशि मुझे मिली है, यह क्या उपार्जित धन है? पचास वर्ष से मैं लिख रहा हूँ, आगे भी अपने लिए विश्राम नही देखता, न चाहता हूँ, फिर भी यह क्या मेरा उपार्जन है, मेरा भोग्य है? 'तेन त्यक्तेन भुजीथा'—यह क्या मनोभावों को एक रगत भर देने के लिए है, व्यावहारिक लक्ष्य नहीं है?

इस द्वैध को आप से छिपाना नहीं चाहता। बल्कि आपको उसका साक्षी बना लेना चाहता हूँ। आप की सहानुभूति मुझे उस द्वैध को मिटाने का बल देगी, उससे मुक्त होने का जो मार्ग मुझे धुधला-सा दीखता है उसे स्पष्ट प्रकाशित करेगी। भारतीय ज्ञानपीठ के इस आयोजन का मुझ पर यह भी उपकार है उसने मुझे एक सहृदय समुदाय से साक्षात्कार करने का अवसर दिया है। मेरे सर्जक जीवन का अधिभाग मेरे पीछे है, पर पाठक की

आस्था से लेखक को जो बल मिलता है वह मेरे लिए आज भी मूल्यवान् है। एक बहुत बडा न सही, पर सहृदय और विवेकवान् पाठक-समाज मुझे मिलता रहा है, इसे आप गर्वोक्ति न मानें तो यह भी कहूँ कि समकालीन हिन्दी काव्य के लिए अनुकूल वातावरण और सस्कारवान् सामाजिक तैयार करने का मेरा वर्षों का परिश्रम निष्फल नहीं गया इसका भी मुझे सतोष है। नि सन्देह कोई भी विकासमान साहित्य एक पाठक-समुदाय तैयार करके विश्राम नहीं पा लेता, नवतर प्रवृत्तियो के लिए नया सामाजिक दीक्षित करने के लिए नया उपक्रम होता है और उसमें उससे पहले का किया-कराया मिटाना भी होता है—पर वह अलग प्रकरण है।

सम्भव है कि ऐसे अवसरों पर साहित्यकार से साहित्य के अथवा जीवन मात्र के बारे मे कोई बडी, गुरु-गम्भीर बात, कोई शाश्वत सन्देश, कोई प्रबोधन अपेक्षित होता हो। मेरे पास वैसी बडी या गहरी कोई बात कहने को नही है। पचास-एक वर्ष पहले कदाचित् मुझे भी वैसी बात की अपेक्षा होती, और उसे पूरा करने के लिए मैं स्वय भी दूर की कोई कौडी लाने का प्रयास करता। पर आज मानता हूँ कि साहित्य एक अत्यन्त ऋजु कर्म है। उसकी अकृत्रिम सरलता ही उसकी शक्ति है। कर्म की वह ऋजुता एक जीवन व्यापी साधना से मिलती है। सोचता हूँ कि जब साहित्यकार की खोज समग्र मानव जाति की खोज के साथ तादात्म्य पा लेती है तभी उसे वह सरल शक्ति भी सिद्ध होती है—तभी वह उसे स्वायत्त कर पाता है। और मानव की खोज केवल सुरक्षा और आहार और जोडे और बसेरे की खोज नही है जो कि उसके और पशु के बीच समान है। मानव की खोज—उस बिन्दु ने जिस पर वह पशु से अलग हो जाता है और मानव नाम का अधिकारी होता है—मूल्यों के किसी अजस्र और अक्षय स्रोत के लिए है। कोई कह सकता है कि यह तो विशिष्ट मानव की ही खोज हो सकती है और साधारण जन के सरोकार तो बुनियादी सुख-सुविधा के ही होते हैं। मैं जानता हूँ कि ऐसा कहने वालों की सख्या बढती जा रही है और नये सुखवाद की जो हवा चल रही है उसमे मूल्यों की सारी चर्चा को आभिजात्य का मनोविलास कह कर उडा दिया जा सकता है। पर मैं ऐसा नहीं मानता और मेरा सारा जीवनानुभव इस धारणा का खडन करता है। मेरा विश्वास है कि इस अनुभव में मैं अकेला भी नहीं हूँ।

जिस सरलता की बात मैंने कही, वह मुझे मिल गयी हो ऐसा नही है। मैंने यह भी कहा न, कि वह एक जीवन-व्यापी साधना माँगती है, मैं केवल इष्ट के रूप मे उसे पहचान पाया हूँ। हाँ, अन्वेषण, प्रयोग और शोध मैं निरन्तर करता रहा हूँ और चाहता हूँ कि शेष जीवन मे भी वह मुझ से न छूटे, मैं निरन्तर प्रश्न पूछ सकूँ और उनका उत्तर पाने की व्याकुलता सह सकूँ—इतना ही नहीं, हो सके तो उससे दूसरे को भी ससिक्त करता रह सकूँ मैंने जो कुछ लिखा है वह आपको मूल्यो के उस अजस्र स्रोत की ओर ले जा सके, या उसके मार्ग का कुछ सकेत ही दे सके, या उसकी याद ही दिला सके, आपके मन मे उसके बारे मे उत्सुकता जगा सके कि आप स्वय प्रश्न पूछे और स्वय मार्ग खोजें, तो मैं समझूँगा कि मैं अपना काम कर रहा हूँ। मेरे लिखे हुए में जो भी, जितना भी आप में वह जिज्ञासा जगाता है या उस स्रोत से सम्पृक्त करता है, वही और उतना ही काम का है। जो शेष रहता है वह सब त्याज्य है। आप की अनुकम्पा इतनी हो सकती है कि आप उसका भी तिरस्कार न करें—तब वह अपने-आप जीर्ण हो कर विलय हो जायेगा। काल का वह निर्णय मुझे स्वीकार्य होगा—कष्टकर हुआ तब भी स्वीकार्य होगा क्योंकि मैं उसे न्याय मानता हूँ।

जिस सरल कर्म की बात मैंने कही उसे एक दूसरी तरह भी परिभाषित किया जा सकता है। उसका एक अत्यन्त सरल और सीधा लक्ष्य है। साहित्य दूसरे तक पहुँचना है, दूसरे तक पहुँचाता है। पहुँचने की, 'साहित्य' की, अपना अतिक्रमण

करने की और ममेतर की प्रत्यभिज्ञा की वह व्यग्रता एक बुनियादी साहित्यिक मूल्य ही नहीं, बुनियादी मानव मूल्य है, वह बुनियादी सामाजिक मूल्य भी है। साहित्य के सरल कर्म का वह सरल और सीधा लक्ष्य है। उसी धरातल पर नर का नारायण से साक्षात्कार होता है, वहीं पर दोनों एकाकार होते हैं।

इस सब मे परम्परा कहाँ है? आवश्यक नहीं कि उसका उल्लेख हो ही। पर मुझे समय-समय पर 'परम्परा-भजक' भी कहा गया, परम्परा भक्त भी, दोनों ही आरोप साधार हैं और इस विरोधाभास के विषय में मेरा कुछ कहना असगत न होगा—शायद उससे साहित्य कर्म के विषय में कही गयी मेरी बात कुछ स्पष्ट भी हो सके। परम्परा हमारे कर्म का लक्ष्य नहीं, उसकी अनिवार्य भूमि है। सर्जनात्मक प्रतिभा जो अकुर उपजाती है, उसका बीज वह परम्परा रूपी परती भूमि में ही गलती है। लेखक परम्परा तोडता है जैसे किसान भूमि तोडता है। मैंने अचेत या मुग्ध भाव से नहीं लिखा जब परम्परा तोडी है तब यह जाना है कि परम्परा तोडने के मेरे निर्णय का प्रभाव आने वाली पीढियों पर भी पडेगा। सर्जना का हर गीत परती तोडने का गीत होता है, पर उसमें स्तवन स्थूल मिट्टी का नहीं होता, उसकी उर्वरा शक्ति का होता है, उसमे फूटने वाले अकुर का होता है। क्योंकि प्राण वही है।

कहने को और भी बहुत कुछ हो सकता है—और कदाचित् जो कहा वह भी अनावश्यक था। आपके अनुग्रह को सिर आखों पर लेता हुआ एक कविता के साथ अपना निवेदन समाप्त करता हूँ। अन्तत वही तो मेरे-आप के बीच का सम्पर्क सूत्र है, नहीं तो मेरे आज आपके सामने खडे होने का निमित्त क्या होता, प्रयोजन भी क्या होता।

सब खेतों में लीकें पडी हुई हैं
(डाल गये हैं लोग)
जिन्हें गोडता है समाज
उन लीकों की पूजा होती है।

मैं अनदेखा सहज
अनपुजी परती तोड रहा हूँ,
ऐसे कामों का अपना ही सुख है
वह सुख अपनी रचना है
और वही है उसका पुरस्कार।

उसका भी साझा करने को मैं तो प्रस्तुत—
उसे बटाने वाला ही दुर्लभ है। उस को भी तो
लीक छोड कर आना होगा
(यदि वह सुख उसका पहचाना होगा)
पर तब उसके आगे भी
बिछी हुई होगी वैसी ही परती।
बहुत कडी पर बहुत बडी है धरती

मैं गाता भी हूँ। उसके हित।
मेरे गाने से वह एकाकी भी बल पाता है।

किन्तु अकेला नहीं। दूसरे सब भी।
उनके भीतर भी परती है
उस पर भी एक प्रतीक्षा-शिलित अहल्या सोती
है
जिसको मेरे भीतर का राम जगाता है।
मैं गाता हूँ। मैं गाता हूँ।

प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी

बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का १९७९ का साहित्य पुरस्कार १९६३-७२ में प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत असमिया उपन्यास 'मृत्युजय' के लिए डॉ बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य को समर्पित किया जाता है। 'मृत्युजय' १९४२ के 'भारत छोडो आन्दोलन' की असम क्षेत्रगत घटनाओ पर आधारित है जिसमे अत्यन्त भावपूर्ण और मार्मिक चित्राकन हुआ है जन-मानस पर आन्दोलन के सघात का, उसकी पीडाओ-काक्षाओ का, मोहभग एव दुर्जेय आशावत्ता का। उपन्यास में समूचे-देश की तत्कालीन आपबीती का परिदृश्य उद्घाटित हुआ है।

डा भट्टाचार्य के अन्य प्रमुख उपन्यास 'इयारुइगम' और 'प्रतिपद' ने भी असम की युगीन राजनीतिक सचेतना से और जनजातियों के बोध-जागरण एव श्रमिकवर्ग की समस्याओं से साक्षात्कार कराया है। इतना मानवीय सवेदनायुक्त हुआ है सारा चित्रण कि प्रत्येक चरित्र भावनाओं के आन्तरिक उद्वेलन से जीवन्त हो उठा है। प्राकृतिक सुषमा के स्थल लेखक को काव्यमय बना देते हैं और कथापटल को कहीं व्यक्तिपात्र तो कहीं कोई वर्ग ही अपनी प्राणवत्ता से सजीव बनाये रखते हैं। सवादों में ओतप्रोत टिप्पणी इन सभी उपन्यासों की कथावस्तु को नये अर्थ-आयामों से समृद्ध करते हैं। डॉ भट्टाचार्य ने असमी काव्यधारा को नया दिशा-पथ दिया है कहानीकार और जीवनी-लेखक के रूप में भी उनका कृतित्व सराहनीय है।

किसी क्षण विशेष की महत्ता को लक्ष्य करके उसे फिर कलागत स्थायित्व एव सार्विकता से मडित कर सकने की क्षमता डॉ भट्टाचार्य की विशिष्टता है। चिरायु हों वे और अनेक-अनेक मूल्यवान कृतियों का स्रजन गौरव उन्हें प्राप्त हो।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	अध्यक्ष
सोमवार १५ दिसम्बर, १९८०	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ

बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य

बीरेन्द्र कुमार का जन्म १४ अक्तूबर, १९२४ को असम के पूर्वी अँचल के एक अजाने-से चाय बाग के परिसर में हुआ था, और वहीं के विभिन्न जातीय सामाजिक परिवेश मे ये पले और बडे हुए। इस परिवेश के रूप का अनुमान उन्हें अवश्य हो सकता है जिन्होने चाय बागानो का वातावरण स्वय देखा और जाना है। अक्षरबोध वहीं प्राप्त करके, आगे की स्कूली शिक्षा इन्होंने ढेकियाखोवा ग्राम के अँगरेजी मिडिल स्कूल में पूरी की। उन्हीं दिनों अपनी इस स्थिति को भी समझ लेने का अवसर उस बाल्यावस्था मे इन्हें मिला कि खडा होना है तो अपने पाँवो पर स्वय ही। बहुत बार तो स्कूल भी बिना कुछ खाये-पिये ही जाना होता।

तेरह के थे बीरेन जब १९३७ मे जोरहाट गवर्नमेण्ट हाई स्कूल में आये और फिर १९४१ मे भाषा-साहित्य आदि कई विषयो मे मान-गौरव अर्जित करते हुए मैट्रिक्युलेशन किया। इसी चार वर्ष के काल मे उनकी साहित्यिक क्षमताएँ भी प्रकट होकर सर्वप्रथम सामने आयी। किशोर लेखक प्रतिभाओ के लिए नियत एक सार्वजनिक पुरस्कार सुवर्ण पदक के रूप मे उन्हे दिया गया। साथ ही, कई हस्तलिखित साप्ताहिको एव मासिको में उनकी रचनाओं को प्राथमिकता दी जाने लगी। सच तो जोरहाट उन दिनों बना हुआ था भी साहित्यिक कार्य-प्रवृत्तियो का केन्द्र। चन्द्रकान्त बरुआ, नीलमणि फूकन और गणेश गोगोई आदि प्रथम श्रेणी के सभी असमी लेखक वहीं थे और किशोर बीरेन को इनका भरपूर सान्निध्य मिला।

कुछ दिनो बाद ही विज्ञान के विद्यार्थी होकर बीरेन ने गुवाहाटी के कॉटन कॉलेज मे प्रवेश लिया। फिर आया १९४२ का आन्दोलन और तरुणाई की पौर मे पाँव धरने से पहले ही ये उस ओर खिच गये। शिक्षा का क्रम भग हो गया, किन्तु साहित्य के प्रति सक्रिय अनुराग अक्षुण्ण बना रहा। किसानो की दयनीय दशा, देश का स्वाधीनता सग्राम, और डिग्बोई तेल मजदूरो की हडताल ये सब आँखो देखे तथ्य थे जो उनके भीतर उस वय मे भी सामाजिक न्याय के प्रति निष्ठाभाव को दृढमूल कर गये। अगले वर्षो मे तो उनकी सामाजिक चेतना-भावना और भी विकसित और जीवन्त होती गयी। यही काल था जब 'जयन्ती' और 'आवाहन' पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती थी।

अवसर बनते ही अध्ययन के टूटे तार फिर जुडे

और १९४५ में बीरेन भट्टाचार्य ने बी एस-सी किया। जल्दी ही फिर वह कलकत्ते चले गये और लक्ष्मीकान्त बेजबरुआ की असमी साहित्यिक पत्रिका 'वह्नि' के सहायक सम्पादक बने। सम्पादक माधव बेजवरुआ के असमय निधन के कारण पत्रिका बन्द हुई तो बीरेन ने 'ऐडवान्स' के साथ सम्बद्ध होना चुना। यहीं थे ये जब १९४६ मे कलकत्ते के सार्वजनिक हत्याकाण्ड हुए और इनका मित्र, कवि अमूल्य बरुआ, मारा गया। इतना गहरा मानसिक आघात पहुँचा इन्हे कि महीनो न आँख से आँसू गिरा न एक क्षण को भी एकान्त सहन कर पाये। दिनों बाद एक दिन गुवाहाटी लौट आये और देवकान्त बरुआ द्वारा सम्पादित 'दैनिक असमिया' मे जैसे-तैसे काम करने लगे।

सामाजिक न्याय, समानता, सत्यता, मानव जाति के प्रति प्रेम ये कुछ नैतिक मूल्य उनके मानस का मानो अभिन्न अग बन आये। हॉस्टेल मे रहे, या पार्टी आफिस मे, या फिर देहात के किसी मित्र की झोपडी मे पर अभाव और कष्ट सब कही सदा सगी बने रहे। जीवन का यही जीया हुआ स्वरूप इनके समूचे दृष्टिभाव का दिशादाता बना। अपने को छोटा बनाकर रहने का महत्त्व इन्होने प्रारम्भिक काल मे ही गुन लिया था। तभी से इनका निश्चय रहा है कि सुख और सत्ता की चाहना तक किये बिना मानव जाति के प्रति मौन सेवा और समर्पण का जीवन जीया करेगे। यही तो इनके वास्तव जीवन का चित्र भी है। और यही कारण है कि मानवीयता, सामाजिक-न्यायभावना, और दलित-निर्धनो के साथ तादात्म्य इनके साहित्य का प्रमाणचिह्न बन गये हैं। अपने उपन्यासो के चरित्रो की नाईं बीरेन बाबू भी परिवर्तन के सक्रिय समर्थक हैं परिवर्तन व्यक्ति के अपने जीवन मे और समाज के पतनोन्मुख मूल्यो मे। इनकी चिन्तना का क्षेत्र, इस प्रकार, यह नहीं रहा कि समाज का स्वरूप क्या है, बल्कि यह कि स्वरूप कैसा हो।

पत्रकार-जगत मे शक्ति-राजनीति के छाये हुए बोलबाले से खिन्न होकर एक दिन ये हठात् 'दैनिक असमिया' से चले आये और समाजवादी पत्रिका 'जनता' के साथ सम्पादक के रूप में सम्बद्ध हो गये। यहाँ अपने वास्तविक विचारों को तो प्रस्तुत करने का इन्हे अवसर अवश्य मिला, किन्तु ऐसी पत्रकारिता की जो अपनी जोखिमें रहा करती हैं, वे भी सामने आयीं। इस काल में 'रगधर', 'पचोवा' और 'रामधेनु' आदि पत्रिकाओं में भी उनकी रचनाएँ निरन्तर आयीं। इनमे कविता और कहानियाँ भी होतीं और समीक्षात्मक निबन्ध भी। कहा जा सके तो इनके जीवन का यह काल प्रयोगों का काल था।

१९४९ में बीरेन्द्र भट्टाचार्य उखरुल चले गये। उखरुल दूर बर्मी सीमान्त से लगा हुआ छोटा-सा एक नगा गाँव। और चले गये वहाँ विज्ञान के अध्यापक होकर, एक मित्र के आग्रह मात्र पर, क्योंकि कोई और जाने को तैयार न था। इस समय तक स्वेच्छया अकिचनता को अगीकार कर चुके थे ये। आगामी वर्षों मे तो अच्छे-अच्छे कई प्रस्ताव सामने आये, पर किसी को जो स्वीकारा हो। उखरुल पहुँचे तो दो जोडी कपडे पास थे और था एक तेईस रुपये में खरीदा हुआ पुराना फौजी ग्रेट कोट। बीरेन भट्टाचार्य का उखरुल जाना उनके जीवन मे एक मोड बना। उन दिनो फीजों शक्ति-भर इस प्रयत्न मे थे कि नगा युवक वर्ग प्रथकतावादी आन्दोलन मे सम्मिलित हो जाये, बीरेन बाबू ने उनमे से अधिकाश को भारतीय राष्ट्रीयता की मुख्य धारा मे बनाये रखा। इसके अतिरिक्त उखरुल के चार वर्षों ने न केवल उनके दृष्टि-परिप्रेक्ष्य को विस्तार देकर समृद्ध किया, बल्कि भारतीय सस्कृति की विशालता और जातिगत वैविध्य की भी प्रत्यक्ष अनुभूति दी। इन्हीं चार वर्षों की देन है उनका प्रथम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'इयारुइगम'।

१९५३ मे बीरेन बाबू ने 'रामधेनु' के सम्पादन का दायित्व अपने ऊपर लिया। उसी समय से यह पत्रिका माध्यम बनी असमी साहित्य में विभिन्न

विधाओं के अन्तर्गत अभिनव प्रयोगशीलता का। एक नया युग ही वहाँ आ गया जैसे। नाम भी मिला उसे रामधेनु युग। बीरेन भट्टाचार्य के साहित्यिक एव राजनीतिक कर्तृत्व कालों में जो सबसे अधिक सफल और उत्कर्षकारी माने गये उनमें इसकी एक अपनी विशिष्टता है। १९५३ में ही एक शिष्ट्-मण्डल के सदस्य के रूप में वे नगा पर्वत प्रदेश गये , उद्देश्य वही कि नगा जाति को भारत से पृथक् न होने दें। १९५६ के आसपास डॉ राममनोहर लोहिया से मैत्रीभाव घनिष्ठ हो आने पर वे समाजवादी आन्दोलन के प्रति और अधिक आकृष्ट हो गये। इस काल के उनके लेखन से यह सब परिलक्षित भी होता है।

पूरे एक दशक 'रामधेनु' के साथ सम्बद्ध रहने के बाद बीरेन भट्टाचार्य 'नवयुग' मे आ गये और १९६७ तक इस साहित्यिक-सास्कृतिक साप्ताहिक के सम्पादक रहे। उसके बाद इसका प्रकाशन ही बन्द हो गया। कई वर्ष फिर स्वतन्त्र पत्रकार का जोखिमी-भरा जीवन बिताया। इसी काल में 'असमी साहित्य में परिहास और व्यग्य' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर गुवाहाटी विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की।

बीरेन जी की सर्जक प्रतिभा बहुमुखी है। वह एक कुशल कवि, प्रबध लेखक, कथा शिल्पी और प्रभावशाली उपन्यासकार हैं। कथा क्षेत्र मे उनका पदार्पण कुछ देरी से हुआ पर उनकी कहानी 'कल आजिओ बय' के प्रकाशन के साथ ही वे बहुचर्चित हो गये। शीघ्र ही वह छोटी कहानियों के क्षेत्र से आगे बढ़ उपन्यास रचना मे प्रवृत हुए और एक के बाद एक श्रेष्ठ उपन्यास से उन्होंने असमिया साहित्य को ही नहीं भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। 'राज पथे रिंङियाय (१९५६), 'आई' (१९६०), 'इयारूइगम' (१९६१), 'शतघ्नी' (१९६५), 'प्रतिपद' (१९७०) और मृत्युजय (१९७०) किसी भी भाषा के लिए गौरव की बात हो सकती है। 'मृत्युजय' के बाद उनके कुछ और उपन्यास प्रकाशित हुए और उसके बाद आया 'फूलकोवरर पखी घोरॉं (१९७८)।

उनके पहले प्रख्यात उपन्यास 'राज पथे रिंङियाय', जो १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलन पर आधारित है, में तत्कालीन जीवन् चित्र के साथ-साथ मुख्य पात्र मोहन और कई साधारण चरित्र भी असाधारण प्रतिभा से आलोकित हुए हैं। इस कडी का अगला उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित 'मृत्युजय' विशिष्ट कोटि का एक राजनैतिक उपन्यास है। इसका कथा-विषय भी १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बद्ध है। समूची योजना और उसका निर्वाह, आन्दोलनकारियों और जनता के अपने-अपने भीतरी विग्रह, पुलिस के अटाटूट अत्याचार, मानव स्वभाव के विभिन्न रूप और उन सबके बीच नारी-मन की कोमलतम भावनाओ की कलात्मक अभिव्यक्ति ने इस उपन्यास को सचमुच ही अनूठा बना दिया है। कथानक के विकास के अतिरिक्त इस कृति को एक स्थायी मूल्यवत्ता प्रदान करने वाले अन्य तत्व भी हैं इसमे अन्तर्भूत सामाजिक जीवन-व्यवस्था का दर्शन और व्यक्तिगत आचरण एव नैतिकता विषयक टकराव और उनके समाधान। इसके चरित्र न केवल विभिन्न सामाजिक वर्गों एव मानसिक स्तरो के हैं, बल्कि स्वभाव और प्रकृति मे भी अलग-अलग हैं। कई पात्र तो इस तरह उभरकर सामने आते हैं कि अपनी-अपनी भूमिका के आधार पर भाव-प्रतीक और कथानक के प्राण तो बन ही उठते हैं, अन्यथा भी चेतना पर छाये रह जाते हैं। उदाहरण के लिए नारी पात्रो मे डिमि, सुभद्रा और गोसाईनी , पुरुष पात्रो मे महद गोसाँई, धनपुर और रूपनारायण। लेखक ने कथा विकास में ही पिरोते हुए प्रसगानुसार कहीं लोक-मान्यताओ की निस्सारता रेखाकित की है तो कहीं उनकी सार्थक प्रतीकात्मकता।

इस कडी का तीसरा उपन्यास है 'फूलकोवॅरर पखी घोरॉं' (जिसका हिन्दी रूपान्तर भारतीय ज्ञानपीठ ने 'पाखी घोडा' नाम से प्रकाशित किया है) रचना धर्मिता, शैली-शिल्प और कथा सरचना

की दृष्टि से पिछले दोनो उपन्यास से आगे बढा हुआ है। स्वतन्त्रता सग्राम की कथा को पहले दो उपन्यास जिस विशेष बिन्दु पर छोडते हैं, 'पाखी घोडा' उसी बिन्दु से आरम्भ होता है। कथानक की पृष्ठ-भूमि असम प्रदेश, आज का टुकडे-टुकडे में बँटा बिखरा नही, स्वतन्त्रता पूर्व और प्राप्ति के ठीक बाद का सुवृहत् असम प्रदेश। मूलत कवि-हृदय होने के कारण बीरेन जी ने इस उपन्यास की कथा-भूमि काव्यात्मक भावना के अनुरूप बिम्ब एव प्रतीकधर्मी रखी है। उपन्यास की कथा मे आदि से अन्त तक एक अश्वारोही राजकुमार के विजय अभियान का बिम्ब चलता है, एक ऐसे राजकुमार का जो विरोधी-प्रबल शत्रु सेना मे, जानबूझ-कर अपने घोडे पर सवार हो प्रवेश कर जाता है, एक ऐसा घोडा जिसके पख लगे हैं, पख भी ऐसे जो उसे सवार समेत कही भी उडा ले जा सकते हैं। परन्तु दुर्दान्त शत्रुओ के प्रत्याक्रमण मे उसके घोडे के पखो के काट लिये जाने का भी खतरा है, और पखो के कटन का मतलब है अनिवार्य, बेबस मौत, एक अपमानजनक पराजय। इस बिम्ब का आधार है, बोडो-कछारी जनजीवन मे प्रचलित एक लोक कथा।

यदि एक ओर १९४२ के स्वतन्त्रता आन्दोलन पर आधारित उनका उपन्यास 'राज पथे रिंडियाय' ने एक उत्तेजना की सृष्टि की तो नगा समस्या, मानव-प्रेम और देश-प्रेम के सघर्ष मे विकसित द्वन्द्व के सफल चित्रण के लिए विख्यात 'इयारूइगम' को साहित्य-अकादमी पुरस्कार का सम्मान मिला।

बीरेन जी का एक अन्य प्रतिष्ठा-प्राप्त उपन्यास है 'प्रतिपद'। इसकी विषयभूमि है साम्राज्यवादी निरकुशता के सताये हुए डिग्बोई रिफाइनरी के मजदूरो की हडताल। १९३९ की यह हडताल देश के ट्रेड यूनियन आन्दोलन मे एक विशेष स्थान रखती है। लेखक कितनी सम्पूर्णता के साथ लोकतन्त्रीय समाजवाद और सामाजिक असमानता के विरूद्ध विद्रोह के प्रति प्रतिश्रुत है इसका साक्षी यह उपन्यास है। स्वभावत कई चरित्र यहाँ भी प्रमुख हो उठे हैं। जो भूमिका 'मृत्युजय' मे धनपुर की है और 'इयारूइगम' मे विडेस्सली की, वही 'प्रतिपद' में डिम्बेश्वर की है, इसी प्रकार नारी पात्रों मे भी डिमि और सारेड्ला का स्थान यहा जेबुन्निसा लेती है।

इयारूइगम (जनता का शासन) में जापानी सैनिको नगा प्रदेश (सम्प्रति नगालैण्ड) पर बर्बर आक्रमण, तदनन्तर उस पर शासन करने की मनोवृत्ति, कुछ ही समय बाद जापानी सैनिकों को पीछे हटने की बाध्यता के क्रम मे स्थानीय बासिन्दा टागखुल नगाओ के जीवन के सामाजिक-सास्कृतिक एव मनोवैज्ञानिक पक्षो को बडे यथार्थपरक ढग से चित्रित किया गया है। इशाओर नामक जापानी सैनिक पहले बलात्कार से फिर प्रेम दर्शा कर सारेला नामक युवती को जीवन भर साथ निभाने का प्रलोभन दे गर्भवती बना देता है किन्तु ब्रिटिश सेनाओ के दबाव से जब जापानियों को भागना पडता है तो वह भी बर्मा की ओर लौट जाने को प्रस्तुत होता है। सारेला अपने पेट मे पल रही उसकी सन्तान के लिए उसे रुक जाने की प्रार्थना करती है। यहा जटिल स्थिति का चित्रण बडी पटुता से लेखक ने निभाया है। यदि इशाओर जापानियो के साथ नही जाता तो जापानी ही उसे जान से मारकर जायेगे, यदि किसी तरह बच रह जाएगा तो ब्रिटिश सैनिक उसे मार डालेंगे। युद्ध की बिभीषिका में पिसता निरीह प्रेमकजीवन और उसकी निराशामय परिणति का अतिशय प्रभाव परक रूप दिखाई पडता है। यहा भी 'मृत्युजय' की भाति लेखक का प्रमुख दृष्टिलक्ष्य चरित्र और पात्र उतने नहीं हैं जितना कि उन सबका एक सम्मिलित समाज।

बीरेन जी को जब साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया उस समय वे ३५ वर्ष के थे। जब वे ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किए गए उनकी आयु ५६ वर्ष थी। ये दोनों सम्मान ही किसी अन्य साहित्यकार को इतनी कम आयु में नही मिले। आजकल वह साहित्य अकादमी के अध्यक्ष हैं।

कृतियाँ

उपन्यास

१	राजपथे रिंगिआई	१९५५
२	आइ	१९६०
३	इयारुइगम	१९६०
४	शतघ्नी	१९६५
५	नष्टचन्द्र	१९६८
६	भारती	१९६९
७	मृत्युजय	१९७०
८	प्रतिपद	१९७०
९	चिनाकी सूती	१९७१
१०	अग्निगढ	१९७१
११	कबर आरु फूल	१९७२
१२	परिव्राजक	१९७२
१३	बल्लरि	१९७३
१४	एटि निशा	१९७३
१५	तब आरु इडा	१९७३
१६	दायिनी	१९७६
१७	रगा मेघ	१९७६
१८	फलको वरेर पाखीघोडा	१९७८
१९	शरतकोंवर	१९७८
२०	मुनिचुनरि पहर	१९७९

कहानी-सग्रह

१	कलङ् आजिओ वय	१९६२
२	सातसरी	१९६३

कविता

१९४३-७९ के बीच १५० से अधिक प्रकाशित उल्लेखनीय शीर्षक

१	जीवनर बिपुल अमृत राशि	१९४६
२	जर्नलिज्मर राति	१९४६
३	तेजमिला	१९४६
४	दिनर कुसुम पगई	१९४७
५	आमार कतना आशा	१९४८
६	क्रूसर बन्धुलोइ	१९५५
७	जनता	१९५५
८	एजनि नामिनी सॅवालीर चीठी	१९५५
९	समरकन्द	१९७०
१०	घर	१९७०
११	एइ नदी	१९७७
१२	भूमि	१९७८
१३	अन्तरतम	१९७९

यात्रावृत्त

१	सीमाय अमानी करे	१९७५

अन्य गद्य कृतिया

१	बग देशर नवजागरण आरु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	१९७०
२	श्री अँरविन्दॅ	१९७३
३	सवाद-साहित्य	१९७४
४	मोपिन उत्सव	१९७४
५	डेढ्सॅ बछरेर असमीया सास्कृतिक एभूमुकी	१९७९
६	कर्मवीर चन्दनाथ शर्मा	१९७९

इनके अतिरिक्त ५० से अधिक प्रकाशित निबन्ध, बॉंग्ला एव अँगरेजी से ८ पुस्तकों के अनुवाद और आकाशवाणी गुवाहाटी से प्रसारित १५० नाटक।

अभिभाषण के अंश

पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर पुरस्कार प्राप्तकर्ता साहित्यकार के विचार-भाव व्यापक रूप से सामने आये, यह स्वाभाविक भी है, अभीष्ट भी। मेरी दृष्टि में इस महती योजना के दो सुनिश्चित मूल्य और महत्त्व हैं।

एक यह कि इसके माध्यम से इस सत्य की सम्पुष्टि हो जाती है कि भले ही भारतीय साहित्य ने अनेक भाषाओं में अभिव्यक्ति पायी, मूलत वह है एक ही। एक ऐसी इकाई जो जीवन के साथ आमूल जुडी हुई है अविनश्वर है। एक स्वर निश्चित रूप से ऐसा है जो भारतीय भाषा-साहित्यों में सब कहीं व्याप्त है। यह स्वर है मानवीयता का, करुणाशीलता का, परस्पर सहिष्णुता का, और सार्विक समन्वय भाव का। प्रत्यक्ष है कि जो भी तत्त्व हमारे बहुभाषा-रूप साहित्यो को सग्रथित करते हैं, उनसे राष्ट्र के आन्तरिक एकत्व को सम्पोषण मिलता है। दूसरे शब्दो मे कहें तो, मानव के विमुक्तीकरण मे वे सहायक बनते हैं।

दूसरी विशिष्ट मूल्यवत्ता पुरस्कार योजना की है विभिन्न भाषाओ की विविध साहित्यिक कृतियो मे से सर्वश्रेष्ठ के चयन की प्रक्रिया, जो समीक्षा जगत् के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बन उठती है। स्वभावत विभिन्न भाषा क्षेत्रीय साहित्यों के अपने-अपने मानदण्ड हैं। भारतीय ज्ञानपीठ ने इन सबको आत्मसात् करते हुए मूल्यॉकन की एक सर्वग्राही पद्धति विकसित की है। समय लेकर यह पद्धति सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के मूल्यॉकन की पद्धति बन सकती है। लेखक के लिए तो ऐसी पद्धति के आधार पर किया हुआ रचना-चयन अत्यन्त मूल्यवान हो जाता है।

यथार्थ साहित्य में सचमुच न तो वास्तविकता से पलायन के लिए अनुमति है न ही उसकी सपोषणा के लिए। उसका धर्म मात्र इतना है कि चारों ओर अटाटूट हिलोरते सागर का मन्थन करे और जो अमृत हाथ आये उसका लाभ सबको कराये। उसका लक्ष्य किसी का नाश करना नहीं होता, जीवन की व्यापक अशान्ति में समन्वय और सामजस्य लाना हुआ करता है। और यह तो बडे से बडे लेखक के लिए भी सामान्य काम नहीं होता। अपनी ओर से, अपने विषय में, मेरा निवेदन इतना ही हो सकता है कि मैं सुन्दर और सत्य को जीवन में एकमेक करने के लिए प्रतिबद्ध हूँ।

एक बार एक भारतीय चिन्तक राजनीतिज्ञ ने कहा था कि २०वीं शताब्दी की सबसे अधिक द्रष्टव्य विशेषता यह है कि इस समय विश्वभर की मानवजाति विश्व-भर के अन्यायो के विरुद्ध विद्रोह कर उठी है। स्त्रिया हों, चाहे निर्धन और हरिजन, काले हो, चाहे छोटे-मोटे अकुशल उत्पादक, केद्रीकरण के आखेट हों, चाहे किसी भी प्रकार के सर्वसत्तावाद के रौंदे-कुचले जनमानव—सभी अपनी-अपनी साँसत से विमुक्ति पाने के लिए छटपटा रहे हैं। इस प्रकार के सर्वग्राही और सम्पूर्ण विद्रोह के लिए दिशादान साहित्यकार को किसी रुद्ध या बद्ध दर्शन-चिन्तन में नहीं मिलेगा, मिलेगा तो कहीं उसके पार ही। आज के प्रश्नों और आवश्यकताओं का समाधान प्राप्त हो सकता है तो ऐसे विचार-दर्शन में ही जो उदार हो, अनेकवादी हो, और हो सतत विकासशील।

ऐसे में साहित्य और साहित्यकार का प्रथमतम धर्म हो जाता है यह प्रयत्न करना कि जीवन-जगत् का केन्द्र बिन्दु स्वय सम्पूर्ण मानव हो, अक्षत मानवप्राणी हो। सृजन का लक्ष्य ही हो दिग्भ्रान्त मानव को अपने में लौटा लाना। दुर्भाग्य से आज हमारा परिप्रेक्ष्य यह नहीं है। हमें इसका

निर्माण करना होगा। गम्भीरता से देखें तो किसी भी साहित्यिक विधा की प्रचलित परिभाषा ऐसी कोई नहीं जिसे प्रश्नमुक्त माना जा सके, न ही उसकी सृजन-प्रक्रिया का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण मिल पाता है। समीक्षक के अपने पूर्वग्रह हैं। अधुनातन-लेखन वहाँ असगत ही रहता है और समकालीन प्रतिष्ठित लेखक को उनमे सगतता दिखायी नहीं पड़ती। सब कहीं, सृजन हो चाहे समीक्षण, दृष्टिबोध का लक्ष्य पूर्ण सत्य का कोई एक अग या पक्ष मात्र होता है। मैं स्वय सत्यता के सन्धान को चिरन्तन प्रक्रिया मानता आया हूँ। इसीलिए मेरा अपना दृष्टिकोण अनेकान्तवादी है, निश्चयात्मकतावादी नही।

देखा जाये तो दूर मूल मे सभवत यही बात है कि लेखक और विद्रोही दोनो अपने को परस्पर सजातीय जैसा पाते हैं। दोनो ही जीवन और जगत् की कुरूपता और असगतियो को अस्वीकार करते हुए सुन्दर और सामजस्यपूर्ण एक लघुविश्व की परिकल्पना मे लवलीन रहते हैं। लेखक का धर्म है कि युगीन सामूहिक भावावेशों से खीजकर अपने किसी काल्पनिक या असार ससार मे न जा रहे। उसे तो इस प्रकार के आवेशों की उपजायी हुई हिंस्रता तक का सामना करना होगा। मेरे प्रस्तुत तीनो उपन्यास इयारुइगम, प्रतिपद और मृत्युजय–इसके साक्षी हैं, उदाहरण हैं।

अपने समाज, लेखक समाज, के प्रति मेरे मन मे अगाध आस्था है। एक प्रकार से मैंने यहाँ सब उन्हे ही सम्बोधन किया है। अपने को मैं धन्य मानूँगा यदि यह सवाद यहीं शेष न हो रहे, सार्थक होता हुआ चलता चले।

शंकरनूकुट्टी पोट्टेकाट

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का १९८० का वार्षिक पुरस्कार श्री शकरनकुट्टी कुन्हीरमन पोट्टेक्काट को सन् १९६४ से ७३ के बीच प्रकाशित भारतीय सर्जनात्मक साहित्य में से चुनी हुई मलयालम कृति 'ओरु देशत्तिन्ते कथा' के लिए समर्पित करती है जो एक गाँव की कहानी है और अपनी प्रभा तथा प्रभाव में विशिष्ट है। यह एक ऐसी तलस्पर्शी रचना है जो केरल के एक गाँव के विकास का चित्रण करती है—वहाँ की एक जाति का, एक छोटी इकाई का विश्वसनीय दिग्दर्शन, जो स्थानीय होते हुए भी विश्व-गत है। कृति का केन्द्रीय चरित्र श्रीधरन, स्वय पोट्टेक्काट ही हैं, तथ्यों का कुशल प्रस्तुतिकरण उपन्यास की कोमल दीप्ति से मडित है।

'ओरु दशत्तिन्ते कथा' लेखक की उर्मी कोटि की श्रेष्ठ रचना है जैसी उनकी 'विष कन्यका'। उनकी एक तीसरी उल्लेखनीय कृति है, 'ओरु थरुविन्त कथा'—एक मोहल्ले की कहानी। तीनो उपन्यासों मे सामाजिक परिवेश के प्रति लेखक की गहरी चिन्ता व्यक्त हुई है—एक मानवतावादी व्यक्ति की चिन्ता। यह श्री पोट्टेक्काट की लेखकीय निष्ठा का प्रमाण है कि उनकी गभीर रचनाएँ मनुष्य की नियति के दोनो पक्ष उद्घाटित करती हैं—उसका उल्लास और उसका विषाद।

श्री पोट्टेक्काट ने किंचित् काव्य रचना भी की है, तथा कुछ सशक्त कहानियाँ भी लिखी हैं। उनके यात्रावृत्त तो विशेष कोटि क हैं ही जिनमे देश-विदेश के उन अनेक स्थानो की आत्मा प्रतिबिम्बित है जिनकी यात्रा उन्होने की है। कुछ वर्षों तक वह ससद् सदस्य भी रहे हैं। इन विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों और कार्यकलापों ने श्री पोट्टेक्काट के व्यक्तित्व के सामजस्य को निखारा है। उनमें करुणा और सहानुभूति के ऐसे गुण प्रस्फुटित हुए हैं जो सर्जक शिल्पियों मे भी दुर्लभ हैं।

हमारी कामना है कि श्री पोट्टेक्काट दीर्घजीवी होकर साहित्य का और भी अधिक ओजस्वी सृजन से समृद्ध करते रहे।

श्रेयांस प्रसाद जैन — अध्यक्ष

अशोक कुमार जैन — मैनेजिंग ट्रस्टी

भारतीय ज्ञानपीठ

नयी दिल्ली

२८ नवम्बर, १९८१

शंकरन्कुट्टी पोट्टेकाट

केरल कई प्रकार से अपने आप में निराला ही है। भारत की मुख्य भूमि से पश्चिमघाट के द्वारा कटे हुए इस प्रदेश में, इसकी अपनी विशिष्ट सस्कृति और सामाजिक सगठना विकसित हुई है। उदाहरणार्थ, यहा मातृसत्तात्मक (मरू मक्कतयम्) परिवार प्रथा प्रचलित है, जिसमें स्त्रियों को पुरूषों के बराबर अधिकार प्राप्त होते हैं। इस कारण ही केरल में साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक है। यद्यपि मुख्य भूमि भारत से कटा हुआ है, केरल के समुद्र-पार के सम्पर्क अति-प्राचीनकाल से रहे हैं।

प्रभावी नौ-परिवहन की परम्परा ने इन सम्पर्कों को सुदृढ किया। अनेक देशों के जल-पोत मसालों, हाथी-दात की वस्तुओं, चन्दन-काष्ठ और मोरपखों के व्यापार के लिए केरल के तट पर आते रहते थे। प्राचीन काल के व्यापारी थे पाणि लोग जो फिनिशियन कहलाते हैं। ईसा के १००० वर्ष पहले, सुलतान सुलेमान के जहाज केरल के तट पर पहुचे थे, ऐसा कहा जाता है। विदेशी पर्यटक मेगस्थनीज, प्लिनी, मारको पोलो के यात्रा वृत्त भी यूनान और रोम से सम्पर्क की पुष्टि करते हैं।

इन सम्पर्कों के कारण केरल को इतालवी देवता 'जेनस' की भाँति द्वि-मुखी रूप प्राप्त हुआ। केरल जहाँ स्वकेन्दित है वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय भी, परम्पराबद्ध है तो प्रगतिशील भी, असम्पृक्त है और सम्पर्क-बहुल भी, ग्रामीण और शहरी भी। उसके पैर मजबूती से जमीन पर हैं तो सिर आकाश को छूता है, एक मुख भारत की मुख्य भूमि को निहारता है दूसरा समुद्र-पार पर्वत-पार के ससार को।

केरल की प्रकृति में द्वैध एक महत्वपूर्ण बात है—यदि आप केरल की सास्कृतिक-चेतना को आदि से अन्त तक समझना चाहते हैं। समसामयिक लेखन में गद्य में, पद्य में, सर्वत्र यह द्वैध भाव परिलक्षित है। परम्परा और परम्परागत मूल्यों के साथ-साथ आज के युग की क्षुधा, अन्याय, सामाजिक विषमता जैसी ज्वलन्त समस्याओं की भी गहरी प्रतीति केरल के साहित्य में है।

हाँ, इस कारण कई बार भावनाओं में आक्रोश उमडने लगता है। दो प्रवृतिया और दो समूह सर्वत्र परिलक्षित हैं । एक है परम्परा से मान्य, सही, जो गाँधी जी के प्रति श्रद्धा रखता है, खादी का समर्थन करता है। इस समूह के लेखक साहित्य को भूलोक पर शाश्वत-सत्य के साथ एकाकार होने का एकमात्र साधन समझ कर लिखते हैं और जीवन के

रहस्यों का उद्‌घाटक भी। दूसरा समूह खुले रूप में मूर्ति भजकों का है। ये अप्रासगिक हैं, क्रुद्ध और आत्माभिमानी हैं। इस समूह के लेखकों की मान्यता है कि साहित्यकार को अपने आप से और अपने युग से अलग होकर नहीं सोचना चाहिए, ये जीवन की यथार्थता के प्रति ही आस्थावान हैं। केरल में साहित्य और साहित्यकार प्राय उद्विग्न भी हो जाते हैं। किन्तु उनमें कोई मनोग्रन्थि नही मिलेगी। मनोग्रन्थियो का यह नितान्त अभाव साहित्य की परिपक्वता का द्योतक है और साहित्यकार के दायित्व-बोध का भी। समस्याओ का सतही समाधान पर्याप्त, नहीं होता। चन्द्रमा की ज्योत्सना और मलमली कोमलता, भावुकता और खोखले नारे काम नही आते। जीवन की समस्याओ को गहराई मे उतरकर समझना होगा। जीवन के यथार्थ को स्वय भोगना होगा तभी साहित्य ओजस्वी बनेगा।

मलयालम के लेखक मे यह ओजस्विता काफी हद तक विद्यमान है। उसने साहित्य और जीवन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को समझा है। इसका अर्थ है कला, साहित्य के महत्व को समझना, विशेषकर विकास कार्यों के सन्दर्भ मे। तब साहित्यकार सघर्षों को सुलझाने के लिए जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान करता है, उसमे उसकी भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। दीर्घकालिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि साहित्य ने मानव इतिहास मे और मानवीय सम्बन्धो के समन्वय मे बहुत बडा भाग लिया है। मलयालम साहित्य के सम्बन्ध मे इस तथ्य की प्रतीति विशेष महत्वपूर्ण है। इस पृष्ठभूमि के वर्तमान मे मलयालम के चार मूर्धन्य उपन्यासकार और कहानीकार विकसित हुए—स्वर्गीय पी सी कुट्टिकृष्णन्, शकर कुट्टि पोट्‌टेकाट, तकषी शिवशकर पिल्लै और केशव देव।

श कु पाट्‌टेकाट का जन्म १४ मार्च, १९१३ को कोषिकोड (कालीकट) मे हुआ था। वे एक प्रतिष्ठित मध्यवित्त परिवार के सदस्य हैं—जैसा परिवार ओरूदेशत्तिन्ते कथा में श्रीधरन् का है। शकरन् के पिता एक स्कूल मे शिक्षक थे। यदि श्रीधरन् के पिता मास्टर कृष्ण को उनके चरित्र पर आरोपित करें तो वे एक सज्जन व्यक्ति थे जो अपने अधिकारो के प्रति जागरूक थे। पास-पडोस मे उनका सम्मान था। वे मूर्खताओं को प्रसन्नता पूर्वक नही झेलते। बालक शकरन् जहाँ उनको प्रेम करता था वहाँ उनकी भल-मनसाहत से एक तरह से आतकित भी था।

शकरन् को अपने युग और परिवार के अनुरूप परम्परागत शिक्षा मिली। इण्टरमीडियट की परीक्षा पास करने के बाद एक स्थानीय गुजराती स्कूल मे अध्यापक के रूप मे अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ की। उनके पिता कुन्हीरामन् भी एक अँग्रेजी स्कूल मे अध्यापक थे। कुछ समय बाद ही उन्होने वह नौकरी छोड दी और बम्बई चले गये—किसी काम धन्धे की तलाश मे या किसी साहसिक अभियान के चक्कर मे। किन्तु पुत्र की देशभक्ति का आवेग प्रबल था, उसने १९३९ में त्रिपुरा काग्रेस के अधिवेशन मे भाग लिया। वहाँ से वे दुबारा बम्बई गये। वहाँ एक टाइपिस्ट का काम किया। १९४० मे फिर कालीकट चले गये। तीन वर्ष बाद फिर बम्बई लौट आये। दो वर्ष टैक्सटाइल कमिश्नर के कार्यालय मे नौकरी की और इस बीच नगर के मलयाली नागरिको की सास्कृतिक कलात्मक प्रवृत्तियो मे सक्रिय भाग लिया। बम्बई मलयाली समाज की स्थापना की। कुछ समय बाद ही वे पक्के प्रवासी हो गये, घुमक्कड, यहाँ, वहाँ, जहाँ तहाँ घूमते रहने वाले—जहाँ भी उनकी बौद्धिक जिज्ञासा वृत्ति उन्हे खीच ले गयी। वे उन यात्रियो मे नही थे जो यात्री-एजेन्टो की मर्जी पर, और विमान की उडान की समय सारणी से बधे हुए एक पर्यटन स्थल पर जाते हैं। उस युग मे जैट विमान भी नही थे, न यात्री-एजेन्ट। वे तो उन स्थानो पर जाना चाहते थे, उन लोगों के जीवन का अध्ययन करना चाहते थे जहाँ उनका मन जमे, न कि किसी और की इच्छा से। कुछ वर्ष एशिया, अफ्रीका और यूरोप मे घूमे। परिणामस्वरूप कई श्रेष्ठ कहानिया

और स्मरणीय यात्रा वृत्त उनकी लेखनी से उपजे। वास्तव में इस प्रकार के लेखन के लिए यात्रा-विवरण उपयुक्त सज्ञा नहीं है। इनमे उन अनेक स्थानों का व्यक्तित्व, चरित्र और अन्त स्वरूप उद्घाटित है—जहाँ वे गये।

इस बीच उन्होंने कविताए भी लिखीं। वस्तुत उनकी सबसे पहली प्रकाशित कृति थीं 'प्रभात-कान्ति' (१९३६) काव्य-सग्रह। दूसरा काव्य-सग्रह 'सचरियुते गीतागुल' (१९४५) उनकी यात्राओ की प्रतिध्वनि है। 'प्रेमशिल्पी' (१९४५) ऐसा काव्य-सग्रह है जिसमे तीन महाद्वीपों का समावेश है। लेकिन १९४५ मे जब वो बम्बई छोडकर अपने घर चले आए तो उन्होने लेखन प्रवृति को पूरी तरह अपना लिया।

कविता के साथ ही उन्होने कहानी लेखन को भी अपनाया। इस रूप मे पोट्टेकाट की प्रतिष्ठा तब बढी जब साप्ताहिक मातृभूमि मे इनकी कहानी छपी। उनकी कहानिया जीवन की सुन्दरता पूर्ण सुघड भाववलिया हैं, उनका आधार छोटा-छोटा पर महत्व की घटनाओ के बदलते मनोभाव हैं, प्रेम की मफलता-विफलता की वेदनाएँ हैं। यों ये क्षणिक-आवेश पर स्थायी भी, क्रम विषय से मधुर और तिक्त, आकस्मिक भी और सुविचारित तथा सुनियोजित भी। उनकी शैली में कुछ और अपनापन है, आत्मीयता है जो सब को मोहित कर लेती है। उनकी रोमाटिक कहानिया जब छपीं तो उस समय वे पाठक के लिए एक सर्वथा नयी चीज थीं।

साहित्य मात्र पढने के लिए नहीं समझने के लिए भी है। यदि वह आपको अपने आसपास की वस्तुस्थिति से परिचय नही कराता तो उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। साहित्य को जीवन का दर्पण होना चाहिए। और प्राय वह कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है। मलयालम भाषा का कोई दूसरा लेखक पाठको को अपने पात्रों से इतना निकट का साक्षात्कार नहीं करा सकता जितना कि, पोट्टेकाट। पोट्टेकाट ने जीवन के चित्र छोटी-छोटी सूक्ष्मताओं और महत्वपूर्ण पक्षो को उजागर करते हुए खींचे हैं जिनमें स्वाभाविक सहजता है और वे पाठक को मत्रमुग्ध सा कर देते हैं। श्री पोट्टेकाट पूर्णतया मानवीय गुणों से युक्त हैं। उनके उपन्यासो, कहानियों, व अन्य रचनाओं में भावनाओ का उन्मेष है। उनके पात्र साधारण जनजीवन से लिये गये हैं। पोट्टेकाट का उपन्यास "ओरू देशत्तिन्ते कथा"—(कथा एक प्रान्तर की) उनकी उत्कृष्ट रचना है जिसको वर्ष १९८० के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसको इसी पृष्ठभूमि मे समझना उचित होगा।

'ओरू देशत्तिन्ते कथा' उस गाव की कथा है जिसमें श्री पोट्टेकाट जनमे, जहा उन्होंने अपना बालपन और किशोर जीवन बिताया लेखक ने यह पुस्तक "अतिरानिप्पदम" के दिवगत स्त्री पुरुषों को साभार समर्पित की है। उनके साहित्य में यह गाव अमर हो गया है। ये वे सीधे-सादे ग्रामीण जन हैं जिनसे श्री पोट्टेकाट ने जीवन के अनेक भले-बुरे प्रसग, अनके हास-परिहास, उछलकूद और कौतुक, समझदारी, नासमझी, कटुसत्य और गभीर असत्य, सीखे-समझे हैं

कवि और कहानी लेखक से वे उपन्यास के क्षेत्र में कूद पडे। उनके २३ कहानी-सग्रह प्रकाशित हैं, आठ उपन्यास हैं, सोलह यात्रा विवरण हैं, एक नाटक, एक सस्मरण और एक निबध है। १९५९ मे उनकी तेरह कहानियों का एक सग्रह रूसी अनुवाद मे छपा जिसकी एक लाख प्रतिया बिक गयी। मात्र दो सप्ताह मे। उनका प्रथम उपन्यास "नाटन् प्रेमम्" बम्बई मे लिखा गया जब वे दुबारा इस महानगर मे आकर रहे और जमे। इसमे एक भोली-भाली ग्राम सुन्दरी की कहानी है। "विषकन्यका" उनका एक अन्य उपन्यास है जिसमे उत्तरी मालाबार तट पर आकर बसे प्रवासियो की कहानी है, वहा के प्रतिकूल जलवायु, हिंसक वन्य-पशुओं आदि के साथ उनके कठिन सघर्ष की गाथा है। 'तेरूविन्ते कथा'-भी एक ऐसी ही कहानी है जैसे 'देशत्तिन्ते कथा' की—पर इसका

परिदृश्य कालीकट एक सडक है।

यात्रा-विवरण लेखक के रूप मे श्री पोट्टेकाट अप्रतिम हैं। उनकी घुमक्कडी वृति उन्हे आस्ट्रेलिया छोडकर विश्व के प्राय सभी देशों में ले गयी। उनके प्रमुख यात्रा विवरण हैं— इडोनेशियन डायरी, काप्पिरिकलुटे नाट्टिल (अफ्रीकियों के देश में) आदि। पोट्टेकाट ने मलयालम यात्रा साहित्य को ऐसे मनमोहक विवरणो से समृद्ध किया है जो ज्ञानवर्द्धक और शिक्षाप्रद तो है ही, मनोरजक भी है।

उनका निबन्ध सग्रह 'एण्टे वषियम्पलगत' (सस्मरण) मलयालम साहित्य मे अद्वितीय और एक अभिनव प्रयोग है। इसमे लेखक ने कालीकट के प्रारभिक जीवन के, बम्बई में यायावरी जीवन के, मार्मिक शब्दचित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमे कवियो, क्रान्तिकारियो और राजनयिको से उनके सम्पर्को का भी विवरण है।

पोट्टेकाट ने केरल के एक गाव को चुना और उसका प्रेम-भाव से यथार्थ चित्रण किया जो कठोरता के समीप सा लगता है। उसमे अवसाद और आनन्द दोनो प्रचुर मात्रा मे हैं। एक छोटे से क्षेत्र का सघन चित्रण होने से वह एक प्रकार से विश्वगत हो गया है। पोट्टेकाट ने भावुकता को नही अपनाया पर भावना को अपनाया। इस कृति मे रोमाटिक अतिरेक नही है। कथानक और लेखक का लेखन स्वय मे ही नाटकीयतापूर्ण है। पात्रो का चयन इतनी यथार्थता लिये हुए हैं कि वे हमारे सामने सजीव हो उठते हैं, इतने वास्तविक, इतने कठोर और मार्मिक कि पाठक चाहने लगता है कि लेखक पात्रो के प्रति थोडा सदय और सहिष्णु होता। ऐसा नहीं कि सदयता और सहिष्णुता का नितान्त अभाव हो।

और इस सब मे श्रीधरन् की छवि उभरती है जो स्वय पोट्टेकाट ही है— एक लजीला, बडी आखो वाला लडका, उस उदास और सरल गाव की उपज, जो विस्तृत ससार मे निकल पडा है, उसमें कुछ पाता है, और वापस लौटता है तो देखता है कि अब वहा वह वातावरण ही नही रहा जो उसके लिए सबसे बडा आकर्षण था।

इस बीच बहुत सी बाते होती हैं जो जीवन मे अवसाद की भावना भरती हैं जैसे श्री धरन् और अम्मकुट्टी का सबध। प्रेम का एक शब्द भी नही, पर हम जानते हैं, जून के महीने मे जैसे गुलाब की कली होती है, उस तरह गहरा, अघोषित प्रेम दो लजीले युवको के हृदय मे अकुरित हो चुका है। श्री धरन् का उस सबध की सहसा समाप्ति की वेदना का सामना करना, निर्जन एकात के क्षण व्यतीत करना, जहा कोई उसकी पीडा का सहभागी नही—इस ग्रथ का सर्वाधिक मार्मिक प्रसग है। पाठक की आखो मे बरबस आसू भर आते हैं। यदि ऐसा है तो इसमे एक डॉक्यूमेण्टरी की सी वास्तविकता है। यह आत्मकथा है— जिसमे आत्मघोष नहीं, आत्म प्रशसा नही, आत्म प्रताडना नही और न ही शौर्य प्रदर्शन। यह एक गभीर-यथार्थतापूर्ण, सिद्धान्तमूलक, दस्तावेज है।

कृतियाँ

काव्य प्रभाती कान्ति	१९३६
सचारियुते गीतगल	१९४७
प्रेम-शिल्पी	१९५८
उपन्यास नाटन् प्रेमम्	१९४२
प्रेम शिक्षा	१९४२
मुटुपटम्	१९४७
विषकन्यका	१९५८
ओरु तेरुविन्ते कथा	१९६०
कराम्बु	१९५८
ओरु देशत्तिन्ते कथा	१९७१
कुरुमुलकु	१९७६
कबीना	१९७९
वल्लिका देवी	१९३८
कहानी-संग्रह मणिमालिका	१९४४
राजमल्लि	१९४५
निशागन्धि	१९४५
पुल्लिमान्	१९४५
मेघमाला	१९४६
वैजयन्ती	१९४६
जल तरगम्	१९४६
पौर्णमी	१९४७
रग-मण्डपम्	१९४७
चन्द्रकान्तम्	१९४७
पद्मरागम्	१९४७
इन्द्रनीलम्	१९४८
हिम वाहिनी	१९४९
प्रेत भूमि	१९४९
यवनिकक्कुपिनिल	१९५२
कल्लिप्पूक्कल्	१९५४
वन कौमुदी	१९५४
कनकाम्बरम्	१९५५
अन्तरवाहिनी	१९६०
एषिला पाला	१९६२
वृन्दावनम्	१९६८
काट्टु चम्पकम्	१९७०
तेरजेदुत कथकल	१९६७
एस० के० पोट्टेक्काटिण्टे चेरु कथकल्	१९८१
यात्रा-विवरण कश्मीर	१९४७
यात्रा स्मरण कल	१९४९
कार्प्परि कलुटे नाट्टिल्	१९५१
सिह भूमि	१९५४
नील डायरी	१९५४
मलय नाटुकलिल	१९५४
इन्नत्ते यूरोप	१९५५
इण्डोनेशियन डायरी	१९५५
सोवियत डायरी	१९५५
पथिरा सूयन्तेनाटिल	१९५६
बालि द्वीप	१९५८
बोहेमियन चित्रगल	१९६०
हिमालय साम्राज्यात्तिल	१९६७
नेपाल यात्रा	१९६९
लन्दन नोट बुक	१९७०
कैरोकतुकल	१९७४
सचार-साहित्यम् ३-भाग	१९७७
क्लियोपेट्रायुत्ते नाट्टिल	१९७७
नाटक अच्छन	१९४५
निबन्ध गद्य-मेखला	१९४९
एण्टे वाषियम्पलगल	१९७५
हास्य-व्यग्य	
पोन्तक्काटुकल	१९४९
सस्मरण	
ससारिकुन्न डायरी कुरिप्पुकल	१९८०

अभिभाषण के अंश

मैं वर्ष १९८० का ज्ञानपीठ पुरस्कार एक ऐसे सन्धि काल में ग्रहण कर रहा हूँ जबकि हमारा देश राजनैतिक और सास्कृतिक परिवर्तन के वात्याचक्र से गुजर रहा है। मैं यह बात विशेषकर इसलिए कह रहा हूँ कि कला, साहित्य और सस्कृति के सम्बन्ध में आज की नयी पीढी की धारणाएँ पुरानी पीढी से बिल्कुल ही भिन्न हैं। इन धारणाओं के साथ उनके मूल्य भी बदल गये हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक सोचने लगे हैं कि विज्ञान और टैक्नोलोजी की जबरदस्त प्रगति के इस युग में साहित्यकार का स्थान है ही कहाँ?

विज्ञान और टैक्नोलोजी के नये-नये आविष्कारो के परिणाम स्वरूप हमारे रहन-सहन के तरीके एक बडी सीमा तक बदल गये हैं। आगे ये और भी बदलते रहेगे। परिवर्तन की अभी और भी सम्भावनाएँ हैं। किन्तु यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो पायेंगे कि ये परिवर्तन हमारे भीतर की आसुरी प्रवृत्तियों को ही बढावा दे रहे हैं।

विज्ञान के दो रूप हैं। एक वह जो मनुष्य के भोग-विलास मे वृद्धि के लिए उत्सुक है, दूसरा वह रूप जो सहार की ओर उन्मुख है। यह सहारक प्रवृत्ति अधिक बलशाली है। कला और साहित्य का उद्देश्य तो सृजन है, सहार नहीं। इसलिए इस युग में जबकि विज्ञान और टैक्नोलोजी की अन्तिम परिणति मानव सभ्यता के सहार की ओर सकेत करती है, केवल कला और साहित्य ही मानव समाज का परित्राण कर सकते हैं। जो सच्चा साहित्य है उसे ऐसी प्रेरणा देनी चाहिए कि मनुष्य के भीतर का पशुभाव नष्ट हो, भ्रातृ-भाव, समानता और शान्ति जैसे मानव मूल्यों का विकास हो। दूसरे शब्दों में, मानव समाज युग की कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों को देखता हूँ तो मुझे खेद होता है, साहित्य को एक सरलता से बिकने वाली बाजारी वस्तु बना देना, चाहे जानबूझकर, चाहे अनजाने, मनुष्य की नैतिक भावना को पगु बना देना, अश्लीलतापूर्ण कामुक भावनाओं को भडकाना, हत्या, लूटपाट, बलात्कार और इसी तरह की मनगढत कथाओं से बाजारो का भरा जाना ऐसी ही कुप्रवृत्तियाँ हैं। यह आसानी से बिक भी जाते हैं। कहा जाता है कि आधुनिक जगत के तीन अभिशाप हैं—दरिद्रता, प्रदूषण और जनसख्या वृद्धि। इन अभिशापो ने साहित्य को भी प्रभावित किया है। परिणाम है विचारो की दरिद्रता, अपराध और कामुकता की भावनाओं के मिश्रण से उत्पन्न प्रदूषण और सस्ती तथा गन्दी पुस्तको से बाजार पाट देने की प्रवृत्ति। मेरा विश्वास है कि सत्साहित्य वह है जो मानव मस्तिष्क में सद्भावना का विकास करें। समाज के श्रेष्ठतम विचारों को सँजोने की सामर्थ्य प्रदान करे। मैंने अपना साहित्यिक जीवन इसी भावना के साथ प्रारम्भ किया।

मेरे पिता एक अग्रेजी स्कूल में अध्यापक थे। उन्हे सस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था। पिता जी मुझे रामायण, महाभारत और कृष्णगाथा का प्रतिदिन पाठ कराते थे। अपने अध्ययन के दिनों में ही रामायण और महाभारत की कुछ घटनाओं के चित्र मेरे मानस-पटल पर अकित होने लगे थे। उनसे मिलते-जुलते अनेक चित्रों की कल्पनाएँ मेरे मन पर उभरती रहती थीं। 'श्रीकृष्णचरितम्' के मणिप्रवालम् की दो पक्तियों मे जो चित्र अकित किया गया है वह कितना आनन्द विभोर कर देता है।

कालिन्दीतन पुलिनवुम कुलुर वेणिलावुम।
मेल्लिच्चा रात्रिकलु मुन्निदी वेणु वोलम्।।

हिन्दी में इसका अनुवाद इस प्रकार है—"यमुना

के तट पर रातें उतरेंगी, दुग्ध-धवल चन्द्रकौमुदी और श्वेत सिकता मानो एक दूसरे से मिल जायेंगी।" इसी तरह मुझे ऋषि महर्षियों की प्रेरणादायी कथाएँ पढ़कर भी बडा आनन्द प्राप्त होता। एक छन्द में जब मैंने पढा–

इनि उल्लाकालम्, कलियुगमत्रे।
मुनिजनंगलुम् परजु पोमल्लो।।

"अब यह कलियुग प्रारम्भ हो रहा है। मुनिगण अन्तर्धान हो जायेंगे।" तब मैं रो पडा। हाई स्कूल एव कालेज में अपने पिताजी की प्रेरणा से वैकल्पिक विषय के रूप में मैंने सस्कृत ली थी। इससे मुझे सस्कृत नाटकों और काव्यों को समझने में बडी सुविधा हुई। इस तरह मैंने प्राचीन भारतीय वाग्मय का जो ज्ञान प्राप्त किया था उसने मुझे अपने साहित्यिक क्षेत्र में सदा सत्प्रेरणा प्रदान की। पश्चिमी साहित्य की जानकारी मेरे लिए एक और उपलब्धि सम्पत्ति सिद्ध हुई। मेरी मातृभाषा मलयालम मे अनेक विधाएँ हैं। हमारी अधिकाश भाषाएँ प्रान्तो के नाम से जुडी हुई हैं, जैसे बगाल मे बाग्ला, पजाब में पजाबी, तमिलनाडू में तमिल किन्तु केरल की भाषा मलयालम है। यहाँ तक कि कुछ लोग सभवत यह भी नहीं समझ पाते कि मलयालम भी एक भारतीय भाषा है। मैं जानता हूँ कि एक पडित ने मुझसे कहा कि मलयालम तो मलाया की भाषा है। इस्लाम और ईसाई धर्मों के आगमन से मलयालम भाषा और साहित्य की समृद्धि ही हुई है। मलयालम भाषा मे सस्कृत शब्द बहुल है। इस तरह सस्कृत व द्रविड भाषाओं ने तथा अग्रेजी, अरबी, पुर्तगाली, फ्रासीसी आदि विदेशी भाषाओ के सम्पर्क ने मलयालम भाषा और साहित्य को एक विशेष रग-रूप और सौरभ प्रदान किया है। 'वडकन पट्टु' मे देशज मलयालम शब्दो की प्रधानता है। 'मप्पिला पट्टु' में अनेक अरबी और फारसी के शब्द भरे हैं। इनसे भी मलयालम साहित्य की समृद्धि हुई है। सस्कृत नाटक और सस्कृत कथा-काव्यों को आज भी मन्दिरों की कलाओं में ऊँचा स्थान प्राप्त है। पुराने 'चविट्टुनाटकम्' का सीरियन ईसाइयों के साहित्य से सम्बन्ध है। इस तरह इन परिस्थितियों में मलयालम साहित्य अनेक नयी और जीवन्त धाराओं को समाहित करते हुए आगे बढा है।

यद्यपि भारतीय संविधान में लगभग सोलह भाषाएँ उल्लिखित हैं किन्तु भारतीय साहित्य मूलत एक है।

जैसे विशाल वट वृक्ष की जडे होती हैं उसी तरह भारतीय भाषाओं का साहित्य भी सारे देश में व्याप्त है किन्तु एक प्रदेश की सास्कृतिक और साहित्यिक परिस्थितियों और उपलब्धियों को अन्य प्रदेशो को लोग प्राय नहीं समझ पाते। हम अमेरिका, रूस, स्वीडन आदि देशों के साहित्यकारों के बारे में तो जानते हैं कितु अपने पडोसी प्रदेशों के कवियों, कथाकारों के सम्बन्ध में लगभग अनभिज्ञ हैं। यह बडी दयनीय स्थिति है। केद्रीय साहित्य अकादमी के प्रयत्नों से ही इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। भारत के सभी प्रदेशों के लोगो मे सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को जानने और समझने की क्षमता होनी चाहिए। इसके लिए पर्याप्त सुविधाएँ और अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

इस दिशा मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा भारतीय भाषाओ में से प्रति वर्ष एक सर्वश्रेष्ठ कृति को पुरस्कृत करने की योजना अपने आप में एक अत्यन्त उपयोगी साहित्य सेवा है। इससे विभिन्न भाषाओ की सर्वश्रेष्ठ कृतियों को उभरने का अवसर प्राप्त होता है। जो कृतियाँ पुरस्कृत नहीं होती हैं उन पर भी सारे भारत के विद्वानों का ध्यान तो आकृष्ट होता ही है। यह भी अपने में एक महान उपलब्धि है।

साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को जागृत करना और उसकी अन्तरात्मा को ऊँचा उठाना है। साथ ही, साहित्य का यह भी उद्देश्य है कि विशाल भारत देश के विभिन्न प्रदेशों के लोगों को समता, सहयोग और पारस्परिक सास्कृतिक समन्वय द्वारा

एक साथ निकट लाये, चाहे वे बगाली हों, पजाबी हों या तमिलनाडू के निवासी हों। यह भ्रातृभाव केवल मनुष्य तक ही सीमित नही है। प्रेमी की परिधि विशाल होती है। उसमे पशु-पक्षी और यहाँ तक वनस्पतियाँ भी समा जाती हैं। हमारे ऋषि-मुनियों, पुराणकारो ने इस विश्वव्यापी प्रेम का प्रसार किया। हमारे महाकवि कुमारन आसन ने कहा

> **तरु पक्षि भृगगलोडुम किन्नर रोडुम।**
> **पुर रोडु मेन्दुमे, ओरु मदिट्ट वरुल्लिलेन्दुम्**
> **सरल स्नेह रसम् निलप्पु ज्ञान।**

"ऋषियों ने प्रेम का प्रसार केवल मनुष्य तक ही नहीं, पक्षियों और वृक्षों तक में किया है।" किन्तु यह प्रकृति के प्रति स्नेह और करुणा की भावना-प्राणी मात्र के प्रति लगाव, पुराने-युग की भूली-बिसरी बात जैसे हो गयी है।

मैं आदि-शकराचार्य के प्रदेश मे उत्पन्न हुआ हूँ। शताब्दियो पूर्व आचार्य शकर ने अद्वैत सिद्धान्त के द्वारा न केवल सम्पूर्ण भारत मे दिग्विजय प्राप्त की थी अपितु भारत के चारो कोनो मे चार मठो की स्थापना की और भारतवासियो को सास्कृतिक एकता के सूत्र मे आबद्ध किया।

आचार्य शकर ने सम्पूर्ण भारतवासियो को एक समरस इकाई मानकर अपनी साहित्य रचना की। उस महान ऋषि ने देश की सभी नदियो की स्तुति मे स्त्रोत लिखे। गगा की स्तुति मे लिखी उनकी ये पक्तियाँ सुनिए—

> शैलेन्द्रादवतारिणी निजजले
> मज्जज्जनोद्धारिणी।
> पारावार-विहारिणी विजयते गगा
> मनोहारिणी।

शकराचार्य के दर्शन में गगा को सारे देश की समन्वित सम्पत्ति के रूप में स्थान दिया गया है। कालिदास जैसे महाकवियों ने भी भारत देश की एकता पर बल दिया था। इसी तरह महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी महान सन्देश को अपने एक लेख "अरण्येर सन्देश" में सुनाया है। किन्तु आज वह प्रेम और समता की भावना मानो प्राचीन काल की वस्तु हो गयी है। हमारे देश में जो बुराइयाँ आज उत्पन्न हो गयी हैं उसका एक मुख्य कारण भारतीय सास्कृतिक मूल्यों की अवहेलना भी है।

सेवा-भावना का स्थान स्वार्थ भावना ने लिया है। आज के मनुष्य का मानसिक रुझान इस ओर है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए और सासारिक सुख-सुविधा की पूर्ति के लिए किसी भी बुरे-से-बुरे साधन को अपनाया जा सकता है। प्रकृति के प्रेम की विज्ञान की वेदी पर बलि दे दी गई है। वनो का बुरी तरह विनाश किया जा रहा है और मरुस्थलो की परिधि बढती जा रही है। हम इस बात से अनभिज्ञ हैं कि कँटीली झाडियाँ और मरुस्थल अब हमारे मस्तिष्क मे भी घर कर गये हैं। अब भी समय है कि हमारे साहित्यकार, कलाकार आगे आये और भारत देश को इस महान विपत्ति से बचाये।

अमृता प्रीतम

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का वर्ष १९८१ का साहित्य पुरस्कार श्रीमती अमृता प्रीतम को समर्पित किया जा रहा है। इनका काव्य-सग्रह 'कागज ते कैनवस' १९६५-७४ के काल में प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

'कागज ते कैनवस' में इनका काव्य आज के अमानवकारी युग के मानव की जीवना के लिए एक पारगामी व्यापक आकुलता को स्वरित करता है। जीवन-जगत् के विषय में इनका दृष्टिकोण एक आन्तरिक विवेक की प्रौढ़ता ग्रहण कर उठा है। 'गर्भवती' जैसी रचनाओं में तो स्पर्शगत कोमलता भी आयी है और अभिव्यक्तिगत सवरणशीलता भी। कई कविताओं में व्यग्यभाव भी मुखर हुआ है। बिम्बविधान तो प्राय सभी कहीं उद्दीपक है, यद्यपि सयत और सहत।

दो अन्य कृतियाँ भी इनकी उल्लेखनीय हैं कविता-सग्रह 'मैं जमा तू' और उपन्यास 'उनीजा दिन'। 'मैं जमा तू' काव्यात्मक आत्मजीवनी जैसा है। कवयित्री यहाँ आत्ममुखी होकर जीवन और युग के परिप्रेक्ष्य में अपनी उपलब्धियो और परिसीमाओं को मापने का प्रयत्न करती है।

अमृता प्रीतम बहुकृतिक लेखिका हैं। अनेक कृतियाँ तो विभिन्न भारतीय भाषाओं एव अँगरेजी आदि में भी अनूदित हुई हैं। नारी के दृष्टिकोण से मानवप्राणी की दुर्दशा सभी कृतियों में प्रतिबिम्बित हुई है। स्थल-स्थल पर "विलक्षण सुन्दरता" दृष्टिगत होती है एक पीड़ा-व्यथा, एक हर्ष-उल्लास जो मन पर छा रहते हैं। 'वारिसशाह' कविता तो अद्वितीय है जो नारी के प्रति होती नृशसता की द्योतक है।

अमृता प्रीतम श्रृखला की उन इनी-गिनी कड़ियों में से हैं जो भारत और पाकिस्तान के पजाबी साहित्यिक आन्दोलन को सग्रथित बनाये हुए हैं। भारतीय ज्ञानपीठ की हार्दिक कामना है कि अमृताजी दीर्घायु हों और देश के साहित्य को अधिकाधिक समृद्ध करें।

नयी दिल्ली	अध्यक्ष	मैनेजिंग ट्रस्टी	अध्यक्ष
१६ अप्रैल, १९८३	प्रवर परिषद्		भारतीय ज्ञानपीठ

अर्धनारीश्वर का फलसफा खो गया—
तो दासता पैदा हुई
शिवशक्ति जैसा चिन्तन खो गया—
तो जड़ता पैदा हुई
शक्ति खो गयी—
तो प्रतिकर्म में से खौफ पैदा हुआ—
धर्म खो गया—
तो प्रतिकर्म में से मजहब पैदा हुआ
आत्मा खो गयी—
तो शरीर एक वस्तु बन गया .
बेचने और खरीदने की वस्तु.

अमृता प्रीतम

किसी व्यक्ति के ही नहीं, समाज और जाति के भी जीवन में ऐसा क्षण आता है जब अस्तित्व एक असह भार बन उठता है। उस समय आशा की किरण कही नाम को नहीं होती , न बाहर जीवन के स्तर पर न भीतर आत्मा के ही। जैसे कहीं अर्थ ही न रह जाता हो न स्वय अपने मे अपने लिए न औरो के लिए, न कही समाज और सामाजिकता में ही। सच ही ऐसी स्थिति को सामने पाना और विवश हुए उसे ग्रहण करना अपने में बडा विभीषिकामय होता है।

'अवसर' का प्रादुर्भाव

हमारे यहाँ के दर्शन-चिन्तन मे, सिक्ख परम्परा में तो विशेषकर, ऐसे क्षण को 'अवसर' नाम दिया गया है। अभारतीय भाषाओ मे ऐसा शायद कोई शब्द नहीं है जिसमे 'अवसर' शब्द के पूरे भाव का द्योतन किया जा सके। यो अर्थ और भाव इस शब्द का है वह क्षण या सुयोग जब उस विभीषिका की स्थिति और उसका बोध ऐसे चरम बिन्दु को जा छूते हैं, जहाँ सामने सघन हताशा होती है और दिव्यद्रष्टाओ तथा ज्ञानियो के अन्तरतम से एक प्रबल आयास भी उठता है कि आशा की किरण फूटे और विनष्ट होता हुआ मानव अपने को बचा सके।

इस प्रकार होता है प्रादुर्भाव 'अवसर' का और फिर साक्षात्कार किसी आप्तपुरुष से, उसकी पुण्य भावनाओ से, और एक नवसर्जना जैसे किसी मगल प्रयास से जो उस हताशा की स्थिति से उबार सके। कोई भी जाति या समाज यदि सामने आये 'अवसर' के प्रति दत्तचित न हो तब उसकी और भी अधोगति होती है, उसकी बची-खुची जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है, और सर्जनात्मकता का विलोप।

पजाबी समाज के सम्मुख ऐसा एक 'अवसर' उन घटनाओ के रूप मे आया जो १९४७ मे स्वतन्त्रता तक भी पहुँचा सका और साथ ही देश के विभाजन और उसके भीषण परिणामो का भी कारण बन उठा। देखा जाये तो, पजाब की सामाजिक-सास्कृतिक वास्तविकता का साम्प्रदायिक विकृतियो-भरा पक्ष, इतना उस प्रदेश की काया के टुकडे किये जाने मे प्रकट होकर नहीं उभरा, जितना उन बर्बरताओ मे जो चारो ओर से मुह बाये आकर घेर उठीं। कितना रक्तपात, कितने अपहरण-बलात्कार, कितनी लूट, और

कितना-कितना कहाँ क्या नहीं हुआ। एक भयानक उन्माद सवार था सभी के सिर जो जनक भी था उस पाशविकता का और तर्क भी।

व्यंग्य उस सारे मानुषी अध पतन का यह कि सब धर्म के नाम पर किया जा रहा था! और जिनके हाथों कुकृत्य हो रहे थे—भले उस 'विभीषिका' के निरे अन्ध औजार ही थे वे--पर अपने किये के दण्ड उन पर ही नहीं पडे, मोल भरना पडा उन सबको भी जिन्होंने आँखें मुँदि और कान बन्द किये तमाम काण्डों को होने दिया। कौन जाने इन अभागों को दोहरा-दोहरा अभिशाप झेलना पडा हो अपनी सहज मानवीय सवेदनशीलता को जड बनाये रखने का और स्वाभाविक सहानुभूति भाव को नकारे रहने का।

अमृता प्रीतम 'अवसर' की पीडा का स्वर

और उस 'अवसर' की अन्तर्भूत पीडा-व्यथा एव गुरुत्व ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए चुना स्वर अमृता प्रीतम का। कैसा क्षत-विक्षत हुआ पडा था समूचा पजाबी मानस उस समय। स्वभावत आवश्यकता थी घर-घर मे छाये सोग-वियोग को वाचा देने की। और अमृता प्रीतम ने दारुण यन्त्रणा झेलते, पाँच-पाँच नदियों के उस प्रदेश की आर्त पुकार को व्यक्त करने के लिए, चुना प्रतीक सवेद्दता नारी का--जितना ही सजीव, उतना ही अर्थपूर्ण। किसे और सोचा भी जा सकता था मानवीय स्तर पर निर्दोषता के प्रतीक के रूप में, या उसके चरम अतिक्रमण के लिए, और कह सकें तो, उसके अपने निरस्तित्व को लेकर भी।

अमृता प्रीतम ने इस प्रतीक के द्वारा जहाँ एक ओर मानवीय पतन को उघाडा है, वहाँ दूसरी ओर ईश्वर के फिर भी मौन बने रहने को भी। किस-किस रूप में, सच, नारी होने का अभिशाप नहीं भोगना पडा नारी को। धर्म के नाम पर हुई मारकाट में लूट का माल थी वह। एक धर्म की दूसरे पर जय का प्रमाण बनाये गये तो नग्नाओं के जुलूस। राम या रहीम की दुहाई दे-देकर डाके पडते उन बेचारियों की असमत पर। और जो मोल उस पशुता को गले बँधता उसे ढो सकने के लिए उन्हें ही कहीं ठाँव न मिलती! नसीब से कोई अगर अछूती बच निकलती तो उसे रहने को ठिकाना न माँ-बाप के घर मिलता न ब्याहे पति के!

और यह सक्षमता अमृता प्रीतम की ही कविता में थी कि नारी की आपबीती को भी दर्पण की तरह सामने ले आयी और पुरुषवर्ग की सारी गुनहगारी को भी, जो अपने गुनाहों का दण्ड भी नारी पर डाले खडा था। पजाब का काटा गया था एक हाथ से दूसरे की तरफ, नारी की आपबीती को लेकर अमृता प्रीतम ने एक और भी फाँक ऊपर से नीचे तक पडी हुई दिखायी नारीवर्ग और पुरुषवर्ग के बीच की फाँक। इतिहास इस फाँक में खडा पुकार रहा था कि पुरुष तो नारी के प्रति बार-बार ही अमानुष होता आया है। उसे जैसे पूरा इनसान तक नहीं गिना गया।

अमृता प्रीतम की काव्य-त्रिवेणी

यह सारी वस्तुस्थिति उजागर करते हुए अमृता प्रीतम ने अपनी कविताओं मे एक ऐसे विश्वमानव की भी परिकल्पना की है जिसे अपने भाग्य पर अधिकार हो, और जो मानवमात्र को प्रेम और शान्ति, उदारभाव और एकात्मता से सम्पन्न कर सके। इस प्रकार, विभाजन और साम्प्रदायिक काण्डो के जाये उस 'अवसर' ने उद्‌भावना पायी अमृता प्रीतम के काव्य में उस काव्य-त्रिवेणी में जिसमें अतीत की स्मृतियाँ, वर्तमान की नरक-यातना, और भविष्य की एक आशा-सी उन्मुखर हुई थीं। युग की विभीषिका उनकी आँखों आगे थी, और उनकी सृजन-शक्ति-सम्पन्न दृष्टि पजाब के मानस को दूर भीतर तक तार-तार देख रही थी।

अमृता प्रीतम की उस दृष्टि से छिपा नहीं रह सका कि पजाब स्वय ही अपना शत्रु बना खडा है। और यही दृष्टि और प्रत्यक्ष ज्ञान चुनौती बने उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा को, और उनकी निखिल मानवतावादी आस्था-निष्ठा को। यहीं निहित

मिलता है वास्तविक उत्तर भी कि आँखों आगे की उस भीषण त्रासदी के जीते-जागते चित्र उपस्थित करते हुए भी, पजाब की यह कवयित्री क्यों उस तात्कालिक में खो नहीं रही, और कैसे बनी रह सकी मानव और मानवता के प्रति उसकी आस्था-निष्ठा।

सभी आज स्वीकार करते हैं कि पजाबी साहित्य में, विशेषकर काव्य-साहित्य के क्षेत्र में, अमृता प्रीतम अप्रितम हैं। लगभग आधा शती का उनका साहित्यिक जीवन ही जैसे मापदण्ड है पजाबी साहित्य की गति-प्रगति का। पजाबी साहित्य मे आधुनिक सवेदनशीलता के विकास मे तो उनका योगदान किसी से भी कम नहीं। वे मानो नियत थी कि नये युग, नयी चेतना, और नयी सवेदनाओ का पदार्पण पजाबी साहित्य मे कराये। उस युग का पदार्पण जहाँ सौन्दर्यबोध और विचार-भावो के क्षेत्रों मे बन्धनमुक्तता हो, जहाँ धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय चेतना के ताने-बानों में यथार्थता और उदारशीलता हों, और स्थान हो उन जीवन-मूल्यों के आकलन के लिए जो आधुनिक चिन्तन की देन हैं।

अमृता प्रीतम के लेखन का शक्ति-धन था वास्तव मे उनके अपने जीवन की अनुभूतियाँ, उनकी सचाई, और हार्दिकतापूर्ण चुनौती-भरी वाणी। यही कारणभूमि भी थी कि वे सभी समकालीनों से आगे आकर वाचा और स्वर दे सकी भारतीय नारी की चिरव्यथा को, जो शताब्दियो से मान और मर्यादा के लिए भटकती आयी थी। काव्य-रचना हो अमृता प्रीतम की, चाहे कथा-कृति, विषयवस्तु सब कही अन्त मे जा जुडती है पुरुषवर्ग के बनाये-सजाये समाज मे नारी की निरीह व्यथा से, निरालम्बता से। कोई टेक कही हो सकती थी उसके लिए तो हार्दिक प्रेमभाव मे, उसकी अवधारणा में।

प्रारम्भ से ही अमृता प्रीतम ने ध्यान आकर्षित किया अपनी सक्षमता और आत्मविश्वास के लिए। इन्हीं के सहारे पैठकर वे उकेर सकी अन्तरग छवि उस प्राणी की जिसका नाम नारी है। अर्थात् छवि उन नाना विकृतियों और बिखरावों की जो उसके जीवन का तानाबाना बने हुए हैं और जो देन हैं उसे समाज की, स्वय अपनी विवशताओं की। यह छवि है, सचमुच, इस अध-सामन्ती और अध-आधुनिक समाजतन्त्र के द्वारा उस पर लादे गये प्रतिबन्धों की, भीतर-भीतर खाती भूखी भावनाओं की, हताशा की, निश्चेष्टता की, और उस दारुण द्विधा की जो उसे घेरे आती कि जिये तो कैसे और न जिये तो क्यों।

सबसे विलक्षण बात तो अमृता प्रीतम की कविता की यह—वह चाहे व्यथा-वेदना की हो चाहे किसी सामाजिक प्रतिबद्धता की—कि न तो वह नितान्त हताशा भाव को मुखर होने देती हैं न ही ठीक-ठीक बुझे-गूने बिना किसी भी प्रचलित विचार-भाव का अनुसरण ग्रहण करती हैं। उन्होंने दोनों सहज सम्भावनाओ में, भले ही सूक्ष्म, पर अचूक सन्तुलन बनाये रखा है। और यह भी इस स्वाभाविक आधार पर कि वे ऐसी सर्जनात्मक क्षमता का मानवप्राणी में होना मानती हैं जो कैसी भी स्थिति से पार ले सके।

एक अन्य मूल्यवान पक्ष अमृता प्रीतम के साहित्यिक कृतित्व का है उनकी अन्वेषकता नये-नये रूप-विधान ग्रहण करने की प्रवृत्ति। और यह इस दृष्टि से और भी कि जीवन की जटिलता को, अनुभूति के विविध पक्षो को, और इनमे से प्रत्येक के मूल्य-महत्त्व को ठीक से प्रत्यक्ष किया और कराया जा सके। हो सकता है उनके इस सारे दृष्टिभाव के मूल में बसी हों आपबीतियाँ उन अनगिनत जनो की जिन्होने विभाजन और उसके भीषण परिणाम झेले-भोगे, जो 'स्थित' से 'अस्थित' बन गये, और कही-कही तो जैसे पूर्ववत् अब भी नही हो पाये हैं।

अमृता प्रीतम के लेखन का प्रारम्भिक स्वरूप विभाजन के बाद रहा ही नहीं। अब न केवल उनकी रचनाओं का भीतरी और बाहरी साँचा ही जटिल हो चला, परस्पर-विरोधी भाव तक नही

गुँथने लगे, बल्कि काव्यविधा के सग-साथ लघु और सुदीर्घ कथा-विधाएँ भी आ सम्मिलित हुई। इनके माध्यम से अधिक सुगम हो सका साक्षात्कार कराना नारी-मन और भावनाओं के बिखराव को, उसकी द्विविधाओं और आन्तरिक विरोधो-भरी वस्तुस्थिति को। सचमुच एक उलझाव बन गयी थी नगरों के रहनेवालों की मानसिकता—धर्मनिरपेक्षता के वातावरण के कारण। चेतना पर बसे आते थे सामन्ती युगो के सनातन मूल्य और बाहरी काया को घेरे खडी थी मशीनी युग की धूपछाँव, देश की स्वतन्त्रता का दायज।

परिणाम यह कि जहाँ अमृता प्रीतम के मानस ने एक विस्तार पाया, वहाँ उन्हें नयी विचार-व्यवस्थाओं के जगाये हुए कल्पनादर्शों के महल भी टूटते-बिखरते मिले। फिर तो जो स्थिति उभरकर आयी सामने एक असम्भव को सम्भव करने जैसी होती ही। एक ओर था अमृता प्रीतम का आग्रह कि समाज में न्यायभाव के लिए नया-नया उपजा हुआ उत्साह अछूता बना रहे, और दूसरी ओर यह भी कि अपनी दृष्टि-भावना को, किसी प्रकार का कहीं समझौता न करके, अक्षत बनाये रखें। अर्थात् मनुष्य के आत्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार पर किसी भी बहाने आते अकुश को समर्थन नहीं देंगी।

कुछ कथाकृतियाँ

अमृता प्रीतम की कथा-उपन्यास विधाओं में आयी कृतियों में 'पिंजर' और 'आह्लणा' का उल्लेख करना आवश्यक है। इन दोनों पुस्तकों के द्वारा प्रस्तुत की गयी है सामाजिक पृष्ठभूमि नारी की उस जन्मजात यातना की जिसे विभाजन और उसके साथ जुडी-बँधी पाशविकताओं ने बहुत-बहुत बढा दिया। बाद के उपन्यासो में जोर दिया गया है नारी और पुरुष के सम्बन्धों पर सुख और आनन्द के उन क्षणों पर जो एक-दूसरे को पाकर आप से आप उभरते और अनुभव होते हैं, और उस पीडा-व्यथा के ब्योरों का जो दोनों के परस्पर पराया या पराया-जैसा हो जाने पर झेलने पडते हैं। साथ ही उस सघन ऊब और क्लान्ति का, जीवन की ही निरर्थकता का, जो अन्त में घेर-घेर आती हैं।

'कागज़ ते कैनवस'

'कागज ते कैनवस' मे अमृता प्रीतम की कुछ श्रेष्ठतम काव्य-रचनाएँ सग्रहीत हैं। उनका जो दृष्टिदर्शन यहाँ परिलक्षित होता है उसमें एक नया ही भाव-गाम्भीर्य है और है उसके समानान्तर एक आन्तरिक विवेकपूर्णता। यहाँ उनकी प्रमुख चिन्ता लगती है कि कैसे अमानवता की ओर बढते मानव के चरण रुके और कैसे विनाश से उसे बचाया जाये। सग्रह में कई कविताएँ वे भी सम्मिलित हैं जो गुरु नानक की पाँचवीं शतवार्षिकी से सम्बन्धित हैं और कई दृष्टियों से बडी महत्त्व की मानी जाती हैं।

इन रचनाओं में गुरु नानक देवजी का असामान्य मानवीय रूप तो प्रस्तुत किया ही गया है, दो अन्य नारीगत स्वाभाविक रूप भी उकेरे गये हैं एक है माँ की मनोभावनाओं का जननी माँ की, सबकी जननी-धारिणी धरती माँ की, और निखिल सर्जना-शक्ति माँ की कल्पनाओं का। इस सन्दर्भ में अमृता प्रीतम ने मानव की दैवी सम्भावनाओं की परिकल्पना की है। दूसरी नारीगत भावनाओं का रूप जिनसे यहाँ साक्षात्कार कराया गया है वह है नानकदेवजी की धर्मपत्नी की विरहपीडा का। और यह तो आये दिन ही भोगनी पडती उन्हें क्योंकि गुरु नानक अपना सत्य और शान्ति का सन्देश लिये दिनों-दिनों के लिए चले जाया करते।

अमृता प्रीतम की कला कुशलता का प्रत्यक्ष परिचय उन रचनाओं और रचना-पक्तियों में मिलता है जहाँ वे चुन-चुनकर अन्तरतम की भाव-दीप्तियों तक को आँखों आगे सम्मूर्त करती है और करती हैं यह लोकजीवन से लिये हुए बिम्बों के सहारे। ऊपर से विशेषता यह कि ये बिम्ब भी व्यक्ति-जीवन के नहीं होते, लोकजीवन के

अवचेतन स्तर से चुनकर लिये हुए होते हैं।

'कागज ते कैनवस' की कुछ कविताओं में अमृताजी की काव्यप्रतिभा का एक अन्य आयाम भी गोचर होता है। यहाँ शब्दरूप दिया गया है उस सौन्दर्यमूलक कायिक प्रतीति को जो निखिल धरा और निखिल जीवन के-मिलन-उत्सव में दृश्यमान होती है। कई अन्य कविताओं में दृष्टिगत होती हैं छवियाँ उन पल-पल बदलते भावों की जो परितोषणा खोजते प्राणों और लयताल बँधे काल की पुकारों पर फूट-फूट आते हैं। यहाँ अमृता प्रीतम वैयक्तिक भी हैं और पारगत भी।

अन्य रचनाएँ

उपन्यास-विधा में अमृताजी की पिछले दिनों ही एक रचना आयी है 'उनींजा दिन' जिसे लेखकों और समीक्षकों दोनों ने सराहा है। इसमें मृत्यु की इच्छा को मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आयामों में देखने का प्रयत्न किया गया है। अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं उनकी काव्य-सग्रह 'लामियाँ वतन', 'कस्तूरी', 'मैं जमा तू', उपन्यास 'चक्क नम्बर छत्ती', और आत्मकथात्मक निबन्ध 'रसीदी टिकट'। सब लगभग ६० पुस्तकें उनकी प्रकाश मे आ चुकी हैं। इनमें उपन्यास, कहानी-सग्रह, काव्यकृतियाँ और आत्मवृत्तात्मक पुस्तकें भी हैं, और साहित्य का इतिहास, लोकसाहित्य विषयक भी। अनेक कृतियाँ न केवल अन्यान्य भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं, बल्कि कई तो विदेशी भाषाओ मे भी।

अपने साहित्य-सृजन पर उन्हें मान-सम्मान भी भरपूर मात्रा मे मिलता आया है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने उन्हे भारतीय साहित्य की समृद्धि मे योगदान करने के लिए डी लिट् की उपाधि से अलकृत किया था। साहित्य अकादमी पुरस्कार अपने कविता-सग्रह 'सुनहुडे' पर १९५६ में ही प्राप्त कर चुकी थीं। कई राजकीय एव अराजकीय सस्थाएँ, पजाब तथा पेप्सू राज्य, और दिल्ली प्रशासन अपने सम्मान-पुरस्कार समय-समय पर उन्हे भेंट करते आये हैं। पजाबी लेखन मे अपनी उपलब्धियों के लिए अन्तरराष्ट्रीय पजाबी सोसायटी का मानपट्ट सहित पुरस्कार भी वे प्राप्त कर चुकी हैं।

—डॉ अतर सिंह

कृतियाँ

उपन्यास

१ **डाक्टर देव**—१९४९
(हिन्दी, गुजराती, मलयालम और अँगरेजी में अनुदित)

२ **पिंजर**—१९५०
(हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मलयालम, मराठी, अँगरेजी और सर्बोकरोट में अनूदित)

३ **आल्हणा**—१९५२
(हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी मे अनूदित)

४ **आशू**—१९५८
(हिन्दी और उर्दू में अनूदित)

५ **इक सिनोही**—१९५९
(हिन्दी और उर्दू में अनूदित)

६ **बुलावा**—१९६०
(हिन्दी और उर्दू में अनूदित)

७ **बन्द दरवाजा**—१९६१
(हिन्दी, उर्दू, कन्नड, सिन्धी और मराठी में अनूदित)

८ **रग दा पत्ता**—१९६३
(हिन्दी और उर्दू में अनूदित)

९ **इक सी अनीता**—१९६४
(हिन्दी, उर्दू, और अँगरेजी में अनूदित)

१० **चक्क नम्बर छत्ती**—१९६४
(हिन्दी, उर्दू, सिन्धी और अँगरेजी में अनूदित)

११ **धरती, सागर ते सीपियाँ**—१९६५
(हिन्दी और उर्दू में अनूदित)

१२ **दिल्ली दियाँ गलियाँ**—१९६८
(हिन्दी में अनूदित)

१३. **एकते ते एरियल**—१९६९
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

१४ **जलावतन**—१९७०
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

१५ **यात्री**—१९७१
(हिन्दी, कन्नड, अँगरेजी, बाग्ला और सर्बोकरोट मे अनूदित)

१६ **जेबकतरे**—१९७१
(हिन्दी, उर्दू, अँगरेजी, मलयालम और कन्नड में अनूदित)

१७ **अग दा बूटा**—१९७२
(हिन्दी, कन्नड और अँगरेजी मे अनूदित)

१८ **पक्की हवेली**—१९७२
(हिन्दी मे अनूदित)

१९ **अग दी लकीर**—१९७४ (हिन्दी में अनुदित)

२० **कच्ची सडक**—१९७५
(हिन्दी में अनूदित)

२१. **कोई नहीं जानदाँ**—१९७५
(हिन्दी और अँगरेजी मे अनूदित)

२२ **उनहाँ दी कहानी**—१९७६
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

२३ **इह सच है**—१९७७
(हिन्दी, अँगरेजी और बुल्गारियन में अनुदित)

२४ **दूसरी मंजिल**—१९७७
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

२५ **तेहरवाँ सूरज**—१९७८
(हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी में अनूदित)

२६ **उनींजा दिन**—१९७९
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

२७ **कोरे कागज**—१९८२
(हिन्दी में अनूदित)

२८ **हरदत्त दा जिन्दगीनामा**—१९८२
(हिन्दी और अँगरेजी में अनूदित)

कहानी-संग्रह

१ हीरे दी कनी

२ लतियाँ दी छोकरी
३ पज वरा लम्बी सडक
४ इक शहर दी मौत
५ तीसरी औरत
(हिन्दी में सभी अनूदित, अँगरेजी में दो, उर्दू में एक)

कविता-संग्रह

१ मैं जमा तू—१९७७
(१८ सग्रहों में से सकलित)
अन्य सग्रहों में से कुछ हिन्दी में, अन्य अन्यान्य भारतीय एव विदेशी भाषाओं में अनूदित-प्रकाशित

गद्य-कृतियाँ

१ किरमची लकीराँ
२ काला गुलाब
३ अग दियाँ लकीराँ—१९६९
४ इकी पत्तियाँ दा गुलाब
५ सफरनामा—१९७३
६ औरत इक दृष्टिकोण—१९७५
७ इक उदास किताब—१९७६
८ अपने-अपने चार वरे—१९७८
९ केडी-जिन्दगी? केडा साहित्य?—१९७९
१० कच्चे अखर—१९७९
११ इक हथ मेहन्दी इक हथ छल्ला—१९८०
१२ मुहब्बतनामा—१९८०
१३ मेरे काल मुकट समकाली—१९८०
१४ शौक-सुरेही—१९८१
१५ कडी धुप्प दा सफर—१९८२
१६ अज्ज दे काफिर—१९८२ (हिन्दी में सभी अनूदित)

आत्मजीवनी

१ रसीदी टिकट—१९७६
(हिन्दी, गुजराती, अँगरेजी में अनूदित पाकिस्तान मे भी प्रकाशित अशत रूसी में भी)

अभिभाषण के अंश

अकसर याद आता है, जब मैं बहुत छोटी थी, नानी कहा करतीं जब तू पैदा हुई वर्षा ऋतु में, पन्द्रह भादों को, तो देवता सो रहे थे। बाद में सुना कि शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म—ये तीन ऋतुएँ तो देवताओं के दिन होती हैं और वर्षा, शरद और हेमन्त उनकी रात होती हैं। देवता इन तीनों ऋतुओं में सोये रहते हैं।

लगता है सारी जिन्दगी जो भी सोचती रही, लिखती रही, वह सब शायद देवताओं को जगाने का ही एक प्रयत्न था—उन देवताओं को जो इनसान के भीतर सो गये हैं।

क्यों लिखती हूँ मैं ?

मेरी नजर मे यह मैं से आगे मैं तक पहुँचने की एक यात्रा है। यात्रा—उस "मैं" तक पहुँचने की जिसमें सबसे पहले 'मैं' की पहचान जमा होती है, फिर 'तू' की, और उसके बाद 'वह' की पहचान यानी दुनिया जमा होती है।

यही वह जगह है—जहाँ गैर-से-गैर दर्द भी अपना हो जाता है। इसीलिए एहसास की शिद्दत, अनुभूति की सघनता, 'मैं' का सहज कर्म हो जाता है। एक फूल की महक-सा सहज धर्म।

यही वह जगह है—जहाँ, यथार्थ की हदों से परे की कल्पना भी यथार्थ की हदों में आ जाती है।

और यही वह जगह है, वह बिन्दु है, जहाँ एक लेखक का चिन्तन पाठक का अपना चिन्तन बन जाता है, जो यथार्थ पाठक के लिए आखिरी यथार्थ था वह आखिरी नहीं रहता। सचाई यह कि एक असम्भव उसके सम्भव की हद में आ जाता है।

यह ठीक है कि पाठक की अपनी जिन्दगी का जाना-पहचाना यथार्थ, और यह उसका एक काल्पनिक यथार्थ, आपस में टकरा उठते हैं। मगर इसी टकराव से उसके मन में ऐसे कई सवाल भी पैदा हो उठते हैं जो होने चाहिए। मेरी नजर में कलम का मकसद भी यही है कि यथार्थ जो है उसे दिखा पाना, और जो होना चाहिए उसे भी देखा सकना।

पहले वक्तों में लोग बच्चे की पैदाइश के वक्त होने वाली माँ की कोठरी में एक कोरा कागज और कलम-दवात रख दिया करते थे। और घर का बुजुर्ग उस कोरे कागज के पास खडे होकर दुआ माँगा करता था 'विद्या माता, बच्चे के जनम के वक्त जब यहाँ तुम आओगी तो बच्चे की अच्छी-सी तकदीर लिख जाना।"

कितना बडा विश्वास था यह इनसान का। कागज पर लिखे हुए अक्षरों में विश्वास।

और लिखे हुए अक्षरों के लिए यही सम्मान का भाव, यही अक्षरों में विश्वास बना लेखक और पाठक का कदीमी रिश्ता।

और मेरी नजर में तो लेखक सही मायनों में तभी लेखक है जब विद्या माता की तरह उसमें इनसान के चिन्तन की तकदीर लिखने की शक्ति हो।

ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कहानी चलती है कि पुराने वक्तों में आसमान बहुत नीचा हुआ करता था। इतना नीचा कि धरती का इनसान सिर उठाकर नहीं चल सकता था। तब धरती पर इतना अँधेरा भी रहता था कि खाने के लिए इनसान को हाथों से टटोल-टटोलकर जडी-बूटियाँ खोजनी पडती थीं। तब पछियो को यह खयाल आया कि अगर किसी तरह आसमान को धकेलकर कुछ ऊँचा कर दिया जाये तो धरती के इनसान धरती पर सिर उठाकर चल सकेंगे।

और कहते हैं पछियों ने लम्बे-लम्बे तिनके इकट्ठे किये और अपना पूरा जोर लगाकर

आसमान को ऊपर उठाना शुरू किया। और, आसमान सचमुच ऊपर उठ गया और लोग, जो घुटनों के बल चलते थे, सिर उठाकर खडे हो गये, चलने लगे।

साथ ही, आसमान के पीछे छिपा हुआ सूरज अब सामने आ गया और समूची धरती रोशन हो गयी।

यह कहानी पुराने वक्तों की होते हुए भी, मेरी नजर में हर काल की कहानी है, हर क्षेत्र की कहानी है—बेशक अपने-अपने अर्थों में। पछी-रुह वाले इनसान अपने जतन से, इनसानी रिश्तों के अँधेरे जगल में भी अपना आसमान ऊँचा उठाकर अपने लिए सूरज की रोशनी खोज लेते हैं।

और मैं तो सोचती हू कि हर समाज, हर मजहब, और हर सियासत के अँधेरे में—जहाँ और जितनी बार रोशनी दिखायी देती है, वह उन कुछेक लोगों की ही वजह से है जिन्होंने अपने जतन से कहीं-कहीं अपना आसमान ऊँचा किया है।

लेखन की धरती पर तो, सचमुच कुछ लेखक होते ही हैं—पछी-रुह जैसे—और उनकी कलमें ही वह तिनके होती हैं जिनके जोर से वे आसमान को ऊँचा उठाकर इनसान का सिर ऊँचा कर देते हैं।

अपनी कलम के बारे में तो सिर्फ इतना ही कह सकती हूँ कि इसने दुनिया की कुछ उन कलमो का साथ दिया है जो आसमान को ऊँचा करने में यकीन रखती हैं।

आसमान को ऊँचा करने वाले अदीब कैसे होते हैं, इसकी गवाही दुनिया-भर का अच्छा अदब देता आया है। लेकिन आम जिन्दगी मे आम इनसान अपना हाथ उठाकर कब किसी आसमान को ऊँचा कर जाता है—यह एक गुमनाम इतिहास हुआ करता है।

यहाँ एक घटना का जिक्र करना चाहूँगी। एक दिन अचानक एक अजनबी मिलने आया। भारतीय ज्ञानपीठ के इस एवार्ड की खबर पाने के बाद। और, उस अजनबी की आँखों मे पानी था, और हाथ में थोडी-सी मिट्टी। कहा उसने इतना ही

"यह उस धरती की मिट्टी लाया हूँ, गुजराँवाला की, जहाँ तुम पैदा हुई थीं "

मैं भरी-भरी आँखों देखती रह गयी।

मिट्टी का धर्म सचमुच कितना बडा होता है। कौन समझेगा कि जिन मजहबों की बुनियाद पर धरती के टुकडे कर दिये जाते हैं, वे मजहब इसके सामने कितने छोटे हैं। इनसान के दिल की खूबसूरती, उसके मन की महक—मिट्टी का धर्म होती है। और धर्म की आत्मा को तो किसी मजहब ने अभी तक पहचाना नहीं।

यही मिट्टी का दिया हुआ उपजाऊ धर्म अच्छे इनसानों का धर्म होता है, अच्छे अदीबों का, साहित्यकारों का धर्म।

कोई भी एवार्ड किसी अदीब का मकसद नहीं होता। मकसद तो उसका एक ही होता है—कि लोगों की रूह तक पहुँचे। लेकिन अगर कोई एवार्ड उसके मकसद के पूरा होने का जरिया बनकर जिन्दगी में आता है, तो उसकी अहमियत होती है, सही मायनों मे बहुत बडी अहमियत होती है।

हर कलम के सामने उसकी भाषा का एक सीमित दायरा होता है। हिन्दुस्तान मे तो खासकर। यहाँ बहुत-सी भाषाओं ने चिन्तन को छोटे-छोटे दायरों में बाँटा हुआ है। भारतीय ज्ञानपीठ की सबसे बडी अहमियत यह है कि उसने भाषाओ की इन छोटी-छोटी नदियो को एक बहुत बडी नाव से जोड दिया है पूरे हिन्दुस्तान की कला और चिन्तन की महानदी से।

किसी भी अदीब के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता एक बहुत बडा मसला होता है। इस पहलू से भी भारतीय ज्ञानपीठ की अहमियत से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन एक और पहलू है, बहुत बडा पहलू, कि कोई अदीब लिखता है तो किन कद्रों के लिए, किन मूल्यो के लिए। अदीब नैतिक मूल्यो को, उनके सतही और सिमटे हुए दायरो से निकालकर, गहरे और रूहानी अर्थों तक उठा ले जाने की जद्दोजहद करता है। इस जद्दोजहद मे उसे समाज का कडा विरोध झेलना पडता है। भारतीय

ज्ञानपीठ का यह कदम उस तमाम विरोध की नजर में भी जिन्दगी के व्यापक अर्थों को पहचानने की एक सम्भावना पैदा कर देता है। और यह सचमुच एक बहुत बडी बात है।

इसलिए भारतीय ज्ञानपीठ के लिए मेरा एक लफ्ज 'शुक्रिया', एक अर्थ वाला नहीं है, तीन अर्थों वाला है।

आग की लपट को बहुत से लोग चिमटे से पकडने की कोशिश करते हैं रिवायतों और सस्कारों के चिमटे से। बहुत से आलोचक भी उस लपट को किसी न किसी 'वाद' के चिमटे से पकडने का जतन करते हैं और फिर खीज उठते हैं कि वह लपट चिमटे की पकड में नहीं आती।

उस आग की लपट को,—सचमुच पकडा जा सकता है तो सिर्फ आग की लपट से ही। इसलिए कहना चाहूँगी उन सबसे, जो भारतीय ज्ञानपीठ और ज्ञानपीठ एवार्ड से सम्बद्ध हैं, कि आपकी नजर को वह नजरिया मुबारक जो हिन्दुस्तान की साहित्यिक जन-चेतना को लोगो के पास तक पहुँचाने का बहुत बडा माध्यम बना है।

जिन्दगी के एक मुश्किल वक्त में मैंने एक नज्म लिखी थी

आज मैंने एक दुनिया बेच दी
और दीन खरीद लिया—
बात कुफ्र की कर दी
सुपनों का एक थान बुना था
गज एक कपडा फाड लिया—
और जिन्दगी की चोली सी ली
आज मैंने आसमान के घडे से
बादल का ढक्कना उठाया—
और घूँट चाँदनी पी ली
गीतों से चुका जाऊँगी
यह जो मैंने मौत से—
एक घडी कर्ज ले ली।

सिर्फ मुश्किल वक्त नाजुक नहीं होता। अचानक ही कहीं से इतनी पहचान मिले, इतना प्यार मिले—तो ऐसा वक्त भी उतना ही नाजुक होता है। इसलिए आज भी कहना चाहूँगी—

गीत मेरे। कर दे मेरे इश्क का कर्ज अदा
कि तेरी हर एक सतर से आये जमाने की सदा।
बहुत-बहुत धन्यवाद।

महादेवी वर्मा

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का १९८२ का साहित्य-पुरस्कार श्रीमती महादेवी वर्मा को 'यामा' एव 'दीपशिखा' के लिए समर्पित किया जाता है, जिन्हें १९७७ से,पूर्व की कालावधि में प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में विधिवत् सर्वश्रेष्ठ निर्णीत और घोषित किया गया है।

महादेवी वर्मा के सर्जक कृतित्व की मधुरतम और निरायास अभिव्यक्ति प्रगीत काव्य में हुई है। किन्तु छायावाद के अन्य प्रमुख स्वरों से भिन्न उनकी प्रगीतात्मक प्रवृत्ति प्रकृति के गोचर सौन्दर्य की ओर न होकर उसके परोक्ष अगोचर और प्रतीकात्मक वास्तविकता की ओर रही है। यह खोज कभी आमन्त्रण मे तो कभी प्रतीक्षा में, कभी एक क्षणिक आपूरण के अनन्तर, निरवधि विरह में हुई है।

अगोचर परोक्ष और प्रतीकात्मक कल्पना को महादेवी ने अपने चित्रों द्वारा मूर्त किया है यह उनके रचनात्मक कर्म की एक विशेषता रही है।

कवयित्री महादेवी की स्निग्ध करुणा ने उनके निबन्धों और सस्मरणों को भी अभिषिक्त किया है। अत्यन्त सवेदनशील गद्य में कवयित्री ने उस साधारण जन के अनेक अविस्मरणीय चित्र प्रस्तुत किये हैं जिसकी ओर हमारा ध्यान प्राय नहीं जाता निर्धन, नि साधन और वचित जन जो अपने भाग के दुख-कष्ट को धैर्य, साहस और आत्मसम्मान के साथ सहता हुआ जीता है।

साधारण जन के साथ कवयित्री का तादात्म्य केवल समवेदना में नहीं, संस्कृति की निरन्तरता और उसके प्रामाणिक मूल्यों की रक्षा के लिए चिन्ता में भी प्रकट होता है।

कर्ममय जीवन के आठ दशक पूरे करते हुए कवयित्री ने बार-बार भारत की अस्मिता और सर्जक प्रतिभा की स्वस्थता और गतिशीलता के लिए चिन्ता प्रकट की है। उस चिन्ता में भारतीय ज्ञानपीठ स्वय कवयित्री के स्वास्थ्य और प्रेरक व्यक्तित्व के लिए अपनी शुभाशसाएँ जोड़ने में गौरव का अनुभव करता है।

नयी दिल्ली | अध्यक्ष | मैनेजिंग ट्रस्टी | अध्यक्ष
२८ नवम्बर, १९८३ | प्रवर परिषद् | | भारतीय ज्ञानपीठ

महादेवी वर्मा

पुजारी, दीप कहीं सोता है।
जो दृग दानों के आभारी
उर वरदानों के व्यापारी,
जिन अधरों पर काँप रही हैं
अनमाँगी भिक्षाएँ सारी,
वे थकते, हर साँस सौंप देने को यह रोता है।
(दीपशिखा, गीत क्र ४५)

अप्रातेहत आराधना की वेदी पर प्रत्येक साँस न्यौछावर कर देने के लिए आतुर महिमामयी महादेवी का समस्त जीवन मन्दिर की आरती के समान देव के प्रति समर्पित है। वे स्नेह, मैत्री और करुणा की कवि हैं, मधुर-मधुर जलने वाले दीपक के समान, युगयुग, प्रतिक्षण, प्रतिपल, प्रियतम का पथ आलोकित करने के लिए आकुल। उन्होंने अपने समस्त जीवन को दीपशिखा के समान प्रज्वलित कर युग की देहरी पर ऐसे रख दिया है कि भीतर और बाहर दोनों ओर उजियारा हो रहा है। अपनी रहस्यवादी अभिव्यक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि—उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्यभाव सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। उनके अनुसार, सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है।

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जनपद में, होली के पुण्य पर्व पर फाल्गुन पूर्णिमा की आह्लादमयी बेला में सन् १९०७ में हुआ था। बचपन से ही छन्द में बोलने की आपकी विलक्षण प्रतिभा थी। प्रारम्भ आपने ब्रजभाषा में समस्यापूर्ति से किया। जब आप ७/८ वर्ष की थी तो पंडितजी ने राधा द्वारा कृष्ण से बाँसुरी माँगने का प्रसंग समझाकर 'बोलिहैं नाहीं' समस्या की पूर्ति करने को कहा, आपने इस रूप में उसकी पूर्ति की—

मन्दिर के पट खोलत का
ये देवता तो दृग खोलिहैं नाहीं,
प्रानन में नित बोलत हैं
पुनि मन्दिर में ये बोलिहैं नाहीं।

इस पर पंडितजी देवता के प्रति इनकी उद्दण्डता पर रुष्ट हो गये। दसवें वर्ष में प्रवेश करते-करते

मैथिलीशरण गुप्त की सद्य प्रकाशित 'भारत-भारती' में ऐसी रम गयीं कि इनकी सर्जना की धारा ही बदल गयी। पंडित जी द्वारा प्रदत्त, 'मेघ बिना जल वृष्टि हुई है' समस्या पर जब इन्होंने आशुकवित्व के रूप में तत्क्षण सुना दिया कि—

> हाथी न अपनी सूँड में यदि नीर भर लाता अहो!
> तो किस तरह बादल बिना जल-वृष्टि हो सकती, कहो?

तो ब्रज की माधुरी में पगे पडितजी, 'अहो, कहो' की तुक सुनकर चौंक पडे और झल्ला कर बोले कि "अरे! ये तो यहाँ भी आ धमके।" फिर तो सिलसिला चल पडा और ग्यारह वर्ष की आयु में आपने 'दिया' नाम से खडी बोली में प्रथम रचना की। तेरहवें में प्रवेश करते-करते सौ छन्दों में एक करुण कथा का खण्ड-काव्य तथा अबला, विधवा, माँ भारती आदि के रूप में निर्झर के स्वप्नभग की भाँति अनेक धाराओं में फूट पडीं। आपकी प्रथम प्रौढ रचना 'चाँद' के प्रथम अक सन् १९२२ में प्रकाशित हुई। राष्ट्र के जीवन में वह अभूतपूर्व उन्मेष का काल था जिसमें सास्कृतिक जागरण के साथ राष्ट्रीय उत्सर्ग की भावना का ज्वार भी चारों ओर उमड रहा था। गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर आपने उन पर एक जोशीली कविता लिख डाली, जिस पर इन्हें प्रथम पुरस्कार के रूप में चाँदी का नक्काशीदार कटोरा मिला। जब गाँधी जी सन् १९२२ में इलाहाबाद आये तो उन्हें कविता सुनाने की उमग में आनन्दभवन पहुँच गयीं और उन पर लिखी प्रशस्ति के साथ पुरस्कार के रूप में प्राप्त कटोरा भी प्रस्तुत कर दिया। गाँधी जी ने कविता-अविता तो कुछ सुनी नहीं, इन्हें प्यार से थपथपाते हुए वह कटोरा और हडप लिया। महादेवी जी के अनुसार, उन्होंने चाहे कविता न सुनी हो, पर उनका स्पर्श ही ऐसी अन्त·प्रेरणा दे गया कि गगोत्री के स्रोत के समान नीहार, रश्मि, नीरजा की दु ख से आविल, सुख से पंकिल अजस्र धारा इनके मानस में फूट पडी। जब सन् १९३५ में इन्दौर के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गाँधी जी ने इन्हें उस समय की सर्वोच्च नारी लेखिका के रूप में नामित 'मगलाप्रसाद पुरस्कार' प्रदान किया तो उन्हे सन् १९२२ की कटोरे वाली बालिका की याद हो आई और उन्होंने बडे प्यार से इनके मस्तक पर अपना हाथ रख दिया, जिसे देखकर दर्शकगण भी भाव-विमुग्ध हो उठे जैसे 'प्रभुकर-पकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरी सा' की उद्धरणी घटित हो गयी हो। १८ मई, १९८३ को प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी के हाथों 'भारत-भारती पुरस्कार' प्राप्त करते समय महादेवीजी ने बडे भावभीने शब्दों में उक्त घटना का उल्लेख करते हुए कहा था कि—"गाँधी जी के हाथों पुरस्कार प्राप्त करने के पश्चात् मुझे अन्य किसी पुरस्कार के प्रति विशेष आकाक्षा नहीं रह गयी थी। अतएव मैं उनकी पावन स्मृति में कृतज्ञतापूर्वक यह पुरस्कार न्यास को समर्पित करती हूँ, जिसके द्वारा अभावग्रस्त प्रतिभाशील सर्जकों का श्रमहार कर सकने मे यह सार्थक हो सके।" बचपन से ही बुद्ध की करुणा की ओर आपका विशेष झुकाव रहा है और बी ए पास करते-करते तो आपने भिक्षुणी बनने का भी निश्चय कर लिया था। परन्तु जब आप बौद्ध महास्थविर से दीक्षा लेने पहुँची तो पखे की ओट करके बातें करते देख इनका नारी-सुलभ स्वाभिमान प्रदीप्त हो उठा कि जिसका अपनी इन्द्रियो के सयम पर इतना भी विश्वास नहीं वह मुझे दीक्षा क्या देगा? इस घटना से भिक्षुणी के ब्राह्य वेश से तो ये वचित रह गयीं पर इनकी आत्मा में बुद्ध के दु खवाद की अमिट छाप बनी रही। उन्हीं के शब्दो में, "बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके ससार को दु खात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था। अवश्य ही इस दु खवाद को मेरे हृदय में एक नया जन्म लेना पडा परन्तु आज तक उसमें पहले जन्म के कुछ सस्कार विद्यमान हैं जिनसे मैं उसे पहचानने में भूल

नहीं कर पाती। दु ख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो ससार को एक सूत्र में बाँधे रखने की क्षमता रखता है। हमारे असख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दु ख सबको बाँटकर विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

महादेवी का समस्त साहित्य आस्था, उपासना और उत्सर्ग का साहित्य है। नीहार, रश्मि, नीरजा, साध्यगीत और दीपशिखा उनकी मगलमय यात्रा के ज्योतिर्मय चरण-चिह्न हैं। नीहार के धुँधलके में उनका प्रथम प्रवेश विसर्जन के ही आधार पर हुआ था। उनके अनुसार उनकी सबसे पुरानी रचना सम्भवत 'उस पार' है–

विसर्जन ही है कर्णाधार
वही पहुँचा देगा उस पार।

प्रत्यूष में स्फुटित कमलों की कषाय गन्ध के साथ मिलन की मादक स्मृतियों के सकेतो का सचरण बड़ा सम्मोहक है–

कैसे कहती हो सपना है
अलि! उस मूक मिलन की बात?
भरे हुए अब तक फूलों मे
मेरे आँसू, उनके हास।

प्रेमी के सर्वात्म समर्पण की तुलना में अमरता को सदा तुच्छ ठहराया गया है। 'सगुणोपासक मोक्ष न लेंहीं' में भक्ति की इसी मर्यादा को गोस्वामी जी ने प्रतिष्ठित किया है–

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे,
यह मेरा मिटने का अधिकार।

'नीहार' की रचनाएँ १९२४ से १९२८ के बीच की हैं जिनमें प्रणय-पुलक का प्रथम स्पर्श सृष्टि की रागात्मकता से एकात्मक होता प्रतीत होता है–

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा
इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीडा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीडा का।

सृष्टि के कण-कण में व्याप्त सवेदन की यह प्रतीति अपनी सूक्ष्मता एव सुकुमारता में मर्मस्पर्शी हो उठी है–

कन-कन में बिखरी सोती है
अब उनके जीवन की प्यास
जगा न दे हे दीप, कहीं
उसको तेरा यह क्षीण प्रकाश।

दीपक के क्षीण प्रकार से उनींदे प्रिय के जाग जाने की आशका बरबस मीर तकी 'मीर' की याद दिला देती है–

सरहाने मीर के आहिस्ता बोलो,
अभी टुक रोते-रोते सो गया है।

इस समय तक भावना के व्योम में रवीन्द्रनाथ स्पन्दित हो उठे थे। और बाउलों के गीतों को सहज अभिव्यक्ति मलय-पवन की भारवाही गन्ध के समान सचरित होने लगी थी। गगाराम जैसे बाउल सन्तों की वाणी में सहजिया साधकों की यह अभिव्यक्ति परिलक्षित की जा सकती है–

तुमी सागर, आमी तरी
तुमी खेवार माँझी
पार नदिया डुबावो जदि
तातेउ आमी राजी
ओगो, तोमार है ते पार कि बडो
भरम की आमार।

जब यह मालूम पड गया कि तुम्हीं सागर हो और तुम्ही खेवा के माँझी भी हो तो तुममें डूब जाना, लय हो जाना अच्छा है या पार पहुँचना, मैं

तो नौका मात्र हूँ। इसीलिए–

तरी को ले जाओ मँझधार
डूबकर हो जाओगे पार।

नारी-जनित मनुहार महादेवी की अभिव्यक्ति की अपनी विशेषता है–

करुणानिधि को भाता है
तम के परदे में आना,
हे नभ की दीपावलियों
तुम क्षण भर को बुझ जाना।

सृष्टि के व्यापारों के साथ जीवन के बिम्बित और प्रतिबिम्बित स्वरूपों के निरूपण ने रहस्यवादी सकेतों को नितान्त सहज भावभूमि प्रदान की है–

कहते हैं नक्षत्र 'पडी हम पर
उस माया की झाँई'
कह जाते वे मेघ 'हमीं
उसकी करुणा की परछाई।'

नीहार-जनित धुँधलका मिटते ही यौवन की प्रथम रश्मि का स्पर्श जीवन को तरल-चचल अनुभूतियों से आन्दोलित कर देता है–

हे मृदु कलियों की चटक, ताल
हिम-बिन्दु नचाती तरल प्राण

'रश्मि' में मुग्धा नायिका की अल्हडता और प्रगल्भता सृष्टि के कण-कण में स्पन्दित दिखलाई पडती है। जाने-अनजाने किसी की सुधि वसन्त का सुमन तीर मुग्ध मानस को अधीर कर जाता है जिससे देह की डाली प्रत्येक पुलकन और रोमाच से सिहर-सिहर उठती है–

मजरित नवल मृदु देह-डाल
खिल-खिल उठता नव पुलक जाल
मधु-कन सा छलका नयन-तीर

उद्दाम वासना के उन्मद पहरों में इस अनन्य साधिका ने अपने अप्रतिहत सयम से आत्मोत्सर्ग के उन शिखरों को सँवारा है जहाँ आराधक और आराध्य का अन्तर मिट जाता है–

चिर ध्येय यही जलने का
ठण्डी विभूति बन जाना,
है पीडा की सीमा यह
दु:ख का चिर सुख हो जाना!

उत्सर्ग की वेदी पर स्वयं को शून्य कर देने की यह साधना ही उपालम्भके रूप में आत्मीयता की प्रगाढता का परिचय देती है–

विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला,
क्या रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्हीं सदेश एक महान हो?

कबीर की वाणी में पग-पग पर प्रियतम को चुनौती देने की निर्व्याज व्यजना इसी सान्निध्य की परिचायक है–

मिलनौ तो जीवित मिलौ, कहै कबीरा
राम।
लोहा जब माटी भया, पारस का क्या
काम।

'नीरजा' (रचनाकाल १९३१-३४) तक आते-आते रश्मि की अल्हडता मानस शतदल की उत्फुल्लता की ओर अग्रसर होने लगती है, जहाँ जगत् और जीवन के असख्य बन्धनों के बीच से उसकी उत्सर्गी आराधना अकुरित हुई है–

तुम्हें बाँध पाती सपने में।
तो फिर जीवन प्यास बुझा–
लेती उस छोटे क्षण अपने में,
प्रिय में लेती बाँध मुक्ति
सौ-सौ लघुतम बन्धन अपने में।

रवीन्द्रनाथ ने भी लिखा है कि–

वैराग्य साधने मुक्ति से आभार नय।
असख्य बन्धन माँझे महानन्दमय
लभिवो मुक्तिर स्वाद।

महादेवी भी वैराग्य-साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की आकाक्षी नहीं है। वे भी असख्य बन्धनों के बीच ही महानन्दमय मुक्ति का स्वाद प्राप्त करना चाहती हैं। इसीलिए इस मगलयात्रा में दृश्य, गन्ध और गान में जो आनन्द है उसी को उन्होंने अपना पाथेय बना लिया है। उनकी रूपसी का धनकेश-पाश विराट् में व्याप्त सौन्दर्य-राशि के विभिन्न स्वरूपों को प्रतिबिम्बित करता है–

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है, बक पाँतों का
अरविन्द-हार
तेरी निःश्वासें छू, भू की बन बन जाती मलयज
बयार।
केकी-रव की नुपूर-ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास
रूपसि, तेरा घन-केश-पाश।

इस सनातन व्यथा और व्याकुलता के मूल में द्वैत का विभ्रम मिटाने की साधना 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' तथा 'तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या' आदि रचनाओं में उद्भासित हो उठी है।

'साध्यगीत' (रचना-काल १९३४-३६) तक आते-आते जीवन का उन्मद उल्लास सपनों की रगीनी में घुलता हुआ वेदना की विह्वलता में समरसता की सृष्टि करता प्रतीत होता है। उन्होंने स्वय लिखा है कि "नीरजा और साध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिनमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दु ख में सामजस्य का अनुभव करने लगा।" साध्यगीत में अभिव्यक्ति के मार्दव के साथ-साथ रग-बिरगे चित्रों का रेखाकन समस्त संग्रह को छाया की आभा से मण्डित करता दिखायी पडता है—

यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया-सी काया वीतराग
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन,
प्रिय, साध्य गगन मेरा जीवन।

यह कह सकना कठिन है कि कब उनकी तूलिका से छन्द सँवर जाते हैं और कब उनके छन्दो में रग निखर उठते हैं।

इस विमुग्ध विभावरी मे भावना की तीव्रता, आत्मनिवेदन, भावान्विति और गेयता सभी दृष्टियों से गीतिकाव्य का शिल्प बडे सुन्दर रूप से सँवरा है—

मैं नीर-भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही
उमडी कल थी, मिट आज चली

इसी प्रकार 'प्रिय मेरे नीले नयन बनेंगे आरती', 'फिर विकल हैं प्राण मेरे', 'क्यों वह प्रिय आता पार नहीं', 'सखि, मैं हूँ अमर सुहाग-भरी', में गीतों की सक्षिप्तता, सरलता और तरलता बडी मर्मस्पर्शी बन पडी है। साध्यगीत में ही पहले-पहल जीवन-सघर्ष के वे उदात्त स्वर, जो बाद में दीपशिखा के रूप में प्रज्वलित हुए, 'जाग, तुझको दूर जाना' और 'हे चिर महान' जैसी रचनाओं में मिलने लगते हैं—

मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।
उर में पावस, दृग में विहान
हे चिर महान।

'साध्यगीत' के गीतों की दीपशिखा के रूप मे परिणति अपने नाम को सार्थक करती है। 'यह मन्दिर का दीप, इसे नीरव जलने दो' और 'पुजारी, दीप कहीं सोता है' जैसे गीतों की प्राजलता मे गहन अनुभूति की वह आँच है जो सूर के 'ऊधौ, विरही प्रेम करै' जैसे गीतों के आधार पर महसूसी जा सकती है। इन गीतों के मर्म का उद्घाटन करते हुए कवयित्री ने स्वय कहा है कि, "मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त्त आकाश के नीचे लोकगीतों की धरती पर पले हैं।" जीवन का चचल बालक और मृत्यु का माँ के रूप में चित्रण जीवन और मृत्यु के सम्बन्धों को अद्भुत सहजता प्रदान कर सका है।

तू धूल भरा ही आया।
ओ चचल जीवन बाल, मृत्यु जननी ने
अक लगाया।

'दीपशिखा' में राष्ट्र का जागरण छायावादी भूमिका के समस्त सूक्ष्म स्पन्दनों के साथ मूर्तिमान हो उठा है। कवयित्री के ही शब्दों में—"दीपशिखा में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है। नवीन प्रभात

के वैतालिकों के स्वर के साथ इनका स्थान रहे ऐसी कामना नहीं, पर रात की सघनता को इसकी लौ झेल सके, यह इच्छा तो स्वाभाविक ही रहेगी।"

साधारणतया महादेवी के काव्य का दाय इन्हीं पुस्तकों तक सीमित कर दिया जाता है पर सतप्तों को शीतल करने वाले मेघों के समान उनके रिक्थ की तो कोई सीमा नहीं है। 'सप्तपर्णी' में आर्षवाणी के रूप में चारों वेदों, उपनिषदों, वाल्मीकि, थेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, जयदेव आदि के मार्मिक अनुवादों के रूप में उन्होंने समस्त भारतीय चिन्तन और सृजन का गगाजल मगल-कलश में सचित कर दिया है। वेदों-उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों का ऐसा सारग्राही अनुवाद और वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और जयदेव की साधना का ऐसा मार्मिक प्राजल प्रसाद वाङ्मय की भूमि पर अभी तक देखने को नहीं मिला था। बुद्ध की करुणा से अभिभूत होने के कारण उन्होंने एक ओर तो पाली वाङ्मय के अथाह सागर मे डुबकी लगाकर अश्वघोष की सहज सवेदना के अनमोल मोतियो का सचय किया और दूसरी ओर शैल मतावलम्बी कालिदास के सौन्दर्य-बोध को मानस पीठ पर प्रतिष्ठित किया। काव्य की दृष्टि से अश्वघोष और कालिदास को आदिकवि के उत्तराधिकारी के रूप में उनका उद्घोष मानव मात्र के कल्याण की शुद्ध-बुद्ध सद्भावना का परिचायक है। धर्म या सम्प्रदाय के पूर्वग्रहों की व्यर्थता का बोध कराते हुए उन्होंने अपने उदात्त स्वरों में कहा है कि–

"इस वाङ्मय ने जब धर्मविशेष के वाहक मात्र के रूप में अपना परिचय दिया तब उसका उपयोग सीमित हो गया और उसे वेद साहित्य के समान एक ओर अन्धविश्वास और दूसरी ओर उपेक्षा से घिरकर अपनी स्थिति की रक्षा करनी पडी। वह जहा पर साहित्य की वाणी में बोला है, वहाँ हृदय की बात को हृदय तक पहुँचने से रोकने में धर्म, सम्प्रदाय, दर्शन आदि की कोई भित्ति समर्थ नहीं हो सकी। साहित्य में ऐसी अनेकान्त साधना शायद ही कभी घटित हुई हो।

साधारणतया समीक्षकों की भाषा में उन्हें आधुनिक मीरा के रूप में अभिहित किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि गिरिधर गोपाल के प्रति मीरा की अनन्य अनुरक्ति की अभिव्यक्ति भक्ति-साहित्य की परम मर्मस्पर्शी निधि बन गयी है और स्वय महादेवी ने मीरा की व्यथासिक्त पदावली को सारे नीति-जगत् की सम्राज्ञी की सज्ञा दी है परन्तु महादेवी का-सा वैविध्य, गीति, काव्यात्मक शिल्प, दार्शनिक चिन्तन, बिम्बात्मक रूपायन, चित्रात्मक रेखाकन, गद्यशैली का निबन्धन तथा नवनवोन्मेषशालिनी अभिव्यजना, सभवत आज विश्व-साहित्य की किसी नारी-सर्जक में खोज सकना दुर्लभ होगा। चाहे गद्य का शिल्प हो, चित्रों की बिम्बात्मकता हो, नारी की मुक्तिभावना हो अथवा बगाल के अकाल और चीनी आक्रमण का प्रतिरोध हो, महादेवी राष्ट्र की विह्वल आत्मा के रूप में सब जगह स्पन्दित हैं। उन्हीं के शब्दों में–"साधारणतया मुझे भाव, विचार और कर्म का सौन्दर्य समान रूप से आकर्षित करता है।" अपनी इस सवेदनशील प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि–

"मेरी कविता मेरे विश्राम-क्षणों का ही प्रतिबिम्बक है। शेष जीवन मैं वहाँ दूँगी जहाँ उसे देने की आवश्यकता है।"

एक ओर तो उनकी अगाध सवेदनशीलता बुद्ध की करुणा से अनुप्राणित है, दूसरी ओर उनकी वाणी में ऋचाओं की पवित्रता और स्वरों में सामगान का सम्मोहन है। उनकी सहज अभिव्यक्ति आर्ष वचनों के समकक्ष रखी जा सकती है–

> अमरता है जीवन का ह्रास,
> मृत्यु जीवन का चरम विकास।

उनके इसी स्वरूप पर मुग्ध होकर महाकवि निराला ने द्रष्टा के स्वरों में कह डाला था कि

> हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-वाणी
> स्फूर्ति चेतना, रचना की प्रतिमा कल्याणी

इस नामरूपात्मक विश्व से एकात्म होकर उन्होंने

सत्यं शिव सुन्दर को वर्ण और वाक् दोनों में बाँधने का अद्भुत कौशल दिखाया है। काव्य को चित्रमय और चित्र को काव्यमय बनाने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

भारतीय कवियों मे रवीन्द्रनाथ और महादेवी ने ही काव्यात्मा को रूपायित करने का प्रयत्न किया है, किंतु रवीन्द्रनाथ की चित्रकला का उनकी कविताओं से विशेष सम्बन्ध न था। छायावाद के भावपक्ष के साथ जिस स्वछन्दतावाद (रोमैंटिक चित्र) का उल्लेख इतिहासकारो द्वारा किया गया है, उसके अन्तर्गत काव्य, चित्र और सगीत का विशेष महत्त्व माना गया है। महादेवी ने स्वय विषय और विधान का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"विषय पर कोई कला निर्भर नहीं रहती। सच्चे चित्रकार की तूलिका भगवान बुद्ध की चिर शान्त मुद्रा अकित करके भी धन्य हो सकती है और कन्धे पर हल लेकर घर लौटने वाले कृषक का चित्र बनाकर भी वह अमर हो सकती है।" उनके अनुसार काव्य के साथ चित्रकला का यह सहोदरभाव मात्र स्वछन्दतावादी आन्दोलन का प्रतिफल नहीं वरन् भारतीय परम्परा के सहज विकास के रूप में है। उन्हीं के शब्दों में "पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ, चाहे विरही पक्ष से सबध रखती हों चाहे राजा दुष्यत से, बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थीं।" उनके चित्रों में मूर्तिकला का भी प्रभाव है जो उनके भौंह, आँख, नाखून तथा उँगलियों के रेखाकन में अजता के सौष्ठव की याद दिलाता है। उन्हीं के शब्दों मे—"व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अन्तस् का वैभव ही नहीं, बाह्य आयास भी अपेक्षित रहता है।" महादेवी के चित्राकनों में हल्के नीले और श्वेत रग की प्रमुखता है। उनकी कविताओं में ओस, चाँदनी, नीहार आदि की बहुलता उसी प्रवृत्ति की परिचायक है—"पाटल के सुरभित रगों से रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल, गूँथ दे रशना में अलि गुजन से पूरित झरते बकुल फूल।' उनकी गृहसज्जा, वेशभूषा, रहन-सहन सभी में श्वेत-प्रियता का प्राधान्य है। शायद ही किसी ने उन्हे श्वेत वस्त्रो से भिन्न परिधान में देखा हो। उनका निवास भी छोटा-मोटा आश्रम या तपोवन है जहाँ भक्तिन, बूढे माली, सुषमा और रामजी के अतिरिक्त सोमा (कुतिया), टिन्नू, भूँगा, खरगोश और अनेकों जीव-जन्तु पारिवारिक सौहार्द में डूबे रहते हैं। गिलहरियाँ तो द्वारों के बदनवारों और कुर्सियों की हथेलियों पर चलती-फिरती लताओं के समान लहका करती हैं। दूसरी ओर कीकर, पाकर, आम, सेमल, कटहल, रबर, नारियल आदि के वृक्ष हैं, जिनका अपना-अपना इतिहास है। किसी को राजगोपालाचारी की पुत्री ने लगाया है तो किसी को सुभद्राकुमारी चौहान ने। स्वय महादेवी को गोमती की गरिमा से मण्डित देखकर कण्वाश्रम की याद हो आती है। इसी प्रकार उनकी बैठक में प्रवेश करते ही कृष्ण की त्रिभगी मूर्ति, राम का चित्र, बुद्ध की विद्युच्छाया और ऊपर के शोकेस में टैगोर, निराला, प्रसाद और बापू। नीचे पीतल के बडे थाल मे ताम्रकलश और दोनों ओर पचमुखी दीपक को देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ मन्दिर के भीतर मन्दिर है।

साहित्य और सस्कृति के प्रति पूर्णतया समर्पित उनका व्यक्तित्व चिन्तन की प्रखरता से आलोकित है। साहित्य का निर्व्याज मूल्याकन करते हुए वे कहा करती हैं कि "दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य रूप से अवतरित होने पर स्वय ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है।" जब साधक साधना करते-करते साध्यमय हो जाता है तो वह सस्कृति बन जाता है। महादेवी आज हमारे भावलोक के सरक्षक के रूप में चलती-फिरती सस्कृति बन गयी हैं। उनका सम्मान राष्ट्र की तप पूत साधना का सम्मान है।
१९८७ में महादेवी जी का निधन हो गया।

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कृतियाँ

काव्य-सग्रह

१	नीहार	१९३०
२	रश्मि	१९३२
३	नीरजा	१९३४
४	साध्यगीत	१९३६
४	यामा (उपर्युक्त पुस्तकों का सकलन)	१९३६
६	दीपशिखा	१९४२
७	सन्धिनी	१९६५
८	गीतपर्व	
९	परिक्रमा	
१०	सप्तपर्णा	
११	स्मारिका	
१२	हिमालय	

सस्मरण

१३	पथ के साथी	१९५६
१४	मेरा परिवार	१९७१
१५	स्मृतिचित्र	१९७३

रेखाचित्र

१६	अतीत के चलचित्र	१९४१
१७	स्मृति के रेखाएँ	१९४५

निबन्ध-सग्रह

१८	शृखला की कडियाँ	१९४२
१९	क्षणदा	१९५६
२०	साहित्यकार की आस्था तथाअन्य निबन्ध	१९६०
२१	सकल्पिता	१९६९
२२	सम्भाषण	१९७४

अभिभाषण के अंश

आप सभी जानते हैं कि पुरस्कार के लिए साहित्य नहीं लिखा जाता और न कोई पुरस्कार उसे महत्त्वपूर्ण बनाने मे समर्थ है, परन्तु पुरस्कारों की पृष्ठभूमि में जो सुधीजनों की स्वीकृति होती है वही लेखक के सन्तोष का कारण होती है।

कभी-कभी साहित्यकार का अपना युग भी उसे नहीं समझ पाता, पर यह स्थिति भी उसे लेखन से विमुख नहीं कर पाती। वह महाकवि भवभूति के समान ही कह सकता है 'कालो ह्य निरवधि र्विपुला च पृथ्वी'—काल असीम है, पृथ्वी बहुत विस्तृत है। कभी कोई मेरा समानधर्मा उत्पन्न होगा जो मुझे समझ सकेगा।

पर सामान्यत साहित्यकार किसी शून्य मे उत्पन्न न होकर एक विशेष युग, विशेष समाज और विशेष परिवेश में उत्पन्न होता है, अत अपने युग से प्रभावित होना उसके लिए अनिवार्य है। अन्तर यही है कि उसमे युगबोध के अतिरिक्त युगान्तर बोध भी रहता है। उसकी मानसिकता ऐसी त्रिवेणी है, जिसमें अतीत युगो के शाश्वत जीवन-मूल्यो की गगा भी है, वर्तमान युग की समस्याओ की उच्छल प्रवाहमयी यमुना भी और अनागत भविष्य की अन्त सलिला सरस्वती भी। इसी से पार्थिव रूप से साहित्यकार के न होने पर भी उसकी रचना आगत पीढियो को सम्बल देती रहती है।

मैं समझती हूँ, सच्चा साहित्य व्यक्ति को समष्टि से एकाकार करने वाली निरन्तर गतिमयी कर्मधारा है, अत उसकी प्रक्रिया का जटिल होना स्वाभाविक है। सम्भवत इसीलिए भारत की आर्ष वाणी ने कवि की परिभाषा में 'कविर्मनीषी' परिभू स्वयभू' कहा है। वह मनीषी होता है, क्योंकि वह सब काल-खण्डो का सकलन करता है, वह समष्टि से एकाकार होने के कारण व्याप्त भी होता है और स्वयभू भी है, क्योंकि कोई उसकी रचना नहीं करता।

वैदिक वाङ्मय में ईश्वर को कवि की सज्ञा दी गयी है, 'पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति'—ईश्वर की काव्य-सृष्टि को देखो, जो न मरती है और न पुरानी होती है। इस परिभाषा के अन्तर्गत कम ही कवि आ सकेंगे, परन्तु जो आ सकते हैं। उनकी रचना जीवन के समान ही शाश्वत और चिर नवीन रहेगी।

साहित्य इतना महत्वपूर्ण है कि आज भी कोई युद्धप्रिय तथा विज्ञान के चरम बिन्दु तक पहुँचा हुआ देश यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नही है कि उसके पास साहित्य नही है या उसे साहित्य और साहित्यकार की आवश्यकता नहीं है। कारण स्पष्ट है। साहित्य जीवन के विकास का ऐसा अभिन्न साथी रहा है कि उसका अभाव बर्बरता या असभ्यता का पर्याय माना जायेगा। इसी से सब प्रकार के देश उसकी स्थिति को स्वीकार करते हैं, चाहे वे उसे अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप ढालने के लिए सब वैध-अवैध प्रयत्न करते रहते हैं।

प्राय प्रत्येक युग में साहित्यकार को चुनौती मिली है। कभी धर्म ने, कभी राजनीति ने, कभी समाज ने उसके समक्ष ऐसी समस्याएँ उपस्थित की हैं जिनसे बिना सघर्ष किये वह अपने लक्ष्य तक नही पहुँच सकता। अत हर महत्त्वपूर्ण साहित्यकार को क्रान्त दृष्टा होना ही पडता है। उसने अपने विद्रोह के लिए दण्ड भी स्वेच्छा और सुख से झेला है।

आधुनिक युग मे साहित्यकार को सबसे कठिन चुनौती विज्ञान से मिली है। विज्ञान भौतिक जगत् के तथ्यो की खोज है, जिसकी प्राप्ति मनुष्य को प्रकृति पर विजयी होने की शक्ति देती है। पर यह

शक्ति दिशाहीन और अनियंत्रित रहती है। उनमें धर्म के समान न पाप-पुण्य का द्वन्द्व है, न दर्शन के समान सत्य-असत्य का और न समाज के समान उचित-अनुचित का। इसी से आधुनिक विकसित देश, विज्ञान से प्राप्त शक्ति को दोधारी तलवार की तरह चला रहा है। उन्होंने ध्वस को अपनी शक्ति का प्रमाण मान लिया है, अत विज्ञान की सहारक शक्ति आतक ही उत्पन्न कर रही है।

जीवन के मगल विधान के लिए मनुष्य में सवेदन की तरलता की आवश्यकता होती है जिसे विज्ञान का ताप सुखा रहा है। यदि मनुष्य में सवेदनशीलता की रागात्मकता नहीं रहेगी तो ध्वस के ज्वालामुखी पर बैठी मानव जाति किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है।

वैज्ञानिक साधनों ने एक देश से दूसरे की दूरी इस सीमा तक कम कर दी है कि जहाँ पहुँचने में वर्षों लग जाते थे वहाँ अब कुछ घण्टो मे पहुँचा जा सकता है। परन्तु इस भौतिक निकटता ने मानव के मन को अन्य मानवमन तक नही पहुँचाया, वरन् उन्हे इतना अपरिचित बना दिया कि एक मनुष्य निर्लिप्त भाव से अनेक निर्दोष मानवो को नष्ट करने मे न करुणा का अनुभव करता है न पश्चात्ताप का।

भारत प्राचीन देश है। उसकी विशेषता यह है कि आक्रामक होकर कही नही गया। वैज्ञानिक साधनो की शोध से पहले ही उसने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना मे आस्था रखी है और वह अपने दर्शन, सस्कृति, कला, साहित्य आदि का अक्षय सन्देश लेकर ही दुर्गम पर्वतो और अगाध समुद्रो को पार कर अन्य देशो में पहुँचा है।

आज भी उसका सकल्प वही है। आज भी वह जीवन की मागलिक सजीवनी में विश्वास रखता है, मारक अस्त्र-शस्त्रों में नहीं।

भारत की अकिंचन कवयित्री होने के कारण मुझे उत्तराधिकार में वही करुणासिक्त मगलसाधना प्राप्त है।

मेरा विश्वास है, आज कवि और कविता की प्रासगिकता अन्य युगों से अधिक है, क्योंकि कविता ही मानव-मन की ऋतु बदल सकती है और वह भौतिक तथ्य को आत्मा के सत्य में परिवर्तित कर उसे सुन्दर के माध्यम से शिव तक पहुँचा सकती है। बिना स्नेह, समता, बन्धुता और मानव गरिमा के मानव जाति का भविष्य केवल मरण का पर्व है।

हर छोटे-बड़े विकसित-अविकसित देश के कवि के समक्ष जीवन की जो चुनौती है, उसे स्वीकार करके ही वह मानव जाति का मगल-विधान कर सकेगा।

इसे मैं सुखद सयोग ही मानती हूँ कि अनेक वर्ष पहले विश्ववन्द्य बापू के पुण्यकरों से मुझे जब हिन्दी का सम्मानित पुरस्कार प्राप्त हुआ था, तब वे और हम सब अपनी स्वतन्त्रता के लिए ब्रिटेन से अहिंसक सघर्ष कर रहे थे और आज उसी देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर मित्र-भाव से मुझे सम्मानित कर रही हैं।

हमारा सघर्ष कितना द्वेष, हिंसा आदि से रहित था यह उसीका प्रमाण है कि स्वतत्र भारत और स्वतत्र ब्रिटेन आज मित्रता के सूत्र में आबद्ध हैं।

मेरी कामना अपनी आर्षवाणी में यह है-

'सगच्छध्व सवदध्वम् सवो मनांसि जानताम्।'

हमारी गति साथ हो, हमारी वाणी समान हो और हम एक-दूसरे के मन को जानें।

मास्ति वेंकटेश आयूयंगार

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का १९८३ का ज्ञानपीठ पुरस्कार डॉ मास्ति वेंकटेश अय्यगार 'श्रीनिवास' को १९७८ से पूर्व के भारतीय सर्जनात्मक साहित्य में उनके उत्कृष्ट योगदान के लिए, उनके उपन्यास 'चिक्कवीरराजेन्द्र' के विशेष उल्लेख के साथ, समर्पित किया जाता है, जिसका निर्णय पुरस्कार नियमों के अनुसार हुआ है। 'नवरात्रि', 'श्रीराम पट्टाभिषेक' एव 'भाव' उनकी सृजनात्मकता के अन्य ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पुरस्कार-अवधि के प्रकाशनों में एक विशिष्ट उपन्यास के रूप में मान्यता प्राप्त उनकी उल्लेखनीय कृति 'चिक्कवीरराजेन्द्र' में वैयक्तिक त्रासदी, सामाजिक-राजनीतिक बुनावट का शैथिल्य, राजनयिक एव सास्कृतिक धरातलों पर पूर्व और पश्चिम का द्वन्द्व और इतिहास प्रक्रिया का परत-दर-परत उद्घाटन एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। मास्ति जी का गद्य स्पष्ट एव पारदर्शी है, शैली शिष्ट-सयत है, स्फूर्तिमय ओजस्वी सवाद रोचक वैदग्ध्य तथा कोमल हास्य के प्रचुर समावेश से और भी जीवन्त हो गये हैं।

मास्ति जी मूलत कथाकार हैं , आख्यान-कला में, वह गद्य में हो अथवा पद्य में, वह पारगत हैं। उनकी ख्याति 'कन्नड कहानी के जनक' के रूप में है। उनकी कहानियाँ शताब्दी से शताब्दी और देश से देश की यात्रा करा देती हैं।

मास्ति जी ७० वर्ष से भी अधिक से कन्नड पुनरुत्थान में अग्रणी रहे हैं और उन्होंने साहित्य की समस्त विधाओ के सवर्द्धन मे व्यापक योगदान किया है। मनुष्य की सशक्त महत्ता में चिरस्थायी निष्ठा के कारण उनके लेखन मे उन मूलभूत मानव-मूल्यों की सर्वोच्चता पुष्ट करने की अन्त प्रेरणा स्पष्टत मुखर हुई है, जो अनिश्चितता मे भी निश्चित रहते हैं।

मास्ति जी आज भी सजग और सक्रिय हैं। उनके दीर्घ एव स्वस्थ जीवन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ की हार्दिक शुभकामनाएँ।

बंगलूर	अध्यक्ष	प्रबन्ध न्यासी	अध्यक्ष
१३ अप्रैल १९८५	प्रवर परिषद्		भारतीय ज्ञानपीठ

मास्ति वेंकटेश आयूयंगार

लगभग नौ दशक पहले, नवम्बर १९०४ में मैसूर के एक तेरह वर्षीय किशोर के साथ घटित हुआ था यह सयोग। एक सुबह एक बाजार के सामने स्थित घण्टाघर की घडी पर उसकी दृष्टि गयी और सहसा उसे याद आया कि आज तो उसे लोअर सेकेण्ड्री की परीक्षा में बैठना है। परीक्षा-केन्द्र था महाराजा कॉलेज और उस समय दस बजने वाले थे। वह धक् से रह गया। फिर भी वह दौडकर अपने घर गया, अपना प्रवेश-पत्र उठाया और किसी प्रकार ठीक समय पर परीक्षा-भवन पहुच गया। परीक्षा आरम्भ होने ही वाली थी। बाद मे इस घटना पर सोच-विचार करते-करते कि किस प्रेरणा ने उसकी दृष्टि घडी की ओर उठवा दी जिसे देखकर उसे अपनी परीक्षा का स्मरण हो आया और कैसे वह ठीक समय पर परीक्षा-भवन पहुँच गया उसे यह विश्वास हो गया था कि इस सबके पीछे दिव्य करुणा का हाथ था। यह घटना मास्ति वेंकटेश आयूयगार अक्सर सुनाया करते थे और यह है भी उन्हीं से सम्बन्धित। परम सत्ता की अनुकम्पा की गरिमा एव बुद्धिमता मे मास्ति की असीम श्रद्धा थी और वह स्वय को उसी दिव्य-चेतना की सन्तान मानते थे। वह यह भी मानते थे कि विभिन्न अवसरों पर वह दिव्य शक्ति उनका पक्ष लेती रही है और इसके अनेक सस्मरण उदाहरणस्वरूप उनके पास थे।

वास्तव मे मास्ति की सृजनात्मकता इसी आस्था का स हित्य है। परमसत्ता की अनुकपा की गरिमा एव बुद्धि ता मे उनकी असीम श्रद्धा है। परन्तु उनकी ये आस्था किसी सकीर्ण धार्मिक मताग्रह से प्रभावित नहीं है। उन्होने बुद्ध, ईसा, मोहम्मद तथा रामकृष्ण परमहस सभी पर पूर्ण श्रद्धा के साथ लिखा है। इसी आस्था के कारण उनका हमारी सास्कृतिक मनीषा से पूर्ण सामजस्य रखने वाली नैतिक जगत की सर्वोच्चता और जीवन की सार्थकता और अर्थवत्ता मे गहरा विश्वास है। उनका यह नैतिक ससार उनकी अपनी सास्कृतिक जडों में निष्ठा से उपजा है। शाश्वत मूल्य ही मनुष्य की अन्तर्निहित महत्ता को उद्घाटित करने वाली अन्तर्दृष्टि की सृष्टि करते हैं। इच्छा निरोध मे देववत् होकर भी मनुष्य अत्यन्त मानवीय और करुणामय है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मास्ति मानव स्वभाव का 'दूसरा पक्ष' नहीं देखते। मानुषिक दुर्बलता के प्रति उनमे सहानुभूति है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उनकी मूल रुचि

मानवप्रकृति की पवित्रता एव शुभ्रता में है। उनकी अन्तर्दृष्टि मूलत नैतिक है और चेतना परम्परा सचित मूल्यों से ओतप्रोत। तभी उनके साहित्य ससार में महत्वपूर्ण स्थान 'यशोधरा' में बुद्ध, 'चेन्नबसवनायक' मे नेमयूया, 'भट्टरमगलु' मे भट्टारू और 'वेंकटगन हेंडली' में अशिक्षित लकडहारे जैसे पात्रो के लिए सुरक्षित है। गौण पात्रों में भी उन्हीं में जीवन की कान्ति और प्रसन्नता झलकती है जो सामान्यत समाज के पतन की परिस्थितियों में भी मानव-मूल्यो की पुष्टि करते हैं। 'चेन्नबसवनायक' की नौकरानी मल्लिगे इसी प्रकार के चरित्र का उत्कृष्ट उदाहरण है। विख्यात अँग्रेजी कवि कीट्स ने एक बडी सुन्दर भाव-व्यजना गढी थी 'आत्मा के निर्माण की घाटी।' मास्ति के लिए ससार वास्तव मे ऐसी ही घाटी है।

मास्ति के मानवतावाद का एक अन्य श्रोत है उनका विश्वास कि मनुष्य दिव्य शक्ति का खिलौना है। अपनी आत्मकथा 'भाव' मे मास्ति ने लिखा है कि "सागर की लहरें लट्ठों को कूल से सागर मे खींच लाती हैं और इच्छानुसार दूर तक उनसे खिलवाड करती रहती हैं और फिर उन्हे उलट-पुलट करती हुई वापम कूल पर फेक देती हैं।" लेकिन फिर नियति-प्रताडित मनुष्य का सबल क्या होगा? तभी मास्ति ने उसी आत्म-कथ्य मे यह भी लिखा है कि "हमारा साहित्य ईश्वर को स्वीकार करे या नकार दे, यह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। ईश्वर के हर्ष और विषाद से हमें कुछ लेना देना नहीं है। हमें तो मनुष्य के सुख-दुख की चिन्ता होनी चाहिये। मनुष्य में ऐसी आस्था दे जो उसे जीवन के सुख-दुख को समान भाव से स्वीकार करने की शक्ति प्रदान करती रहे।" हमारे सास्कृतिक दाय से प्रेरित यही गहन मानवतावाद और मानव में अटूट आस्था उनके साहित्य की विशिष्ट अन्तर्धारा है और उनकी दृष्टि में साहित्य का आधारभूत प्रयोजन समाज और व्यक्ति दोनों को मगल प्रदान करना है। अत उनका स्वय का साहित्य मानव-मूल्यों के प्रतिष्ठापन की उनकी अन्त प्रेरणा का मात्र एक सवाहक है।

मास्ति के इसी दर्शन ने उनके साहित्य को एक अद्वितीय समृद्धि प्रदान की है। उनके साहित्य में एक अनूठी परिपक्वता है। एक प्रख्यात कन्नड विद्वान व आलोचक की दृष्टि में मास्ति 'परिपक्वता का कवि' है। इस परिपक्वता का लक्षण मन-शान्ति है, आवेश नहीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मास्ति पीडा और यातना के प्रति उदासीन हैं। पीडा का समीकरण किए बिना परिपक्वता कहाँ आ सकती है? मास्ति के सभी प्रमुख पात्र सुब्बण्णा और उसकी पत्नी ललिता, यशोधरा, चिक्क वीरराजेन्द्र और गौरम्मा, नेमयूया और उसकी पुत्री शान्तव्वा और गौतमी पीडा और दुख से पूरी तरह परिचित हैं। फिर भी मास्ति की मान्यता है कि पीडा, दुख या कुण्ठा-जनित विकारों से मन की शान्ति को विचलित नहीं होने देना चाहिए, वेदना और उथल-पुथल के बीच भी आत्मा का सौष्ठव प्रभावित नहीं होना चाहिए।

मास्ति का उल्लेख प्राय एक स्वच्छन्दवादी के रूप मे किया जाता है। इसका किंचित् स्पष्टीकरण अपेक्षित है—आवेश एव रोमाच को, जो कि स्वच्छन्दवाद के लक्षण हैं, उन्होंने अधिक महत्व नहीं दिया है, न ही उनमे कोई रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि है। उनकी अन्तर्दृष्टि मे तो मनुष्य के जीवन का एक दिव्य उद्देश्य होता है। अत उनकी कविता में व्यापक आवेश नहीं मिलता, इसमें अभिव्यजना के सयम को ही अधिक आकर्षक बनाया गया है और जीवन की अर्थवत्ता को स्पष्ट किया गया है।

मास्ति साहित्य का परिशीलन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिए। उनके सबध में सर्वाधिक उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने सभी साहित्यिक विधाओं-कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, लेख आलोचना आदि में समान रूप से सफलता पाई है। उनके रचे हुए ग्रथों की सख्या १२५ से भी अधिक हैं। यह परिमाण ही विस्मयजनक है।

मास्ति का पहला कविता सकलन 'बिन्नाहा' १९२२ में प्रकाशित हुआ। उसके बाद उनके ११

सकलन व कुछ अन्य काव्य-कृतिया और प्रकाशित हुईं। इनमें 'नवरात्रि' कन्नड कविता की एक अनूठी कृति है। इसमें नौ रातों में सुनाई गई १९ कहानियाँ हैं— कुछ पौराणिक, कुछ ऐतिहासिक और कुछ दैविक। कुछ में आजकल की घटनाएँ भी दी गई हैं जैसे अपनी बुद्धि और वाक्-पटुता द्वारा आरकौट की बेगम का मद्रास के गर्वनर को चुप करा देना और गाँधीजी द्वारा एक घमण्डी अग्रेज अधिकारी को उसकी जगह दिखा देना। इन पद्य-कथाओं में आख्यानिक विविधता तो है ही दृष्टिकोणों का भी अन्तर स्पष्ट है। लेकिन प्राय सभी में मानव-सस्कृति की भव्यता और गहनता का दिग्दर्शन है।

'श्रीराम-पट्टाभिषेक' मास्ति की एक बृहत् काव्यकृति है जो दस हजार पक्तियों मे निबद्ध है। रामकथा की एक और पुनरावृत्ति तो हुई है, किन्तु आख्यान की गरिमा और शैली के समन्वय से यह काव्यकृति मोहक बन पडी है। कवि की अनुभूति है कि जिस प्रकार पूजन और अलकरण से मन्दिर में कलाकार का मूर्तिशिल्प पृष्ठभूमि में पड जाता है उसी प्रकार प्रशस्ति और प्रभावना से मूलकथा में वाल्मीकि के श्रीराम लुप्त हो जाते हैं। तभी मास्ति ने मूल-कथा को उसके सौम्य और भव्य रूप में प्रतिष्ठित किया है। 'श्रीराम पट्टाभिषेक' में राम विष्णु भगवान् के अवतार के रूप में नहीं, प्रत्युत मानवता के हिमालय के रूप में चित्रित हैं। हनुमान् और उनकी जाति के लोग वानर नहीं, मानव हैं। हनुमान् समुद्र को लाघते नहीं, उसे तैरकर लका पहुँचते हैं। इस कृति में वस्तुत दशरथ की व्यथा-कथा निबद्ध है सहारक वरदान, राम का वनगमन, सीता का अपहरण, राम की रावण विजय। राम पर विभिन्न दृष्टिकोणों से तो विचार किया ही गया है, उनका विभिन्न मानदण्डों से मापन भी किया गया है और सभी अवसरों पर वे एक लोकोत्तर पुरुष प्रमाणित हुए हैं। इस आख्यान में महान् चरित्रों के अतिरिक्त अन्य चरित्रों को भी मानव रूप और प्रशसनीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

लेकिन मास्ति मूलत कहानीकार हैं। इन काव्य-कृतियों से भी यही स्पष्ट है। उनकी पहली कहानी 'रगम्मो की शादी' १९१० ई में प्रकाशित हुई। बाद में सन् १९२० ई में उनका प्रथम सकलन 'केलवु सण्ण कथेगलु' (कुछ छोटी कहानिया) के नाम से प्रकाशित हुआ। वे जीवन के अन्तिम दिनों तक लिखते रहे। उन्होंने १०० से भी ऊपर कहानिया लिखीं। उन्होंने आरम्भ से ही कहानी को एक नया रूप प्रदान किया जिसमें किसी प्रकार ही अनिश्चितता नहीं है। कहानी की तकनीक और जीवन दृष्टि दोनो ही मे प्रबुद्धता नजर आती है। आलोचको के अनुसार मास्ति के जीवन की छाप 'कहानी कही गौतमी ने', 'हेमकूट से लौटने पर', 'एक पुरानी कहानी', 'परकाय प्रवेश', 'वेकट की पत्नी', 'दही वाली मगम्मा', 'वेंकटशामी का प्रणय' आदि कहानियों में स्पष्ट दिखाई देती है। कुछ लोगों का कहना है कि मास्ति रुढिवादी रहे। परन्तु यह सकुचित दृष्टिकोण की आलोचना ही कही जाएगी। जीवन की पीडा, विसगति, अन्याय, दुष्टता आदि का बोध मास्ति को खूब था, अन्याय के शिकार होने वालों से मास्ति को सहानुभूति थी। जीवन सुखी और स्वस्थ होना चाहिए। यही उनका आदर्श था, और यह उनकी कहानियों में स्पष्ट झलकता है। 'वेकट की पत्नी' एक बडी ही क्रान्तिकारी कहानी है। वेंकट की पत्नी को वेंकट का मालिक रखैल के रूप में रख लेता है। कुछ समय बाद जब वेंकट की पत्नी बच्चा गोद में लेकर वापस लौट आती है तब यह सदेह उठता है कि बच्चा किसका है। पूछने पर वेंकट के मुह से निकलता है, "बच्चा किसी का हो तो क्या? वह तो बाल गोपाल होता है। उसे पालनेवाले भाग्यशाली होते हैं।"

मास्ति ने 'कन्नड कहानी के जनक' के रूप में विशेष ख्याति पायी। जबकि कन्नड के प्राय सभी प्रमुख कहानीकार उपन्यास की ओर उन्मुख होते गये, मास्ति की सृजनात्मकता कहानी से ही जुड़ी

रही। लेकिन उपन्यास को वे बिल्कुल अनदेखा नहीं कर सके। इस विधा में भी उन्होंने साहित्य को तीन कृतियाँ प्रदान की है— सुब्बण्णा, चन्नबसव नायक और चिक्क वीरराजेन्द्र।

सुब्बण्णा वास्तव में एक लघु उपन्यास है जिसमें एक सगीतकार के जीवन का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। इसमें कहानी की एकाग्रता और प्रवाह है। वह एक ऐसा कथानक है जिसमें आदर्श के प्रति समग्र समर्पण विद्यमान है, हृदयहारी अनुभूति के माध्यम से विद्वता की क्रमिक उपलब्धि है, और अतत सन्यास के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति है जिसमें स्वय कला का भी सन्यास हो जाता है। मास्ति को इस लघु उपन्यास से कहा सतोष हो सकता था। जीवन और साहित्य में उनकी प्रौढ़ता और अनुभव सम्पन्नता ने उन्हें प्रेरित किया कि वे अपनी आरम्भिक रचनाओं की अपेक्षा आगामी रचनाओं के बृहत्तर स्तर पर बौद्धिक और कलात्मक प्रस्तुति कर सके।

मास्ति ने फिर दो विशालकाय ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, 'चन्नबसव नायक' और 'चिक्क वीरराजेन्द्र'। चन्नबसव नायक में बिदनूर के नायक वश की पराजय और पतन की मार्मिक कथा है। उसमें साथ-ही-साथ, दो मानवीय विलक्षणताए भी हैं, वैयक्तिक और राजनीतिक जिनको पृथक् करना कठिन है। राजनीतिक स्तर पर हैदरअली के राज्य के विस्तार के लिए बिदनूर की पराजय आवश्यक थी और वैयक्तिक स्तर पर रानी वीरम्माजी और उसके पुत्र चन्नबसव के पारस्परिक द्वन्द्व तथा हैदरअली की दुर्दम्य महत्वाकाक्षा के कारण बिदनूर का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। मानव-मूल्यों को मास्ति ने अपना मूलाधार बनाया है, इस दृष्टि से ऐतिहासिक शोध-खोज में वे सार्वभौम मानवता और उसके मूलभूत सिद्धातों को सकट की घडियों में भी अडिग और यथावत् बनाए रखते हैं। इस उपन्यास से भी आगे बढ जाता है चिक्क वीरराजेन्द्र जिसमें कुर्ग रियासत की पराजय और पतन की कहानी तो है ही, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अपरिहार्य उदय की गाथा भी है। उद्देश्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से यह उपन्यास महान् कृति बन गया है।

'चिक्क वीरराजेन्द' कुर्ग के अन्तिम शासक की कहानी है। कुलीन एव बुद्धिमती रानी और दो योग्य मन्त्रियों के होते हुए भी चिक्क (छोटा) वीरराजेन्द्र अपना विनाश नहीं रोक पाया। सघर्ष में अँग्रेजों से पराजित होकर उसे निर्वासन का तिरस्कार भी सहना पडा। आखिर ऐसा क्यों हुआ? क्या इसलिए कि वीरराजेन्द्र की जन्म-कुण्डली में उसका विनाश इगित था? कहते हैं, उसके नक्षत्रों की भी वही स्थिति थी जो कस की जन्म-कुण्डली में थी। अतएव अपनी बहिन के पुत्र को मारना उसके लिए अनिवार्य सा हो गया। वीरराजेन्द्र अपनी बहिन को बन्दी बना लेता है, परन्तु उसकी अपनी पुत्री बुआ को उसके पति से मिलाने का प्रबन्ध करती है, यद्यपि उसका पुत्र राजा के चगुल से बच नहीं पाता। यहीं से राजा के निरकुश शासन का आरम्भ होता है और वह विनाश के पथ पर एक के बाद एक कदम उठाता जाता है। विडम्बना यह है कि वीरराजेन्द्र यह सब एक ऐसे व्यक्ति के प्रभाव से करता है जिसको तिरस्कार और घृणा के वातावरण से उबारकर स्वय उसने ही स्नेह और सत्ता से निहाल किया था, बसव वीरराजेन्द्र के प्रति पूरी तरह समर्पित है परन्तु विनाश-पथ पर भी उसे वहीं ले जाता है। फिर वही होता है जो होना था। जनता का रुष्ट होना स्वाभाविक है। लक्ष्मीनारायणैया और बोपण्णा, दो योग्य मन्त्री, राजा को पदच्युत करके रानी गौरम्मा को सिंहासनारुढ करना चाहते हैं। किन्तु वे सोचते ही हैं, करते कुछ भी नहीं। वीरराजेन्द्र को सिंहासन से हटाने का कार्य तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्नल फ्रेजर को करना पडता है। उस समय भी गौरम्मा या बोपण्णा उस उद्वेलित समाज में शान्ति स्थापित कर सकते थे पर अपने-अपने कारणों से दोनों में से किसी ने अवसर का साथ नहीं दिया। कुर्ग अँग्रेज़ों के आधिपत्य में चला गया—मानो सभी पात्र किसी अदृश्य शक्ति से

सचालित हो रहे थे। यह नहीं कि उनका अपना व्यक्तित्व ही न हो। वीरराजेन्द, बसव, बोपण्णा, गौरम्मा, भगवती आदि सभी का आचरण अपने-अपने चरित्र पर आधारित है, लेकिन सब अपनी सीमाओं से बधे हुए हैं। शालीनता और गरिमा गौरम्मा के व्यक्तित्व के अभिन्न अग हैं। वह अपने पति के आचरण से खिन्न हैं, अतएव सघर्ष भी करती है पर वह भारतीय नारी की मर्यादा से बाहर जाने को तैयार नहीं है। गहरे सकट के समय में भी वह अपनी कुलीनता नहीं छोड सकती। इसी प्रकार बोपण्णा योग्य और बुद्धिमान मन्त्री है। भला-बुरा समझता है। पर जब उससे निर्णयात्मक कार्य की अपेक्षा हुई तभी उसके चरित्र और सभवत भाग्य-परिधि ने उसे आगे बढने से रोक लिया।

'चिक्क वीरराजेन्द' एक राजा के विनाश की ही कथा नहीं है, एक समाज की निरीहता की कहानी भी है वह। कन्नड के ऐतिहासिक उपन्यासों मे किसी समाज का और उसके विभिन्न अगों के पारस्परिक सम्बन्धों का ऐसा सजीव चित्र अन्यत्र कम ही मिलता है। मास्ति के उपन्यासों में राजा या राजकुमार शीर्षस्थ भले ही हो, पूरे समाज की सरचना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। दोनों के सन्तुलित सम्बन्धों से ही समाज का कल्याण हो सकता है।

एक अनुत्तरदायी शासन किस प्रकार किसी समाज को बुरी तरह जकडकर बेसहारा कर देता है, इसका मार्मिक चित्र इस उपन्यास में खूब उभरा है। लक्ष्मीनारायणैया और बोपण्णा बार-बार राजा को समझाते हैं कि गुरुजनों ने व्यवस्था से हर मनुष्य का स्थान निर्धारित कर रखा है। यदि उसमें कुछ परिवर्तन करना है तो जनता से भी परामर्श करना आवश्यक है। राजा का दरबार व उसका व्यक्तिगत आवास अलग-अलग चीजें हैं। यही है उस समाज में निरकुशता रोकने का शाश्वत मन्त्र। इसे स्वीकार न करना ही वीरराजेन्द्र की मूलभूत पराजय है। उसने केवल कुर्ग की राजकुमारी को ही बन्दी नहीं बनाया, धीरे-धीरे पूरा कुर्ग ही एक बन्दीगृह हो गया और अन्त में उसे आभास होता है कि उसने अपने लिए ही एक बन्दीगृह बना लिया है। यही है वीरराजेन्द्र की व्यक्तिगत त्रासदी। पर समाज के अन्य गुरजन भी सफल कहाँ हुए?
सब-कुछ-जानते-बूझते समय आने पर ये विद्वज्जन भी पूर्णतया असफल हो जाते हैं। यही है इस उपन्यास का अन्तर्द्वन्द्व, मानवीय कषाय की उथल-पुथल से उत्पन्न विनाशकारी मोह की त्रासदी।

मास्ति ने इतिहास को प्रेरणा लेने का माध्यम नहीं बनाया है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मास्ति का मूल उद्देश्य समाज के उत्थान-पतन का अध्ययन करने का रहा है। उनके अनुसार इस पतन का मुख्य कारण मनुष्यों में ही निहित है। समाज के दु ख के पीछे मानवीय कमजोरियों की प्रबल भूमिका होती है। हा, नियति का अदृश्य हाथ भी सक्रिय रहता है। यह अदृश्य शक्ति मानव को परखती है और उत्थान का शिखर या पतन का गर्त नियत करती है।

कला की दृष्टि से यह उपन्यास मास्ति की कहानियों से भिन्न है। महत्वाकाक्षाओं, पीडा व औदात्य का इतना जटिल ताना-बाना उनकी कहानियों में नहीं मिलता। इस सरचना की पृष्ठभूमि मे चरित्र-चित्रण में मास्ति ने विशेष कुशलता दिखायी है, तभी तो राजघरानों व राजदरबारों की गतिविधियों और षड्यन्त्रों के बीच भी वह छोटे-छोटे चरित्रों को नहीं भूलते। उदाहरणार्थ, 'चिक्क वीरराजेन्द' में भगवती एक साधारण-सी पात्र है, पर अबोधता और प्रतिशोध के सम्मिश्रण से निर्मित यह चरित्र सबको अपनी ओर आकर्षित करता है। साथ-ही साथ, किसी गहन अनुभव को कम से कम शब्दों में सम्पूर्णता देने की अद्भुत क्षमता ने मास्ति के लेखन को सराहनीय परिपक्वता प्रदान की है।

मास्ति के नाटक का, लगता है, अभी ठीक मूल्याकन नहीं हुआ है, यद्यपि 'यशोधरा' आधुनिक

कन्नड साहित्य की एक महान् कृति मानी जाती है सिद्धार्थ और यशोधरा की कहानी 'जग' प्रसिद्ध है और नाटक में उसी परपरागत कथ्य को लिया गया है। लेकिन कथानक का दार्शनिक विकास नाटक को भव्यता के शिखर पर पहुँचा देता है। बुद्ध महान् होते हुए भी मास्ति के लिए मानव ही रहते हैं। और इसीलिये अतिम दृश्य में, जो नाटक के समग्र सौन्दर्य का चरमबिन्दु है, दर्शकों को बुद्ध वास्तव में जीवित ज्योति के प्रतीक दिखाई देते हैं। यह केवल यशोधरा की कहानी न रहकर ऊपर उठकर 'जीवन को प्राप्त करती मरण में जीवन की अन्तर्दृष्टि' बन जाती है। सघ में प्रवेश के समय यशोधरा कहती है –'कादुकिदेन नानु' (मुझे अब जीवन मिला)। महादेवीजी ने भी इसी दर्शन को गीतबद्ध करते हुए कहा है "चचल जीवन बाल, मृत्यु जननि ने अक लगाया।"

६ जून, १९८६ को मास्ति के निधन से आधुनिक कन्नड साहित्य का एक युग समाप्त हुआ।

कृतियाँ

कन्नड में

उपन्यास-कहानी

१	चेन्नबसवनायक	१९४९
२	चिक्क वीरराजेन्द्र	१९५६
३	सुब्बण्णा	१९२८
४	सण्ण कथेगलु (१५ भागों में),	१९२०-७९

काव्य-सग्रह

५	बिन्नह	१९२२
६	अरुण	१९२४
७	तवारे	१९३०
८	चेलुवु	१९३१
९	मलार	१९३३
१०	गौडर मल्ली	१९४०
११	रामनवमी	१९४१
१२	मूकन मक्कलु	१९४३
१३	सुनीता	१९४६
१४	मानवी	१९५१
१५	नवरात्रि (पाँच भागों में)	१९४४-४८
१६	सक्रान्ति	१९६९
१७	श्रीरामपट्टाभिषेक	१९७२

नाटक

१८	शान्ता	१९२३
१९	सावित्री	१९२३
२०	उषा	१९२७
२१	तालीकोटे	१९२९
२२	मजुला	१९३०
२३	शिव छत्रपति	१९३२
२४	यशोधरा	१९३३
२५	तिरूपाणि	१९३७
२६	काकनकोटे	१९३८
२७	मास्ती	१९५३
२८	अनारकली	१९५५
२९	पुरन्दरदास	१९६४
३०	कनकण्णा	१९६५
३१	भट्टर मगलु	१९६९
३२	बानुलि दृश्यगलु	
३३	कालिदास	

व्याख्यान एव समीक्षा

३४	साहित्य	१९२४
३५	कन्नड सेवा	१९३०
३६	कर्नाटकद जनतेय सस्कृति	१९३१
३७	आदिकवि वाल्मीकि	१९३८
३८	ताय्नुडिय तम्मडि	१९४४
३९	भारत तीर्थ	१९५२
४०	कर्नाटकद जनपद साहित्य	१९५६
४१	कन्नड लेंक	१९५७
४२	साहित्यदि आगुव कलस	१९७१
४३	विचार	१९७१
४४	विमर्शे (चार भागों में)	१९२६-६५
४५	उत्तरकाण्ड विचार (पाँच भागों में)	१९४६-८२

जीवनी

४६	रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१९३५
४७	श्रीरामकृष्ण	१९३६
४८	भाव (तीन भागों में)	१९६८-६९
४९	नवरत्न रामराव	१९७६

विविध

५०	पूजन	१९५१
५१	चिन्तन	१९५२
५२	नम्म नुडि	१९६०
५३	साहित्य-लालने	१९६७
५४	सपादकीय (पाँच भागों में)	१९६७

५५ साहित्य प्रेरणे १९७५
५६ पत्रगलु १९७६
५७ अन्तर्गंगे
५८ धर्म सरक्षणे

अनुवाद

५९ चित्रागद १९४५
६० ह्यामलेट १९५८
६१ चन्द्र मारुत १९५९
६२ लियर महाराज १९५९
६३ श्रीकृष्ण-कर्णामृतम् १९५९
६४ द्वादश-रात्रि १९६०
६५ शेक्सपियर दृश्यगलु (तीन भागों में) १९६२-६४
६६ सक्षिप्त-रामायण

सम्पादित

६७ बिज्जिलराय-चरिते १९५४
६८ कर्नाटक भारत कथामजरी १९५८
६९ सर एम० विश्वेश्वरैया १९६०
७० रवीन्द्र प्रशस्ति १९६२
७१ रवीन्द्र पूजन १९६३
७२ विश्वमानवनेडेगे १९६४

अंग्रेज़ी

Sayings of Basavanna, 1935
Popular Culture in Karnataka, 1937
The Poetry of Valmiki, 1940
Subbanna, 1943
Ravindranatha Tagore, 1946
Chennabasavanayaka, 1957
The Mahabharata, 1973
Rajaji (two parts), 1975
Essays, Addresses etc , 1975
Short Stories (1-5), 1943-68
Srimad Bhagavad-gita
Kalidasa
Addresses

अभिभाषण के अंश

लेखक के रूप में अपने कार्यों के विषय में बोलने की मेरी इच्छा नहीं है। स्वय को एव अपने साथी लेखकों को मेरा किंचित् परामर्श है कि कोई भी व्यक्ति अपने बारे में बोलते रहकर, बुद्धिमान नहीं बन सकता, किन्तु इस जनसमुदाय के समक्ष, जो एक कार्यकर्त्ता के अभिनन्दन के अवसर पर बधाई देने हेतु एकत्र हुआ हो, अपने द्वारा किए कार्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में कतिपय निवेदन अवश्य किये जा सकते हैं। आपकी अनुमति से जो आत्मनिवेदन मैं करना चाहता हूँ उसके लिए आपकी ओर से विशेष कृपा की याचना करता हूँ।

१९७७ मे जब मैसूर विश्वविद्यालय ने मुझे डॉक्टरेट प्रदान की, मैंने मैसूर में सम्पन्न दीक्षान्त समारोह में बताया था कि उस दिन से पूरे सत्तर वर्ष पूर्व, सोलह वर्ष के एक बालक को इस नगर के रामविलास रोड पर वेस्लेयन हाईस्कूल जाते हुए देखा जा सकता था। वह एक अनाथ बालक था जिसे सात उदारमना परिवारों से भोजन मिलता था। दीक्षान्त समारोह में मैंने बताया कि "आज वह बालक डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के लिए आपके समक्ष खडा है, एक महती करुणा ने जीवन में उसकी रक्षा की है। अग्रजो और मित्रो, आज मैं आपके समक्ष किंचित् परिवर्तन के साथ वही निवेदन करना चाहता हूँ। अस्सी वर्ष पूर्व, नवम्बर १९०४ मे एक तेरह वर्षीय लडका, जिसने मालावल्ली से अग्रेजी एल एस परीक्षा के लिए अपना आवेदन-पत्र भेजा था और जो उस समय मैसूर में रहा करता था, उसी नगर मे देवराज मार्केट के अहाते में निरुद्देश्य घूम रहा था और बाजार के सामने घटा घर की घडी की ओर उसने अकारण ही देखा। दस बजने वाले थे। अचानक उसे स्मरण हो आया कि यह तो उसकी परीक्षा का दिन है। परीक्षा महाराजा कॉलिज में होनी थी। एक क्षण यह महसूस किया कि परीक्षा का समय तो लगभग निकल ही चुका है। वह फोर्ड स्थित उस मकान की ओर भागा जहाँ वह ठहरा हुआ था। उसने अपना प्रवेशपत्र और कलम उठायी और वहाँ से महाराजा कॉलेज की ओर भागा। वह परीक्षा-हॉल में दस बजकर बीस मिनट पर ऐन समय पहुँच गया प्रवेश तथा उत्तर पुस्तिका मिल गयी। यदि उसे उस वर्ष वह उत्तर पुस्तिका न मिली होती तो उसकी समस्त परीक्षाएँ एक वर्ष के लिए पिछड जातीं और वह आज के दिन यहाँ उपस्थित हो सकने मे समर्थ न हो पाता। वह क्या था जिसने इस बालक को घडी की ओर देखने की प्रेरणा दी ? किसने उसे स्मरण कराया कि वह उसकी परीक्षा का दिन है और यह कैसे सम्भव हुआ कि वह उस दिन परीक्षा भवन मे दस बजकर तीस मिनट से पहले पहुच गया, जिसके बाद उसे परीक्षा भवन मे प्रवेश की अनुमति नहीं मिलती। यह वही महती करुणा थी, जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। बुजुर्गों और मित्रो, मुझे आशा है कि मेरी आत्मकथा का यह छोटा सा अश सुनते हुए आप अधीर नही हुए होंगे।

ज्यो ही मैंने प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त कर मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की, १९०८ में मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया। मैं, मेरी माँ और मेरे छोटे भाइयो का समूचा भार मेरे एक स्नेहिल चाचा पर आ पडा। तब मेरा कार्य था कुछ कमाई प्रारम्भ करना और चाचा जी का बोझ कम करना। उन्ही चाचा जी के सहयोग और सहायता से मैंने शिक्षा के क्षेत्र मे और सफलताएँ प्राप्त कीं तथा १९१४ मे सरकार में नौकरी पा गया।

१९१० के अन्त में जब मैं कॉलिज का एक

छात्र ही था मैं कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर चुका था। उस समय मेरी सम्पूर्ण कामना अपने लोगों के लिए वैसी मनोरजक सामग्री प्रस्तुत करने की थी, जैसी कि मैं स्ट्रैंड मैगजीन में देखा करता था। कुछ वर्षों तक मनोरंजक रचनाएँ लिखते हुए अगले दस वर्षों के अन्त में मैंने अनुभव किया कि लेखक के रूप में मेरे सामने तो एक काम है। १९२१ में, बेलूर के चन्नकेशव मन्दिर में मुझे एक दैवी शक्ति की अनुभूति हुई और देश में साहित्य और कला के क्षेत्र में रचनात्मक प्रतिभा के नितात अभाव पर मुझे खिन्नता का अनुभव हुआ। हमारी दुर्दशा पर मेरी आत्मा पीडा से चीत्कार कर उठी, यह प्रतीत होता कि इस अनुभव ने मेरे भीतर एक ऐसी क्षमता जाग्रत की जो कि तब तक सुप्त अवस्था में थी। मैं प्रकृति में नवीन सौन्दर्य देखने लगा और अपनी दृष्टि में आनन्द के साथ यह अनुभव किया कि जो सौन्दर्य मैं देख रहा हूँ उसके पीछे तो एक महती उपस्थिति है। और मुझे प्रेरणा हुई कि मैं इस आनन्द और दृष्टिबोध को वाणी दूँ। अनजाने में ही मैं जीवन की एक नयी अवस्था में पदार्पण कर चुका था और मुझे एक काम मिल चुका था। सरकारी कर्मचारी के रूप में अपने कार्य के दौरान देश-भर में भ्रमण करने पर मैंने देखा कि हमारे जन-समुदाय में सस्कृति की जडें बहुत गहरी हैं, जो उसके दैनिक जीवन को प्रभावित करके एक नया सौन्दर्य प्रदान करती हैं। मैं जल्दी समझ गया कि यह सस्कृति ही हमारी राष्ट्रीय सस्कृति है, यह वह उत्तराधिकार था जिसने भारत को नैराश्यपूर्ण स्थितियों में भी शेष विश्व के अग्रज बधु के रूप में प्रतिष्ठित किया था। शीघ्र ही मैंने अनुभव किया कि यह मात्र कोई सम्पदा नहीं है, अपितु यह एक उत्तरदायित्व भी है मैक्समूलर द्वारा अनुदित ऋगवेद, अनुवाद किए गये उपनिषदों से परिचय एव जिसे हम रामायण कहते हैं, उसके माध्यम से रामायण के दैनिक पाठ ने मुझमें यह भावना उत्पन्न की कि अग्रेजी के माध्यम से प्राप्त शिक्षा ने मुझे हमारे राष्ट्र की सर्वाधिक मूल्यवान निधि से पूर्णत अनभिज्ञ रखा है और इस निधि ने विगत शताब्दियों के दौरान अपनी प्राचीन पवित्रता एव सरलता को स्वयं विलुप्त कर दिया है। हमारा कार्य वैदिक युग की आस्थाओं, उपनिषद काल के महान दर्शन तथा रामयण एव महाभारत काल के उच्च आदर्शों तक लौटना था। यदि हमने ऐसा कर लिया तब हमारा राष्ट्र सही अर्थों में विश्व के अन्य राष्ट्रों का अग्रज बधु तथा जाति के जीवन में यक्षप्रश्न प्रसग का युधिष्ठिर हो जायेगा। यह कोई सरल कार्य नहीं था लेकिन एकमात्र किया जाने योग्य कार्य था। और हमारी पीढी को यह कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

इस कार्य में पहला कदम कौन-सा था? प्राचीन सरलता एव सौन्दर्य में निष्ठा की प्रतिष्ठा, राष्ट्रीय जीवन की सस्थाओं की पुनर्रचना, हमारे उत्तराधिकार में सतही दृष्टिकोण में अनुचित दिखायी देने वाली, किन्तु मूल्यवान, गहरी अर्थों वाली मान्यताओं में पुनर्व्यवस्था करना मेरे अनुभवों ने मेरे द्वारा रचित गीति रचनाओं के माध्यम से रूप धारण किया। मेरी कहानियों तथा उपन्यासों में, हमारे जनसामान्य के सौन्दर्य सम्बन्धी मेरे विचारों ने कर्नाटक की लोकप्रिय सस्कृति के सम्बन्ध में एक धारणा का रूप लिया। मैंने रामायण, महाभारत एव गीता का अध्ययन किया और हमारे पास विद्यमान इन पुस्तकों के अश वास्तव में मूल विषय वस्तु में की गई वृद्धियाँ हैं, जिनसे इनके सौन्दर्य में कमी आयी है। मैंने नरसिह अवतार, वामन अवतार जैसी कहानियों तथा श्रीकृष्ण के जीवन की कथाओं यथा गोपियो के वस्त्र हरण एव रास क्रीडा के नये अर्थ सुझाए और गजेन्द मोक्ष को यह विचार प्रदान किया कि विश्वमातृ को बहुचर हाल संगी की सज्ञा प्रदान की गयी थी। मैंने अनुभव किया कि जो कठिन कार्य हाथ में लिया था यह किसी एक व्यक्ति का काम नहीं है। इसमें बहुत से कार्यकर्ताओं के दल की आवश्यकता है। समान विचारधारा के मित्रो से मिलते हुए मैंने उनसे यही याचना की कि उन श्रेष्ठ बातों को लिख डालें जो कि वे मुझे बताते रहे थे। उनकी उस प्रतिभा को देखते हुए, जिससे वे स्वय

अनभिज्ञ थे, मैंने उन्हें सुझाव दिया कि वे इस प्रकार के साहित्य की रचना करें जो उनकी शक्ति के भीतर है। हमारे नये साहित्य का मार्ग भी नया था और हमारी जनसख्या के अधिकाँश के लिए, जो अग्रेजी साहित्य से अपरिचित था, इस नए साहित्य तक पहुँचने और उसका आनन्द ग्रहण करने में सहायता अपेक्षित थी। ज्यों-ज्यो आने वाले वर्षों में नया साहित्य प्रकाशित हुआ, मैंने बहुत से लेखकों द्वारा रचित उच्चकोटि की कृतियो की भूमिकाएँ लिखीं। इसके बाद भी परिस्थितियों ने मुझे समय से पूर्व निवृत्ति लेने को विवश किया और मैंने स्वय को पूर्णत साहित्य को समर्पित कर दिया। मैंने एक मासिक पत्रिका सभाल ली, जिसे मैंने तथा मेरे कुछ मित्रों ने पहले प्रारम्भ किया था। मित्रगण इसे चला तो रहे थे पर इसका प्रकाशन जारी रखने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। मैंने इक्कीस वर्ष तक इस पत्रिका का सपादन किया, जिसमें युवा मित्रों को उनकी प्रथम रचना प्रकाशित करने के लिए मच प्रदान किया। इस प्रकार एक पत्रकार बन जाने पर मैंने उन लोगों को इन मामलों को देखने का मार्गनिर्देश देते हुए, जिन्हे इसकी आवश्यकता थी, अपने देश और विश्व के अनेक विषयो पर विचार लिखे। इस समस्त कार्य के दौरान मैंने अपने लिए लेखक का मार्ग निर्देश करने वाली एक आचार सहिता तैयार की। इनमे से एक का मैंने पहले उल्लेख किया है-"कोई भी व्यक्ति अपने बारे में बोलते रहकर बुद्धिमान नहीं बना रह सकता।" एक अन्य छोटा-सा परामर्श यह है कि कभी अपनी रचना की प्रशसा मत करो। श्रीराम एक पराक्रमी योद्धा थे लेकिन उन्होंने स्वय की वीरता की प्रशसा नहीं की। आप अपनी कृति में बहुत ऊँचे पहुँच सकते हैं, मगर यह सोचने में बचिये कि मैं कितना ऊँचा पहुँच गया हूँ चूँकि ज्यों ही आप ऐसा सोचते हैं आपका विकास रुक जाता है। एक और बात, जब कभी आपकी कृति के विषय में कोई प्रतिकूल विचार व्यक्त कर रहा हो, अपना मानसिक सतुलन न बिगाडिये। आलोचना को गलत समझने का और यहाँ तक कि अपनी स्थिति स्पष्ट करने का आपका पूरा अधिकार है। मगर अपने आलोचक के प्रति रोष का भाव अपनाने का परिणाम होगा— विकास की प्रक्रिया में पाठकों की सहायता को अस्वीकार करना। नि सन्देह हम लेखकगण हर समय केवल श्रेष्ठ कृतियो की ही रचना करते हैं, मगर कोई भी कृति तब तक श्रेष्ठ नहीं होती जब तक कि एक सक्षम और एक मित्रवत् समालोचक इससे सहमत हो और कहे कि वह सचमुच ही श्रेष्ठ है। युवा प्रतिभाओं के विकास मे सहायता करो। किसी भी मामले में उन्हे हतोत्साहित करने का कार्य न करो। आपको पता नहीं कि उसका भाग्य उसे किन ऊँचाइयों तक ले जाये। जिस लेखक ने "लव्ज लेबर लॉस्ट" से लेखन प्रारम्भ किया था उसके लेखन की समाप्ति "टैम्पेस्ट" पर हुई।

भारतीय साहित्य, वेदों एव उपनिषदों मे अपने प्रारम्भ के साथ एक वाल्मीकि, व्यास की महान कृतियों और कालिदास जैसे श्रेष्ठ कवि और उस पर परम्परा के साथ, जो इनके साथ विकसित हुई, साहित्य के इस कार्य को पूरा करने की अत्युत्तम स्थिति में है। इस समय जबकि आवाज आयी है, देश ने राजनैतिक स्वतन्त्रता पुन प्राप्त कर ली है तथा वह विश्व के मामले में स्वय को अभिव्यक्त करने की स्थिति मे है, अधिकाँशत ऐसा लगता है मानो हम इस प्रयोजन के लिए ही स्वाधीन हुए हैं। क्या इसे कार्य रूप में परिणत किया जाना चाहिए ? सभवत हाँ, लेकिन स्वाधीनता प्राप्त करने में पश्चिम मे समझे जाने वाले अभिप्रायों में ही "सभ्य" हुए हैं, क्योंकि दुर्भाग्य से अपनी प्रगति के लिए अपनाए कार्यक्रमों में हमने बहुत सी त्रुटियाँ कर डाली हैं। एक सबसे बडी त्रुटि है धर्म की उपेक्षा तथा अपने राष्ट्रीय जीवन से ईश्वर की मान्यता को ही बहिष्कृत कर देना। हमारे जनसाधारण को सम्मोहित करने वाली एक वस्तु है धर्म और इसके महत्त्वपूर्ण ब्यौरे के रूप में ईश्वर है। हमने अपने सविधान में ईश्वर की धारणा को ही निष्कासित कर दिया। हमारे नेताओं ने हमारे

महानतम नेता के मार्ग-निर्देश में, यह सोचा कि हमारे राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए ईश्वर का आभार व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है। गाँधी जी को अपने हिन्दू होने का गर्व था और ईश्वर में उनकी आस्था थी, उनके नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त करने वाले राष्ट्र ने ईश्वर को एक अतिरेक घोषित कर दिया, यह भूलते हुए कि इस सम्बन्ध में वह क्या सोचेगा।

उन्हीं महान नेता ने, जिन्होंने स्वाधीनता प्रदान करने हेतु ईश्वर को धन्यवाद देना अनावश्यक समझा था, कहा था कि हिन्दूवाद तो रसोई-घर है। गाँधी जी द्वारा घोषित धर्म तथा स्वामी विवेकानन्द को १८९३ मे शिकागो के धर्म सम्मेलन में केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप में उजागर करने वाली शिक्षा देने वाले धर्म के प्रतिपादन का यह समुचित विवरण नहीं हो सकता। हमारी अन्य त्रुटियाँ ये थीं कि हमने योजनाओं को भौतिक कल्याण के लिए बनाया, मगर आध्यात्मिक समृद्धि के लिए कुछ नहीं किया। राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र होते हुए हम राष्ट्रीय क्रिया-कलापों के समस्त विभागों में बाहर से धन का आयात करते हुए, मशीनरी मँगाते हुए, जानकारी प्राप्त करते हुए पश्चिम के गुलाम बने रहे। इस आयात मे आवश्यक रूप से अत्यधिक व्यय हुआ। इस व्यय के परिणामस्वरूप आसानी से प्राप्त धन को उसी प्रकार आसानी से बहुत मामूली हितो के लिए व्यय किया गया। वास्तव में, उपयोग में लाया गया धन, ऋण के एक अश की तो बात ही छोडिए, जैसा कि होना चाहिए था, प्राय ऋण पर चुकाया जाने वाला ब्याज भी अर्जित न कर सका। इसमें असफल होने की स्थिति में ऋण करदाता के लिए बोझ बन गया। ऐसा दृष्टिगोचर होता है मानो भौतिक समृद्धि पर केन्द्रित हमारे ध्यान में आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्रों का ह्रास सम्मिलित था। हमारे नेता तर्क-बुद्धिवादी थे। कट्टर बुद्धिवादी व्यक्ति का भी एक ईश्वर तथा एक धर्म होता है। वह 'ईश्वर' तथा 'धर्म' जैसे शब्दों को फेंक सकता है, मगर बढ़िया जीवन जीने के लिए उसे इनके सार को सुरक्षित रखना चाहिए। किन्तु असस्कारित जनता को बढ़िया जीवन की ओर केवल तभी ले जाया जा सकता है जबकि इस सार को ईश्वर और धर्म कहे जाने वाले ठोस रूप में प्रस्तुत किया जाये। यहाँ तक कि ईश्वर के दोषपूर्ण विचार भी उपयोगी होते हैं क्योंकि वे मनुष्य को श्रेष्ठ आचरण की ओर ले जाते हैं। तभी तो तर्क बुद्धिजीवी नेता वाल्टेयर ने कहा था कि यदि ईश्वर न होता तो हमें उसका आविष्कार करना पडता। ईश्वर को अप्रसन्न करने से डरने तथा उसे प्रसन्न करने की कामना ने अतीत में हमारे जन-सामान्य को कुल मिलाकर बुराई से डराया है तथा उसमें यह इच्छा पैदा की है कि भलाई पाने के लिए उन्हें यथाशक्ति अच्छाई करनी चाहिए। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन से इसी प्रकार का भय तथा कामना बहुत बडी सीमा तक विलुप्त दिखायी देते हैं।

हमारे उत्तराधिकार के इस भाग ने मुझे बहुत समय पहले अनुभव कराया था कि राष्ट्रों के बीच भारत की स्थिति लगभग वही है जो पाण्डव बधुओं के बीच युधिष्ठिर की रही है। अपने कम भाग्यवान बधु के प्रति समृद्ध व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में दान की भारतीय परम्परा पर विचार करें। यह अभाव की समस्या का समाधान है। हमारी परम्परा पूँजीवाद एव साम्यवाद के बीच किसी सघर्ष की आवश्यकता नहीं देखती। अर्जित करने की वृत्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे एक समाज वह सब उत्पादित करने में सक्षम होता है जो कि वह पैदा कर सकता है। जरूरतमद साथी की सहायता करने की वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इससे उत्पादन की हुई सामग्री इस समाज को, जिसका कि अर्जन करने वाला एक सदस्य होता है, उपलब्ध हो जाती है। हमारे अतीत में हमारे समाज में सम्पन्न परिवार अपने यहाँ बहुत से लोगों को भोजन कराकर गर्व का अनुभव किया करते थे। उनका विश्वास था कि आज के दिन भोजन देना भविष्य में उनकी सततियों के लिए इसे उपलब्ध कराने का निश्चित मार्ग है। मुझे याद है

कि जब सथे अल्ली के ग्रामीण बुजुर्ग राम गौडा को, जिन्हें मैं आज भी आदर और प्यार से स्मरण करता हूँ, यह बताया गया कि मैं मास्ती के पेरियाथ परिवार का बच्चा हूँ जो कि उस समय अत्यन्त दरिद्र का परिवार था, उन्होंने कहा था कि "बच्चा गरीब नहीं रहेगा। उस परिवार ने अतीत में बहुत से लोगों को भोजन कराया था।" यही भारतीय साम्यवाद है।

भारत ने शताब्दियों तक धर्मों के बीच सहिष्णुता का उपदेश दिया है। मैं यह बात अन्य धर्मों की निन्दा के रूप में नहीं कर रहा हूँ, परन्तु यह एक वास्तविकता है कि हिन्दूवाद ही अकेला धर्म है जो अन्य धर्मावलबियों से कहता है, "अपने धर्म का पालन करो, इन उपदेशों का आचरण करो और एक अच्छे मनुष्य बनो, ईश्वर तुम्हें स्वीकार करेगा।" सनातन धर्म, हिन्दू धर्म जिसका आधुनिक रूप है, ससार के एकमात्र धर्म शाश्वत धर्म का आधार है जिसका प्रवक्ता होने का यह दावा करता है। हिन्दूवाद साहित्य, विश्व में प्रचलित सभी धर्म, उस एक धर्म की शाखाएँ, जिसकी प्राणीमात्र खोज कर रहा है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जबकि अन्य देश अपने यहाँ प्रचलित धर्मों को स्वीकार कर रहे हैं, कुछ लोग उनके यहाँ अन्य धर्मों कोअस्वीकार कर रहे हैं, भारत की जनता में बहुत से ऐसे लोग हैं जो अधिकाँश अन्य धर्मों को स्वीकार कर रहे हैं।

हिन्दूवाद की सहिष्णुता को भी अतिरेक के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि इससे विदेशियों के प्रभाव के अन्तर्गत आने वाले भारतीयो को स्वय को राष्ट्र कहने का प्रोत्साहन मिलता है। पाकिस्तान इसी प्रकार की भावना का परिणाम था। अतीत मे हम पर शासन करने वाले विदेशियों ने झगडे के बीज बोये हैं। हमारे देश का विभाजन करने में वे सफल हुए। अब नागालैंड, मिजोरम और खालिस्तान की स्वाधीनता की बातें सुनी जाती हैं। इनकी जडें उसी श्रेष्ठता में निहित हैं, जो कि हिन्दू धर्म की सहिष्णुता मे एक दोष के समान देखी जाती है। इस सबके बावजूद यह एक गुण है और इसका व्यवहार होते रहना चाहिए।

इससे हमारा देश एक धर्म, मनुष्य धर्म, जिसकी विश्व को आवश्यकता है, का ढाँचा तैयार करने हेतु सर्वश्रेष्ठ स्थान बन जाता है। अपने जनसामान्य के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए समग्र रूप से किसी अन्य देश की तुलना में हमें धर्म की आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक है। इस धर्म एव इसके दर्शन को रूपाकार देना हमारे साहित्य का कार्य है। यह उल्लेखनीय है कि जब विश्व के अन्य देशों की आदिम जातियाँ वास्तव मे अथवा अधिकाँशत समाप्त हो गयी हैं, भारत के आदिवासी पहले के ही समान शान्तिपूर्ण ढग से रहते हैं।

यह पूर्णत स्पष्ट है कि हम अपने देश के लिए अन्य देशों के मानक और व्यवहारों को स्वीकार नहीं कर सकते। हमें अपने मानक एव व्यवहार स्वय बनाने चाहिए। यदि आवश्यक होगा तो ऐसे मामलो पर विभिन्न विचारधारा वाले लोगों के हम सम्मेलन बुलायेंगे तथा बैठकर यह विचार-विमर्श करेंगे कि हमारा रास्ता क्या हो, और इन सम्मेलनों में लिए गये निर्णयों को राष्ट्रीय नीति के रूप में अपनाया जाना चाहिए। जब लगभग चार वर्ष पूर्व मैंने कहा था कि यदि हम आज अपनी विरासत की समीक्षा करें तथा अपने राष्ट्रीय चरित्र को पुन प्राप्त कर लें तो हम विश्व को यह दिखा सकने की स्थिति मे होंगे कि मानव जाति के लिए आतक पैदा करने वाले खतरों से उसे किस प्रकार बचाया जा सकता है। हमें इतिहास में युधिष्ठिर की भूमिका निभानी है। एक मित्र ने मुझे पत्र लिखा है कि मैं अपनी सस्कृति एव धर्म के लिए अत्यधिक दावे कर रहा हूँ और कि हमारी आज की राष्ट्रीय स्थिति द्वारा निर्णीत धर्म और सस्कृति का कोई अर्थ नहीं रह गया है और अन्त मे मुझसे कहा, " आप इस तरह बात करते हैं मानो आपने ईश्वर को देखा हो, क्या आप मुझे उसका पता दे सकते हैं ?" उन्होने मुझे पत्र के प्रारम्भ में आदरणीय महोदय के रूप में सम्बोधित किया था। ऐसे व्यक्ति के मामले

मे, जिसे इस प्रकार का पत्र मिला हो, पहला प्रभाव क्रोधित होने का होता है। मेरी आयु ने मुझसे यह प्रभाव कभी का छीन लिया है। मैं यह सोचकर केवल अप्रसन्न हुआ कि एक भारतीय बधु इस प्रकार अपने राष्ट्र की अवमानना कर रहा है, जिसके हम दोनों ही निवासी हैं। मैंने उत्तर लिखा कि हमारी वर्तमान स्थिति के बारे में इतना ज्यादा सोच कर तथा निराश अनुभव करके वह गलती कर रहा है। इस प्रकार की भावना से हमें गाँधी जी का स्मरण करके बचना चाहिए। इसके साथ-साथ 'आदरणीय महोदय' के सम्बोधन से पत्र प्रारम्भ करके इस पत्र को एक व्यग्यात्मक प्रश्न पर समाप्त करना उसके लिए उचित था। ईश्वर को देखना जैसे वाक्य को ठीक ढग से समझा जाना चाहिए। इस अभिप्राय से मैं ईश्वर के प्रति आसक्त हूँ, न कि इस अभिप्राय से जिसमे ईश्वर का पता पूछने का उनका प्रश्न निहित है। मैंने ईश्वर को देखा, पता है 'ईश्वर', पत्र लिखने वाले लेखक के हृदय में रहता है। द्वारा लेखक, उसके मकान का पता, सडक एव नगर जहाँ पत्र का लेखक रहता है। उसका प्रत्युत्तर वह नहीं जिसकी कि मुझे आशका थी। वह मेरे पास बोध भावना से आया और मुझसे सामान्य बातचीत की तथा चला गया और मुझे अत्यन्त आत्मीय भाव से पत्र लिखा। तब से वह मेरा अत्यन्त प्रिय और घनिष्ठ मित्र बन गया। अपनी विरासत मे आस्था का इस प्रकार समाप्त हो जाना मानो अब एक सक्रामक रोग का रूप धारण कर चुका है। कैथरीन मेयो, बेवरली निकाल्स तथा विलियम आर्चर की मृत्यु हो चुकी है मगर उन्होने इग्लैंड में लिखने वाले बगला लेखक, एक उपनिवेश से भारतीय मूल के एक लेखक में तथा अपने बहुत से लोगो के रूप में पुन अवतार लिया है। इनमें अग्रेजी के एक प्रोफेसर भी हैं जिन्होंने अपनी खोज इस प्रकार प्रचलित की है कि सीता इस प्रकार की महिला थी, जिसका कोई चरित्र ही नहीं था। एक सज्जन द्वारा यह कहे जाने की सूचना मिली है कि वेदों की रचना ऐसे व्यक्ति द्वारा की गयी जो गोमास तथा बकरे का गोश्त खाता था और बहुत अधिक पुण्यवान नहीं हो सकता था। यहाँ तक कि और लोग भी हमारे द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले धर्म एव सस्कृति के अन्य दुर्गुणों की बात करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सीता की प्रशसा उन्हें एक अतुलनीय आदर्श वाली महिला कहकर की थी। उन्होंने अपने देशवासी हम लोगों से कहा था, "आपको अपने भारतीय होने का गर्व होना चाहिए।" हमारे आज के मित्र हमें बता रहे हैं कि हमें अपने भारतीय होने पर शर्मिन्दा होना चाहिए। हम किनके शब्दों को सही मानें ? जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं स्वामी की बात स्वीकारता हूँ। मैं अपने इन युवा मित्रों को परामर्श दूँगा कि वे इस बात पर बार-बार विचार करें कि उन्हें मेरी ही तरह स्वामीजी के मार्ग निर्देश को क्यों स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रिय मित्रो, मेरा कहना है कि आप इस धर्म और सस्कृति की भर्त्सना समग्रता में करते हैं और सोचते हैं कि प्राचीन आदर्श उचित नहीं थे। यदि हम इस कारण उन्हें स्वय से हटाकर दूर फेंक दें तो उनका ग्रहण करने के लिए क्या होगा। हमारा बगीचा जगली झाडियों से भरा है। हम उन्हें निकाल कर बाहर फेंकते हैं और धरती को साफ कर देते हैं। क्या खालीपन को भरने के लिए हमारे पास फल और फूल मौजूद हैं ? क्या वे वास्तव में फल और फूलों के पौधे हैं ?

जिस वातावरण मे हम रह रहे हैं, उसका वर्णन करते समय मैं उससे सम्बन्धित कुछ और बाते बताना चाहूँगा जो ज्ञानपीठ पुरस्कार के सम्बन्ध में घटित हुईं। पुरस्कार प्राप्त होने और समारोह करने हेतु आयोजित बैठको मे मित्रो ने कहा था अब मुझे शीघ्र ही साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार मिल जाना चाहिए। ऐसे अवसरों पर मैंने कहा था कि नोबल पुरस्कार परिषद अथवा समिति के समक्ष हमारे लेखकों के दावों को रखने के लिए अपेक्षित सरचना (अडर स्ट्रक्चर) हमारे देश में विद्यमान नहीं हैं और इसलिए भारतीय साहित्य के लेखक के पास

वर्तमान में पुरस्कार समिति का ध्यान आकर्षित करने की कोई सभावना नहीं है, और कि हमारी भाषाओं को श्रेष्ठ कृतियाँ उन कुछ नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाली पुस्तकों से, जिन्हें मैंने पढा है, किसी भी रूप में कम नहीं हैं। एक समाचारपत्र के सवाददाता ने लिखा कि मैंने कहा था कि मेरी रचनाएँ मेरे द्वारा देखी गई पुस्तकों से कम श्रेष्ठ नहीं हैं। मैं किसी भी लेखक द्वारा अपनी रचनाओ की प्रशसा मे बोलना मूर्खता समझता हूँ। मैंने पत्र के सम्पादक को यह बताते हुए एक पत्र लिखा कि मैंने समाचार पत्र में छपा हुआ वक्तव्य नहीं दिया है। मुझे मालूम नही कि उन्होने मेरा पत्र प्रकाशित किया अथवा नहीं। मगर एक नवयुवक ने कुछ दिनो बाद मेरे द्वारा किये गये कथित दावे के लिए मुझे दोषी ठहराते हुए लिखा, "आप बहुत दभी हैं। आपकी पुस्तक बेकार है। आप एक ब्राह्मण हैं और एक ऐसे समूह ने, जिस पर ब्राह्मणों का वर्चस्व है, आपको यह पुरस्कार प्रदान किया है। आप एक वध्या परम्परा के अनुयायी हैं जो अपने चेहरे पर मुखौटा लगाये फिरते हैं।" स्पष्ट है कि पत्र का लेखक ब्राह्मणो के अलावा किसी अन्य सम्प्रदाय का है और एक वर्ग के रूप में ब्राह्मणों को पसन्द नहीं करता। उसने मुझे कहीं पर मुखौटा लगाये देखा है या सुन रखा है कि मैं इसे धारण करता हूँ। अत वह समझता है कि मैं परम्परावादी व्यक्ति हूँ और कोई अच्छी किताब लिख नहीं सकता। मैंने इस सम्बन्ध में चर्चा न की हाती, अगर यह वास्तविकता होती कि अन्य सम्प्रदायो के बहुत से नवयुवकों को ब्राह्मणो को सिर्फ इसलिए नीचा दिखाना सिखाया गया है क्योंकि वे ब्राह्मण हैं। मैं यह नहीं कर रहा हूँ कि ब्राह्मणों में बुरे लोग नही होते, किन्तु भारत के किसी बच्चे को भारत के किसी अन्य बच्चे से जाति, धर्म या उसके जन्म के क्षेत्र की भाषा के आधार पर घृणा नहीं करनी चाहिए, मेरा ऐसा विचार है और मैंने इसका दृढतापूर्वक पालन किया है। अपने इस बधु के वक्तव्य के उत्तर मे मैं वही कह सकता था जो कि बर्नार्ड शॉ ने एक बार अपने लिए अस्वीकृति प्रकट करने आये व्यक्ति से हजारों उपस्थितों की तालियों के बीच कहा था, "मित्र, मैं तुमसे सहमत हूँ, मगर इस विशाल भीड के सामने सिर्फ हम दो लोग क्या माने रखते हैं।" बर्नार्ड शॉ अपने प्रशसकों की अथाह भीड के बीच कुछ लोगों की प्रशसा के बगैर काम चला सकता था मगर मैं अपने इस बधु से इस प्रकार मिलने को तैयार नहीं हूँ। मैं एक वयोवृद्ध व्यक्ति हूँ और मुझे युवाजनों को यह बताना चाहिए कि उनके स्थान पर विद्यमान व्यक्ति द्वारा किए जा सकने वाले काम के सम्बन्ध में मैं क्या सोचता हूँ। मेरा कार्य है युवा व्यक्ति द्वारा किए गए अनुचित काम का विरोध करना। अपने अन्य भाइयो के प्रति भी मेरा यही रवैया है, जिन्होने पुरस्कृत पुस्तक के सम्बन्ध मे कहा है कि इस पुस्तक मे बहुत महान कुछ नही है। एक समीक्षक ने इस पुस्तक को सैक्सयुक्त पाया है और कहा कि इसमें अप्राकृतिक यौन चित्रण है। अन्यो ने, जिन्होंने यह पुस्तक पढकर अथवा बिना पढे, उसे अपने मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार कर लिया है और शिकायत की है कि मैं वीरशैव सम्प्रदाय के विरुद्ध हूँ और मैंने यह पुस्तक इसकी प्रतिष्ठा कम करने के प्रयोजन से लिखी है। इस प्रकार की समस्त प्रतिकूल बाते, गैर साहित्यिक मानसिकता की उपज है। जिसे सैक्सी बताया गया है, वास्तव मे वह सैक्सी है ही नहीं। यह वास्तव मे शुद्ध रूप में निष्कपट लेखन है। समीक्षक ने एक सीधे-सादे वाक्य में सैक्सी अर्थ देख लिए और उसकी निन्दा कर दी। इस प्रकार से किसी भी कृति की निन्दा करना सरल होता है। अपने इन समस्त बधुओ से मैं मैत्रीपूर्ण भाव से इतना ही कहना चाहूँगा और अनुरोध करूँगा कि वे इन बातों पर पुन विचार करें। फिर भी यदि उन्हे लगे कि वे सही हैं तब भी उन्हे अपने विचारों को इस प्रकार व्यक्त नहीं करना चाहिए जिससे कि अनावश्क रूप से ठेस पहुँचे।

हमारे देश के विरुद्ध सब कुछ कहा जा चुकने के बावजूद, यह वास्तविकता अपनी जगह विद्यमान

है कि हमारे देश के धर्म एव सस्कृति ने हमारे इतिहास के घोर निराशापूर्ण दिनों में भी राजाराम मोहन राय, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष और महात्मा गाँधी जैसे महान् विभूतियों को जन्म दिया। सचमुच ही वह धर्म, वह सस्कृति कितनी महान् रही होगी जिसने ऐसे समय में ऐसे पुरुषो को जन्म दिया, जबकि देश को उसकी बडी जरूरत थी। महात्मा गाँधी ने कहा था कि उसका धर्म हिन्दूधर्म है। इसमें उस सबका श्रेष्ठ विद्यमान है जो कि अन्य धर्मों मे पाया जाता है। यह है सनातन धर्म और इसके कारण वह ईसाई अथवा मुस्लिम अथवा किसी अन्य मान्यता वाले सम्प्रदाय के सदस्य, कुछ भी हो सकते थे। जब गाँधीजी का देहान्त हुआ तो लन्दन के पत्र "टाइम्स" ने कहा था कि भारत के अलावा अथवा हिन्दू धर्म के अलावा कोई भी देश अथवा धर्म उस व्यक्ति को उत्पन्न नही कर सकता था। अपने देश के सम्बन्ध मे निराश होने के क्षणो मे मैं अपने मित्रो से इस तथ्य का स्मरण करने की कामना करता हूँ और स्वामी विवेकानन्द के इस आह्वान को दोहराता हूँ कि हमे अपने भारतीय होने का गर्व होना चाहिए।

एक वर्ग के रूप मे हमारे लेखको का यह कार्य है कि वे अपने क्रियाकलापों मे सनातन धर्म एव भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठताओं को पुनर्जीवित करने के लिए अपना श्रेष्ठतम योगदान दें तथा अपने देशवासियों को अनुभव कराये कि वे अपनी विरासत को शानदार ढग से बनाये रखें तथा विश्व के राष्ट्रों को भाई-भाई के समान खडा होने का आह्वान करें एव विश्व को मनुष्य मात्र और प्राणी-मात्र के लिए एक सुरक्षित तथा सुखद स्थान बनायें। कि हमारे देश से यह आह्वान जाना चाहिए, जो कि हमारी दो महान् विभूतियों की आस्था दिखाई देता रहा है। हमारे महान् नेता राजाजी ने अपने जीवन के अन्तिम समय में कहा था, "सच्ची सभ्यता के मिशन को मुनियों की भूमि के निवासियों के अतिरिक्त कौन पूरा कर सकता है, जहाँ उनके वचन आज भी दोहराये जाते हैं तथा उन सन्तों की वास्तविक शैली में श्रद्धापूर्ण उनका पाठ किया जाता है? भारत के अतिरिक्त यह पवित्र कार्य और कहाँ प्रारम्भ किया जा सकता है?" एक अन्य प्रसग में गाँधीजी ने कहा था, "हम भारत के वासी यह अनुभव करते हैं कि जो कानून पाशविक सृष्टि पर शासन करता है मानवीय प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है।" मैं इस विश्वास से प्रसन्न हूँ कि शायद इस भूखे मरते विश्व को मार्ग दर्शाने का विशेषाधिकार हमारे प्राचीन देश को ही मिलेगा।

इस महान् कार्य से शक्ति पाने के लिए आइए हम अपने आपसे बार-बार कहें, "मैं उसका क्या करूगा जो मेरे लिए अमरता का साधन नहीं बन सकता।" आइए, हम एक साथ चले, आइए हम आपस मे बातचीत करे, विचारों मे मैत्री पैदा करें और सर्वशक्तिमान से प्रार्थना करें कि हमें बुराई से भलाई, अँधेरे से प्रकाश और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाये।

अग्रजो और मित्रो, यह सम्भव है कि आपमे से कुछ स्वय से पूछ रहे हों कि इस अवसर पर इस समस्त भाषण की क्या सार्थकता है। मैं कहता हूँ कि यह बताये जाने पर कि साहित्य मे मेरा कार्य प्रशसनीय है मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मेरा गन्तव्य क्या है। मैंने लिखना क्यों प्रारम्भ किया? मैंने क्या लिखा और क्यों? मैं विश्व के जीवन में साहित्य के कार्य को एक सीमा तक पूरा करने के लिए आया। सामान्यत यह कार्य क्या है? इस देश में क्या कुछ है? विश्व मे जीवित प्राचीनतम सभ्यता एव सस्कृति के भण्डार के रूप मे इस देश का एक विशेष उत्तरदायित्व है। यह उत्तरदायित्व क्या है और इसे किस प्रकार पूरा कर रहे हैं? मैं इन प्रश्नों के उत्तर देता हूँ और अपने लेखक बन्धुओं को उनके उत्तरदायित्व का स्मरण कराता हूँ तथा अपने राष्ट्रीय नेताओ से अनुरोध करता हूँ कि वे हमारी जनता के आध्यात्मिक उत्थान की योजनाएँ उसी प्रकार बनाएँ, जिस प्रकार कि हमारी भौतिक स्थिति में सुधार के लिए योजना

बनाते हैं।

अग्रजो और मित्रो, मैं इस भव्य समारोह में सूचना देने की अनुमति चाहता हूँ कि पुरस्कार में प्राप्त राशि को मैं साहित्य की सेवा हेतु दो ट्रस्टों को अर्पित करता हूँ, एक ट्रस्ट को कन्नड में उच्चकोटि की नई पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए और पचास हजार रुपए दूसरी संस्था को जिसे मैं अपनी पुस्तकों को हमेशा स्टाक में बनाये रखने के लिए वित्तीय सहायता देने हेतु बना रहा हूँ ताकि विद्यार्थियों के पास सम्पूर्ण कृतियाँ सदैव विद्यमान रहें और उनका मूल्य सामान्य बाजार दर की तुलना में कम हो, ताकि ये पुस्तकें कम आय वाले पाठकों की पहुँच के भीतर हों।
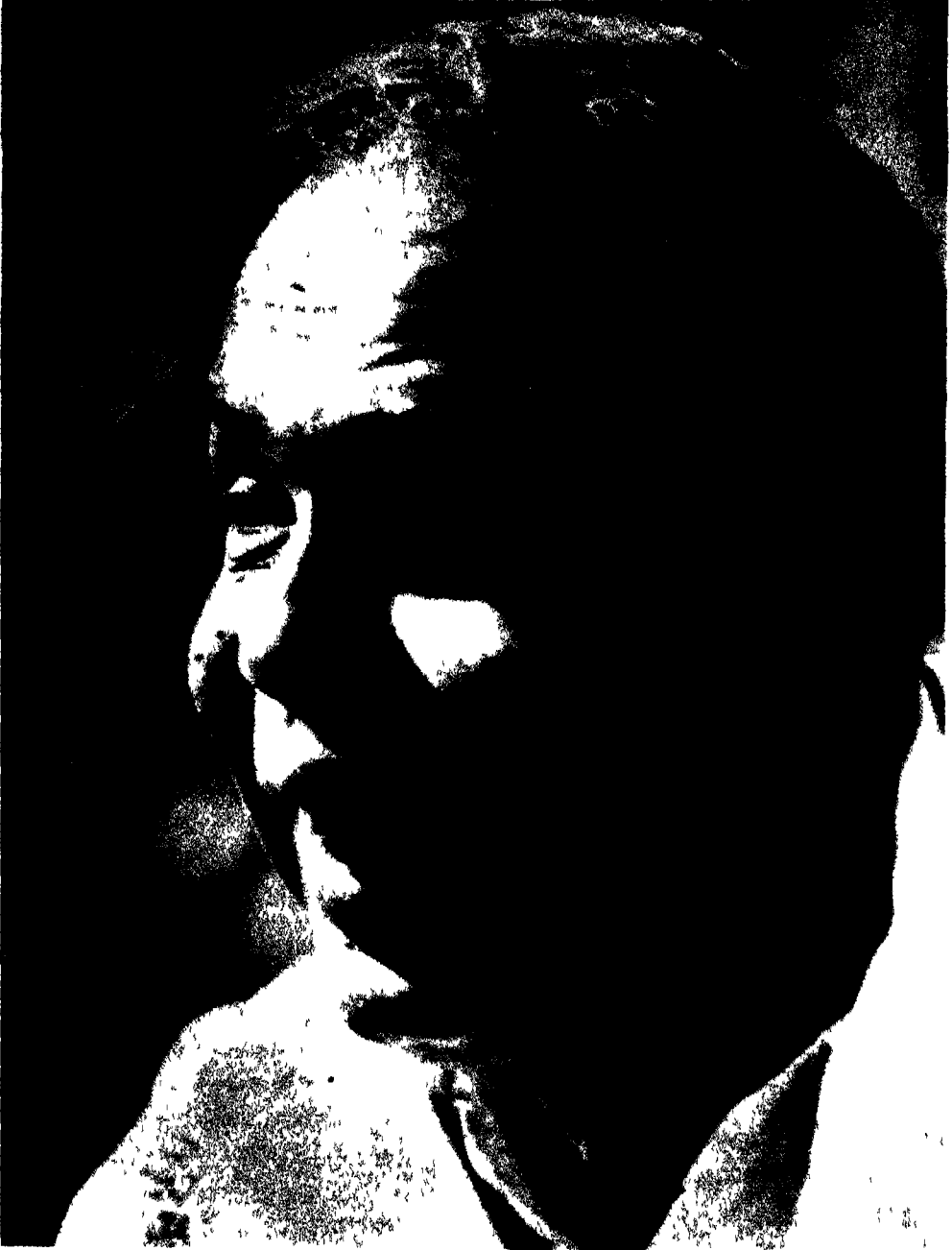
तकषी शिवशंकर पिल्लै

प्रशस्ति
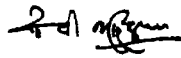
भारतीय ज्ञानपीठ का वर्ष १९८४ का ज्ञानपीठ पुरस्कार तकषी शिवशकर पिल्लै को उनके भारतीय साहित्य को अमूल्य योगदान के लिए समर्पित किया जाता है।
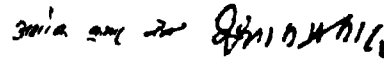
एक विशिष्ट मलयालम लेखक के रूप में तकषी अर्द्धशताब्दी से भी अधिक से सक्रिय रहे हैं। वैसे तो तकषी ने साहित्य की विभिन्न विधाओं को समृद्ध किया है, किन्तु कथा-साहित्य में उनकी उपलब्धियाँ सर्वोपरि हैं। उनकी सर्वाधिक सुपरिचित रचनाओं में 'रंटिटङषी', 'चेम्मीन', 'एणिप्पटिकळ' और 'कॅयर' के साथ ही 'बाढ में' जैसी मर्मस्पर्शी कहानियाँ आती हैं।

'चेम्मीन' के प्रकाशन से तकषी को अन्तर्राष्ट्रीय यश एव मान प्राप्त हुए। इस रूपकवत् उपन्यास में केरल के एक मछुआरे समुदाय के अन्तर्विश्वासों परम्पराओं और कष्टों का एक जीवन-शैली के रूप में इस प्रकार निरूपण किया गया है कि एक गहन गम्भीर नैतिक पक्ष का समावेश हो गया है। अपने महत्तम उपन्यास 'कॅयर' में तकषी ने केरल के एक गाँव में २५० वर्षों में हुए मन्द किन्तु निरन्तर गतिशील विकास की गाथा कही है।

सामाजिक यथार्थ की पक्की और अतरग पकड और एक विश्वसनीय स्पष्टवादिता से उसका सवेदनशील और मनोग्राही प्रस्तुतीकरण, और वह भी प्रबल सहानुभूति के साथ, उनकी सृजनात्मकता की उल्लेखनीय पहचान है। तकषी उन मलयालम लेखको में अग्रगण्य हैं जिन्होंने तिरस्कृत, बहिष्कृत एव वचित जन को अपने लेखन का प्रमुख विषय बनाया। अपनी सादी किन्तु तीक्ष्ण गद्य-शैली से वह मानवमन के अन्तरालों में झाँकते हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ तकषी शिवशकर पिल्लै की दीर्घायु की कामना करता है ताकि वह इसी प्रकार मानवता और साहित्य की वर्षों तक सेवा करते रहें।

नयी दिल्ली
१४ नवम्बर, १९८५

अध्यक्ष
प्रवर परिषद्

प्रबन्धन्यासी

अध्यक्ष
भारतीय ज्ञानपीठ

तकषी शिवशंकर पिल्लै

तकषी शिवशकर पिल्लै की पहली साहित्यिक कृति, एक कहानी, 'साधूकल' (निर्धन) ६१ वर्ष पहले (१९२९) नायर सर्विस सोसायटी की पत्रिका "सर्विस" में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी तकषी ने १७ वर्ष की आयु मे लिखी थी जब वे हाई स्कूल के छात्र थे। तब से अब तक की लम्बी सृजन-यात्रा मे तकषी ने ३२ उपन्यास व लगभग ८०० कहानियाँ लिखी हैं, इसके अतिरिक्त एक नाटक, तीन भाग में आत्मकथा व एक यात्रावृत्त भी। १९१२ में जनमे तकषी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गाव तकषी में और उसके पश्चात् अम्बालापुषा के मिडिल स्कूल मे हुई। बाद मे हाई स्कूल के लिए वह वैकोम व कुरुवत्त गए। कुरुवत्त के हाई स्कूल में ही उनकी साहित्यिक सृजनात्मकता का प्रस्फुटन हुआ। श्रीगणेश कविता से हुआ पर स्कूल के एक साहित्यिक अभिरुचि वाले अध्यापक के कुमार पिल्लै के सुझाव पर तकषी गद्य की ओर आकृष्ट हुए और कहानिया लिखने लगे।

लेकिन तकषी को लेखन के लिए ठोस प्रोत्साहन त्रिवेन्द्रम में मिला। हाई स्कूल के बाद तकषी एक दो वर्ष अपने गाँव रहे। फिर जीवन की एकरसता से ऊब कर तकषी ने त्रिवेन्द्रम जाकर विधि पढ़ने का निश्चय किया। यहाँ वे ए बालकृष्ण पिल्लै के सम्पर्क मे आये। बालकृष्ण पिल्लै युगान्तरकारी पत्रिका 'केसरी' के सम्पादक ही नहीं त्रिवेन्द्रम के बुद्धिजीवी समुदाय के अगुआ भी थे। उनकी गोष्ठियों में दामोदर मेनन जो कई वर्ष 'मातृभूमि' के सम्पादक रहे और बाद मे राज्य सरकार में मत्री बने, श्रीधरन पिल्लै शकर मेनन, एलायथु गोविन्दन नायर, नारायण पिल्लै, पट्टम थानू पिल्लै जैसे प्रसिद्ध लेखक व राजनयिक नियमित रूप से भाग लेते थे। तकषी को भी इस विशिष्ट मडली मे प्रवेश मिला। बालकृष्ण पिल्लै ने तकषी के लेखन में विशेष रुचि ली और एक प्रकार से उनके गुरु बन गये। वे तकषी की कहानियाँ पढ़कर उनकी विस्तृत समीक्षा करते और आवश्यकतानुसार उनमे सशोधन करते। उस समय के केसरी के अकों में तकषी की अनेकों कहानियाँ बिखरी पड़ी हैं।

स्वय तकषी के शब्दों में कहानी के लिए प्रेरणा उनको उनके बाल्यजीवन से मिली जब प्रतिदिन सध्या को उनके पिता परिवार के सभी सदस्यों को रामायण, महाभारत व अन्य पुराणों की कथाएँ सुनाते थे। "एण्डे बाल्यकाल कथा' में उन्होंने लिखा है कि "एक बात तो बिलकुल निश्चित है उस

समय मैंने जो कहानियाँ सुनीं व पुराणों में पढीं उनका आगे चलकर बहुत प्रभाव पडा।"
अम्बालापुषा के स्कूल में तकषी का मन बिलकुल नहीं लगता था। इसके लिए उन्हें अपनी माँ व बहन से प्रतारणा मिलती थी। पर स्कूल के कार्यक्रम में लेखन (कम्पोजीशन) का भी एक घटा होता था। उसमें अधिकतर कहानियाँ ही कही सुनी जाती थीं। तकषी के अनुसार "शीघ्र ही लेखन की कक्षा में कहानी सुनाने का काम मेरा हो गया। मेरे पास कहानियों का इतना भडार था कि दो वर्ष से भी अधिक मैं कहानियाँ सुनाए जा सकता था। मैं वैसे ही कहानियाँ सुनाता था जैसे मेरे पिताजी सुनाते थे। जहाँ वह लम्बे वृत्तान्त या किसी बात पर विशेष बल देते थे मैं भी वैसे ही करता था। जहाँ तक मुझे याद है मेरे शिक्षक ऊमन को भी मेरी कहानियाँ बहुत पसन्द आती थी।"

इस प्रतिभा को बालकृष्ण पिल्लै का मार्गदर्शन मिला। उन्होंने तकषी का परिचय योरपीय साहित्य, बरट्राड रसैल के दर्शनशास्त्र व फ्रायड के मनोविज्ञान से कराया। अपने त्रिवेन्द्रम आवास के समय उन्होने मोपासाँ, चेखोव, ह्यूगो, बालजक, टाल्स्टाय, गोर्की आदि का अध्ययन किया। इसका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। लेकिन जन-जीवन मे इससे भी बडी शक्तियाँ कार्यरत थीं। राजनैतिक सन्दर्भ मे एक नए वातावरण का निर्माण हो रहा था। गाँधीजी के नेतृत्व मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने जन आन्दोलन का बृहद स्वरूप ग्रहण कर लिया था, तीस के दशक की आर्थिक मदी देश के कई भागों मे सगठित श्रम आन्दोलन को जन्म देने लगी थी और बुद्धिजीवी व विशेषकर नवयुवक व विद्यार्थी मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होने लगे थे। इस वातावरण ने साहित्य के क्षेत्र को अछूता नही रहने दिया। 'पुरोगमन साहित्यम्' (जिसे अन्यत्र प्रगतिशील आन्दोलन की सज्ञा दी गई) इसी की उपज था। यह नई धारा एक ओर से इन योरपीय लेखकों के ओज व चेतना से शक्ति ग्रहण कर रही थी और दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन, समाजवाद, वर्ग-सघर्ष आदि से बध रही थी। माध्यम के रूप में पुरोगमन साहित्यम् ने कहानी को सबसे अधिक महत्ता दी। १९३० से ४५ की अवधि में उपन्यास कम लिखे गये, इनका जोर द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ। केशवदेव, बशीर, जोसेफ मुन्दासरी आदि के साथ तकषी इस नई धारा के अग्रणी माने जाने लगे।

एक मलयालम समालोचक के अनुसार—"लेखन के लिए उनका शिक्षण काफी लम्बा रहा। उनकी आरम्भिक रचनाएँ इसी शिक्षण का भाग हैं। उन्होंने लिखना लिखते-लिखते सीखा।" यह पहला चरण उनकी भविष्य के लेखनी से काफी भिन्न था। उदाहरणार्थ, केसरी में २७ मई, १९३१ को प्रकाशित उनकी कहानी "विवाह के दिन" का घटनास्थल न तकषी गाँव है न त्रिवेन्द्रम नगर। यह उत्तर मे गगा के किनारे किसी स्थान की कहानी है।

तत्कालीन बँगला कहानियो का उस समय मलयालम में बहुत अनुवाद हो रहा था, उसी का पूरा प्रभाव इस कहानी पर है। शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी यह तकषी की आज की कहानी से पृथक है। बगला के इस रूमानी प्रभाव के साथ-साथ उस चरण में तकषी की कहानियों पर योरपीय, विशेषकर फ्रासीसी कथाकारों का गहरा असर है।

पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित कहानियों के अतिरिक्त इस काल की कुछ कहानिया तकषी के पहले कथा सग्रह 'पुथुमलार' (नया पुरुष) में सकलित हैं। यह सग्रह उनके पहले दो उपन्यासो—'प्रतिफलम' (पुरस्कार) व 'पतित-पकजम्' (खडा हुआ कमल) के प्रकाशन के बाद १९३५ मे आया। इस छोटी सी पुस्तक में सात कहानियाँ थीं। इनसे तकषी की कलात्मक दृष्टि के परिक्षेत्र का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। 'बिना नाम और तारीख का एक पत्र' एक स्त्री द्वारा अपने प्रेमी को आत्महत्या करने से पहले का लिखा

पत्र है जबकि उन दोनों के ग्यारह वर्षीय पुत्र का निधन हो जाता है। कहानी पर स्टीफन ज्वीग की 'लास्ट लैअर' की छाया स्पष्ट है। वैसे भी उस समय तकषी को धनिक वर्ग के यौन सम्बन्धी भोग-विलास और जारज सन्तानों के वर्णन के प्रति विशेष मोह था। "पिता कौन है" "उनकी समाज सेवा" भी इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। लेकिन इस सकलन की सबसे प्रभावी कहानी है "बाढ में" जिसमें तकषी के लेखन के वे सभी तत्व विद्यमान हैं जिन्होंने आगे चलकर उनको महान् लेखक बनाया।

तकषी की उस समय की कहानियों से मलयालम पाठकों की सवेदनशीलता को बहुत आघात लगा। हो सकता है, वे जानबूझकर मलयाली नकचढों को झकझोरना चाहते हों, पर वास्तविकता यह है कि फ्रासीसी 'हाट स्टफ' की कुछ अति ही हो गई थी। तभी तकषी के एक कवि मित्र चगमपुषा कृष्णा पिल्लै ने 'सुधगदा' की भूमिका मे इसकी ओर सकेत भी किया। इस आलोचना का तकषी पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। यद्यपि वे मोपासॉ और जोला का प्रभाव बहुत समय तक नही छोड पाये। पर अब वे अपने आसपास के परिवेश और लोगों को लेखन का विषय बनाने लगे।

लेकिन इस दूसरे चरण की समीक्षा करने से पहले उनकी आरम्भिक रचनाओ की कुछ और चर्चा आवश्यक है। कहानियों के साथ-साथ तकषी उपन्यास भी लिखने लगे थे। उनकी पहली प्रकाशित रचना उपन्यास ही है, 'प्रतिफलम्'। (पहले सस्करण में इसका नाम 'त्यागचिन्नु प्रतिफलम्' था), जो १९३४ में और 'पतित पकजम्' अगले वर्ष प्रकाशित हुआ। इन्हीं दो उपन्यासों के क्रम में १९३६ में 'परमार्थंगल' प्रकाशित हुआ। 'प्रतिफलम्' प्रकाशित होते ही विवाद का विषय बन गया। तकषी ने केसरी मंडली के हर सदस्य को इसकी एक-एक प्रति भेंट की। दो विपरीत प्रतिक्रियाएँ हुईं।

"प्रतिफलम्" एक लडकी की कहानी है जो अपने भाई की उच्च शिक्षा के लिए अपनी देह का व्यापार करती है, "पतित पकजम्' भी एक लडकी गुणवती की कहानी है जो बारह वर्ष की आयु में ही सामाजिक नैतिकता के तथाकथित ठेकेदारों द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य होती है, और 'परमार्थंगल' उस नारी की व्यथा है जो दो अवैध बच्चों को जन्म देती है—एक विवाह के पहले बलात्कार के फलस्वरूप और दूसरा विवाह के बाद। इन उपन्यासों ने मध्यवर्गीय नैतिकता पर गहरा आघात किया अतएव इनकी आलोचना स्वाभाविक थी। फिर भी सीधे-सपाट शिल्प और अपरिपक्वता के बावजूद यह माना जाता है कि इन उपन्यासों ने मलयालम गद्य-लेखन में एक नये युग का सूत्रपात किया। चन्द्र मेनन व सी वी रामन पिल्लै जैसे वरिष्ठ उपन्यासकारों की शैली और सरचना-विन्यास से भिन्न मनोवैज्ञानिक व सामाजिक उपन्यासों के लिए एक नया पथ खुला।

सन् १९३० के दशक के अतिम वर्षों में 'पुरोगमन साहित्य' का प्रभाव बढ गया था, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ भी काफी बदल रही थीं। जन-साधारण और उसकी समस्याएँ साहित्य की विषय-वस्तु बन रही थीं। पाठकों की दृष्टि भी बदल रही थी। तकषी पर विदेशी साहित्य के अत्यधिक प्रभाव की आलोचना हो चुकी थी। इन सबने मिलकर तकषी के लेखन को नया मोड दिया जो द्वितीय विश्व युद्ध के पहले व बाद में लिखे गये तकषी के उपन्यास व कहानियों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। राजनैतिक तत्व विषय-वस्तु का एक बडा अग बन गया।

इस दूसरे चरण की प्रमुख रचनाओं में उपन्यास हैं 'तोट्टियुडे माकन' (भगी का बेटा, १९४५), 'रटटिंड षी' (दो सेर धान, १९४८), 'तलयोडु' (कपाल, १९४८) व 'तैंडीवर्गम्' (भिखारी वर्ग, १९५०) और कहानी-सग्रह हैं 'अतियीषुक्कुकल' (अर्न्तधारा, १९४५), 'नित्यकन्निका' (अविवाहिता, १९४५), चगानिकल (मित्र, १९४५) और 'इनकलाब' (१९५०)। इनमें से 'भगी का बेटा',

'दो सेर धान', 'भिखारी वर्ग' और 'इनक़लाब' विशेष चर्चित रहे। 'भगी का बेटा' एलैप्पी शहर के भगियों की शोचनीय दुर्दशा की कहानी है। मुख्य पात्र एक नौजवान भगी चुदलमुथु है जिसने जीवन के निकृष्ट स्तर का पीडादायक अनुभव किया है। उसने अपनी आँखों से अपने पिता की लाश कुत्तों द्वारा खायी जाती देखी है। वह चाहता है कि उसका पुत्र मोहन इस प्रताडित और वीभत्स जीवन से मुक्ति पा जाए। वह समझता है कि यह सुधार भगियों को सगठित किये बिना नहीं हो सकता। अत दृढ सकल्प के साथ वह इसमें जुट जाता है। लेकिन बाद में स्वार्थवश वह अपने ही आन्दोलन को धोखा देता है। इससे अर्जित प्रतिष्ठा व ससाधनों को वह बचा नहीं पाता, हा, अपने पुत्र मोहन को वह स्कूल भेज देता है। लेकिन होता कुछ और ही है। मोहन स्कूल तथा मित्रों के बीच से बहिष्कृत कर दिया जाता है, उसके माता व पिता हैजे से कालग्रस्त हो जाते हैं और पराजित मोहन को भगी का ही काम करने के लिए बाध्य होना पडता है। यह यथार्थ चित्रण ऐसी ईमानदारी से किया गया है कि वह पाठक को गहरे में कुरेदता चला आता है।

'भगी का बेटा' के तीन वर्ष बाद आया 'दो सेर धान'। इसने तकषी को मलयालम में अग्रणी उपन्यासकार के रूप मे प्रतिष्ठित किया। स्वय तकषी के शब्दो में यह उपन्यास उस जीवन के अत्यन्त निकट है जो उन्होने ताना व अनुभव किया है और एक किसान के बेटे के रूप में जिसकी पीडा को जिया है। इस कथानक का विकास कुट्टनाद की पृष्ठभूमि में हुआ है, जिसे दक्षिण में धान की खान माना जाता है। लेकिन यहाँ कृषि का कार्य बडा कष्टसाध्य है। परया और पुलया नाम की जातियों के स्त्री-पुरुष कठोर परिस्थितियों मे काम करते हैं क्योंकि खेतो के मालिक जमींदार, तम्पुरान, स्वय काम नहीं करते। खेती की यह परिपाटी पुरानी है। पहले तम्पुरान अपने परयों-पुलयों का बहुत ख्याल रखते थे पर पुराने रिश्ते टूट रहे हैं और समय के साथ परया-पुलया लोगों का अपमान किया जाने लगा है। 'दो सेर धान' इन नए रिश्तों का और शोषित मजदूरों के सघर्षमय जीवन का चित्रण है। इसमें सुधार के लिए आन्दोलन छेडता है कोरन जिसका चित्रण पूरी निष्ठा से किया गया है और यही इस उपन्यास की सर्वोपरि उपलब्धि है।

इसी प्रकार 'भिखोर वर्ग' उस वर्ग की हृदय विदारक कहानी है जिसका कोई घर-बार नहीं, जिसके पास पैसा नहीं और जिसे किसी खास जगह या रीति-रिवाज से लगाव नहीं। उसमें बच्चे पैदा होते हैं जिन्हें वह अपनी ही फौज में भरती कर लेता है। इस वर्ग के जीवन मे हँसी-खुशी के भी क्षण आते हैं लेकिन उनकी शोचनीय स्थिति का कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है। इस समस्या पर तकषी ने बाद मे भी एक उपन्यास लिखा "उसके सस्मरण' (१९५५) जो 'भिखारी वर्ग' से जुडा ही लगता है। यद्यपि इस समय की कहानियो में विविधता है पर अत्यधिक चर्चित 'इनकलाब' की कहानियाँ पूरी तरह राजनैतिक रग मे रगी हुई हैं। इस सकलन की आठ कहानियों के विषय हैं क्रान्तिकारी उन्मसद, पूँजीवादी समाज की पुलिस, महात्मा गाँधी की हत्या, भारत विभाजन, राजनैतिक कार्यकर्ताओं का उत्पीडन आदि। स्पष्ट है कि इस चरण की सृजनात्मकता का मुख्य ऊर्जा-स्रोत राजनीति थी। स्वतन्त्रता सग्राम मे हमारी जिन सामाजिक समस्याओ की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया था उनको तकषी ने अपनी विषयवस्तु बनाया। समाज के तिरस्कृत, बहिष्कृत एव वचित वर्ग की व्यथा-कथा उन्होंने परम सहानुभूति के साथ प्रस्तुत की।

तकषी पर इस समय मार्क्सवाद का काफी प्रभाव था। ज्ञानपीठ पुरस्कार स्वीकार करते हुए जो भाषण दिया उसमें उन्होंने कहा है "यदि मैं यह दावा करूँ कि उपन्यास में कृषि के मोर्चे पर वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त करने वाला मैं भारत में प्रथम लेखक हूँ, तो आप मुझे क्षमा करें।" १९६९

में प्रकाशित 'एकान्त पथिकन्' (अकेला पथिक) की भूमिका में अपने लेखन पर आत्म विश्लेषण करते हुए तकषी ने एक लम्बे वक्तव्य "मेरे कहानी लेखन के बाल्यकाल" में अपनी सृजनात्मकता के स्रोतों का स्पष्टीकरण किया है।

४० के दशक में तकषी पर राजनीतिक विचारधारा हावी थी, तब वे सोचते थे कि साहित्य आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का हल सुझाने में ही सार्थक होता है। फरवरी-मार्च १९४८ के 'मगलोदयम्' में प्रेमचद की 'निर्मला' की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा कि—

> "इस कहानी के द्वारा एक मेधावी लेखन-कला हमें पूरी तरह मुग्ध कर देती है। वह कुशल लेखनी कभी हमें आनन्दित करती है, कभी हममें करुणा उपजाती है, कभी हँसाती है और कभी रुलाती है। लेकिन कहानी के अन्त में हम एक ही बात सोचते रह जाते हैं कि प्रबल नियति के समक्ष मनुष्य कितना असहाय है। कितना अच्छा होता कि इस महान् लेखक ने हमारे सामने नियति में इतने अध-विश्वास का चित्र प्रस्तुत न किया होता।"

प्रेमचन्द या उनकी 'निर्मला' को समझने के लिए इस समीक्षा पर टिप्पणी करना आवश्यक नही है। पर तकषी के लेखन को जानने के लिए दो-चार बाते स्पष्ट करना उपयुक्त होगा। भारतीय चिन्तन मे किसी-न-किसी रूप में नियति का बहुत प्रभाव है, यह नकारना कठिन है। स्वय तकषी भी इससे मुक्त नहीं हैं। 'दो सेर धान' में परयन और पुलयन के कठोर और अपमानित जीवन का मार्मिक वर्णन है लेकिन सामान्य परयन और पुलयन अपने जीवन को दूसरे ही रूप मे देखते हैं। यह लोग अपने को नियति से कितना बधे हुए पाते हैं। कुजप्पी कहता है—"सुनो,, तुम्हें लगता होगा कि मिट्टी और कीचड में बडे-बडे बुआई करने और पानी में डुबकी मार-मारकर बाध बाधने आदि में हम इतना कष्ट क्यों सहते हैं। लेकिन तुम बिना समझे इमसें दु:ख मत मानो मेरे भाई। कष्ट है, यह तो ठीक है। लेकिन परयन और पुलयन का जन्म यों ही नहीं मिलता। पिछले जन्म के सत्कर्मों के फलस्वरूप ही पुलयन का जन्म मिलता है। जरा यह तो सोचो कि देश भर के लोगों के लिए अन्न उपजाने का काम कौन करता है? परयन और पुलयन ही तो। तुम कहते हो कि क्या फायदा।" जब कौरन इससे आश्वस्त नहीं होता तो कुजप्पी आगे कहता है "अगले जन्म में हमारी भलाई होगी। हाँ, एक बात है। चेन्ननको कुछ अधिक दण्ड मिल गया। इतना नहीं होना चाहिए था। सुनो बच्चे, पुराने जमाने के मालिक अब नहीं रहे। वे इस तरह कभी मार देते थे तो खुद रोते भी, खुद सेवा भी करते थे। वे दासो को अपने घर के अग जैसा ही मानते थे।"

पिछले जन्म के कर्म और यह जन्म, इस जन्म के कर्म और अगला जीवन आदि सब नियति से ही तो जुडे हुए हैं। फिर भी प्रेमचन्द की 'निर्मला' की पीडा केवल नियति के कारण नहीं है वह बहुत कुछ स्थिति और चरित्र जन्य है। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द थामस हार्डी के समान हैं। आगे चलकर तो तकषी के पात्र नियति से और भी अधिक सचालित होते हैं। लेकिन उस समय तकषी का विचार यही था कि सार्थक लेखन समस्याओं का हल अवश्य सुझाए।

यही मनोग्रथि तकषी के इस चरण के लेखन की कमजोरी है। यह ठीक है कि बगला के रूमानी और फ्रासीसी यौन प्रभाव को तकषी ने काफी पीछे छोड दिया और अब वह अपने आस-पास के जाने पहचाने परिवेश को पूरे यथार्थ के साथ चित्रित करने लगे। लेकिन साथ ही राजनीतिक प्रभाव के कारण लेखन में वैचारिक तत्व का बाहुल्य रहा जिसने उसके कलात्मक पक्ष को काफी दबा दिया। इस समय की कहानियों (इन्क़लाब) पर टिप्पणी करते हुए के आयप्पा पनीकर ने कहा है कि "यह स्पष्टत थीसिस कहानियाँ हैं।"

उपन्यासों में कुछ सीमा तक यही स्थिति है। 'दो सेर धान' भी, जो उस काल की सबसे अच्छी

कृति मानी जाती है, इस कमजोरी से अछूती नहीं रह पाई है। उपन्यास का दो तिहाई भाग यथार्थ के पूरे सौन्दर्य के होते हुए भी एक रिपोर्ट सा लगता है, यह भुला दिया जाता है कि हर समस्या का सीधा और सरल निदान नही होता। क्या केवल सगठन पुरयन और पुलयन की समस्याओ का हल हो सका ? क्या सगठित आदोलन भंगियों के जीवन में सुधार ला सका ? (भिखारी वर्ग के लिए तो स्वय तकषी को, अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, स्वीकार करना पडा कि उनकी समस्या का कोई सरल निदान नहीं है) फिर भी अपने उपन्यास और कहानियो में तकषी अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता से लिपटे रहने का मोह नहीं त्याग सके। अन्यत्र यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सवेदना द्वारा वैचारिक सीमाओ का अतिक्रमण ही उत्कृष्ट साहित्य को जन्म देता है।

लेकिन आगे चलकर जब तकषी जैसे मेधावी लेखक ने यथार्थ के समक्ष अपने वैचारिक पूर्वाग्रहो को त्यागने मे हिचकिचाहट नहीं की तो वह सृजात्मकता की ऊँचाईयों तक सहज ही पहुँच गए। 'चेम्मीन' (१९५५) के प्रकाशन के साथ तकषी की सृजन-यात्रा का तीसरा चरण आरम्भ हुआ। अब तकषी ने राजनीति को अलग उठाकर रख दिया। परिणाम यह हुआ कि उनकी सवेदना व्यापक और गहरी हो गयी और सामाजिक व वैयक्तिक जीवन की जटिलताओं की समझ सर्वतोमुखी और बहुग्राही बन गयी। इस सवेदना से अनुप्राणित लेखन विषयवस्तु और कलात्मकता दोनो में ही वैचारिक प्रतिबद्धता से जकडी हुई कथा-कहानियो से बहुत आगे निकल गया।

'चेम्मीन' केरल के समुद्रतट पर बसे हुए एक मछुआरे समुदाय की कहानी है। करुतम्मा, इसी समुदाय की एक लडकी, एक युवा मछली व्यापारी परीकुट्टी से प्रेम करती है। दोनो यह जानते हैं कि समुदाय के कट्टर रीति-रिवाज के कारण उनका विवाह नही हो सकता पर वह अपने को एक-दूसरे से अलग नही कर पाते। करुतम्मा का पिता अपने स्वार्थ के लिए इस स्थिति का पूरा लाभ उठाता है और अपनी बेटी के द्वारा परीकुट्टी से नाव खरीदने के लिए रुपया उधार लेता है। शर्त यह है कि उधार चुकाने के लिए प्रतिदिन साझ को पकडी हुई मछली परीकुट्टी को दे दी जाएगी। लेकिन चेम्बन (करुतम्मा का पिता) यह नहीं करता, उसकी उधार वापस करने की कोई नीयत नहीं है। इससे परीकुट्टी को भारी आर्थिक हानि होती है। चेम्बन करुतम्मा का विवाह पलानी से कर देता है। करुतम्मा ने ऊपर से तो स्थिति को स्वीकार कर लिया पर अन्दर ही अन्दर वह परीकुट्टी को प्यार करती रही। केवल करुतम्मा की माँ उसकी अपनी बेटी की पीडा समझती है। करुतम्मा के अपने पति के घर जाते ही वह बीमार पड जाती है और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो जाती है। यह समाचार परीकुट्टी ही करुतम्मा तक पहुँचाता है। चेम्बन दूसरा विवाह करता है जो सफल नहीं होता। अब उसे करुतम्मा और परीकुट्टी का विवाह न होने का दुख होता है और वह पागल हो जाता है। अपना सारा धन परीकुट्टी को देकर वह इधर-उधर भटकता रहता है। उसकी छोटी बेटी पचमी करुतम्मा के पास रहने लगती है। एक दिन पलानी दोनों बहनो की बातचीत सुनकर यह जान जाता है कि करुतम्मा अब भी परीकुट्टी से प्यार करती है। दूसरे दिन वह मानसून मे भी अपनी नाव पर दूर समुद्र में मछली पकडने निकल जाता है। उस मौसम में यह आत्मघाती साहस था। वह एक बडी मछली (शार्क) पकड लेता है और उसे किनारे घसीटने का प्रयत्न करता है। तूफान मे नाव उलट जाती है और पलानी डूब जाता है। उसी रात करुतम्मा व परीकुट्टी की गुप्त भेट होती है, एक क्षण के लिए वे सब कुछ भूल जाते हैं, भय और शका से मुक्त होकर वे आलिंगनबद्ध हो जाते हैं। अगले दिन सुबह पचमी समुद्र किनारे करुतम्मा के बच्चे को सात्वना देती है। दो दिन बाद लहरें एक मनुष्य और नारी के आलिंगनबद्ध शरीरों को किनारे ला फेंकती हैं, वहाँ से कुछ ही दूर पर लहरें एक मरी हुई बडी

मछली (शार्क) फेंक जाती हैं।

'चेम्मीन' तकषी का सबसे अधिक प्रसिद्ध व लोकप्रिय उपन्यास है। इसे साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया और इस पर रामू करियात द्वारा बनाई गई फिल्म को राष्ट्रपति स्वर्ण पदक प्रदान किया गया। निःसन्देह यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। समीक्षकों ने इसका विभिन्न रूपों में विश्लेषण किया है। एक समीक्षा, जिसके अनुसार पूरी कहानी भारतीय आदर्शों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—से पूरी तरह प्रभावित है, मे कहा गया है

> "अन्त मे विजय निष्ठुर नियति की ही होती है जिसका प्रतिनिधित्व व्यक्तित्वहीन प्राकृतिक शक्तियों और इन शक्तियो का उपयोग करने वाली चचल माँ वारिधि (मदरसी) के व्यक्तिगत सचालन द्वारा होता है। इस सर्वशक्तिमान् नियति के समक्ष मनुष्य बिल्कुल निःसहाय है जब तक कि उसके या किसी और के पुण्य उसकी सहायता न करे।"

और मछुआरिन का पुण्य उपन्यासकारो के शब्दो मे सुन्दरता से मुखर हुआ है

> "समुद्र बेचारे मछुआरे को चिढाने को गरज रहा है। एक तूफान उस गरज के साथ स्वर मिला रहा है और उसी समय वज्र-ध्वनि भी होती है। मृत्यु का इतना पेशाचिक नृत्य। मनुष्य इन सार्वभौम शक्तियों के आगे बिल्कुल नगण्य है। क्या उसको त्रस्त करने के लिए माँ वारिधि को इन शक्तियो को खुली छूट दे देनी चाहिए? वह चाहे तो उसे एक क्षण में सागर की गर्त मे पहुँचा दे । पलानी चिल्लाया, "मेरी करुतम्मा"। उसकी आवाज समुद्र के गर्जन मे डूब गई, उसकी चीख लहरों से ऊपर उठ गई। उसने करुतम्मा को क्यों पुकारा। सहायता की इस प्रार्थना का कोई तो कारण होगा। हाँ, बाहर समुद्र में मछुआरे की रक्षक घर मे उसकी निष्ठापूर्ण पत्नी होती है। वह अपनी प्रार्थना, तपस्या और पुण्य से उसकी रक्षा करे। पहले मछुआरे को समुद्र के कोप से उसकी पत्नी की प्रार्थना, तपस्या और पुण्य ने ही बताया था। पलानी को पूरा विश्वास है कि वह भी बच जाएगा क्योंकि घर में उसकी निष्ठापूर्ण पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही है, वह प्रार्थना करेगी, व्रत करेगी, कल ही तो उसने यह वचन दिया है कि वह यह सब करेगी।"

प्रेमचन्द की जो कमी तकषी को खली थी वह स्वय उससे कितने प्रभावित हो गये हैं। जो भी हो, 'चेम्मीन' का यह चरमोत्कर्ष उसकी सुन्दरता और प्रभाव का मूल आधार है।

'चेम्मीन' के बाद तकषी की सृजन-यात्रा का अगला पडाव "कॅयर" (१९७८) में है। इस २३ वर्ष की अवधि में गिनती के लिए छोटे-बडे कुल मिलाकर तकषी ने कहानियों के कई सकलनों के अतिरिक्त २० से अधिक उपन्यास प्रकाशित किये। उनमें उल्लेखनीय हैं 'ओसेप्पिण्डे मक्कल' (ओसेप के बच्चे, १९५९), 'जीवितम् सुन्दरामनु, पक्षे' (जीवन सुन्दर है, लेकिन, १९६१), 'एनिप्पडिकल' (सीढी के डडे, १९६४) और 'धर्मानिधियो ? अल्ल जीवितम्' (नैतिकता ? नहीं, जीवन, १९७०)। लेकिन उनका मन और मस्तिष्क कहीं और ही था। 'जीवन सुन्दर है, लेकिन' की भूमिका में उन्होंने कहा है

> "यह चेम्मीन के बाद मेरा तीसरा उपन्यास है। मैं बहुत समय से एक ऐसा उपन्यास लिखने की सोच रहा हूँ जो अपने में केरल के जीवन के सभी अगो को समेटे हुए हो। लेकिन इस बीच मैंने तीन उपन्यास लिख डाले । मैं साफ-साफ यह स्वीकार करता हूँ कि मैं इन उपन्यासों को नये रचना-विन्यास और कथावस्तु ढूढने के अपने प्रयत्नों का प्रयोग मात्र ही मानता हूँ। मैं जो नया उपन्यास लिख रहा हूँ उसका नाम 'कॅयर' है। मुझे आशा है कि मैं इसे एक वर्ष में समाप्त कर पाऊँगा "

यह एक वर्ष खिच कर सत्रह वर्ष हो गए। लेकिन इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'कॅयर' सच में एक पूरे जीवन काल की कृति है। तकषी की सभी पिछली कृतियाँ इस गद्य महाकाव्य की तैयारी मात्र लगती हैं , इसके रचना-विन्यास में यह सब कृतियाँ सिमट गयी हैं कि लेखक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस महाग्रन्थ में मूर्तिमान हो उठा है।

'कॅयर' एक गाँव की २५० वर्षों मे फैली हुई आठ पीढियों की कहानी है। इसमें कोई नायक या नायिका नही है—लगभग एक हजार चरित्र हैं। इन्हीं के माध्यम से गाँव की लम्बी जीवन-यात्रा का चित्रण किया गया है। गाँव स्वय उपन्यास का नायक बन गया है जो "परिवर्तित होते समय के साथ जीवित रहता है, विकसित होता है तथा रूपान्तरित होता है।" उपन्यास का प्रत्येक भाग जीवन्त और स्पन्दन युक्त है। डॉ नारायण मेनन के शब्दों में यह एक ऐसी अन्तर्दृष्टि वाला उपन्यास है "जिसमें मनुष्य मात्र समय-चक्र एव परिवर्तन में इस प्रकार उलझ गया हो और तब भी उसका अभ्युदय सम्मानजनक एव निरापद ढग से हुआ हो। व्यक्ति विशेष अधिक महत्त्व नही रखता। यह तो सामाजिक सगठन है जो उस स्थिति अथवा सम्पोषण से शक्ति ग्रहण करता प्रतीत होता है, जिसका उसे सामना करना पडा हो अथवा जिसके सामने उसे छोड दिया गया हो।" ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करते हुए तकषी ने अपने अभिभाषण में इस उपन्यास पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की। 'कॅयर' के बाद तकषी का एक उपन्यास और प्रकाशित (१९८०) हुआ है। आशा की जानी चाहिए कि यह किसी अगली महान् कृति के लिए प्रयोग मात्र है।

तकषी की सृजनात्मकता का ऊर्जा-स्रोत है गहन मानवतावाद। आरम्भिक रचनाओं से ही यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। 'साधूक्कल' एक स्कूल विद्यार्थी की रचना भले ही हो पर इस असस्कारित कृति में भी यह स्पष्ट सकेत है कि "दलितों के प्रति सहानुभूति भाव किसी बाह्य,सैद्धान्तिक आश्रय का परिणाम नहीं थी, अपितु प्रारम्भिक अवस्था में ही उनके लेखकीय व्यक्तित्व के अश के रूप में आरम्भ हुआ था।" उनके पहले चरण की कृतियों में चाहे और कमजोरियाँ भले रही हों वह सब भी किसी न किसी रूप में मानवीय दृष्टिकोण से पूरी तरह अनुप्राणित हैं। समय के साथ-साथ यह मानवतावाद कठोर यथार्थ और सामाजिक सजगता से और सुदृढ होता गया।

तकषी के मानवतावाद के सम्बन्ध में एक बात और बिल्कुल स्पष्ट कर देनी चाहिए। यह दृष्टिकोण किसी राजनैतिक दल की विचारधारा से नहीं उपजा था। तकषी ने सदा जीवन को ही अपना शिक्षक माना। मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी में कभी अन्धविश्वास नहीं रहा। वकालत के समय की अपनी आत्मकथा मे उन्होंने पार्टी की बडी तीव्र व कटु आलोचना की है। अपनी इसी स्वतन्त्र भावना के कारण उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के सामने समर्पण नहीं किया, जब १९४८-४९ मे पार्टी ने अपनी "कलकत्ता थिसिस" के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया कि सभी वामपथी लेखको को पार्टी से सम्बद्ध हो जाना चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी से इस प्रकार के विवाद होते हुए भी दलित और निर्धन वर्ग के लिए तकषी की सहानुभूति मे कभी कमी नही हुई।

बाद मे (१९६९) में 'एकान्त पथिकम्' की भूमिका मे अपने लेखन का आत्मविश्लेषण करते हुए (इसकी चर्चा ऊपर भी की जा चुकी है।) तकषी ने स्पष्ट लिखा कि

> " लेकिन इसका (मार्क्सवाद के प्रति सहानुभूति) यह अर्थ नहीं कि मैंने भारतीय कम्युनिस्टों के कार्यक्रम का अनुमोदन किया। १९४२ और उसके बाद मैंने खुलकर और निडर होकर उनके कार्यक्रम का विरोध किया। मैं यह कभी नहीं समझ पाया कि द्वितीय महायुद्ध जनयुद्ध कैसे हो गया "

तकषी के कथा साहित्य का मूल मन्त्र इसी स्वाधीनता का परिणाम है। स्वय तकषी के शब्दो

में

"ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा होने के बाद, मैंने अपने साहित्यिक जीवन की समीक्षा करने हेतु अपने अतीत की ओर देखा। यह चित्र एकरस अथवा निरानन्द नहीं था। सन्तोषजनक रूप से मैंने पाया कि इस सम्पूर्ण अवधि में मैं ग्रामीणजन, आम आदमी तथा शोषित कामगार के साथ रहा हूँ। मैं उनके सुख एव दुख में भागीदार रहा हूँ। मैंने उनकी आशाओं को दुलारा है एव उनकी चिन्ताओं में हिस्सेदारी की है। जब कभी मैंने उन्हें चिन्तित पाया, मैं चिन्तित हुआ। सकट की घडी में उत्कर्ष के शिखर पर चढने के लिए मैं उनके साथ था। मैं उनके साथ आनान्देत हुआ और चीखा भी, मैं विषादग्रस्त एव उदास था मगर मैंने कभी उनका साथ नहीं छोडा। ऐसे अवसर आये हैं जब मैंने भी उन्हीं के समान उपहासात्मक व्यवहार किया है। मैं उनका मित्र था और कभी उनका शत्रु नहीं बना। कभी-कभी जब मैं नाराज हुआ मैंने उन्हें मुँह चिढाया, उन्होंने भी जैसे को तैसा जवाब दिया।"

इस कथा-वस्तु को मूर्तिमान करने में तकषी के शिल्प ने विशेष भूमिका निभायी है। जब चगमपुषा कृष्णा पिल्लै ने तकषी की कहानियों पर फ्रासीसी कथाकारों के अत्यधिक प्रभाव की आलोचना की थी तब भी उनके 'स्टाइल' की सराहना की थी। चगमपुषा ने इस समीक्षा में लिखा था कि, 'तकषी का स्टाइल अत्यधिक सरल व हृदयग्राही है जो कि कोई भी कहानी लेखक अपनाना चाहेगा।' आरम्भिक रचनाओं में विद्यमान उनके शिल्प का यह लालित्य लेखन के साथ-साथ और प्रखर व प्रभावी होता गया। यथार्थ और मनोवेग का मर्मस्पर्शी चित्रण और वह भी अधिकतर गाँव वालों की सीधी-सादी भाषा में उनके साहित्य मे पूरी तरह छाया हुआ है।

कृतियाँ

उपन्यास

१	त्यागत्तिन्नु प्रतिफलम्	१९३४
२	पतितपंकजम्	१९३५
३	परमार्थंगल	१९३६
४	तलयोडु	१९३९
५	अवण्डे स्मरणकल	१९४०
६	तेण्डिवर्यम्	१९४१
७	विल्पनक्कारी	१९४१
८	तोट्टियुडे मकन	१९४५
९	रटिटङषी	१९४८
१०	पेरिल्लाक्कथा	१९५०
११	चेम्मीन	१९५५
१२	ओसेप्पिण्डे मक्कल	१९५९
१३	चुक्कु	१९६०
१४	एनिप्पडिकल	१९६४
१५	अनुभवगल पालिच्चकल	१९६५
१६	पप्पि-अम्मयुम मक्कलुम्	१९६६
१७	आकशम्	१९६७
१८	अचु पेण्णुगल	१९६८
१९	जीवित्तम् सुन्दरामनु पक्षे	१९६८
२०	पेण्णु	१९६९
२१	कोडिप्पोया मुखगल	१९७०
२२	धर्मनिधियो?	१९७०
२३	नरयुम पतयुम्	१९७१
२४	कुरये मनुष्यरुडे कथा	१९७२
२५	नेल्लुम तेंगयुम	
२६	पेण्णयी पिरन्नाल	१९७२
२७	पुन्नप्र वयलारिनु शेषम्	१९७३
२८	अषियाकुरुक्कु	१९७४
२९	अकतलम्	१९७५
३०	व्याकुल मातावु	१९७५
३१	कँयर	१९७८
३२	बल्लूनुकल	१९८०

कहानिया

२० कहानी-सग्रह तथा अन्य २०० कहानियॉ जो अभी सग्रहीत नहीं हुई।

आत्मकथा

१ एण्डे बाल्यकला कथा
२ एण्डे वक्कील जीवितम्
३ ओर्मयुडे तीरगलिल

यात्रावृत्त

१ अमेरिकन तेरस्सीला

नाटक

१ तोट्टिल्ला

अभिभाषण के अंश

मैं किसी भाषा का विद्वान नहीं हूँ, न ही किसी विषय विशेष का ज्ञाता हूँ, मैं मात्र एक ग्रामीण हूँ जिसका पालन-पोषण केरल के कुट्टनाड क्षेत्र के एक दूरस्थ ग्राम मे हुआ यह ग्राम मात्र २५ वर्ष पूर्व गाडी चलने योग्य सडक द्वारा सुगम बन सका है मैं अनुभव करता हू कि मैं कला, साहित्य, काव्यात्मक अनुभूतियों तथा इस प्रकार के अन्य महान विषयो के सम्बन्ध मे बात न करूँ यदि मैं अपने साहित्यिक क्रियाकलाप के पचपन वर्ष के अनुभवो तक ही इस व्याख्यान को सीमित रखूँ तो आप मुझे क्षमा कीजियेगा। मैं अपने जीवन को मात्र साहित्यिक क्रियाकलापो का जीवन सम्भवत न कह सकूँ। परम्परा से मैं एक कृषक हूँ। और आज भी खेती ही कर रहा हूँ। यदि आप मेरे पैरो की ओर देखें तो आप उन पर मिट्टी के ऐसे दाग पायेगे जिन्हे साफ नहीं किया जा सकता। कुछ समय के लिए मैंने मुफस्सल वकील के रूप में भी कार्य किया है।

हमारे प्रदेश मे हिन्दू परिवारों में रात्रि के भोजन के बाद "रामायण", "महाभारत" अथवा इसी प्रकार के किसी महाकाव्य के पाठ की परम्परा रही है। धनी परिवारो मे इस कार्य के लिए कुछ विद्वानो को भी रख लिया जाता है। हमारे परिवार में यह कार्य मेरे पिताजी करते थे। हम, हमारे परिवार के सदस्य तथा कुछ पडोसी उनके पाठ को सुनने के लिए एकत्र हो जाया करते थे। मुझे याद है, बचपन में मैं अपने पिता से प्रतिदिन महाभारत का पाठ ध्यानपूर्वक सुना करता था। एक अथवा दो बार नहीं, कितनी ही बार मैंने महाभारत का सम्पूर्ण पाठ सुना था। दैविक निष्ठा से प्रेरित उनका स्पष्ट स्वर आज तक मेरे कानों में गूजता रहता है। यह स्वर आसपास फैले धान के विशाल खेतों में बिखर जाया करता था। महाभारत में आने वाली समस्त कहानियों को मैं सुना सकता था। शायद यह मेरे लिए कथाकार बनने की एक प्रेरक शक्ति थी।

आप जानते है, "महाभारत" में हजारों कहानियाँ आयीं हैं जिनमें सृष्टि के आरम्भ अथवा उससे भी पहले के युग की कहानियाँ हैं और ये कहानियाँ "द्वापर युग" की समाप्ति पर भी समाप्त नहीं होती बल्कि "न आदि न अन्त" की मान्यता को व्यजित करती हैं। प्रत्येक कहानी का अपना महत्त्व भी है। इन कहानियो को उत्सुकतापूर्वक सुनने वाले बच्चे को प्रेरणा मिलना अवश्यभावी है।

मेरे गाँव के परिवेश तथा पडोसी गावों के जीवन ने मुझे प्रभावित किया और मैंने अपने ही ढग से जीवन की पुन सृष्टि करने का प्रयत्न किया। मैंने आपको प्रारम्भ मे ही बताया था कि मैं किसी भी भाषा का, यहाँ तक कि अपनी मातृभाषा मलयालम का भी विद्वान नहीं हूँ। शायद मैं अपनी व्यापार सम्बन्धी गोपनीयताओं का रहस्योद्घाटन कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं इस समय और इस स्थान पर यह सब बहुत सीधे-सादे रूप मे कर सकता हूँ। मेरी आयु ७३ वर्ष है, अत यह सब बताने मे अब बहुत अधिक हानि नहीं है। इसके लिए यह स्थान भी सर्वाधिक उपयुक्त होगा क्योंकि यहाँ मैं भारत का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार प्राप्त कर रहा हूँ।

मेरी अभिव्यक्ति का माध्यम ग्रामीणो की भाषा रही है। व्याकरण की जटिलताओं में उलझे बगैर मैंने सरल वाक्यों का प्रयोग किया। गाँव का आदमी अपने विचारों मे स्पष्ट था और मैं भी उसके विषय में स्पष्ट था। यदि वह भटकता तो स्वाभाविक रूप से मैं भी भटक गया होता, लेकिन मेरे मामले में एक स्पष्ट अन्तर यह था कि मैं सृजन करना चाहता था। अपनी उस रचना के लिए जिस

प्रक्रिया से गुजरना होता था उसके लिए आवश्यक, स्पष्टत तथा समर्पत्व भाव मुझमे था।

सीधी सी बात है, मैं जीवन और मनुष्य से प्रेम करता हूँ अस्पृश्यों, दलितो, अभागो तथा निम्न वर्ग के जीवन ने मुझे लेखन के प्रारम्भिक वर्षो मे प्रभावित किया। यह प्रतिक्रिया अत्यन्त गहरी थी। मुझमें आक्रोश था। मुझे अपने साहित्यिक जीवन के उस समय की याद है, जब मैं समझता था कि भिखारी, कोढी और इसी प्रकार के अन्य अभागे लोगों को ही परिवर्तन के लिए उस समय व्याप्त सामाजिक प्रणालियों के विरुद्ध क्रान्ति का नेतृत्व करना है। उस समय मैं किशोर था। मेरा उस समय का लेखन अभी भी बाजार मे उपलब्ध है। बाद मे मुझे समसामयिक इतिहास से ज्ञात हुआ कि क्रान्ति का नेतृत्व शोषित कामगार वर्ग को करना था। यदि मैं यह दावा करूँ कि उपन्यास में कृषि के मोर्चे पर वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाला मैं भारत मे प्रथम लेखक था तो आप मुझे क्षमा करे।

जीबन विचारधारा की अपेक्षा कही बडा और महान है। विचारधारा जीवन के लिए है जीवन विचारधारा के लिए नहीं। कई बार राजनैतिक दलों के दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रमो के साथ मेरी टकराहट को जाती है। मैंने जीवन भरपूर जिया है। ग्रामीणजन तथा आम आदमी मुझे सदा ही प्रिय रहा है। मेरा विचार है कि भारतीय ग्रामीण को एक विशिष्ट लाभ यह रहा है कि उसे अतीत से सीधे ही अत्यन्त समृद्ध विरासत मिली है। नि सदेह, समग्र इतिहास के दौरान बाह्य प्रभावो की भी कमी नहीं रही है। वह श्रेष्ठतम को सरलता से आत्मसात् कर सकता था और अवाछित को त्याग सकता था। यह कार्यशक्ति भी उसकी विरासत का एक अग रही है।

मैं इस ग्रामीणजन के साथ रहा हूँ। यह अनावश्यक पुनरावृत्ति जैसा लग सकता है, मगर मैं इसे एक अन्य कारण से दोहरा रहा हूँ। हाल ही में ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा होने के बाद, मैंने अपने साहित्यिक जीवन का समीक्षात्मक सर्वेक्षण करने हेतु अपने अतीत की ओर देखा यह चित्र एकरस अथवा निरानद नहीं था। मुझे सन्तोष है कि इस सम्पूर्ण अवधि में मैं ग्रामीणजन, आम आदमी तथा शोषित कामगार के साथ रहा हूँ। मैं उनके सुख एव दुख में भागीदार रहा हूँ। मैंने उनकी आशाओं को दुलारा है एव उनकी चिताओं में हिस्सेदारी की है। जब कभी मैंने उन्हे चितित पाया, मैं चितित हुआ। सकट की घडी मे उत्कर्ष के शिखर पर चढने के लिए मैं उनके साथ था। मैं उनके साथ आनदित हुआ और रोया भी, मैं विवादग्रत एव उदास था मगर मैंने कभी उनका साथ नही छोडा। ऐसे अवसर आये हैं जब मैंने भी उन्हीं के समान उपहासात्मक व्यवहार किया है। मैं उनका मित्र था और कभी उनका शत्रु नही बना। कभी-कभी जब मैं नाराज हुआ, मैंने मुँह बिचका दिया, उन्होंने भी मुँह बिचकाकर ही उसका जवाब दिया।

चूँकि मैंने अपने व्यावसायिक रहस्यो को सार्वजनिक रूप से व्यक्त कर दिया है, मैं वह सुराग भी देना चाहूँगा जिससे मेरे साहित्यिक योगदान का मूल्याँकन करने में सहायता मिल सके। मैंने किसी करोडपति के भव्य भवन, किसी बडे व्यवसायी की बैठक, किसी महान उद्योगपति के बगले अथवा किसी राजकीय प्रासाद का चित्रण नहीं किया है। एक ग्रामीण इन निर्मितियो पर मात्र आश्चर्य एव विस्मय से टकटकी लगाकर देख भर सकता था कि वहाँ जो लोग रहते हैं, वे किस प्रकार के होगे। यदि उसे भीतर ले जाया जाये तो वह चिकने-साफ फर्श पर अथवा उस पर बिछे कीमती कालीनो पर चलने में सकोच अनुभव करेगा, क्योंकि उसके नगे पैर मिट्टी और कीचड मे सने हैं। उसे भय होगा कि वह कहीं फिसलकर गिर न जाये। वह भोजन की मेज पर गुमसुम हो जाएगा तथा स्वय को दयनीय अनुभव करेगा।

ये समस्त पक्ष साधारणत इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं कि ये भवन और बगले तथा प्रासाद जीवन के अभिन्न अग हैं। ये उपलब्धिया हैं। मैंने

उन्हें अपने लेखन में छोड दिया है। वहाँ मनुष्य रहते हैं। उनकी भी आशाएँ, निराशाएँ, व्यथाएँ, चिंताएँ, हर्ष तथा नियति के उतार-चढाव हैं, जिन पर उन्हें पार पाना होता है। इन दीवारो के भीतर शोक एव कष्ट, खुशी एव अभिशाप है। कतिपय आक्रोशी क्रान्तिकारी चीखकर यह कह सकते हैं कि क्रूर शोषण की अभिशप्त योजनाएँ इस भवन की चार दीवारी के भीतर ही तैयार की जा रही हैं लेकिन वहाँ रहने वाले भी मनुष्य ही हैं।

शोषण को बेनकाब करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे इस भिन्न ससार के जीवन के बारे मे कुछ-न-कुछ जानकारी आवश्यक है। मैं इस जीवन से परिचित नही रहा हूँ। यद्यपि मैंने इस जीवन को कई अवसरो पर एक सम्मानित अतिथि के रूप में देखा है। एक कलाकार के रूप मे मुझमें इस जीवन के परिचय का अभाव है, यह एक कमी है।

अन्त मे, भारतीय कथा लेखको के लिए मैं एक सुझाव देना चाहूँगा। आधुनिक कहानी तथा उपन्यास पश्चिम के उत्पाद हैं। पश्चिम मे कहानी तथा उपन्यास वहाँ के जीवन से विकसित हुए हैं। हम लोग उनसे भिन्न तथा अतीत में कहानी कहने की हमारी स्वय की अपनी तकनीक रही है। यह पद्य में थी। उदाहरण हैं—"रामायण", "महाभारत" तथा अन्य महाकाव्य। हम अपना ही कोई रूप विकसित करनेका प्रयत्न क्यो नहीं करते? मैंने अपने नवीनतम उपन्यास 'कयर' मे ऐसा करने का विनम्र प्रयास किया है। इस उपन्यास में पिछले २५० वर्षों के दौरान केरल के जीवन को उसकी समस्त अवस्थाओ के साथ विकसित किया गया है। इस कथावस्तु को किसी पश्चिमी रूप मे समोया ही नही जा सकता था। शायद इस उपन्यास की "नायिका" मनुष्य की भूमि के प्रति भूख है और इसका "नायक" है समाज। मैंने इसे लिखना प्रारम्भ किया और पाया कि "महाभारत" का प्रभाव ही अतत मेरे बचाव के काम आया। उसके पात्र अतिमानव नहीं हैं। वे हमारे महान् पूर्वज हैं, जिन्होने जीवन जिया, सघर्ष किया और मर गये। यह मानव की कथा है। मैंने इस समय का चित्रण आठ पीढियों के माध्यम से किया है।

पश्चिमी प्रभाव अत्यधिक प्रबल था। मुझे सन्देह हुआ कि व्यास जैसा विश्व का महान् आचार्य कथाकार भी मेरे द्वारा अपनाये गये मार्ग पर चलकर सफल हो सकता था। यदि आप यह माने कि मेरा सुझाव मनन योग्य नही है, तो कृपया इसे यहीं और अभी भूल जाइए।

कोई ग्रामीण कभी-कभी विदूषक के रूप मे उपस्थित हो सकता है, वह मूर्ख दिखायी दे सकता है, वह सनकी लग सकता है। मगर उसकी निष्ठा पर किसी प्रकार का प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता।

यहाँ आपके सामने ऐसा ही एक ग्रामीण खडा है
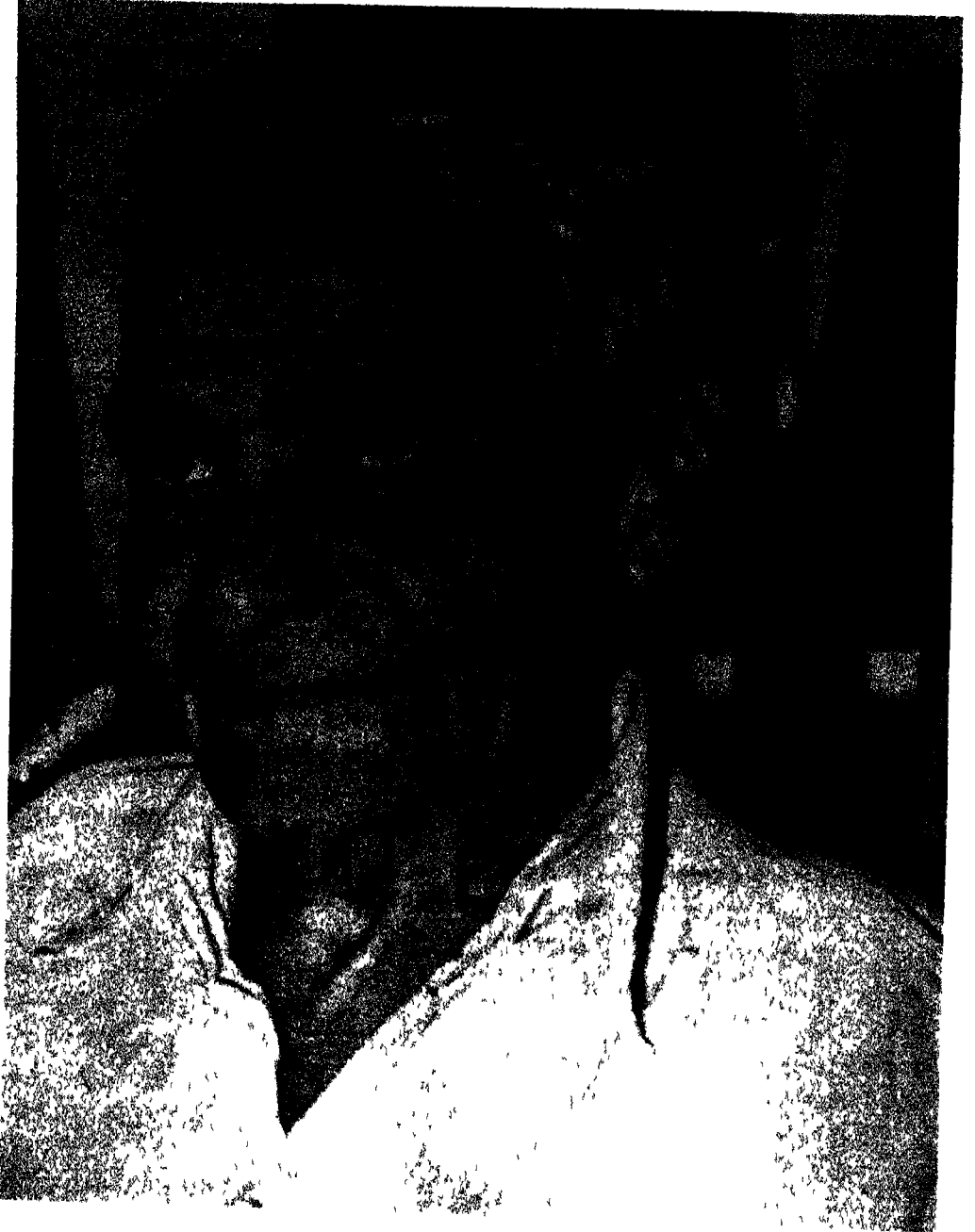
पन्नालाल पटेल

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ का वर्ष १९८५ का ज्ञानपीठ पुरस्कार श्री पन्नालाल पटेल को उनके भारतीय साहित्य को अमूल्य योगदान के लिए समर्पित किया जाता है।

लगभग ४५ वर्ष पूर्व गुजराती साहित्य मे पन्नालाल पटेल के उदय का स्वागत अतिरिक्त उत्साह के साथ हुआ। उल्लेखनीय औपचारिक शिक्षा के अभाव में भी भाषा पर उनका अधिकार अद्‌भुत था। 'मलेला जीव', 'मानवीनी भवाई' और 'पार्थने कहो चढावे बाण' उनके प्रख्यात उपन्यास हैं।

'मानवीनी भवाई', जिससे उन्हें अत्यधिक कीर्ति और प्रतिष्ठा मिली, एक अत्यत सशक्त और भावप्रवण उपन्यास है। असाधारण प्रामाणिकता और सूक्ष्मता से लिखा गया यह उपन्यास एक अकाल पीडित ग्रामीण जीवन को उसके भीतरी-बाहरी सकट को, उसकी पूरी वास्तविकताओं के साथ प्रस्तुत करता है। एक उपन्यास-त्रयी के प्रथम भाग के रूप में परिकल्पित (अन्य भाग हैं—'भाग्याना भेरु' और 'घम्मरवलोणु') यह उपन्यास मनुष्य की अदम्य, अपराजेय चेतना की अनुपम अभिव्यक्ति है।

इस ग्रथ-त्रयी में एक ऐसी जीवत सभ्यता का चित्रण है जिसकी अभिव्यक्ति यदा-कदा अपरिष्कृत लगते हुए भी अपने सवेगों की आधारभूत ऊर्जा के कारण सदैव सशक्त बनी रहती है। गत वर्षों में उन्होंने पौराणिक आख्यानों को उनकी प्रासगिकता परखने के लिए अपने उपन्यासों में आधार-सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया है।

पन्नालाल पटेल एक मजे हुए शैलीकार हैं। उनकी विशिष्ट शैली का स्रोत है लोकभाषा, जो अपने भीतर गहन अर्थच्छायाएँ और ग्राम्य जीवन के सभी पक्षों की कविता को व्यक्त करने वाला वैविध्यमय सगीत सजोए रहती है। ग्राम्य जीवन की कविता मानव-हृदय के मूलभूत सवेगों को इतने आकर्षक रूप से उद्‌दीप्त करती है कि कभी-कभी उनकी नैतिकता के सामने कोई प्रश्नचिन्ह लगाना नितात निरर्थक हो जाता है।

भारतीय ज्ञानपीठ साहित्य एव मानवता को समर्पित श्री पन्नालाल पटेल के दीर्घ आयुष्य की कामना करता है।

नयी दिल्ली | अध्यक्ष | प्रबन्ध न्यासी | अध्यक्ष
१६ दिसम्बर, १९८६ | प्रवर परिषद् | | भारतीय ज्ञानपीठ

पन्नालाल पटेल

पन्नालाल पटेल ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था मुझे भी साहित्य-सर्जन करना है।

उस युग में श्रमजीवियों का शब्द-सृष्टि से वास्ता था ही क्या?

पचास वर्ष से भी पहले की बात है अहमदाबाद में महात्मा गाधी की अध्यक्षता में गुजराती साहित्य परिषद् का सम्मेलन सम्पन्न होने जा रहा था। प्रेमाभाई हॉल उस सडक से सटकर था, जिस पर पन्नालाल दिन में दो बार अपनी साइकिल पर गुजरते थे। सम्मेलन में उपस्थित रहने के लिए पन्नालाल को कोई कारण नहीं था, परन्तु पता चला था कि उमाशकर जोशी बम्बई से आने वाले हैं। दस वर्ष के बाद मित्र से मिलने का मौका था। मित्र भी कैसा? उत्तर गुजरात के साबरकाठा ज़िले के इडर कस्बे में पाँच वर्ष जिसके साथ पढाई की थी।

सन् १९३६ का नवम्बर पुनर्मिलन के समय दोनों मित्रों की आयु २५ वर्ष की हो चुकी थी। उमाशकर एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। पन्नालाल राजस्थान के सागबाडा आदि क्षेत्रों में नौकरी करते-करते जीवन के विविध विषय और सकुल अनुभवों की आँच में तप चुके थे (शिष्ट समाज से आते लेखक को यह अनुभव शायद ही नसीब होते)। अब अहमदाबाद में दिन में पन्द्रह-सोलह घण्टों की नौकरी पाने के भाग्योदय से खुश थे। सूचना के अनुसार सहाध्यायी से मिलने आ पहुँचे। प्रेमाभाई हॉल के कोने पर एक होटल में चाय पीते-पीते उमाशकर ने सुन्दरम् की उपस्थिति में एकाएक पन्नालाल से कहा "लिखो।" परामर्श के लिए सुन्दरम् से अनुरोध भी किया।

उसी साहित्य-सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने साहित्य की व्यापकता के विषय में किसान और मजदूर की साझेदारी के सदर्भ में एक क्रान्तिकारी बात कही थी परन्तु पण्डितयुग के शेष प्रभाव में मूर्धन्य समीक्षकों को वह बात उतनी ध्यान के योग्य नहीं लगी थी। समय की दूरी के साथ देखने पर गाँधीजी के आह्वान और पन्नालाल जी के लेखन के बीच एक परोक्ष सम्बन्ध देखा जा सकता है। सदियों की भद्र सस्कृति की साहित्य-साधना के बाद भारतवर्ष में यह युग आना ही था कि एक श्रमिक शब्द-सेवी बने। पन्नालाल पटेल के बारे में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने स्कूल में आठवीं कक्षा तक ही शिक्षा प्राप्त की और वे बहुत अधिक अँग्रेज़ी नहीं पढ सकते थे। आधुनिक युग के प्राय सभी महान् लेखक उच्च शिक्षा प्राप्त

हैं जो विश्व साहित्य से भी निरतर सम्पर्क बनाए रखते हैं। लगता है कि पन्नालाल पटेल को साहित्य रचना का वरदान ईश्वर की ओर से मिला। उनका जन्म १७ मई, १९१२ को गुजरात और राजस्थान की सीमा पर स्थित माडली नामक गाव में हुआ था। स्कूल छोडने के बाद कुछ वर्षों तक पन्नालाल ने घुमक्कडी जीवन जीया और कल्पनाओं में विचरण करते रहे, क्योकि इत्तफाक से उन्हें एक साधु का सम्पर्क मिल गया, जिसके साथ वह अपने घर से भाग निकले। यह तो कोई नही जानता कि साधु से उन्हे कितना ईश्वरत्व अथवा धर्मलाभ प्राप्त हुआ, लेकिन यह निश्चित है कि साधु के साथ रहते हुए जीवन के बारे मे विस्तृत जानकारी प्राप्त की।

उमाशकर जोशी से भेंट का प्रभाव पन्नालाल पर हुआ। पन्नालाल ने शुरू-शुरू मे कविताएँ लिखी। सोचा "मैं कविता लिख सकूँगा क्योकि गाना जानता हूँ।" बहुत अच्छा गाते थे पन्नालाल। फलत लिखते गये कविताएँ और दिखाते गये सुन्दरम् को। परन्तु वे सन्तुष्ट होने वाले कहाँ थे ? अन्त मे पन्नालाल जी समझ गये। विकल्प सोचा "तो कहानी लिखू ?" पन्नालाल ने एक-एक करके बहुत-सी छोटी कहानियाँ लिखीं और उन्हे सुन्दरम् के पास ले गये। सुन्दरम् सबको उस दिन तक एक-एक करके अस्वीकार करते रहे जब तक पन्नालाल उनके पास 'शेठनी शारदा' शीर्षक कहानी लेकर नहीं पहुँचे। सुन्दरम् को यह कहानी इतनी पसन्द आई कि उन्होने उसे प्रख्यात लेखक झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सपादित एक प्रसिद्ध पत्रिका मे प्रकाशन के लिए तुरन्त भेज दिया। पन्नालाल का साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया। 'ककु' भी आरभिक कहानियों में से है। श्री रामनारायण पाठक ने 'प्रस्थान' में इसे छापने से इन्कार कर दिया था, विषयाकन की दुर्बलता के कारण। गाँधीयुगीन समीक्षक को ककु और सेठ के दैहिक मिलन में चारित्रिक शिथिलता दिखायी दी, परन्तु पन्नालाल जी ने कहानी में तनिक भी परिवर्तन नहीं किया शुरू से ही वे वास्तवलक्ष्यी रहे। आदर्श या भावना पर नही , यथार्थ और प्रतीति पर टिके रहे। 'ककु' में यौनवृत्ति की प्रबलता का सकेत अवश्य है परन्तु उसे बहलाया नही गया। दोनों चरित्रों की विवशता के भीतर एक सच्चाई है। ककु के बीच मे डेढ दशक में पुत्र की परवरिश के लिए जो तपस्या की है वह लक्षण एक प्रभाव छोड जाता है। बाद मे इस कहानी पर एक चलचित्र तैयार हुआ जो पुरस्कृत भी हुआ। लेखक ने कहानी को उपन्यास का रूप भी दिया है, जो गुजरात सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ। साहित्यिक मानदण्डो में आये परिवर्तनों का एक प्रमाण 'ककु' है।

'ककु' के यथार्थपरक अभिगम की अपेक्षा 'अरमान' की नायिका पानू की स्वप्निल तरगें कम स्पृहणीय नहीं हैं। उसके सपनो की दुनिया एक श्रमिक परिवार मे कैसे सिमट पायेगी, ऐसा प्रश्न अन्त मे अप्रस्तुत हो जाता है। पति अपने जीवन में पानू की अनिवार्यता अनुभव करता है, यह पानू के लिए पर्याप्त है। पानू की सूक्ष्म सवेदनाएँ, कल्पनाएँ जिस गोपी भाव को घनीभूत करती हैं उसके लिए भी 'ककु' के वस्तुनिष्ठ देश में स्थान है। पन्नालाल का यथार्थ सपाट नही है। उसमें आन्तर समृद्धि के लिए तमाम क्षमताएँ हैं।

'भाथी की घरवाली' एक विलक्षण युवती है। 'अरमान' की पानू को सुख-भोग का लोभ नहीं है, जब कि भाथी की घरवाली पति को इसलिए नापसन्द करती रहती है कि उसे शहर की जिन्दगी के वैभव-विलास का आकर्षण है। भाथी अकेला सघर्ष करता युवा हुआ, पत्नी के सुख की कामना करता-करता एक दिन दाम्पत्य की दहलीज पर पैर रखने गया तो अपमानित हुआ। ऐसी सुन्दर पत्नी द्वारा किया गया प्रत्याख्यान कोई भी पुरुष कैसे सह सकता था ? भाथी ने बहुत कोशिश की परन्तु अन्त में हार गया। सोचने लगा क्यों ऐसी ढोर-मजदूरी करता रहूँ ? किसके लिए ? सब कुछ गिरवी रखकर वह शहर चला गया। दूसरी ओर शहर के सुख का अनुभव लेकर उसकी घरवाली लौट आयी। जिस कम्पाउण्डर ने उसे बडी-बडी बातों से बहकाया था

वह तो लहू का व्यापारी निकला। उस बेइमानी से त्रस्त, ग्रामकन्या पिता के घर लौटी। वहाँ के दरवाजे सदा के लिए बन्द पाकर वह आत्महत्या के लिए प्रेरित हुई परन्तु अपने आपको एक अवसर देने के लिए पति के घर की ही दिशा पकडी। उसके पुनरागमन के अवसर पर गाँव के पचों के साथ वह जिस दृढता और निर्भयता से बात करती है, बल्कि टकराती है, उसे पढ़कर नागरिक पाठक भी चकित हो जायेगा। आज हम स्त्री-पुरुष-समानता के लिए एक अर्थपूर्ण लडाई में रत हैं तब ऐसा स्त्री-चरित्र बडा आश्वासक लगता है। यह असभव नहीं है। भाथी की घरवाली की शक्ति सामाजिक नैतिकता के सशय से क्षीण नहीं होती क्योंकि उसके पास एक अनुभूत सत्य है और उसे निजी श्रम से जीना है, किसी की दया पर नही। कहानी मे अद्भुत नाट्य-क्षमता है। ये तीनो कहानियाँ ग्रामीण वातावरण मे निरुपित हैं। पन्नालाल जी की ग्रामजीवन से सम्बद्ध कहानियों की चर्चा यहाँ एक प्रयोजन से की गई है। प्रकृति और मनुष्य का ऐसा साहचर्य गुजराती कथा-साहित्य में पहले नहीं था। नियति द्वारा दण्डित मनुष्य को यह प्रकृति आश्रय देती है।

'वात्रक के किनारे' कहानी कुछ बिछुडे मनुष्यो द्वारा एक-दूसरे के लिए सहन करने की स्पर्धा आलेखन करती है। नवल का यौवन अभी अस्त नहीं हुआ परन्तु वह नया पति नहीं करती। उसके जीवन मे दो पुरुष आ चुके हैं। एक स्वमान के कारण चला गया था, एक नवल के शील की रक्षा हेतु मुखिया के बेटे की हत्या करके भाग गया था। बरसो बाद दोनों लौटे हैं। नदी के किनारे एकाकी घर और दूर के खेत मे जलते अलाव के पास बैठे दो साधु। नवल दूर से ही पहचान जाती है। लेकिन उन लोगो की द्विविधा की कोई सीमा नहीं। दोनों चाहते हैं कि उनमे से एक पुलिस के हवाले हो जाये और दूसरा नवल का घर सँभाले। स्पर्धा घर सँभालने के लिए नहीं है, त्याग के लिए है। अन्त में जिसने हत्या नहीं की थी वह न्यायालय में अपने को दोषी ठहराने में सफल होता है। लगडा पति लौटता है। इस लौटे हुए को पाकर नवल को खुशी होनी चाहिए थी, होती है क्या? स्वेच्छा से जेल जाने वाले को खाने की पीडा जगती है। जो द्विनिष्ठा—'एम्बिवेलन्स' नवल के चरित्र की बुनियाद है उस पर करुणा का अकलण्य सन्तुलन खडा हो जाता है। परन्तु मनुष्य के मन की सकुलता की एक और छवि अकित करने का अवसर पन्नालाल जी नहीं खोएगे। जो लौट आया है, गलतफहमी के कारण, अपनी उपेक्षा समझकर व्यथित होता वहाँ से चल देता है। कैसा अन्त! एक मर्मान्तिक क्षण के बाद भी लेखक ने सभावना की लकीर खीच दी है फूफा सामने मिल जाएँ और उसे समझाकर ले आएँ। दो पुरुषो के प्रति सहज प्रेम का आलेखन गाँधी युग के नैतिक दबाव मे कौन कर सकता था? लेकिन यहाँ हुआ है, प्रतीति के साथ, सर्जनात्मक क्षमता के साथ।

इनके लेखन में, विशेष करके इनके छोटे-बडे चरित्रो मे ऐसा कुछ है जिसे अव्याख्येय कहना चाहिए। अल्पशिक्षित होना इस लेखक के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ। उमाशकर जी ने 'साधना भारा' एकाकी-सग्रह मे उत्तर गुजरात की बोली का पहली बार सफल प्रयोग किया था। एक दिशा खुल गयी थी। साहित्य केवल पण्डितो की प्रशिष्ट भाषा का विषय नही, मैं अपनी बोली में भी साहित्य-सर्जन कर सकता हूँ। जिन्दा भाषा को एक अपूर्व अर्थ तक पहुँचाने का पुरुषार्थ कर सकता हूँ। सारे उपमान मेरे परिवेश की सृष्टि मे ही सुलभ हैं। दूसरी दिशा मनुष्यत्व की सकल्पना को लेकर खुल गयी। मनुष्य को सकल्पना मे—विभावना मे—'कन्सेण्ट' में बाधकर चरित्र के रूप में आलेखित करती रचनाओ का अपना मूल्य है ही, परन्तु पन्नालाल के कुछ हृद्य चरित्र सकल्पनाओं से मुक्त हैं, उनका सीधा सच्चा सहजरूप स्पृहणीय है। अपनी कमजोरी छिपाकर दूसरे को उपदेश देने वाले पन्नालाल के मार्मिक स्मित से बच नहीं पाया। सघर्ष अवश्य है, वर्ग-सघर्ष नही। मनुष्य को जिससे

लडना है वह कोई एक निश्चित-सीमित तत्व नहीं। और लडते रहने की मानवीय क्षमता भी असीम है, अव्याख्येय है।

यह कथ्य इनके उपन्यासों में विवशता से, अधिक खुलेपन के साथ, व्यक्त हुआ है। 'बेटी की विदा' (वलामणां) सन् १९४० में प्रकाशित पन्नालाल का प्रथम लघु-उपन्यास है। गुजराती का यह प्रथम कलात्मक लघु-उपन्यास है। मनुष्य के मन की विधेयात्मकता का यह कलात्मक आविष्कार पन्नालाल की प्रतिभा के आविष्कार के रूप में ख्यात हुआ। इसी से प्रभावित होकर झवेरचन्द मेघाणी ने पन्नालाल से दूसरा उपन्यास मागा। परिणामस्वरूप 'मलेला जीव' १९४१ में प्रकाशित हुआ। यह एक प्रेमकथा है। जातिगत भेद या अन्य सामाजिक व्यवधान गौण हैं, सघर्ष का प्रमुख आधार आन्तरिक है । प्रेम की तीव्र अनुभूति और आत्मसयम के बीच जो सघर्ष है, नायक को सामयिक पलायन के लिए प्रेरित करता है और नायिका को क्रमश तोड देता है। जीवी पागल हो जाती है। जहर की रोटी खुद खा लेनी थी, कुण्ठित पति खा गया और उसके अनन्तर कानजी शहर से गाँव आया तो बिना मिले ही चला गया। 'बिना मिले ही चले गये!!'—बस, जीवी की बची-खुची स्वस्थता भी तहस-नहस हो गयी। एक वर्ष पहले जो अत्यन्त रूपवती थी उस जीवी के प्रति लोभ दिखाने से मुक्त कानजी, अब पागल जीवी को अपने साथ ले जाता है। 'मलेला जीव' प्रणय-विषयक गीतिकाव्य (लिरिक) है तो 'पिछले दरवाजे' मातृहृदय की समृद्धि की गीतिका। एक बेटे को राज्य के हित में दत्तक दे देने वाली कुँवरबाई की मन स्थितियों का निरूपण करते-करते पन्नालाल ने इस माता को समस्त प्रजा के प्रतीक की गरिमा दी है और वह भी लीलया। पराया बना पुत्र अत में वस्तुस्थिति से अवगत होकर माता की अर्थी को कन्धा देने के लिए पिछले दरवाजे से 'घर' में प्रवेश करता है। परिवर्तित होते सामाजिक-राजकीय सन्दर्भ के अध्ययन की दृष्टि से भी यह लघु-उपन्यास महत्त्वपूर्ण है।

'कोई चारा नहीं' एक सुदीर्घ उपन्यास है। अपनी 'आजणा पाटीकर' नामक कृषक जाति से भिन्न समाज के चरित्रो का आलेखन करते-करते पन्नालाल समतल खेतों को लाँघकर यहाँ बीहड पहाडियो तक जाने मे, उत्तर गुजरात के सीमावर्ती प्रदेश को पार करके राजस्थान के डूगरपुर-सागवाडा के नैसर्गिक सौन्दर्य के फलक में साधिकार प्रवेश करते हैं। रूमाल और दरियाव की यह प्रणय-कथा श्रमजीवी की सच्चाई और राज्यसत्ता की जबरदस्ती के सघर्ष से गुजरती है। नायक-नायिका दोनो के पिता रतनो और दलो भी हमारी सवेदना पर एक अविस्मरणीय लकीर खीच जाते हैं। रूमाल की अटूट निर्भीकता उसके शौर्य में तितिक्षा का श्रद्धेय तत्व जगाती है। दरियाव के चरित्र में किसान-क्षत्रिय नारी की समिश्र गरिमा है। इस उपन्यास में लोक-भाषा के कलात्मक विनियोग के साथ-साथ पन्नालाल जी ने स्वरचित गीत पक्तियो को इस कुशलता के साथ बीच-बीच में प्रयुक्त किया है कि पाठक इन्हे लोकगीत मानकर चलेगा। लेखक को चरित्र और घटनाओ की कमी कभी महसूस नही हुई, इसका प्रमाण यह उपन्यास भी है।

'मानवीनी भवाई' गुजराती उपन्यास साहित्य का तीसरा चरण है। सन् १९४७ में प्रकाशित इस महाकथा का दूसरा खण्ड 'भाग्याना भेरू' नाम से १९५७ मे और तीसरा खण्ड 'घम्मर वलोणु' १९६८ में प्रकाशित हुआ। आठ दशक की अवधि में विस्तीर्ण तीन पीढियों की यह कथा उत्तर गुजरात की लोक-सस्कृति का सघन चित्र प्रस्तुत करती है। उस उपन्यास का क्षितिज जीवन के क्षितिज के समान ही विशाल है, हालाकि वह जीवन ग्रामीण गुजरात के छोटे से क्षेत्र के आसपास केन्द्रित था। नि सन्देह उसमें एक प्रेम कथा है, मगर यह केवल इस उद्देश्य तक सीमित रचना नहीं है। इसमें जीवन की अपेक्षाकृत अन्य बडी समस्याओं को, लोगों के सामने आए घनघोर सघर्षों एव

कष्ट-पीडाओं को व्यक्त किया गया है, जिनका सामना उन्होंने वर्ष १९९० के आसपास गुजरात के विस्तृत क्षेत्र में पड़े विनाशकारी अकाल के साथ किया था। इसमें जहा एक ओर प्रकृति की शक्तियों के सामने दुर्बल मनुष्यों के तत्काल समर्पण एव झुकते जाने का चित्रण है तो दूसरी ओर इसमें मनुष्य के उस अजेय जीवन का अकन भी है जो किसी भी मुसीबत के सामने घुटने टेकने को तैयार नहीं होता। इस उपन्यास का नायक मनुष्य की इस महानता का प्रतीक है, हालाकि वह कोई बहुत पढा-लिखा व्यक्ति नहीं है और गुजरात के एक छोटे से गाँव का निवासी है। नियति की प्रतिकूलताओं के विरुद्ध मनुष्य के गौरव एव सम्मान के रक्षक के रूप में कालू का चित्राकन केवल गुजराती साहित्य में ही अनुपम नहीं है, अपितु वह समस्त भारतीय साहित्य में एकदम अनूठा है। उसके तमाम कष्टों, सघर्षों और पीडाओं से जूझते रहने के समय उसके साथ उसकी सदा-सदा की प्रेमिका राजू खडी रहती है। राजू को वह जीवन पर्यन्त प्रेम करता रहता है, मगर जिससे अपने आसपास रहने वाले क्षुद्र स्त्री-पुरुषों के षड्यन्त्र के कारण वह विवाह नहीं कर पाता है। इन क्षुद्र स्त्री-पुरुषों की छोटी दुनिया का चित्राकन लेखक ने उतनी ही कलात्मकता एव श्रेष्ठता से किया है जितनी कलात्मकता से उसने कालू एव राजू के सघर्ष के वीरतापूर्ण ससार और विनाशकारी अकाल की विराट दुनिया का चित्रण किया है। उपन्यास का अन्तिम दृश्य वर्षा की पहली बूद के साथ समाप्त होता है जो भयकर अकाल की समाप्ति का द्योतक है। यद्यपि इस उपन्यास की पृष्ठभूमि ग्रामीण है, मगर यह उपन्यास ग्रामीण नहीं है। यद्यपि इसकी पृष्ठभूमि मानवीय दस्तावेज है जिसमें मानवीय स्थितियों में मनुष्य की नियति को चित्रित किया गया है।

पन्नालाल पटेल एक मजे हुए शैलीकार हैं। उनकी विशिष्ट शैली का स्रोत है—लोक भाषा, जो अपने भीतर गहन अर्थ-छायाए और ग्राम्य-जीवन के सभी पक्षों की कविता को व्यक्त करने वाला वैविध्यमय सगीत सजोए रहती हैं। ग्राम्य जीवन की कविता मानव-हृदय के मूलभूत सवेगों को इतने आकर्षक रूप से उद्दीप्त करती है कि कभी-कभी उनकी नैतिकता के सामने प्रश्नचिह्न लगाना एकदम निरर्थक हो जाता है। मानवीयता के अपेक्षित कोनों में उठाए गये भोले-भाले पात्रों के उद्गारों के नाटकीय समावेश में प्राय सारगर्भित दार्शनिकता तो झलकती है, फिर भी कहानी के मौलिक सौन्दर्य को क्षति नहीं पहुँचती। पन्नालाल का सम्पूर्ण वातावरण से तादात्म्य, उनके काव्यमय विलक्षण वर्णन तथा पात्रों के चरित्र एव व्यवहार में उनकी पैनी अन्तर्दृष्टि और उनका कहानी कहने का उस्तादाना हुनर—इन सबने उपन्यास कला में नये आयाम उद्घाटित किये हैं।

पन्नालाल ने महाभारत, रामायण, भागवत् तथा अन्य पुराणों को आधार बनाकर उपन्यास भी लिखे। यह उनका आधुनिक सदर्भ में प्राचीन भारतीय सस्कृति की प्रासगिकता खोजने का प्रयत्न है। इस विधा की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है—'पार्थने को चढावे बाण' (पाच खड) जो महाभारत की प्रमुख घटनाओं पर आधारित है। स्वय पन्नालाल अपनी इन कृतियों को अत्यत महत्वपूर्ण मानते थे।

६ अप्रैल, १९८९ को उनका निधन हुआ। पन्नालाल पटेल, जैसा ऊपर कहा गया है, एक अन्य ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कवि उमाशकर जोशी की प्रेरणा से साहित्यिक सृजनात्मकता से जुड़े थे। यह विडम्बना ही है कि काल ने चार माह के अन्तराल में दोनों को छीन लिया।

कृतियाँ

उपन्यास

१	वलामणा	१९४०
२	मलेला जीव	१९४१
३	भीरु साथी	१९४३
४	यौवन	१९४४
५	सुरभि	१९४५
६	मानवीनी भवाई	१९४७
७	भाग्याना भेरु	१९५७
८	घम्मरवलोणु १-२	१९६८
९	पाछले बारणे	१९४७
१०	ना छूटके	१९५५
११	फकीरी	१९५५
१२	नवु लोही	१९५८
१३	पडधा अने पडछाया	१९६०
१४	मनखावतार	१९६१
१५	अमे बेबहेंनो	१९६२
१६	करोलियानु जालु	१९६३
१७	आधी अषाढनी	१९६४
१८	वली वतनमा	१९६६
१९	मीण माटीना मानवी	१९६६
२०	नगद नारायण	१९६७
२१	प्रणयना जूजवा पोत	१९६९
२२	ककु	१९७०
२३	अजवाली रात अमासनी	१९७१
२४	अल्लड छोकरी	१९७२
२५	गलाल सिह	१९७२
२६	अेक अनोखी प्रीत	१९७२
२७	मरकटलाल	१९७३
२८	अेकलो	१९७३
२९	नथी परण्या नथी कुवारा	१९४१
३०	पार्थने कहो चडावे बाण १-२०	१९७४
३१	रामे सीताने माया जो १-४	१९७६
३२	कृष्ण जीवनलीला १-५	१९७७
३३	ताग	१९७९
३४	शिवपार्वती १-६	१९७९
३५	भीष्मनी बाणशय्या १-३	१९८०
३६	अगारो	१९८१
३७	पगेरु	१९८१
३८	कच-देवयानी	१९८१
३९	देवयानी-ययाति १-२	१९८२
४०	परम वैष्णव नरसिंह महेता	१९८३
४१	रॉ मटीरियल	१९८३
४२	जेणे जीवी जाण्यु	१९८४
४३	सत्यभामानो मानुषी प्रणय	१९८४
४४	(मानवदेहे) कामदेव-रति	१९८४
४५	(महाभारतनो प्रथम प्रणय) भीम-हिडिमबा	१९८४
४६	अर्जुनो वनवास के प्रणप्रवास?	१९८४
४७	प्रद्युम्न-प्रभावती	१९८४
४८	श्री कृष्णनी आठ पटराणीओ	१९८४
४९	शिखडी-स्त्री के पुरुष	१९८४
५०	रेवतीला बलदेवजी	१९८४
५१	सहदेव-भानुमतीनो प्रणय	१९८४
५२	कुब्जा अने श्रीकृष्ण	१९८४
५३	(नरमा नारी) इल-इला	१९८६
५४	(अमरलोक मृत्युलोकनु सहजीवन) उर्वशी-पुरुरवा	९९८६
५५	पुराण कथि मातुर्गा	१९८६

५६ आसु १९८६
५७ माथु १९८६
५८ रगीन जिंदगी १९८६
५९ दुनिया बदलाई गई १९८६
६० अतरग १९८६
६१ रोगमाथी योगमा १९८६

कहानी-सग्रह

१ सुखदु खना साथी १९४०
२ जीवो दोड १९४१
३ जिदगीना खेल १९४०
४ लखचोरासी १९४४
५ पानेतरना रग १९४६
६ साचा समणा १९४९
७ पारेवडा १९५६
८ वात्रकने काठे १९५२
९ ओरता १९५४
१० दिलनी वात १९६२
११ मनना मोरला १९५८
१२ तिलोत्तमा १९६०
१३ धरती आभना छेटा १९६२
१४ त्यागी-अनुरागी १९६३
१५ दिलासो १९६४
१६ चीतरेली दीवाली १९६५
१७ मोरलीना गूगा सूर १९६६
१८ मालो १९६७
१९ वटनो कटको १९६९
२० अणवर १९७०
२१ कोई देशी कोई परदेशी १९७१
२२ आसमानी नजर १९७२
२३ बिन्नी १९७३
२४ छणको १९७५
२५ धरनु घर १९७९
२६ नराटो १९८१

बाल-साहित्य

१ परीक्षा (दूसरा पुरस्कार) १९६२-६३
२ आख आडा कान (पहला पुरस्कार) १९६४-६५
३ अेक खोवायेली छोकरी (पहला पुरस्कार) १९६९

नाटक

१ ढोलिया माग सीसमना (दूसरा पुरस्कार) १९६४-६५

हिन्दी में अनूदित

१ जीवी (मलेला जीव) साहित्य अकादमी का प्रकाशन
२ जीवन का नाटक (मानवीनी भवाई) नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इडिया का प्रकाशन
३ रक्तगुलाल (गललसिग) नेशनल पबिशिग हाउस का प्रकाशन
४ बेटी की बिदा (वलामणा) (कलेचर भारती पब्लिकेशन, अहमदाबाद का प्रकाशन)
५ पिछले दरवाजें (पाछले दरवाजे) (कलेचर भारती पब्लिकेशन, अहमदाबाद का प्रकाशन)
६ सत्युग की कथाएँ-सग्रह पहला (कलेचर भारती पब्लिकेशन, अहमदाबाद का प्रकाशन)
७ सपूर्ण, लघु महाभारत (कलेचर भारती पब्लिकेशन, अहमदाबाद का प्रकाशन), तथा २१ बाल-साहित्य, नाटक आदि की कृतियाँ व सपादित सग्रह।
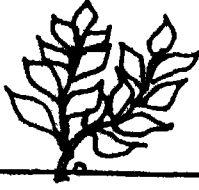
अभिभाषण के अंश

मैं रहा गुजरात के एक अचल में रहने वाले एक किसान का बेटा, सोलह घण्टों की मजदूरी करने वाला श्रमजीवी और गुजराती स्कूल की केवल आठवी श्रेणी तक की शिक्षा पाने वाला साधारण जन। मैंने तो कभी साहित्य का नाम भी सुना न था और न साहित्य के महत्त्व से ही मैं परिचित था। अपनी शिक्षा की कालावधि में मुझे लगातार पाँच साल तक गुजरात के मूर्द्धन्य कवि उमाशकर जोशी के साथ एक ही बेंच पर बैठकर पढने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। हम साथ पढे, साथ खेले, और जीवन के कडवे-मीठे अनुभव भी साथ-साथ पाये। इसके बाद उमाशकर जोशी बम्बई चले गये और मैं आजीविका के लिए इतस्तत घूमता-घामता अहमदाबाद जा पहुँचा और वही स्थिर हुआ।

सन् १९३६ की बात है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की अध्यक्षता मे अहमदाबाद में गुजराती साहित्य परिषद् का अधिवेशन होने वाला था। इसमे उमाशकर जोशी भी उपस्थित रहने वाले थे। मैंने उनसे मिलने के लिए उन्हे कविता मे बम्बई पत्र लिखा। लौटती डाक से उनका स्नेहसिक्त उत्तर प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने हमारे पारस्परिक सम्बन्ध का स्मरण किया और मिलने की इच्छा व्यक्त की। हम मिले। काफी बाते हुईं। मेरे पद्यमय पत्र से या अन्य किसी विशेष कारण से प्रभावित होकर उन्होने मुझसे साहित्य-सृजन का साग्रह अनुरोध किया और एतदर्थ अहमदाबाद-निवासी अपने कवि-मित्र सुन्दरम् का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन प्राप्त करने की सुविधा भी कर दी। मेरी इस 'दीक्षा' का दिवस था १ नवम्बर १९३६। आज पूरी अर्द्धशती बीत चुकी है।

आरम्भ मे मैंने कविताएँ लिखीं, किन्तु उसमें मैं सफल नहीं हो पाया। तत्पश्चात् मैं कहानी-लेखन की ओर आकर्षित हुआ। और अचानक मैं अपनी पहली कहानी से ही लेखक बन गया। फिर तो अविरत रूप से कथा-साहित्य के प्रणयन का सिलसिला जारी रहा। गुजराती साहित्य-ससार ने यह देखकर मेरे लिए 'चमत्कार' का प्रयोग करना शुरू कर दिया। लघु कहानियाँ मेरी अभिव्यक्ति के लिए लघु सिद्ध हुईं। तब मैंने 'वळामणा' शीर्षक से एक लम्बी कहानी लिखना शुरू किया जिसने आगे चलकर पूरे उपन्यास का रूप ले लिया। इसी के साथ मैं एक सिद्धहस्त उपन्यासकार बन गया। तदन्तर मैंने 'मलेवा जीव' (जीवी) नामक एक प्रेममूलक उपन्यास की सृष्टि की जिसने समस्त गुजरात मे मुझे अत्यधिक प्रसिद्धि एवम् प्रशसा प्रदान की और मेरे सृजन को पूर्णरूपेण 'चमत्कार' शब्द से अभिहित किया गया। आज आप सभी महानुभाव देख रहे हैं कि 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मेरे लिए सही अर्थों में एक 'चमत्कार' प्रमाणित हुआ।

गुजराती साहित्य में मैंने पुराण-साहित्य पर आधारित कतिपय उपन्यासों का योगदान किया है। सप्रति गुजराती साहित्यकारों का ध्यान उस ओर नहीं गया। सम्भवत मेरी वे कृतियाँ असामयिक हों, तथापि मैं यहाँ यह कहना चाहूँगा कि एक-न-एक दिन मेरा वह योगदान भारतीय साहित्य में अद्वितीय बन कर रहेगा। मैंने अपने पौराणिक उपन्यासो में यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय सस्कृति मोक्षलक्ष्यी नहीं है, जीवनलक्ष्यी है। उसे 'जीवनलक्ष्यी' इस अर्थ में कहा गया है कि मनुष्य को मृत्य-रहित जीवन प्राप्त करना है, सनातन जीवन पाना है, अलबत्ता आध्यात्मिक मार्ग से। आज के इस वैज्ञानिक युग में मैं केवल यही सकेत करना चाहता हूँ। श्री माताजी का आदेश है कि-

"Don't speak Let your work speak"

मेरी जन्मभूमि दक्षिण राजस्थान में है। मेरा जन्म डूँगरपुर जिले के बागड अचल के अन्तर्गत मौंडली नामक एक छोटे-से गाँव में हुआ है, जहाँ मुश्किल से सौ घरों की बस्ती है। मौंडली गाँव गुजरात से सटा हुआ है। अतएव हम वहाँ के निवासी आधे गुजराती हैं। मेरी पढाई गुजराती में हुई और आजीविका के लिए मैं गुजरात में ही स्थिर हुआ। मेरा साहित्य-सृजन गुजरात में हुआ। मेरी महिमा-मडित एवम् सर्वाधिक प्रशसित कृति 'मानवीनी भावाई' की मैंने अपनी जन्मभूमि मौंडली में खेत के मचान पर बैठे-बैठे रचना की थी। पावस ऋतु की परिसमाप्ति होने वाली थी। मैं अपने खेत के मचान पर बैठ कर पक्षियों को उडाता जाता था और इस उपन्यास का लेखन-कार्य करता जाता था। सयोग की बात है कि 'मानवीनी भवाई' की रचना आज से ठीक चालीस साल पहले, यानी सन् १९४६ में हुई थी। वर्षा ऋतु के बाद मैं उसकी पाडुलिपि लेकर बम्बई गया और प्रकाशक को उसे छापने के लिए दे आया। १९४७ के ऐतिहासिक वर्ष में उसका प्रथम प्रकाशन हुआ। जिन दिनों मैं बम्बई के एक अस्पताल में खाट पर पडा हुआ था, तब मेरे प्रकाशक ने मुझे इस कृति की प्रथम प्रति दी थी। उस समय मेरे मन में यह तनिक भी विचार नहीं आया था कि मैंने एक अनोखी कृति की रचना की है।

मैं यहाँ यह सकेत करना चाहूँगा कि इस कृति के प्रकाशित होते ही इसने मेरे जीवन मे अपूर्व लीलाएँ करना शुरू कर दिया। गुजराती साहित्य-ससार में इसने अपनी विशिष्टता प्रकट करने और अपने को प्रतिष्ठित करने में कोई कसर नही रखी। और सन् १९५० में गुजराती साहित्य का सर्वोत्कृष्ट एवम् गौरवप्रद 'रणजितराम सुवर्णचन्द्रक' यह ग्रथ मेरे लिए ले आया। तब मुझे यह विश्वास हो पाया कि मुझ पर सचमुच सरस्वती की कृपा हुई है। इसके बाद, न जाने क्यों, इस कृति ने लगभग दो दशक तक जलपोत की भाँति समय-सरोवर मे गोता लगा दिया। एक दिन अचानक नेशनल बुक ट्रस्ट की इस पर पसन्दगी उतरी और भारत की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद करवाकर इसे गौरवान्वित किया।

तदनन्तर, फिर यह महसूस होने लगा कि 'मानवीनी भवाई' नेपथ्य में चली गई है, हालाँकि कतिपय सन्निष्ठ विद्वानों और मौलिक चिन्तकों के गूढ-गहन चित्त में यह रमती ही रही और आज मेरी इस भाग्यवान रचना ने मुझे भारत की सर्वोपरि साहित्यिक सस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' के मच पर ला खडा कर दिया है।

मेरी इस कृति की इन लीलाओं को देखकर मुझे सहजरूपेण श्री माताजी की एक उक्ति स्मरण में आ जाती है। उन्होंने कहा-

"We wish to show to the world that man can be a true survivor of the Divine"

इस कथन को दृष्टिगत रखकर मैं धृष्टता करके यह कहना चाहूँगा कि अभी तो मैं World की दृष्टि से बहुत-बहुत दूर हूँ।

साहित्य शब्द-निर्मिति है। शब्द ही साहित्यकार की सम्पदा है। ससार के सभी साहित्य-स्रष्टाओ ने 'शब्द' की प्रचुर मात्रा मे महिमा गायी है। मुझे इस 'शब्द' का परिचय है। अपने विगत अर्द्ध शती के लेखन-कार्य की कालावधि मे मैंने इस 'शब्द' को पूरी तरह समझने और पाने का प्रयत्न किया है। किन्तु मैं यहाँ यह कहना और स्वीकार करना चाहता हूँ कि मैं अद्यापि इस 'शब्द' को पा नहीं सका हूँ। इसकी उत्पत्ति कहाँ से होती है और किस प्रकार यह रचनाकार के चित्त में अनायास ही प्रकट हो जाता है- यह सब रहस्यमय है। अन्त मे में श्री अरविन्द की एक उक्ति के साथ उस रहस्यमय तत्त्व की स्तुति कर अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ-

"O Sun-Word! Thou shalt raise the earth-soul to Light
And bring down God into the lives of men!"

सच्चिदानन्द राउतराय

प्रशस्ति

भारतीय साहित्य को विशिष्ट योगदान के लिए श्री सच्चिदानन्द राउतराय को वर्ष १९८६ का ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पित किया जाता है।
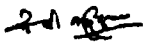
उडिया काव्य, आख्यान और साहित्य-समीक्षा, सभी क्षेत्रों में राउतराय जी का सार्थक योग रहा है। परतु विशेष रूप से उन्होंने एक कवि के रूप में समकालीन साहित्य-बोध पर एक गहरी छाप छोडी है और उदीयमान कवियों को अत्यधिक प्रभावित किया है।

'पाथेय' और 'पाडुलिपि' के माध्यम से उन्होंने उडिया साहित्य में नयी कविता और आधुनिक युग का सूत्रपात किया। यह प्रवृत्ति 'कविता १९६२' में सुदृढ हुई जिससे यह रचना शाश्वत मूल्य की मानी जाने लगी। इसके बाद के उनके सकलनों ने इस आधुनिकता को और भी गहनता से परिपुष्ट किया। आधुनिक उडिया काव्य के इस भगीरथ ने सहज ही यह दिखा दिया कि आलकारिकता और सगीतात्मक सम्मोहन से उन्मुक्त रहकर भी कविता, मात्र अपनी गरिमा और सहज सामर्थ्य से, पाठक की कल्पना को मोहित कर सकती है।

उनके काव्य मे एक प्रखर मानवतावाद और आध्यात्मिक उत्थान के प्रति उन्मुखता अन्तर्निहित है। मानवीय गरिमा और उन्मुक्त अभय उनकी कविता का मूलमत्र है। उनकी कविता वास्तव में एक ह्रासोन्मुख समाज-व्यवस्था के विरुद्ध मानवीय अधिकारों की निर्द्वन्द्व घोषणा है। एक अनूठे शैलीकार के रूप में अपनी काव्यात्मक अनुभूति को रग, ध्वनि और बिम्बों के माध्यम से पाठको तक सप्रेषित करने में वे सिद्धहस्त हैं।

निस्सदेह सची बाबू की गणना इस युग के सर्वाधिक प्रामाणिक कवियों में होती है। भौतिकता से आध्यात्मिकता तक सभी कुछ अपने कल्पना-लोक में समेटे, यह उनकी काव्य-दृष्टि की गरिमा ही है कि उसमें समस्त वैर-विरोध शान्ति में परिणत हो जाता है और अशिव शिव का रूप ले लेता है।

भारतीय ज्ञानपीठ की मगल कामना है कि डॉ सच्चिदानन्द राउतराय दीर्घ काल तक अपने सौम्य कृतित्व से साहित्य और मानवता की सेवा करते रहें।
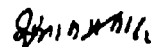
अध्यक्ष	प्रबन्ध न्यासी	अध्यक्ष
प्रवर परिषद	भारतीय ज्ञानपीठ	भारतीय ज्ञानपीठ

नई दिल्ली

२८-३-८८

सच्चिदानन्द राउतराय

सच्चिदानन्द राउतराय का जन्म १९१६ में हुआ। उन्होंने अपनी पहली कविता तब लिखी थी जब वह स्कूल मे ही पढ रहे थे। १९३२ में जब उनकी उम्र केवल सोलह साल की थी उनका पहला काव्य-सकलन प्रकाशित हुआ था। एक साल के बाद ही, १९३७ में काव्य नाटक के रूप में उनकी दूसरी कृति प्रकाशित हुई। तब से लेकर आज तक, उन्होंने विपुल लेखन कार्य किया है और अब तक उनके १८ काव्य-सकलन, ४ कहानी-सकलन, एक उपन्यास, एक काव्य नाटक, साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ और साहित्य के मूलों पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-पुस्तक प्रकाशित हैं। इन कृतियों के प्रकाशन के साथ उन्हे साहित्य-जगत् में पर्याप्त ख्याति भी मिली है। उन्हें पद्मश्री (१९६२), केन्दीय साहित्य अकादेमी पुरस्कार (१९६४), सोवियत भूमि पुरस्कार (१९६६) तथा आन्ध्र एव बहरामपुर विश्वविद्यालयों द्वारा डी लिट् की मानद उपाधियाँ (क्रमश वर्ष १९७७ तथा १९७८ में) प्रदान की गयी हैं। वे आल इण्डिया पोयट्'स कान्फ्रेंस (कलकत्ता, १९६८) तथा ओडिसा साहित्य अकादेमी (१९७८-१९८१) के अध्यक्ष पद पर भी सुशोभित रहे हैं। उन्होंने फिल्म सेंसर बोर्ड को भी अपनी सेवाएँ प्रदान की हैं तथा ओडिया भाषा की एक त्रैमासिक साहित्य-पत्रिका के सम्पादक हैं और म्यूजियम आफ ओडिसा आर्ट आबजेक्ट्स (ओडिया कलाकृतियों के सग्रहालय) के सस्थापक भी हैं।

राउतराय उस समय एकाएक काफी चर्चित हो गये जब १९३९ में उनकी लम्बी कविता 'बाजी राउत' प्रकाशित हुई। इस कविता की विषय-वस्तु उस ब्रिटिशराज के खिलाफ छेडे गये आन्दोलन के दौरान एक बारह वर्षीय नाविक बालक की शहादत से जुडी थी जिसे गोलियों से भून दिया गया था। यह लघु काव्य ओडिसा युवा-पीढी के लिए एक प्रेरक स्रोत बन गया। हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने १९४२ में 'बाजी राउत' समेत उनकी कुछ अन्य कविताओं का अँग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत किया जिससे श्री राउत की ख्याति ओडिसा के बाहर दूर-दूर तक फैल गयी।

दूसरी कृति, जिससे कि कवि राउतराय की प्रसिद्धि पर मुहर लग गयी वह थी 'पल्ली श्री' (१९४२) जिसमें ओडिया ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित उनकी कुछ विशिष्ट कविताएँ थीं। ग्रामीण जीवन की सहजता और सादगी से

समृद्ध ये कविताएँ आज भी इस विषय पर लिखी गयी श्रेष्ठ कविताएँ मानी जाती हैं। इन कविताओं के सकलन के साथ-साथ कुछ अन्य कविता पुस्तकों जिनमें 'अभिजान' और 'पाण्डुलिपि' प्रमुख हैं, राउत राय आधुनिक और प्रगतिशील ओडिया साहित्य के अग्रगण्य कवि के रूप में समादृत हो गये।

१९५५ में, कलकत्ता की एक प्रकाशन सस्था माडर्न रिव्यू प्रेस ने 'सची राउतराय ए पोयट आव द पीपुल' शीर्षक से एक पुस्तक का प्रकाशन किया, जिसमें हूमायूँ, कबीर, कालिदास नाग, सच्चिदानन्द वात्स्यायन और आर के श्रीनिवास आयगर जैसे सुप्रसिद्ध लेखको ने लेखन किया था। इस पुस्तक ने राउत राय को न केवल एक सर्व भारतीय पाठक-मच प्रदान किया बल्कि राउतराय के साथ 'जन कवि' विशेषण उनका नाम का पर्याय ही बन गया और जो आज तक उनके साथ जुडा हुआ है।

ओडिया कविता में राउतराय की प्रमुख उपलब्धियों में नयी काव्य-भाषा और मुहावरे की तलाश तथा आधुनिक सवेदना प्रदान करना कहा जा सकता है। आधुनिक ओडिया काव्य मे पहली बार इन्हें लक्ष्य किया गया। उनकी कृति 'पाण्डुलिपि' (१९४७) ओडिया साहित्य में नई कविता का नवोन्मेष जगाने वाली रचना थी जिसमे हम एकसाथ मुक्त छन्द, गद्य कविता और बोलचाल की भाषा का मिला-जुला रूप देख सकते हैं। इस सकलन मे उन्होने बडी विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी जिसे ओडिया की नई कविता का महत्त्वपूर्ण घोषणा पत्र स्वीकार किया गया। इसमे उन्होंने काव्यिक रीति के स्थान पर वाक् रीति की जोरदार वकालत की थी।

राउतराय साहित्य के बारे में, विशेषकर कविता के बारे में, समय-समय पर अपने काव्य-सकलनों मे प्राक्कथन मे अपने विचार व्यक्त करते रहे हैं। उन्होंने अपने एक काव्य-सकलन कविता (१९६२) में दो सौ पृष्ठों का परिशिष्ट भी जोडा, जिसमे कविता की भूमिका पर विस्तार से विचार किया है और जिसमे नयी पीढी के कवियों के लिए कई विचारणीय मुद्दे रखे गये थे। स्वय राउतराय उस पीढी के प्रमुख प्रवक्ता बन गए थे जिन्होंने इस पूरी एक नयी पीढी में प्रेरणा जगाई थी।

राउतराय ने अपनी कविताओं के रूप और न्याय मे ही प्रवर्तन नहीं किया बल्कि अपनी कविताओं की विषय वस्तु में भी निरन्तर वैविध्य परिवर्तन करते रहे। अपनी आरम्भिक कविताओं मे, जिसमें एक खास तरह की रुमानियत थी, वे यथार्थवाद और समाजवाद की ओर अग्रसर हुए। इसके बाद, उनकी परवर्ती रचनाओं मे मार्क्सवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। हालाँकि इस रुझान का आभास उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भी परिलक्षित किया जा सकता है। विशेषकर उनकी ग्राम सम्बन्धी कविता शृखला मे, जिसमे उन्होंने ग्रामीण जीवन के शान्तिपूर्ण एव अवसादपूर्ण गीत ही नही गाए बल्कि कृषि जीवन से सम्बन्धित यातनाओं एव यन्त्रणाओं को भी रेखाकित किया। विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने हिटलर, स्पेन, बर्लिन जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियो एव विषयों पर कविताएँ लिखी। इसके बहुत बाद तक बल्कि आज भी 'कोरिया', 'मुजीब-उर-रहमान' या याहूया खान जैसी कविताओ मे उनकी राजनीतिक समझ तथा समकालीन एव साम्प्रतिक घटनाओ के प्रति एक कवि की प्रतिक्रियाओ को बडी गहराई से महसूस किया जा सकता है।

राउतराय हमेशा सम्मान से भरी जिन्दगी और आजादी के लिए अपनी आवाज उठाते रहे हैं। उन्होने हमेशा उस समाज की स्थापना का आह्वान किया है जिसमे हर आदमी स्वतन्त्र और समान हो और जो पूरी गरिमा और आशा के साथ अपना जीवन बिता सके। उन्होंने समाज के आम लोगों के बारे में और उस निचले तबके के उन गरीब लोगो के बारे में भी लिखा है जो किरानी हैं, परचूनिये हैं, खेतिहर किसान या मजदूर हैं। लेकिन वे अपनी कविता को किसी नारे की शक्ल मे तब्दील नहीं करते, क्योंकि राउत राय प्राथमिक तौर पर एक

कवि हैं और अपनी कविता में जब कभी वे किसी उपलक्ष्य या उत्सव की बात कर रहे होते हैं तो किसी तात्कालिक या सतही स्थिति से परे उनकी पंक्तियाँ किसी गहरे भावबोध, मानवीय सोच और सरोकार उत्कृष्ट शिल्प और व्यजनापूर्ण सवेदना को अकित कर रही होती हैं। यहाँ तक कि साधारण और सर्वहारा वामपथियों और अतियथार्थवादी युक्तियों और नुस्खों को भी उनकी कविताओं में न केवल स्थान मिला है बल्कि उन्हें एक नये सौन्दर्य-बोध तथा काव्य शक्ति से मण्डित कर ससम्मान प्रतिष्ठित किया गया है।

अपनी एकान्त अनुभूतियो, भावनाओ की सूक्ष्म अन्विति और सामाजिक सरोकार से उन्होंने अपनी कविताओं में एक नई ऊर्जा प्रदान की है। नये बिम्बों एव रूपकों के विनियोग द्वारा उन्होने एक विशिष्ट और निजी शैली विकसित की है। राउत राय ने अपनी एक कविता में लिखा है–

"मैं मजदूरों का कवि
अपनी लेखनी को हाथ में हथियार की तरह
लेकर खडा हूँ
उस दिन का सपना अपनी आँखो में सँजोये
जो सच होगा
तब जबकि लोग अपनी शहादत से उठ खडे
होगे
आजादी का एक नया लाल सूरज पूरब से उगेगा
और मेरी कवि-लेखनी इन्सानो पर इन्सानो की
आस्था का एक नया अध्याय लिखेगी।"

राउतराय अपने गद्य लेखन के लिए भी, अपने पाठकों के बीच पूरी तरह प्रतिष्ठित हैं उन्होंने गद्य की विभिन्न विधाओ तथा उपन्यास, कहानियो और निबन्धों का प्रणयन किया है। उनकी ये तमाम कृतियाँ, उनकी साहित्यिक क्षमता की द्योतक हैं। उनका एक मात्र उपन्यास 'चित्रगीत' १९३६ में छपा था। तब वे कॉलेज के विद्यार्थी थे। यह उपन्यास आधुनिक ओडिया गद्य साहित्य के हरकारे के रूप में प्रतिष्ठित है। इसके द्वारा ओडिया साहित्य जगत में मार्क्सवाद और मनोविश्लेषनात्मक लेखन का प्रारम्भ हुआ। न केवल इसकी भाषा-शैली बल्कि इसकी प्राजल भाषा आज भी एक नयी गरिमा से मडित है। उपन्यास में वर्णित अचूक हास्य और तिलमिला देने वाले व्यग्य प्रसगों ने राउतराय को एक श्रेष्ठ व्यग्यकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। 'चित्रगीत' ने उस युग में व्याप्त रोमानियत या स्वछन्दतावाद और पलायनवाद के खिलाफ एक जबर्दस्त पहल की थी।

राउतराय की कहानियों में भी उनके व्यक्तित्व की विशेष छाप रहती है। उनसे पूर्व लिखी जाने वाली कहानियों की शैली और न्यास में जो इकहरापन रहता था उसे उन्होंने दूर किया। उनका गद्य लेखन भी विशिष्ट और आधुनिक समझा जाता रहा है क्योंकि वह पूर्ववर्ती गद्य से विलक्षण तौर पर अलग रहा है। उनकी कहानियों के चार खण्ड निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाशित हुए हैं

१ माटिर ताज (१९४७)
२ मसानिर फूला (१९४८)
३ छाय (१९४९)
४ मानक दा ओ अन्यान्य गल्पो (१९८३)

राउतराय ने ओडिया साहित्य में भी बडा महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया है। ओडिया साहित्येतिहास में विद्यमान कई तरह की धारणाओ और स्थापनाओं में अकित अनियमितता को रेखाकित किया है। भारतीय साहित्य में मूल्यों एव आदर्शों का विकास सम्बन्धी उनका शोधकार्य १९७२ में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने पूर्व वैदिक युग से लेकर रीति युग (सत्रहवीं शताब्दी ईसा तक) के काल पर चर्चा की। इसके दूसरे खण्ड मे, जिसमें सत्रहवी से लेकर उन्नीसवीं सदी तक की अवधि ली गई है प्रकाशन के लिए तैयार है। इसमें उन्होंने साहित्य के उद्‌भव और विकास के उन प्रस्थानों पर नया प्रकाश डाला है जो ऐतिहासिक एव भौतिकतावादी समाज में विद्यमान थे। ओडिया साहित्य के अध्ययन के इतिहास में यह एक नई शुरुआत है।

राउत राय ने १९३१ के आस-पास ओडिया साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा की बुनियाद डाली थी इसी वर्ष 'भगवान आछा काहिं' (भगवान तुम कहाँ हो) एक साहित्य पत्र में प्रकाशित हुई थी। इस बात का श्रेय राउतराय को ही दिया जाता है जिन्होंने १९३१ से १९३५ के दौरान समाजवादी और मार्क्सवादी विचारधाराओं को 'अपनी कविताओं और 'चित्रगीव' उपन्यास में सबसे पहली बार स्थान दिया।

राउतराय की सभी कविताओं में कवि की द्वन्द्वात्मक अन्तर्दृष्टि और प्रगतिशील प्रत्यय बोध या प्रतिबद्धता देखी जा सकती है। लेकिन इसके बावजूद अपनी रचनाओ में वे दूसरे कवियो के मुकाबले कुछ अलग प्रतीत होते हैं। इसी तरह अपनी कहानियों और अपने समालोचनात्मक निबन्धों में अपनी विशिष्ट पहचान पैदा करते हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने १९८५ में प्रकाशित अपनी नवीनतम कृति जिसका शीर्षक है 'आधुनिक साहित्यर केतेक दिगृ' मे प्रगतिशील साहित्य के बारे में लिखा है, वह उनकी विशिष्ट सोच से समृद्ध है।

लेकिन, दूसरी तरफ राउतराय के बारे मे हमेशा यही कहा जाता रहा कि एक प्रगतिशील लेखक होते हुए भी उन्होंने अपने को राजनीति से बचाये रखा। उन्होंने जान-बूझकर अपने को किसी राजनैतिक दल से अलग रखा और उन लोहे के पर्देवाले देशो की (Iron curtain countries) की भरपूर आलोचना की है जिन्होंने विभिन्न कलाओ और साहित्य पर अकुश लगाये या पहरा बिठाये रखा है। इस तथ्य को उन्होंने अपनी कविता-६२ की भूमिका मे रेखाकित किया है।

साहित्य को राउतराय की समग्र देन का आज तक पूरी तरह से मूल्याकन नहीं किया गया है। वे अपने बचपन से ही कविताएँ लिखते रहे हैं और पिछले साठ वर्षों के दौरान उन्होने कई किताबे लिखी हैं। केवल साहित्य के क्षेत्र मे ही नहीं, ओडिसा के घर-घर में उनका नाम बडा जाना-पहचाना है। इसके साथ ही, भारत के साहित्यिक परिदृश्य पर सुपरिचित हैं। यही नहीं, उनकी कविताओं ने राष्ट्रीय स्वतन्त्र्य-सग्राम के दौरान न केवल अपने राज्य के बल्कि, राज्य के बाहर के लोगों को भी प्रेरित-आन्दोलित किया।

एक प्रमुख प्रगतिशील कवि के रूप में राउत राय १९४२ में ही जाने जा चुके थे। उस समय उनकी उम्र केवल बाइस वर्ष की थी। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य था कि अपनी गद्य कविता के लेखन द्वारा ओडिया साहित्य में उन्होंने सच्ची आधुनिकता के बीज डाले थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया राउतराय 'कवियों के कवि' के रूप में प्रतिष्ठित होते चले गये। हालाँकि इसके साथ-साथ अपनी उन रचनाओं के लिए, जिनमें वे आम आदमी के सघर्ष स्वातन्त्र्य और सामाजिक न्याय को स्वर देते रहे, जनकवि के रूप में भी पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे। एक कवि-जन से 'कवियो के कवि' के रूप मे उन जैसे कवि व्यक्तित्व का यात्रा-प्रस्थान है, जिसे केवल राउतराय ही बडे सहजभाव से और अपनी कवि लेखनी द्वारा पूरा कर सके और इस विरल सम्मान के अधिकारी बने। उनकी लेखनी कई स्तरों पर रचनारत रही है। यही वजह है कि उनकी कविताओं में जीवन के कई भाव स्तरों और सवेदनाओ के दर्शन होते हैं। वे जीवन के किसी खास पडाव या निश्चित भावबोध के कवि नहीं। बहुत सम्भव है कि हम उनकी किसी एक कविता में रोमानियत या स्वच्छन्दतावादी और क्रान्तिकारी दोनो ही पक्ष को चरितार्थ होता देख लें। उन्होंने अपनी एक कविता में कहा है कि जब आप मेरी कविता पुस्तक पढ़ते हैं तो—आप किसी व्यक्ति ; हृदय का स्पर्श भी कर रहे होते हैं।

यह राउतराय के कवि-व्यक्तित्व का ही जादू था जिन्होंने साधारण से साधारण विषय वस्तु को अपने विशिष्ट कवि-कथ्य, मौलिक और अछूते बिम्ब तथा अवधारणात्मक दृष्टि प्रदान कर उसे वैश्विक और दार्शनिक भावस्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया। और फिर वह एक सामान्य वस्तु महान या असामान्य कविता हो गयी। उदाहरण के लिए,

उनकी 'हेयरपिन' (बालों की कील) कविता घर में एक खोये हुए एक साधारण हेयरपिन की खोज से शुरू होती है। यह तलाश बढ़ते-बढ़ते दूर अवस्थित किसी होटल, नदी के किनारे, समुद्रतट और फिर सुदूर व्याप्त अन्धकार तक ही नहीं चलती रहती है वह अतीत और वर्तमान में विद्यमान क्षणों को भी टोहती-टटोलती है। इसी तरह अपनी एक अन्य कविता 'लाल स्कूटर' का लाल वाहन अस्तित्व या आकारवान से अनस्तित्व की सापेक्ष इयत्ता से निरपेक्ष और निराकार सत्ता तक की यात्रा का महत्त्वपूर्ण निदर्शन है।

अपनी विपुल लेखन की साधना एव सर्जना द्वारा उन्होंने ओडिया साहित्य की समस्त विधाओं में अपनी रचनाधर्मिता की अमिट छाप छोडी है। साहित्य-समालोचना समेत गद्य एवं पद्य की सभी विधाओं तथा क्षेत्रों में राउतराय ने मूल्यवान योगदान किया है। वे आज भी सक्रिय हैं और उनका कोई भी पाठक या प्रशसक इस बात की आशा कर सकता है कि उनकी उर्वर-लेखनी के द्वारा आज भी कोई विशिष्ट कृति लिखी जा रही है और भविष्य में भी लिखी जाती रहेगी।

जगन्नाथ प्रसाद दास

कृतियाँ

अंग्रेजी में

द बोटमेन बॉय एड अदर पोइम्स हारीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय द्वारा अंग्रेजी में अनूदित (कलकत्ता, १९४२), द बोटमेन बॉय एड फोर्टी पोइम्स हारी दनाथ चट्टोपाध्याय तथा बी० सिंह द्वारा अनूदित (माडर्न रिव्यू प्रेस, कलकत्ता, १९५५), प्रेसिडेंश्यल एड्रेस अखिल भारतीय कवि सम्मेलन, प्रथम सत्र (कलकत्ता, १९८७), द शॉर्ट स्टोरीज ऑफ सची राउतराय (कलकत्ता, १९७२), उडीसा और भारत की कला, साहित्य और पुरातत्त्व पर शोध-पत्र। कविताएँ।

उडिया में

काव्य पाथेय (१९३२), पूर्णिमा (१९३३), पल्ली-श्री (१९४०), रक्त-शिखा (१९३९, प्रतिबन्धित), बाजी राउत (१९३२, ४२), अभिजान (१९३८), पाण्डुलिपि (१९४७), अभिजान (१९४८), हासान्त (१९४८), भनुमतीर देश (१९४९), स्वागत (१९५८), कविता १९६२ (केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत), कविता १९६९, एशियार स्वप्न (१९६९), कविता १९७१, कविता १९७४, कविता १९८३, कविता १९८५, मायकोवोस्की कविता संग्रह (१९६५, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार), कविता १९८६, कविता १९८७।

कहानियाँ और उपन्यास मसानीर फूला (१९४७), माटीर ताज (१९४७), छई (१९४८), चित्रग्रीवा (उपन्यास, १९३५), मान्कर्द तथा अन्यान्य गल्प (१९८३), नूतन गल्प (१९८७)।

समालोचना साहित्य-विचार और मूल्यबोध (१९७२), आधुनिक साहित्य (१९८३)।

शोधकार्य साहित्य मूल्यबोध (१९७४, साहित्य में मूल्यों के विकास का अध्ययन, प्राग्वैदिक युग से सत्रहवीं शती के मध्य तक, रीति युग), जयदेव, रामायण बनाम महाभारत, उत्तरा फाल्गुनी (आत्मकथा)।

संकलन

सची राउतराय ग्रन्थमाला, भाग-१ (कविता, १९६५), सची राउतराय ग्रन्थमाला, भाग-२ (गद्य, १९७५)।

सन्दर्भ ग्रन्थ

सची राउतराय एक जन-कवि (प्रस्तुति, १९५५), मॉडर्न रिव्यू प्रेस, कलकत्ता-९ द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ में प्रो० हुमायू कबीर, डॉ० कालिदास नाग, डॉ० के० आर० श्रीनिवास आयगार (आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति), डॉ० पी० के० पारीजा, प्रो० विश्वनाथ सत्यनारायण, डॉ० सज्जाद जहीर, हारीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, प्रो० गोपाल हलधर, प्रियरजन सेन आदि प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों क २२ लेखों में राउतराय की कृतियों के समीक्षात्मक मूल्याकन है, सची राउतराय अभिनन्दन ग्रन्थ (रूरकेला, १९८५), सची राउतराय एक कवि (समीक्षात्मक मूल्याकन, डॉ० के० सी० मिश्र द्वारा), पद्मश्री राउतराय (आर० सिंह द्वारा जीवनी, १९६९)।

अभिभाषण के अंश

डॉ राधाकृष्णन् के अनुसार, भारतीय साहित्य यद्यपि कई भाषाओं में लिखा जाता है, मगर उसकी आत्मा एक है। जैसा कि हम जानते हैं भारत बहुत से भाषाई क्षेत्रों में विभाजित है और इसके निवासी हमारे सविधान मे निर्दिष्ट सभी भाषाएँ बोलते हैं। प्रत्येक भाषा का अपना विशिष्ट साहित्य है। लेकिन इसके बावजूद प्रत्येक साहित्य में व्यक्त विचार, भाव और सवेदनाएँ समान हैं। समान मानवीय नियति की भावना तथा हमारी महान्-सास्कृतिक विरासत की जागरूकता इन समस्त साहित्यों में प्रवाहित होती है। पडित नेहरू ने इस स्थिति को और भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, भारत की समस्त भाषाओ की जडें तथा प्रेरणाएँ अधिकाँशत एक-सी हैं और जिस मानसिक परिवेश मे उनका विकास हुआ है, एक-सा ही है। भारत का प्रत्येक साहित्य-चाहे वह हिन्दी, उर्दू, तेलुगु, तमिल, मलयालम, गुजराती, मराठी अथवा बगला, उडिया या असमिया किसी भी भाषा मे हो, समग्र रूप से देश की वैचारिकता और सस्कृति का एक ही प्रकार से प्रतिनिधित्व करता है। इसके साथ-साथ हम सबने स्वातन्त्र्य पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल दोनों में ही, विदेशी शासन के अधीन तथा पश्चिमीकरण और उद्योगीकरण के प्रभावों के अन्तर्गत एक ही प्रकार के अनुभवों तथा स्थितियों में भागीदारी की है। अत भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य में सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामाजिक विषयवस्तु की दृष्टि से समानता पाई जाती है।

यह वास्तव में एक दयनीय स्थिति है कि हम भारत की, यहाँ तक कि अपने पडोसी राज्यों की, समृद्ध और प्रबुद्ध साहित्यिक कृतियों के विषय में बहुत कम जानते हैं , हालाँकि हम विदेशों यथा इग्लैंड, अमरीका आदि का साहित्य अग्रेजी मे फ्रास, जर्मनी, रूस, स्केंडी-नेवियाई देशों आदि का साहित्य अग्रेजी के माध्यम से प्रचुर मात्रा में पढते हैं। साहित्य समस्त भाषाई व्यवधानों से परे होता है और यह मनुष्य मात्र की समान विरासत है। हमारे देश के साहित्यिक समुदायों के बीच अभी भी भाषाई व्यवधानों ने सम्प्रेषणीयता की खाई पैदा कर रखी है। अत अब समय आ गया कि समस्त सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा भारत की प्रत्येक भाषा की महत्त्वपूर्ण कृतियों के अग्रेजी, और जहाँ सम्भव हो हिन्दी अनुवाद कराने के लिए कदम उठाये जाएँ ताकि उन्हे न केवल हमारे देश के पाठकवर्ग द्वारा अपितु दुनिया के अन्य देशों के पाठको द्वारा भी समझा और पसन्द किया जा सके और भारतीय साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना समुदाय स्थान और अपेक्षित मान्यता प्राप्त कर सके। नि सन्देह यह एक वास्तविकता है कि कोई भी साहित्यिक कृति, विशेषत कविता, अग्रेजी में अनुवाद किए जाने पर अपनी बहुत-सी गरिमा, शब्दों और मुहावरों का सूक्ष्मभेद और सम्बद्धता के साथ-साथ स्थानीय रग और लयात्मक आनन्द से दूर जा पडती है। लेकिन फिलहाल इसका कोई सक्षम विकल्प नहीं है। इसके साथ-साथ मेरा यह भी विश्वास है कि महान् कविता अनुवाद के बाद भी अपना बहुत कुछ बनाये रखती है। फिर कथा-कहानी और नाटक को तो बहुत कम नुकसान पहुँचता है। मैं अनुभव करता हूँ कि भारत सरकार और राज्य सरकारों द्वारा कोई ऐसी सरचना स्थापित की जाये जिससे भारत की विभिन्न ऐसी भाषाओं, जिन्हें सविधान द्वारा भारतीय भाषा के रूप में मान्यता मिल चुकी है, की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद अंग्रेजी में किये जायें तथा उनके प्रकाशन की

व्यवस्था भी की जाये, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन कृतियों को मान्यता मिलने का मार्ग प्रशस्त हो सके। इससे उन्हें मौजूदा भाषाई रुकावटों के बावजूद देश के भीतर भी व्यापक पाठ्क-वर्ग मिलने में सहायता मिल सकेगी।

यह सचमुच नियति की विडम्बना ही है कि कुछ ऐसे देशों की, जो भारतीय उपमहाद्वीप से क्षेत्र और जनसख्या दोनों में ही बहुत छोटे हैं, यथा चिली, आइसलैंड, नाइजीरिया आदि, साहित्यिक कृतियों ने पहले ही विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त कर ली है, जबकि भारतीय साहित्य की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। (उदाहरण के रूप मे मैं एक दृष्टात देना चाहूँगा। न्यूयार्क में बसे नोबल पुरस्कार विजेता श्री सिगर ने अपना कथा-साहित्य मूलत तेजी से समाप्त होती हुई बोली येड्डिश में लिखा है। येड्डिश पोलिश भाषा की एक बोली है, जिसे मुश्किल से बीस हजार लोग बोलते होंगे। लेकिन वह केवल अग्रेजी तथा फ्रैंच भाषाओं में अपनी कृतियों के अनुवाद के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय पाठ्क-वर्ग तक पहुँच गया है)।

हमारे देश में कोई लेखक आर्थिक दृष्टि से स्वय को सुरक्षित अनुभव नहीं कर पाता। यदि वह कवि है तो स्थिति और भी दयनीय है। कोई भी रचनाकार यदि स्वय को आज के लिए सुरक्षित अनुभव नहीं करता, और कल के लिए निश्चिन्त अनुभव नहीं करता, वह कोई स्थायी कृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। जैसा कि मैंने आज से लगभग सत्ताईस वर्ष पूर्व १९५५ मे, हार्वर्ड विश्वविद्यालय में कला और विज्ञान की अन्तर्राष्ट्रीय सगोष्ठी में कहा था कि भारत में साहित्य एक अच्छी सैर-छडी तो है मगर एक खराब बैसाखी भी। हालाँकि एक चौथाई शताब्दी से अधिक बीत चुकी है, लेकिन स्थिति में अभी भी कोई परिवर्तन नहीं आया है। भारत में कोई भी ईमानदार साहित्यकार विशेषत कवि स्वय अपनी पुस्तकों से प्राप्त रॉयल्टी मात्र से जीवित नहीं रह सकता। उसे या तो सरकार में अथवा व्यावसायिक या शैक्षणिक सस्थाओं में अपने जीवन-यापन तथा परिवार के भरण-पोषण के लिए काम करने को मजबूर होना पडता है। साहित्यिक क्रियाकलाप उसके लिए विश्राम के समय किये जाने वाले अतिरिक्त कार्य बन जाते हैं। इससे निरपवाद रूप से वह मुख्य धारा से कट जाता है। उसकी कृतियाँ व्यक्तिवादी अथवा गूढ हो जाती हैं। अन्तत वह अपनी कलम से जो कि तलवार से भी ज्यादा शक्तिशाली होती है, जीर्णशीर्ण सामाजिक स्थिति तथा इसकी मूल्य प्रणाली को बदलने के बजाय स्वय उन्हीं का पुलिन्दा मात्र बन कर रह जाता है। एक लेखक को स्वतन्त्र एव स्वच्छन्द जीवन जीने में समर्थ होना चाहिए। अत्यन्त प्राचीन सूक्ति है "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" जिसका अर्थ हुआ कि आविष्कार करते रहने के लिए व्यक्ति को लगातार जरूरतो और गरीबी से घिरा रहना चाहिए तथा इस सूक्ति को चार्ल्स डिकेन्स के समय में आधार मिला जबकि पूँजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था, मगर यह आज की चुनौती भरी स्थितियों के सन्दर्भ में कोई महत्त्व नहीं रखती। समाज तथा सरकार को, जोकि लेखक के ट्रस्टी और अगरक्षक हैं, लेखकों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि लेखक समाज के लिए लिखता है, अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों के लिए नहीं। आज की उक्ति होनी चाहिए "सुरक्षा आविष्कार की जननी है," न कि गरीबी और आवश्यकता। जब मैं उडीसा साहित्य अकादमी (१९७८-८१) का अध्यक्ष था, तब मैंने उडीसा के लेखकों, कलाकारों-यथा चित्रकारों, मूर्तिकारों, सगीतकारों, नर्तकों तथा अभिनेताओं और खिलाडियों को २००/-रु से ५००/-रु तक प्रति मास (जिसे असामान्य मूल्य-वृद्धि को देखते हुए बढाये जाने की आवश्यकता है) आजीवन पेंशन दिलाने का प्रयास किया था। मुझे प्रसन्नता है कि राज्य सरकार ने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार किया, जिसके परिणामस्वरूप इस समय लगभग ५०० लेखक, कलाकार तथा खिलाडी इस प्रकार की पेंशन प्राप्त कर रहे हैं।

यद्यपि मेरे लिए कविता ही सर्वप्रथम रही है।

मैंने साहित्य की अन्य विधाओं यथा कहानी, उपन्यास, काव्य, नाटक, आलोचना तथा शोध पर भी कलम चलाई है। मेरा विचार है कि प्रत्येक कवि अनजाने में ही एक समालोचक भी होता है, क्योंकि कविता लिखते समय उसे शब्दों का चयन तथा त्याग करना होता है, उन्हें सुसगत बनाना पडता है, सयोजन करना होता है, उन्हें रूपकों आदि में ढालना होता है। इसलिए इस अग्रेजी उक्ति पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि इग्लैंड का प्रत्येक महान् कवि यथा ड्राइडन, कार्लाइल, मैथ्यू आर्नाल्ड, इलियट आदि अपने समय के महत्त्वपूर्ण आलोचक भी थे।

अब मैं आधुनिक साहित्य पर आता हूँ। आधुनिकता अथवा आधुनिकतावाद परम्परा की तार्किक एव ऐतिहासिक परिणति है। यह कोई पृथक् अथवा प्रासगिक क्रिया नहीं है, जिसका सन्दर्भ केवल स्थायी हो। यह उस फैशनवाद में परिणत हो जाता है जो नये अथवा आधुनिक के लिए एक प्रकार की सनक होता है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों द्वारा की गई आधुनिकता की बहुत-सी परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। कुछ ने इसे विकासशील देशों में पाश्चात्यकरण, औद्योगीकरण भी, के समतुल्य माना है, क्योंकि इसकी जड विज्ञान और टेक्नोलोजी में होती हैं और इसी प्रकार इसे शहरीकरण के समकक्ष भी माना गया है। हालाँकि इन घटकों ने इनसे उभरने वाले आधुनिकतावाद और आधुनिक सवेदना पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। परन्तु आधुनिकता का निर्णय करने के लिए ये एक मात्र मानदण्ड नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हम किसी फासिस्ट समाज अथवा फासिस्ट साहित्य को इस तथ्य के कारण आधुनिक नहीं मान सकते कि नाजी जर्मनी औद्योगीकरण तथा शहरीकरण आदि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, क्योंकि यह साहित्य इतना क्रूर तथा नृशस था जितना कि पूर्व-औद्योगीकृत तथा पूर्व-शहरीकृत समाज। इसलिए केवल मानवता-वाद ही आधुनिकतावाद का सार तथा एक रचनात्मक घटक हो सकता है।

प्रत्येक युग अथवा समाज का अपना अनूठा विन्यास अथवा आकृति होती है जिसका अपना विशिष्ट धारणा सम्बन्धी ढाँचा होता है, मूल्यप्रणाली तथा सौन्दर्य, सवेदनाएँ होती हैं। किसी युग अथवा समाज की सस्कृति को सही समझने के लिए सस्कृति के इन तीन आयामों-परिज्ञानशीलता, नैतिकता और सौन्दर्यबोध-को उनके गतिशील सम्बन्ध तथा प्रतिक्रियाओं में पूर्ण रूप से समझने की आवश्यकता है। प्रत्येक समाज की एक सामाजिक-आर्थिक सरचना भी होती है। मार्क्स ने दर्शाया है कि सामाजिक-आर्थिक सरचना में समाज की सास्कृतिक आकृति यथा कला, साहित्य, दर्शन तथा नैतिक-शास्त्र आदि को प्रभावित किया है। हालाँकि कतिपय समाजशास्त्रियों ने दावा किया है कि सामाजिक कारण अत्यधिक सकुल हैं और मार्क्स की सरल और एकायामी दृष्टि को बहुआयामी दृष्टि द्वारा सशोधित किया जाना चाहिए, कोई भी व्यक्ति मार्क्स के विचारों में अन्तर्निहित सत्य के तत्त्वों से इनकार नहीं कर सकता। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया है कि सामाजिक आकृति केवल सामाजिक-आर्थिक विन्यास पर निर्मित बाह्य सरचना है। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि मार्क्स ने समाज के विचारों तथा मूल्य-प्रणालियों, यथा राष्ट्रीयता जिसने किसी समय कुछ देशों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, की लचीली भूमिका को कम करके आँका है। लेकिन इस बारे में कोई सन्देह नहीं है कि सामाजिक-आर्थिक सरचना अतत इस पर आधारित उत्पादन-सम्बन्धो और मूल्य-प्रणालियों को तथा समाज के कला सम्बन्धी प्रतिमानों को भी प्रभावित करती है।

प्रो ए जे ख्वाजा के अनुसार, पाश्चात्य आधुनिकता की मूलभूत मान्यताओं को, जो भारत में भी समान रूप से प्रचलित हैं, निम्नाकित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है

१ प्राकृतिक अथवा अन्त ब्रह्माण्ड कार्य-कारण भाव यह मान्यता आधुनिक धारणा

सम्बन्धी ढाँचे की बुनियाद है। इनमें निहित है कि प्रत्येक घटना में प्रणाली के बाहर की स्थितियों के बजाय घटनाओं की समग्र प्रणाली के भीतर स्थित कारण ही विद्यमान होता है और समग्र प्रणाली अपने स्थायी प्रतिमान के साथ अन्त सम्बद्ध ब्रस्माण्ड है। इस मान्यता का अन्तर्भाव यह है कि घटनाओं के कारणों को श्रृखलित समूह के परे, अथवा दूसरे शब्दों में अतिप्राकृतिक अथवा ब्राह्य ब्रस्माण्ड के श्रृखलित समूह के बजाय घटना-श्रृखलित समूह में देखा जाना होता है।

२ यह हमें उस अनुभवजन्य स्पष्टीकरण की दिशा में ले जाता है जिसकी माँग है कि प्राकृतिक कार्य-कारण भाव का सम्पूर्ण ज्ञान, जो कि सत्यापन आदि पर आधारित हो, आवश्यक है। (यह उल्लेखनीय है कि तत्त्वमीमासीय स्पष्टीकरण, जिसने जादू-टोने, मिथक तथा कर्मकाण्डों का स्थान लिया है, अनुभवजन्य स्पष्टीकरण द्वारा विस्थापित कर दिया गया है।

३ सार्वभौम विकास यह मान्यता प्रत्येक वस्तु के मध्य में परिवर्तनशीलता को रखती है और यह कि वास्तविकता एक गतिशील, जीवन्त और विकासशील ब्रस्माण्ड है, न कि दैवी इच्छा की तरग अथवा कोई सयोगात्मक उत्पाद।

४ सामाजिक कार्यकारण भाव यह धारणा केवल पिछली शताब्दी मे तेजी से सामने आई जिसके लिए कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक योगदान को सराहा जा सकता है।

५ सापेक्षता इस धारणा को बहुत व्यापक अर्थों में प्रयोग में लाया जा रहा है जिसमें प्रत्यक्षवाद तथा काण्ट के दृश्य-प्रपचवाद को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जो आइस्टीन की सापेक्षता की अवधारणा से किसी भी रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस अवधारणा में निहित है कि शुद्ध तर्क और गणित के अलावा, समस्त ज्ञान ज्ञानी से सम्बन्ध रखता है। इसलिए भौतिकशास्त्र के समान तत्त्वमीमासा समग्र वास्तविकता के लिए कोई अतिरिक्त सहायता प्रदान नहीं करती, क्योंकि वे उन विचारों तथा मान्यताओं के साथ परिचालित होते हैं जो मानवीय समझ से जुड़ी हैं।

६ आयामीय एकता यथार्थ पर्याप्त रूप से सकुल या जटिल होता है और कोई स्व-आयामीय विचार इसे समझ पाने में समर्थ नहीं होता। अत एक बहु-आयामीय दृष्टि आवश्यक है। वे भ्रान्ति अथवा कल्पनाशील सरलता के छद्म से बचना चाहते हैं तथा आशिक परिदृश्यता से मुक्ति की खोज करते हैं।

अब मैं आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में वर्णित उन सवेदनाओं की ओर आता हूँ जिन्होंने भारत के सम्पूर्ण साहित्य को प्रभावित किया है। हम उन्हें निम्नांकित रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं

(क) परलोक की परम्परागत पूर्वी सवेदनशीलता के प्रतिकूल जीवन के प्रति सकारात्मकता अथवा इहलोकवाद। यह फ्रॉयड के आनन्द सिद्धान्त से भी बहुत दूर हैं और आनन्द की खोज से इसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। (ख) धन-वैभव तथा धन-वैभव से होने वाला गहरा नैराश्य। (ग) मानवीय प्रेम तथा जन्म, धर्म, भाषा एव लिग आदि को महत्त्व दिए बगैर व्यक्ति की प्रतिष्ठा, सक्षेप मे मानवीय सत्ता अथवा ऐसे व्यक्ति के लिए आदरभाव। (घ) आध्यात्मिक स्वायत्तता। (ङ) बहुरूपी समानता जो कि राजनैतिक समानता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। (च) गतिशीलता (चूँकि यथार्थ 'अस्तित्व' की बजाए 'शोभनीय' होता है इसलिए कार्य की नैतिकता की माँग की गई है)।

आइए अब हम देखते हैं कि ये आधुनिक सवेदनाएँ पश्चिम और भारत दोनों के आधुनिक साहित्य में किस प्रकार अभिव्यक्ति पा सकी हैं, आधुनिक सवेदनाओ ने मनुष्य के भावात्मक व्यक्तित्व को परिवर्तित कर दिया है। उसने स्वय को न केवल प्रत्येक वस्तु से अलग कर दिया है, अपितु अपने आपसे भी अलग कर लिया है। आधुनिक साहित्य को सम्पूर्ण रूप से अकेलेपन और अलगाव की भावना से ग्रस रखा। इस अकेलेपन के लक्षण हैं- नैराश्य (धन-वैभव के मध्य नैराश्य) की

भावनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ, विकृति के अधिकाँशत जुड़ाव, हताशा, विद्रूप में आस्था, विरक्ति तथा सलप्त मानववाद जो मानवीय दूरावस्था को स्वीकार करने तथा व्यक्ति की स्वय की विकृतियों (आज की सामाजिक स्थितियों को देखने) से पैदा होते हैं, आधुनिक साहित्य में व्यापक रूप से वर्णित हुए हैं। जैसा कि प्रसिद्ध आलोचक एम एम दास ने कहा है- "शहरीकरण तथा उद्योगों के विकास, और युद्ध के विनाशकारी भयावह अनुभव इन आधुनिक सवेदनाओं के जन्म और विकास के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन शायद इसके प्रमुख कारण हैं तत्त्वमीमासा की विफलता तथा आस्था (जोकि साहित्य तथा कला की मुख्य प्रेरणास्रोत थी) का परिणामी सकट। इस सदी में तेजी से हुए नगरो तथा उद्योगो के विकास ने व्यक्ति की अनुपमता को नष्ट कर दिया, जिसे ग्रामीण जीवन ने सुरक्षित रखा था। आज के नगर-जीवन की तुलना मे जहाँ व्यक्तियों का विकास मानकीकृत प्रतिमानो से होता है, ग्राम्य-जीवन जिसमे अवकाश का सगीत विद्यमान था, व्यक्ति को प्रकृति के साथ तादात्म्य बनाये रखने के ज्यादा अवसर प्रदान करता था। नगरो के जीवन का निरन्तर परिवर्तित होता हुआ चरित्र भी अपनी जडों से अलग होने की बढ़ती हुई अनुभूति का एक कारण है। औद्योगीकरण व्यक्ति को अलग-थलग करने तक ही नहीं समाप्त हो गया है, अपितु विशेषज्ञता को प्रोत्साहित करके इसने उसके व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड कर दिया है। मनुष्य के चारों ओर सवादहीनता की दीवारें खडी हो गयी हैं, क्योंकि आज वे बाहर से प्राप्त होने वाले सन्दर्भ रहित सकेतों को भीतर एकजुट बनाये रखने में समर्थ नहीं रही हैं। वह बिना किसी स्मृति के और किसी भी स्थान से अपनी सम्बद्धता बनाये आवारा की तरह भटकता रहता है। आधुनिक कवि अपना उपहास किये जाने के भय से, भावुक होने से अस्वाभाविक रूप से कतराता है। अधिकतर आधुनिक कविता में प्रेम के प्रति एक ही वक्तव्य उपलब्ध नहीं है, क्योंकि जिस चीज को भावुकता अगीकार करती है, बौद्धिकता उसे नकार देती है। आक्रोशी होना सरल है क्योंकि आक्रोश की अभिव्यक्ति से किसी बात का जोखिम नहीं है जबकि प्रेम में सकारात्मकता, मूल्यों की भागीदारी तथा उस सब में आस्था निहित है जोकि जीवन से भी बडा होता है। प्रेम सनकवाद तथा अति-विवेकवाद के साथ जीवित नहीं रह सकता।

मनोविज्ञान (विशेषत फ्रॉयड और युग के मनोविश्लेषण) ने मनुष्य की असबद्धता को तीव्र करने में कोई छोटी भूमिका नहीं निभाई है। मनोविज्ञान ने विवेक के ऊपर अविवेक की सत्ता का सकेत करके उसके आत्मसम्मान तथा आत्मविश्वास को कम किया है। बहुत से लोगों के लिए मनोविज्ञान ने उस परिवेश को भी विषैला बनाया है, जहाँ कि वे रहते हैं। उसने मित्रो, परिवार के सदस्यों तथा स्वय अपने प्रति भी, उनके भीतर छिपे हुए प्रयोजनों के प्रति सन्देह पैदा कर दिया है। इसने न केवल आधुनिक जीवन में 'नायक' की मान्यता को कुचलकर रख दिया है अपितु अतीत में हुए किसी भी नायकत्व के प्रति हमारे भीतर सशय पैदा कर दिया है। ब्राउनिंग के बीसवीं शताब्दी सम्बन्धी अध्ययन ने उसे ओडिपस मनोग्रन्थि से ग्रस्त व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया है और इसलिए स्वय से भी अधिक वृद्ध महिला (श्रीमती ब्राउनिंग स्वय एक कवयित्री थीं) से विवाह करने को बाध्य किया गया है। आधुनिक नैराश्य बहुत से मामलों में समृद्धि से नैराश्य है। आधुनिक युग, जो कि बौद्धिक आधिपत्य के अधीन है, के पास अपनी कोई दृष्टि नहीं है, क्योंकि दृष्टि उन्हें प्राप्त होती है जो अपनी बुद्धि को अन्तर्ज्ञान अथवा सहज बोध के प्रति समर्पित करने में समर्थ होते हैं। ये समस्त सवेदनाएँ आधुनिक साहित्य में- कविता में, कथा-साहित्य में तथा ऊलजलूल नाटकों में- मुखरित होती है।

आधुनिक साहित्य विसगति और बेतुकेपन की दिशा में जा रहा है क्योंकि विज्ञान, जोकि विवेक-सगत का मुख्य आधार था, अब तार्किक रूप

से असम्भव घटनाओ की सभावना में विश्वास करता है। प्रसिद्ध आलोचक रिचर्ड को के अनुसार, सूक्ष्म भौतिकी सुझाती है कि ऊर्जा के कतिपय रूप तरग तथा कणों की परस्पर विरोधी विशेषताओ के साथ-साथ भागीदारी करते हैं। क्वाटम भौतिकी ने भी यह तथ्य प्रस्तुत किये हैं कि तार्किक रूप से असम्भव भी घटित हो सकता है तथा हुआ है। आणविक भौतिकी ने साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं जिनमें निहित है कि प्रभावो पर किसी आवश्यक कारण का होना जरूरी नही है तथा दृश्य घटना स्वय को कहीं से भी उत्पन्न कर सकती है, जबकि आइस्टीन एक झटके में यूक्लिड तथा समय एव स्थान की विवेक-सम्मत मान्यता को अमान्य ठहराते हुए दिखाई देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बेतुकेपन का अविवेक भी विवेकहीन नहीं है। यह किसी रहस्यवादी का अति-अविवेक नहीं। यह विवेकियो का अन्त विवेकी अविवेक है (वही)। इस प्रकार आधुनिक साहित्य में हम बौद्धिकता की अन्ध सन्धि के अन्त मे पहुँच गये हैं जिस पर मृत्यु की मोहर लग गई और चारों ओर दीवार खडी होना। बौद्धिकता मृत्यु से अधिक किसी अन्य सार्थकता तक नहीं पहुँच सकती। मृत्यु से परे जाने के लिए व्यक्ति को अन्तर्ज्ञान से होकर गुजरना होगा। इस विराट आधुनिक सभ्यता के साथ-साथ साहित्य मे भी मनुष्य स्वय अपनी बुद्धि के कारण शहीद बन चुका है। (मार्डन लिट्रेचर, एम एम दास।)

तथापि, औसत पाठक, यहाँ तक कि भारत मे उच्च शिक्षा-प्राप्त पाठक भी आधुनिक साहित्य को, विशेषकर आधुनिक कविता को नही समझते, इसलिए उसे पसन्द भी नहीं करते। सामान्य शिकायत यह है कि यह हृदय को प्रभावित नहीं करती यद्यपि इसमें कुछ सुन्दर विचार होते हैं। मेरे विचार से पाश्चात्य साहित्य में भी ऐसी ही स्थिति विद्यमान है, हालाँकि वह अपेक्षाकृत कम मात्रा में हैं। अमरिका तथा यूरोप के बहुत से प्रमुख कवि अब परम्परागत कविता तथा परम्परागत कथा-साहित्य और नाटक की ओर लौटने पर बल दे रहे हैं। अपनी पुस्तक 'सेन्सेज इन पोयट्री' में स्पैरो ने ये विचार व्यक्त किए हैं कि आधुनिक कविता १९वीं शताब्दी की मुख्य धारा की ओर लौट रही है। ईस्टमैन का सोचना कि आधुनिक कवि केवल पाठकों को ही धोखा नहीं देता, वह अपने आपको भी धोखा देता है। स्टीफन स्पैंडर का कहना है कि आधुनिक कविता ने इलियट और जॉयस द्वारा प्रस्तुत ओजस्वी आयामों के कुछेक अशों के अलावा कुल मिलाकर कोई महान कवि पैदा नहीं किया है। कार्ल सैप्पिरो मानते हैं कि आधुनिक कविता पाठक-वर्ग के लिए अधिक अस्पष्ट और दुरूह होती जा रही है। इससे और आगे जाने का अभिप्राय है अधिक विखण्डन, अधिक रूपहीनता तथा अस्पष्टता।

मैंने अपने जीवन के बहुत से वर्ष जन-आन्दोलनों में व्यतीत किये और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलनों, सामती राज्यो के जन-आन्दोलनों तथा छात्र और किसान आन्दोलनो मे सक्रिय रूप से भाग लिया। उस समय मेरी कुछ कविताएँ जब्त कर ली गई थीं लेकिन उन्होंने जनता के हृदय मे निश्चित ही अपनी गूँज पैदा कर दी थी। मैंने जनता से महान प्रेरणा प्राप्त की है, जो मेरे जीवन में चिर-स्मरणीय बनी रहेगी। मैंने रमणीय ग्रामीण दृश्यों को अकन करने वाली मधुर कविताएँ भी लिखी हैं और अपने ग्रामवासियो के सरल जीवन तथा जीवन से जुडे शान्त ग्रामीण प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण किया है। वे जनता के एक बहुत बडे वर्ग मे व्यापक रूप से लोकप्रिय थीं और उनमें से बहुत-सी रचनाएँ लोगों को याद हो गई थीं। मेरी आधुनिक कविताएँ प्रारम्भिक कविताओं की तुलना में लोकप्रिय नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष सवाद से बचा गया है और कविताएँ विषयनिष्ठ परस्पर सम्बन्धितों, बिम्बों, मिथकों तथा आद्य प्रारूपों और सवेदनाओं के एकीकरण तथा लयहीन श्रवण-सकेतों, लयात्मक प्रवाहों के माध्यम से स्वय बोलती हैं, क्योंकि लय और छन्द को गौण स्थान दिया गया है। मेरी आधुनिक कविताओं में

मौखिक स्वर को प्राथमिक महत्त्व दिया गया है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मेरी आधुनिक कविताएँ जो विभिन्न वादों यथा बिम्बवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद आदि के अन्तर्गत वर्गीकृत की गई हैं, औसत पाठकों का हृदयस्पर्श करने में असमर्थ रही हैं, हालाँकि उनमें से अधिकांश लोग शिक्षित उच्च मध्यवर्ग के हैं, जिनसे आशा की जाती है कि वे पश्चिमी देशों के आधुनिक साहित्य और साहित्यिक आन्दोलनों से परिचित होंगे।

वर्तमान युग कला और साहित्य के विकास के लिए पूर्णतः प्रतिकूल है क्योंकि यह विरोधाभासों और परस्पर-विरोधों से भरपूर चित्र प्रस्तुत करता है। हर कहीं भ्रष्टाचार और शोषण की शक्तियों का बोलबाला है और नैतिक मूल्यों तथा शैक्षणिक पाठ्यक्रम, साहित्य तथा अन्य जीवनदायी मन-शक्तियों, यथा-दर्शन, इतिहास तथा सामाजिक विज्ञानों, जिनका तीव्रता से ह्रास हो रहा है, को भयंकर खतरे से बचाया जाना चाहिए, अन्यथा इससे राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ सकती है। भाषा और धर्म, जोकि राष्ट्र के एकीकरण के शक्तिशाली घटक थे, अब राष्ट्र को खण्ड-खण्ड करने तथा अव्यवस्था फैलाने के हथियारों के रूप में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। इस संदर्भ में साहित्य को एक सार्थक भूमिका अदा करनी है, जिससे राष्ट्रीय एकता को मजबूत किया जा सके और उन पतनोन्मुख सामाजिक स्थितियों को, जिन्होंने अपनी उपयोगिता समाप्त कर दी है, पूर्णतः बदला जा सके। कवियों और लेखकों को आत्मा का अभियन्ता कहा जाता है। वे हमारे सपनों के नए भारत का निर्माण करने में निश्चय ही बहुत बड़ा योगदान कर सकते हैं।
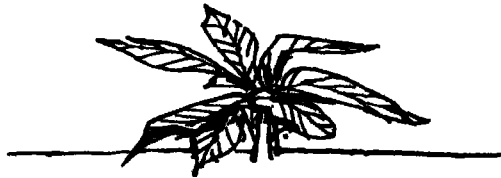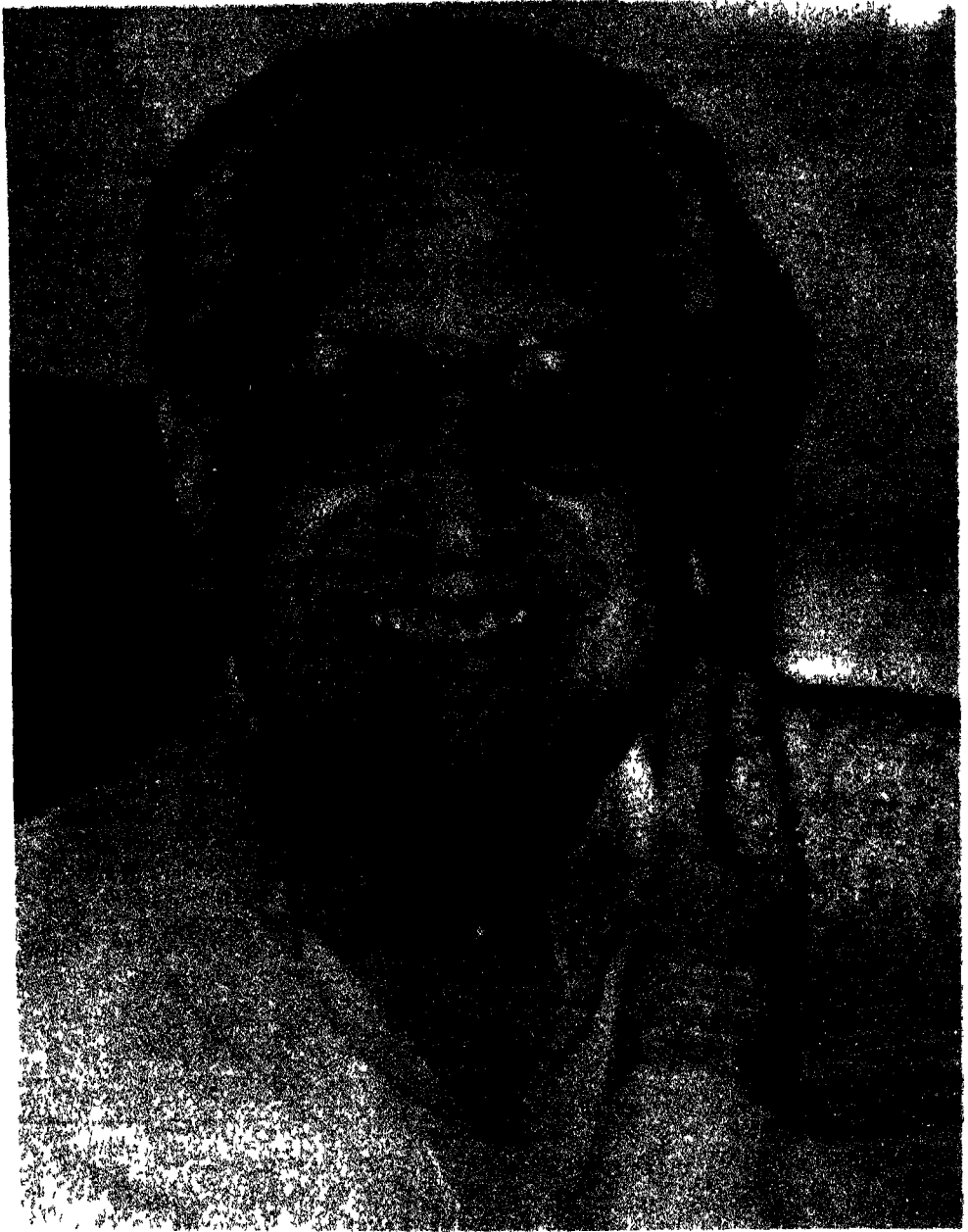
विष्णु वामन शिरवाडकर
'कुसुमाग्रज'

प्रशस्ति

भारतीय साहित्य को १९६७ से १९८१ की अवधि में विशिष्ट एव सक्रिय योगदान के लिए वर्ष १९८७ का ज्ञानपीठ पुरस्कार श्री विष्णु वामन शिरवाडकर को समर्पित किया जाता है। मराठी काव्य और नाटक को, 'कुसुमाग्रज' के नाम से लोकप्रिय, शिरवाडकर की देन अमूल्य है। तथापि उन्होंने प्रमुखत एक कवि के रूप में समसामयिक साहित्यिक परिदृश्य पर गहरी छाप छोडी है। 'जीवन लहरी' (१९३३) से 'मुक्तायन' (१९८४) तक उनकी काव्य-यात्रा अत्यधिक भव्य रही है।
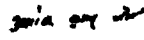
चिंतन के क्षेत्र की ऊचाइयों तक पहुचती प्रकृति और प्रणय के ऐन्द्रिय पक्षों की सूक्ष्म चेतना के धनी कुसुमाग्रज सामाजिक जीवन में अन्याय, असमानता तथा अत्याचार से उपजते द्वन्द्व का चित्रण भी करते हैं। उनका प्रेरणादायक आदर्शवाद जीवन के अन्धकारमय तथा विद्रूप पक्ष की अवहेलना नहीं करता। परन्तु वह इस अन्धकार को विजित करनेवाली मानव-शक्ति के प्रति तीव्रतापूर्वक सचेत हैं। अत उनका काव्य गीतात्मक तथा विचारात्मक दोनों ही है। कुसुमाग्रज की कविता को विशिष्टता-मडित करने वाली बहुमुखी कल्पना अमूर्त को रूप प्रदान करती है, असीम को सीमाओं में खींच लाती है और राग-दीप्त बिम्ब रचती है। और यह असामान्य कल्पना स्वय एक ऐसी शैली एव भाषा में ढली है जिसमें क्लासिकी सस्कृत की महिमा तथा गरिमा विद्यमान हैं।

यह गहन कविता शिरवाडकर के नाटकों में भी व्याप्त है। अकेला 'नटसम्राट' ही उन्हें खाडिलकर तथा गडकरी जैसे महान नाटककारों की परम्परा में रखने के लिए पर्याप्त है। उनके नाटकों के केन्द्र में सामान्यत बाजीराव, झासी की रानी, ययाति, बेलवलकर आदि जैसा कोई एक सशक्त व्यक्तित्व होता है जो नियति तथा परिस्थितियों से सघर्ष करता है। शिरवाडकर में इस सघर्ष की एक अद्वितीय तदनुभूति है तथा वह उसे समृद्ध कविता, उच्च भावावेग तथा प्रबल नाटक से रग देते हैं।
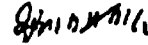
भारतीय ज्ञानपीठ की मगल कामना है कि शिरवाडकर दीर्घायु हों तथा इसी प्रकार साहित्य और मानवता की सेवा करते रहें।

अध्यक्ष	प्रबन्ध न्यासी	अध्यक्ष
प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ	भारतीय ज्ञानपीठ

बम्बई
दिनांक ११ ३ १९८९

विष्णु वामन शिरवाडकर 'कुसुमाग्रज'

पिछले पचास वर्षों से महाराष्ट्र के काव्य-प्रेमी रसिकों ने कुसुमाग्रज को उत्कट रूप में प्यार किया है। अपने प्रान्त के एक सास्कृतिक देवता के रूप में तथा श्रेष्ठ कलाओं और जीवन-मूल्यों का मुखर आविष्कर्ता मानकर उन्होने कुसुमाग्रज की ओर देखा। मराठी साहित्य के क्षेत्र में आज श्रेष्ठ कथाकार, नाटककार, कवि तथा ललित निबन्धकार विद्यमान हैं। लेकिन रसिकों की राय में उन सबमें कुसुमाग्रज "ग्रेटर देन द ग्रेटेस्ट" हैं। पिछले पचास वर्षों में शिक्षितों एव सहृदयों को अपने एव समाज के सुख-दुख के बारे में जो कुछ भी बार-बार एहसास हुआ है, प्रतिभा से समृद्ध वह उद्‌गार उन्होंने इस कविश्रेष्ठ के शब्दों में सुना है। इसलिए वह जनप्रिय साहित्यकार तो हैं ही, साथ ही जन्मजात प्रतिभा की अपूर्व देन के कारण वह एक अलौकिक व्यक्ति भी हैं।

अर्धशती से भी पहले १९३३ में, अपनी फटी हुई जेब से पचास रुपये खर्च करके कुसुमाग्रज ने अपना पहला काव्य-सग्रह 'जीवन लहरी' प्रकाशित किया था, और उसके बाद किसी प्रकार की नौकरी न करते हुए एक लेखक की हैसियत से उन्होंने पाँच दशक की यात्रा पूरी की है। आज वे पचहत्तर को पार कर चुके हैं। दो वर्ष पहले १९८८ में प्रकाशित "कागज" नामक कविता में अपनी यात्रा के सम्बन्ध में कुसुमाग्रज ने लिखा है—

सयाने जीवन में
सर्वाधिक खोज की
कोरे कागज की
वर्षों वर्षों तक
जहाँ भी गया वहाँ
कागज का साथ
अस्मिता के रग/सोखने के लिए

प्राणान्तक प्रयास
सूझा हुआ, सचित,
जाना हुआ, जिलाने वाला
उसी पर अकित करने का

आशा का आकाश
सत्य की जमीन
उस पर आँकने का
मिट्टी की आँखें
नक्षत्रों के आदेश
कोरे पर खोदने का

उन्होंने गूंथे/सिरोपे में तुर्रे
निन्दा के अंगार/ भी उन्हीं के/
कीर्ति के रास्ते भी/कागज के माध्यम से/
शून्य को सात्वना/कागजों की
ऐसा यह ऋण कागजों का मुझ पर
जीने को त्योहार उन्होंने बनाया

सत्य एव सौन्दर्य के सन्दर्भ में मानवीय जीवन का आकलन करने की इच्छा करने वाले कवि के युवा मन का भावनात्मक चिन्तन कुसुमाग्रज के काव्य 'जीवन लहरी' में प्रकट हुआ। १९३९-४० के बाद राष्ट्र का स्वातन्त्र्य सघर्ष जैसे-जैसे उग्र बनता गया वैसे-वैसे उनकी कविता अनेक उग्र, गम्भीर एव भव्योदात्त अनुभवों का सामना करने लगी। उसके बाद प्रकाशित 'विशाखा' से 'छदोमयी' तक के बारह काव्य-सग्रह आशय एव अभिव्यक्ति के विविध रूप प्रकट करते हैं। कवि के अनुभवों में परिवर्तन होने पर उसके व्यक्तित्व एव अभिव्यक्ति में परिवर्तन निश्चित है। यथार्थ एव स्वप्न, भोग एव त्याग अशाश्वत एव शाश्वत के बीच कुसुमग्राज को—आन्तरिक एव बाह्य—समग्र रूप में प्रकट हुआ है उनके १९४२ मे प्रकाशित 'विशाखा' नामक काव्य-सग्रह मे। 'विशाखा' का प्रकाशन समस्त मराठी-काव्य के प्रवाह को एक नया सौन्दर्यपूर्ण मोड देने में समर्थ हुआ। उस आशय एव अभिव्यक्ति के निरालेपन को मदहोश वृत्ति से रसिकों ने अपनाया। इस काव्य-सग्रह का प्रकाशन अपने खर्च से स्वर्गीय वि स खाडेकर (वर्ष १९७४ के ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता) ने किया था। अखिल भारतीय स्तर पर ख्याति-प्राप्त एक महान लेखक श्री पु ल देशपाडे ने 'विशाखा' के बारे में 'कुसुमाग्रज गौरव-ग्रन्थ' (१९७०) में जो लिखा वह प्रातिनिधिक कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—"मुझे मेरा जन्म-नक्षत्र नहीं मालूम, लेकिन मेरी तरुणाई का जन्म हुआ कुसुमाग्रज द्वारा मराठी के साहित्याकाश में छोडे हुए 'विशाखा' नक्षत्र पर। उस काल में मैंने प्रेम किया 'विशाखा' की पक्तियों से प्रणयपत्रों को सजाते हुए। मन के आवेश में त्वरा को कुसुमाग्रज की इन पक्तियों से वाणी मिली, "अश्रु क्यों बहाती हो माँ, उज्ज्वल है तेरा भावी काल/रात्रि के इस गर्भ में प्रच्छन्न है कल का उषाकाल।" गडकरी, बालकवि तथा केशवसुत, इन तीन कविश्रेष्ठों के सस्कारों का सौष्ठव ग्रहण करने वाली, परन्तु १९३५-४२ के कालखड में युवा मानस के नये सस्कारों को सोख कर लिखी हुई यह कविता थी। आसपास की परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि माधुर्य के अलावा ऐसा कुछ चाहिए था जो शिराओं को झनझनाए और बेहोश करे। गले में हाथ डालने वाली प्रेयसी तो चाहिए ही थी लेकिन उसके हाथ शृखला नहीं बनने चाहिए थे। ऐसे समय कुसुमाग्रज की कविता प्रकाशित हुई 'स्वप्नाची समाप्ति'। यह कवि रात्रि के इस गर्भ में प्रच्छन्न कल का उषाकाल देख रहा था और उस काल का वैतालिक बनकर उपस्थित था। कुसुमाग्रज की कविता ने स्वप्न की समाप्ति तो दर्शायी, लेकिन जीवन के स्वप्नों का मूल्य कम नहीं किया कुसुमाग्रज की प्रतिभा को उस समय के समीक्षकों ने असुरसहारिणी दुर्गा के रूप में ही देखा।

"वस्तुत वह उमा की तरह विविधरूपधारिणी है। उसे क्रान्तिकारियों द्वारा किये सर्वस्व के होम की तरह ही, "घर के दीये की मन्द जलने वाली बाती" का भी आकर्षण है। आज भी अचानक कुसुमाग्रज की कविता मिलती है तो हम जैसों की आन्तरिक अग्नि क्षणभर के लिए प्रज्वलित हो जाती है।"

श्री पु ल देशपाडे के उक्त अभिमत से मराठी के आज के अनेक नये-पुराने विख्यात कवि एव रसिक सहमत होंगे क्योंकि 'विशाखा' काव्य-सग्रह उन्हें जबानी याद होगा। कुसुमाग्रज की प्रभावित करने वाली काव्य पक्तियाँ उनके दैनदिन भाषिक व्यवहार में मुहावरों की तरह रुढ हो गयी हैं। 'विशाखा' मे समाविष्ट 'कोलबसाचे गर्वगीं' कविता के अन्त में, पालों की नौका को प्रक्षुब्ध सागर में ढकेलकर दुनिया को जीतने के लिए उद्यत होकर निकला हुआ कोलबस अपने सामने फैले हुए

असीम सागर को पागल कहकर उसका तिरस्कार करता है। वह अपने नाविक साथियों से कहता है, "चलो, उभारो शुभ्र पाल वह सगर्व सागर पर/अनन्त ध्येयासक्ति हमारी, अनन्त है आशा/किनारा तुम्ह पामर को, पागल।" परिस्थिति के साथ सघर्ष करने वाले व्यक्तियों के दुर्दम्य सामर्थ्य को विश्वास व्यक्त करने के लिए ये पक्तियाँ अगर रसिकों के ओठों पर विराजमान रहीं तो उसमें आश्चर्य ही क्या? आज समूचे महाराष्ट्र में अलग-अलग सन्दर्भ में कुसुमाग्रज की 'विशाखा' कविता उल्लिखित होती है। उसमें समाविष्ट 'गर्जा जय-जयकार' नामक कविता पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही प्रकाशित हुआ है।

जिस तरह कुसुमाग्रज अपनी राजनैतिक एव सामाजिक कविता के कारण ख्याति प्राप्त कर गए उसी प्रकार उनकी प्रेम और प्रकृति सम्बन्धी कविता भी बहुत चर्चित रही है। इस प्रकार की उनकी कविता 'विशाखा' में सीमित ही है। लेकिन उन कविताओं का सम्मोहक प्रभाव रसिक मन पर गहराई से अंकित हुआ। 'विशाखा' की इस तरह की लोकप्रिय कविताओं में प्रमुख कविता है 'स्वप्न का समापन' जिसमें प्रेमी और प्रेयसी के विरह की भावना व्यक्त की गयी है। उसी तरह 'पृथ्वी का प्रेम गीत'। पृथ्वी को मालुम है कि सूर्य के साथ उसका मिलन असम्भव है लेकिन वह अन्यों का प्रेम तुच्छ मानकर सूर्य की कक्षा में ही भ्रमण करना स्वीकार करती है। शहर के विलासमय वातावरण में रहते हुए गाँव के अतीत के प्रेमी की स्मृतियों से व्याकुल करने वाली कविता 'स्मृति' उसी तरह शाम को किनारे पर भेंट होने के बावजूद जीवन के सुखदुखमय स्वरूप के कारण मन में कचोट उत्पन्न करने वाली कविता है 'किनारे पर'। इन कविताओं की मधुरिमा उत्कट और टिकाऊ है।

इन प्रेम कविताओं में उनका अपना खास वैशिष्ट्य है। इनकी भावना, विरह, मिलन, स्मृतियों से बिद्ध होने वाली अथवा समर्पण की या किसी प्रकार की हो, वह उत्कटतापूर्वक व्यक्त होती है। इसका कारण अनुभव के नाट्य को ढंग से पकड़कर कविता में उसे अचूक रूप देकर कुसुमाग्रज व्यक्त करते हैं। अनुभव एव भावना की हर एक छटा को व्यक्त करते हुए विलक्षण सुन्दर और समुचित बिम्बों के माध्यम से उस अनुभव की बुनावट होती रहती है। कविता में आने वाला प्रकृति का वातावरण या सकेत कविता के साथ ऐसे एकमेक हो जाते हैं कि एक ओर प्रकृति-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। और उस प्रकृति में से ही उस भावना की सशक्त अभिव्यक्ति होती रहती है। 'स्वप्न का समापन"—एव 'पृथ्वी का प्रेम गीत', ये बहुचर्चित कविताए इसके उदाहृत करती हैं। 'स्वप्न का समापन' में दोनों के मिलने के स्वप्न की समाप्ति बताने वाला दुखद अनुभव है। रात समाप्त होते-होते भोर के समय दोनों को एक-दूसरे से विदा होना है। उस रात की चाँदनी की मधुरिमा पीकर और आने वाले भोर से दहशत खाकर कुसुमाग्रज ने पक्तियाँ लिखी हैं—"उठा सखी, कठ घेरे, चाँदनी की अपनी बाँहें क्षितिज पार दिवस—दूत देखो आकर खडे रहे।" आकर्षण और भय के बीच का तनाव कायम रखते हुए आगे की पक्तियों में उस समूची घटना को रग और रूप प्राप्त करा दिया गया है, और सौन्दर्य भी। प्रकृति का वातावरण सुन्दर है। परन्तु वह विरह की भावना को अलग-अलग ढग से तीव्र करता रहा है। स्नेहहीन ज्योति की तरह मन्द पडने वाला शुक्र तारा, स्वप्न की तरह तिरोहित होने वाला एक-एक सितारा, हरसिंगार के पैरों तेल बिखरे हुए फूल और वायु पर फैलने वाली उनकी साँसें—इस प्रकार हर तरह के वर्णन में भावोत्कटता उत्पन्न हुई है और कविता के सौन्दर्य में चार चाँद लग गए हैं। कुसुमाग्रज की कविता-शक्ति से निर्मित इस कविता के बिम्ब इतने नये और सटीक हैं कि उनसे पाठकों को उनकी प्रेम-भावना की नयी प्रतीति मिलती है। इस भावना के उत्कर्ष के बिन्दु पर "उठा सखी कठ घेरे चाँदनी की अपनी बाँहें" इत्यादि पक्तियाँ ऐसे मोड़ पर आती हैं कि विरह की कल्पना का एक भयावह धक्का-सा मन में पुन-पुन लग जाता है। अन्तिम

छन्द में इस पंक्ति की पुनरावृत्ति को निकालकर एक अलग-सा धक्का कुसुमाग्रज पाठकों को देते हैं। यह पंक्ति पुन नहीं आती, इसका ध्वन्यार्थ यह है कि उसने गले से हाथ निकाल दिए हैं और उन दोनों ने एक-दूसरे से विदा ली है। कलात्मक सयम और सकेत से भावोत्कटता को बढाने का कौशल, इन दोनों की प्रतीती यहाँ होती है।

'पृथ्वी का प्रेम गीत' का ठाठ ही अलग है। प्रेमी के प्रति जबरदस्त आकर्षण, अटल रूप में उसकी कक्षा में घूमते रहने की बाध्यता परन्तु मिलन की सम्भावना न होना और बिना उस प्रेम के जिया भी नहीं जा सकता ऐसी कुछ मानसिकता, इसके कारण नाट्यात्मक परिस्थिति उत्पन्न होती है। अन्तराल में भ्रमण करने वाले चन्द, शुक्र, मगल, धूमकेतु का उपयोग कुसुमाग्रज जी ने बहुत कल्पनापूर्वक एव सौन्दर्यपूर्ण ढग से कर लिया है। इन ग्रह-तारकों के रूप-रग को कवि ने अपनी प्रतिभा के द्वारा अलग-अलग भावनात्मकता प्रदान की है। और हर एक को अलग अलग व्यक्तित्व भी प्राप्त करा दिया है। यहाँ का चन्द्र, सूर्य के दिव्य एव तेजस्वी कणों को बीनकर एव उन कणों से आलोकित होकर पृथ्वी को मोहित करने वाला है। मगल लज्जाशील है। शुक्र, प्रेमल है। ध्रुव निराश होकर सन्यस्त बन गया है और धूमकेतु पागल की भाँति बाल बिखेरकर पृथ्वी की मनुहार कर रहा है। इतने सुन्दर प्रेमिको के होते हुए भी पृथ्वी उनको 'जुगनू' कहकर धिक्कारती है और कहती है—"न लूगी मैं ओछा प्रणय दुर्बलों का भले मुझको अन्तर पडे चाहे सहना।"—वह चिर विरह में भ्रमण को श्रेयस्कर मानती है। कुसुमाग्रज ने इस कविता में आदर्श प्रेम का एक नया मिथक ही तैयार किया है। परिणामत इस तरह के नाट्य, उत्कटता और सौन्दर्य के कारण 'विशाखा' की प्रेम-कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुईं।

'विशाखा' के बाद भी कुसुमाग्रज की कविता में 'मानवता' शब्द से 'मनुष्यता' पर बल अधिक है। 'हम सब मानव हैं' इस वाक्य में जो आस्वान है वह इस विचार को है कि हम सब समान हैं। लेकिन 'मनुष्यता' मे जो आह्वान है वह आतरिक आर्द्रता को, समझदारी को, अतडी में लगाव को ही है। इसी भावना की एक किनार प्रेम की है। उसी को कुसुमाग्रज 'प्रेमयोग' कहते हैं। 'प्रेम मनुष्य की सस्कृति का साराश है, इतिहास का निष्कर्ष है और भविष्य को अभ्युदय की एकमात्र आशा है।" 'प्रेमयोग' एक जीवनदृष्टि है। जब कुसुमाग्रज लिखते हैं—"जिसको बचाना है उसको प्यार किया ही जाय, लेकिन जिसको मारना है उसको भी प्यार किया जाए" तब वह यह कहना चाहते हैं कि मानवीय व्यवहार की नींव सहानुभूति और आत्मीयता होनी चाहिए। मनुष्यता की कुछ निराली छटा और सस्कृति की परिपक्व अवस्था इस 'प्रेमयोगी' के आधार से स्पष्ट होती है। मानवता शब्द से निकलकर उसके पेट मे घुसते हुए उसके अर्थ की एक-एक छटा पहचानते हुए मनुष्य—मनुष्यता—प्रेम—प्रेमयोग, इस व्यापक भूमिका तक कुसुमाग्रज के मानव-प्रेम का विकास होता दिखता है।

"विशाखा" के विलक्षण उज्जवल यश के बाद कुसुमाग्रज ने एक ही तरह की ज्वलत एव सकोमल कविता नहीं लिखी। 'स्वगत' (१९६२) से उनका भावविश्व कभी अभिजात काव्यात्मकता से अथवा कभी नुकीले कटाक्ष से प्रकट होता रहा। यहा से समाज की तीव्र असगतियो के कारण उत्पन्न वेदना से व्यथित कुसुमाग्रज ने छदो से मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक सामाजिक प्रतिबद्धता सीधी शैली में प्रकट करना शुरू किया। इस यात्रा मे जीवन की शोकातिका की उनकी सवेदना अधिक गहन हुई। लेकिन उन्होंने कभी उदात्तता, मागल्य, त्याग और सौंदर्य का पक्ष नही छोडा। धरती की मिट्टी के प्रति उनकी निष्ठा तथा आकाश का अबाध आकर्षण—इनके बीच उनकी कविता में सघर्ष नहीं हुआ। बल्कि उनका उत्कट दार्शनिकता से ओत-प्रोत शोकात्मक आशावाद इस यात्रा में प्रकट होता रहा।

दो अलग-अलग जगहों से निकलकर दो यात्री

एकत्र हो जाएँ, उस तरह कुसुमाग्रज की सामाजिक प्रेम की कविता मानवता—मनुष्यता—प्रेम तक पहुची है और उनकी आत्मपरक प्रेम कविता भी 'प्रेमयोग' के विकसित विचार तक पहुची है। दो व्यक्तियों को मन से एकत्र बाधने वाला सूत्र और समाज-घटकों को एकत्र बाधने वाला सूत्र अनेक अर्थ-छटाओ से समृद्ध 'आत्मीयता का भाव' ही है। जिस कृष्ण ने कर्मयोग एव भक्तियोग बताया उसी के मुँह से कुसुमाग्रज ने 'प्रेमयोग' की यह कल्पना कहलवायी है। अत उसे उच्च जीवन-दृष्टि का अधिष्ठान प्राप्त हुआ है।

'छदोमयी' नामक इधर के काव्य-सग्रह (१९८२) मे कुसुमाग्रज कहते हैं 'ओतप्रोत भीगता हूँ'/भीगते-भीगते मिट्टी मे पुन एक बार अकुरता हूँ।'

कुसुमाग्रज की कविता मिट्टी, समुद्र, आकाश, प्रकाश, अग्नि, वायु इत्यादि के विविध विलास का एक अनोखा भान निर्मित कर गई। इन सबका उपयोजन कभी पार्श्वभूमि के रूप मे, कभी प्रकृति-चित्रण के रूप में अथवा बिम्ब-सृष्टि के घटक के रूप मे ध्रुवावतरण-निर्माण के लिए होता है। पचमहाभूतों के अस्तित्व का, उनकी विलासक्रिया का सकेतपूर्ण सस्कार मन पर करके कुसुमाग्रज की कविता ने काव्य को भव्यता प्राप्त करा दी है।

वाङ्मयगीन दृष्टि से विचार करते समय ध्यान में आता है कुसुमाग्रज की कविता में नाट्यमयता घटक, प्रभावपूर्ण ढग से मन पर अकित होता है। अनुभव के नाट्य को मार्मिकता से पहचानकर वह कविता का रूप इस कौशन से रचते हैं कि वह नाट्य प्रभावपूर्ण ढग से व्यक्त हो। दो शक्तियों के बीच का दर्शनीय सघर्ष, परिस्थिति के बीच का विरोध, असगतिया, धागो का ऐंठना, मानसिक तनाव, पेंच इत्यादि के बीच से यह नाट्य उभरता है। इसमें कभी सघर्ष स्पष्ट होता है, कभी वह सघर्ष सूक्ष्म मानसिक होता है, कभी उसमे बाह्य परिस्थिति का दबाव रहता है, कभी अपनी निष्ठा एव दुर्बलता भी उसके लिए कारण होती है अथवा उसमे योगदान करती है (स्वप्न का समापन), (पृथ्वी का प्रेम गीत)। 'स्मृति' जैसी कविता मे शाही वैभव एव विलासिता का वातावरण चहु ओर रहते हुए भी नायक को उस वातावरण के विरोधभाव से अपने गाव की मद दिये की बात अथवा कभी गाया गया आर्त 'अभग' या कभी उसकी आँख का करुण विलास स्मरने लगता है। इस तरह के विरोध में से ही उसकी भावना का स्वर उत्कटता से छेडा जाता है, उस पूरी रचना को अनोखा सौंदर्य प्राप्त होता है। नाट्य को प्रकट करने का 'विशाखा' का ढग अलग-अलग अनुभवो के अनुसार आगे बदलता गया है। 'आशा' कविता में अभ्राच्छादित, उदास, जमे हुए चैतन्यहीन वातावरण से झाडियों में क्रीडा करने वाले राजवरखी पख की एक अकेली तितली को दिखाकर कुसुमाग्रज जमे हुए वातावरण तथा सजीवता के तरल दर्शन के बीच के नाट्य को साकार कर उस कविता को जीवत करते हैं। जिस कविता मे पार्थिव एव मानसिक स्वरूप की घटना नहीं है और केवल वैचारिक चितनपरक प्रतिक्रिया अथवा अनुभव का सार व्यक्त करना है वहा शैली एव अर्थ प्रस्तुत करने की पद्धति से औत्सुक्य जागृत रखने का कार्य किया जाता है।

कुसुमाग्रज की कविता मे नाट्य का एव नाटक मे काव्यात्मकता का अश सहज ही में प्रकट होता है। उनके मौलिक एव अनूदित (७ मौलिक एव ९ आधारित) नाटक असल में कवि द्वारा लिखे नाटक हैं। नाट्य वाङ्मय में उनके आदर्श हैं महाकवि शैक्सपियर। कुसुमाग्रज के रूपातरित नाटक भी मौलिकता का बाना पहनकर प्रस्तुत होते हैं और वे शिरवाडकर के व्यक्तित्व से तथा आसपास के सामाजिक यथार्थ से जुडे हुए हैं। ऐसा लगता है कि इन नाटकों पर मौलिक नाटकों के रूप में ही विचार करना चाहिए।

१९४६ में ऑस्कर वाइल्ड के" आयडियल हजबैंड" नाटक का रूपान्तर "दूरचे दिवे" शीर्षक से कर कुसुमाग्रज ने अपने नाट्य-लेखन का प्रारभ

'किया। नाट्य-लेखन के लिए उन्होंने अपना वि वर शिरवाडकर नाम ही रहने दिया। शिरवाडकर के मौलिक एव रूपातरित नाटकों के कुछ समान वैशिष्ट्य हैं। उनके नाटकों के केन्द्र में प्राय कोई जबरदस्त व्यक्तित्व होता हैं। उदाहरण के लिए बाजी राव, कर्ण, झासी की रानी, ययाति अथवा नटसम्राट गणपतराव बेलवलकर)। वह अपने जीवन में नियति एव परिस्थिति के साथ सघर्ष करते हुए अपने विविध प्रकार के सामर्थ्य को प्रकट करता है। और तब पाठक या दर्शक को उसमें से उसकी सत्प्रवृतियो का उत्कर्ष भी चढते क्रम में परिलक्षित होता है। ऐसे महान व्यक्तित्वों के साथ उत्कटतापूर्वक समरस होकर उनके विचारों और विकारों की आधिया कुसुमाग्रज प्रकट करते हैं और चुनिदा प्रसगो के माध्यम से भावना एव कल्पना के विलास का नाट्य-काव्य पाठक को अनुभव करने के लिए प्रदान करते हैं। वे व्यक्तित्व सामान्यत पाठक की नजर मे नही समाते। पाठक उन नाटकों को पढते या देखते हुए पुन -पुन भरे-भरे मन से उनके पात्रों के व्यक्तित्वो को समझने का प्रयास करता रहता है और उस प्रयास मे उस नाटक मे तल्लीन हो जाता है। शिरवाडकर नाटक का साहित्यिक मूल्य महत्वपूर्ण मानते हैं। उन व्यक्तियो की भावनाओं का स्पदन प्रकट करते हुए अभिजात भाषा-शैली के विविध रूप प्रकट होते हैं। इन वाङ्मयीन गुण-वैशिष्ट्यों के कारण ये नाटक विशेष मौलिक बन जाते हैं। एक के बाद एक समूचे नाटको को पढते हुए लगने लगता है जैसे मानवीय व्यक्तित्वों के माध्यम से शिरवाडकरजी का आन्तरिक मन मानवीय जीवन का अर्थ खोजने का प्रयास कर रहा हो। और यह अर्थ है–

> "लक्ष्य, प्रीति, आशा की क्या होती कभी पूर्ति
> पागल से पूजते हम खड-खड हुई मूर्ति।"

कवि का अखड विश्वास है कि ऐसे विविध प्रकार के पागलपन में ही जीवन की सार्थकता है।

शिरवाडकरजी के सोलह नाटको में जो विशेष चर्चित हुआ और आज भी चर्चित है वह है 'नटसम्राट' (१९६९)। मराठी रगमच पर डेढ हजार से अधिक इस नाटक के प्रयोग हुए और कुछेक भारतीय भाषाओ मे उसके अनुवाद भी हुए। मराठी रगमच के अनेक ख्यातिप्राप्त अभिनेताओं ने इस नाटक की केन्द्रीय भूमिका—नटसम्राट गणपतराव बेलवलकर—को बडे जोर-शोर से प्रस्तुत किया है। इसके पीछे शेक्सपियर के 'किंग लिअर' नाटक की अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। फिर भी असली एव प्रत्यक्ष प्रेरणा दूसरी है। पिछले सौ वर्षों में मराठी रगमच पर शेक्सपियर के अनूदित नाटकों में अभिनय करके जिन्होने अपने अभिनय का उत्कर्ष दिखाया उन महान अभिनेताओं के यथार्थ-जीवन की एव रगमचीय जीवन की अनेक घटनाए आज भी शिक्षित वर्ग की चर्चा का विषय बनी रहती हैं। तरूणाई में इन अभिनेताओ का जो सही जीना होता है वही रगभूमि के दीपो की रेखा के इस ओर—एक मायावी विश्व मे। वे महान नाटककारो द्वारा प्रस्तुत महान मूल्यों का प्रत्यक्ष दर्शकों को देते हैं। लेकिन एक सामान्य मनुष्य के नाते बीच-बीच मे उन्हें परिवार एव समाज के सामान्य तथा वास्तविक जगत मे उतरना ही पडता है। वृद्धावस्था में अवकाश ग्रहण करने के बाद यह स्थिति और अटल हो जाती है। शिरवाडकरजी ने 'नटसम्राट' मे ऐसे ही असामान्य नट की वृद्धावस्था का चित्रण किया है। वृद्ध नटसम्राट गणपतराव बेलवलकर को व्यावहारिक जीवन मे जब काटे चुभने लगते हैं तब वे सहज ही हैमलेट, सीजर, लिअर इत्यादि के मनोविश्व मे प्रवेश करते हैं। यथार्थ एव नाट्यमय सृष्टि की अर्थपूर्ण मिलावट नट सम्राट को एक अद्वितीय ऊचाई देती है। उसके लयबद्ध 'स्वगत' शेक्सपियर के तथा मराठी के खाडिलकर, गडकरी जैसे विख्यात नाटककारो की श्रेणी में (अर्थात् कुसुमाग्रज की गुरू-परपरा मे) जा विराजते हैं।

भारतीय सस्कृति में जो उत्तम है उस पर कुसुमाग्रज का व्यक्तित्व निर्मित एव पुष्ट हुआ है। इसके साथ आधुनिक युग में यह सस्कृति जिस सघर्ष एव समन्वय के बीच से गुजरी है उसका भान

भी कुसुमाग्रज को है। आज के विज्ञान-युग एवं तंत्र-युग का प्रभाव और उसकी सीमाए कुसुमाग्रज ने समझी हैं। महान व्यक्तित्वो का चिंतन करने वाले इस लेखक का रिश्ता सामान्य मनुष्य के सुख दुख के साथ भी आत्मीयतापूर्ण है। अपने नये भाव-बोध को प्रकट करते समय कुसुमाग्रज के कविमन ने भारत का इतिहास, महाकाव्य, पुराण आदि का आधार ग्रहण किया है। उनकी अभिव्यक्ति की भाषा प्राचीन सस्कृत एव मराठी साहित्य की परपरा का अभिनव रूप है। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र मे कुसुमाग्रज का स्थान नयी और पुरानी परपरा के परे है। इधर की एक कविता "प्रेमयोग" के अन्त में जीवन-प्रेम की व्याख्या करते हुए कुसुमाग्रज ने मानव-जीवनविषयक अपने दर्शन के बारे में कहा है

प्रेम
चार पुरूषार्थों का मद प्रदान करने वाले
जीवन के द्रव पर करना चाहिए
और आखेटक के बाण से घायल होकर
अरण्य में अकेले पडनेवाले
अपने शव पर भी करना चाहिए
प्रेम किसी पर भी किया जाए
क्योंकि
प्रेम है मनुष्यो की सस्कृति का साराश
उसके इतिहास का निष्कर्ष
और भविष्यकाल की
उसकी अभ्युदय की आशा
एकमेव।

डॉ सरोजिनी वैद्य

कृतियाँ

काव्य

१	जीवनलहरी	१९३३
२	स्वगत	१९३६
३	विशाखा	१९४२
४	समिधा	१९४७
५	किनारा	१९५२
६	मेघदुत (मराठी अनुवाद)	१९५६
७	मराठी माती	१९६०
८	हिमरेखा	१९६४
९	रसयात्रा	१९६९
१०	वादळवेल	१९६९
११	छदोमयी	१९८२
१२	मुक्तायन	१९८४
१३	जाईचा कुज (बालनाट्य)	

नाटक और एकाकी

१४	दूरचे दिवे	१९४६
१५	दूसरा पेशवा	१९४७
१६	वैजयती	१९५०
१७	कौन्तेय	१९५३
१८	राजमुकुट	१९५३
१९	देवाचा घर (एकाकिका)	१९५३
२०	ऑथेल्लो	१९६१
२१	नाटक बसते आहे	१९६१
२२	आमच नाव बाबूराव	१९६५
२३	ययाति आणि देवयानि	१९६८
२४	वीज म्हणाली धरतीला	१९७०
२५	नटसम्राट	१९७१
२६	बेकेट (अनुवाद)	१९७१
२७	विदूषक	१९७३
२८	एक होतो वाघीण	१९७५
२९	आनन्द	१९७६
३०	मुख्यमत्री	१९७९
३१	चन्द्र जिथे उगवत नाही	१९८१
३२	महत	१९८६
३३	विवाणी-दावा (एकाकी)	१९८६
३४	कैकेयी	

कादम्बरी (उपन्यास)

३५	वैष्णव	१९४६
३६	जाह्नवी	१९५२
३७	कल्पनेचा तीरावर	१९५६

लघुकथा (कहानी)

३८	फलवाली	१९५०
३९	सतारीचे बोल	१९५८
४०	काही वृद्ध काही तरुण	१९६१
४१	जादूची होडी (बालकथा)	
४२	प्रेम आणि भाडार	१९६४
४३	कुसुमाग्रजाच्या बारा कथा	१९६८
४४	वाटेवरल्या सावल्या	१९८१
४५	शोध शेक्सपियरचा	१९८३

निबन्ध

४६	आहे आणि नाही	१९५६
४७	विरामचिह्ने	१९७१
४८	प्रतिसाद	१९७६
४९	रूपरेखा	१९८४

अभिभाषण के अंश

काव्य अथवा अन्य किसी भी प्रकार के साहित्य का सृजन नदी के उद्‌गम के समान एक नैसर्गिक और निरपेक्ष घटना होती है, किन्तु नदी कभी अपने उद्‌गम के निकट नहीं रुकती, रुक जाए तो वह नदी नहींकही जा सकती। काव्य-धारा या साहित्य-सृजन भी अपने उद्‌गम के पास नहीं रुकता। वह नदी के समान ही आत्मा की सीमा लाँघकर लोक-जीवन में प्रवेश करता है। इस प्रवेश की सफलता इसी में है कि जो एक का है वह अनेक के लिए हो जाता है। यह आत्माविष्कार का रूपान्तर सामाजिक सवाद में होने के समान है, ऐसा मैं मानता हूँ। साहित्य-साधना की सफलता तथा सार्थकता का यही एक अर्थ है। ऐसी सफलता मिलने की खुशी 'ज्ञानपीठ' जैसा पुरस्कार पाने वाले हर लेखक को मिली होगी, वही मुझे भी मिली है।

किन्तु, मित्रो, यह सन्तोष काफी नहीं है। मुझे उतना ही सन्तोष इस बात का है कि यह गौरव मेरी मातृभाषा को मिला है जिसके कधे पर मैं चढा हूँ, उस साहित्य-परम्परा का है जिसने मुझे धरातल दिया और उन समकालीन साहित्यकारों का है जिनकी बाँहों में बाँहें डाले मैं आज अपने सृजन-पथ पर अग्रसर हूँ। काव्य कभी वीराने में नहीं खिलता। पूर्वकालीन तथा समकालीन काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही उसका विकास होता है। मेरा साहित्य-सृजन भी इस बात का अपवाद नहीं है। सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त तुकाराम आदि प्राचीन कवियों तथा गडकरी, केशवसुत आदि अर्वाचीन कवियों द्वारा समृद्ध की गयी मराठी भाषा का ऋण अपने मस्तक पर धारण करके ही मैं इस सम्मान को स्वीकार करता हूँ।

मुझे अपनी मातृभाषा का दुरभिमान नहीं है, किन्तु अभिमान अवश्य है। राष्ट्रीय एकात्मकता पर आघात करने वाले भाषाभिमान को अवश्य ही निन्दनीय मानना चाहिए। आज हम विविध भाषाओं, विविध परम्पराओं, विविध अस्मिताओं वाले प्रदेशों को एकता के सूत्र में बाँधकर एक राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं।

इस निर्माण-कार्य के लिए एक सम्पर्क-भाषा आवश्यक है जो हिन्दी है और हिन्दी ही हो सकती है, मैं भी यही मानता हूँ। लेकिन अहिन्दी प्रदेशों में यह सम्पर्क-भाषा केवल सपर्क के लिए ही सीमित नहीं होनी चाहिए। इसकी भूमिका सब पर अपने प्रभुत्व का डका बजाने वाली स्वामिनी की नहीं वरन् विविध भाषाओं के मनोभावों को एक-दूसरे तक पहुँचाने वाली सहेली का है, यह उसे स्मरण रखना चाहिए। महाराष्ट्र के समान अनेक राज्यो में विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में हिन्दी समाविष्ट की गयी है। हिन्दी प्रदेशो में भी इसी प्रकार किसी अन्य भाषा का समावेश क्यों न हो? स्वतन्त्रता के इन चालीस वर्षों में हम भाषा और लिपि के प्रश्नों पर टालमटोल करते रहे हैं। सम्पर्क-भाषा और मातृभाषा के आपसी सम्बन्ध कितने और कैसे हों, इसे सबसे विचार-विमर्श करके निश्चित करना अशक्य नहीं है। किन्तु भाषाओं के अलावा अन्य प्रकार की समस्याओं के वशीभूत हमने इन प्रश्नों की उपेक्षा कर दी है।

एक नागरिक तथा एक लेखक के नाते मुझे इस बात का खेद है कि क्योंकि हम इन प्रश्नों को सुलझा नहीं सकते इसीलिए पलायन का मार्ग अपनाकर हम एक विदेशी भाषा अग्रेजी का अनुचित आश्रय ले रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात् अग्रेजी भाषा का प्रभाव कम होने की बजाय इतना बढ गया है कि जितना पहले कभी नहीं था। देश के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों में अग्रेजी का प्राधान्य

बढाया जा रहा है।

अंग्रेजों का शासन गया किन्तु अंग्रेजी का प्रभुत्व और अधिक अनुपात में फैल रहा है। इसका संभाव्य अर्थ यही है कि हमारे मन पर छायी हुई दासता अभी पूरी तरह निःशेष नहीं हुई है। यदि भारत के किसी भी नागरिक को यह सकोच होता है कि उसे अग्रेजी नहीं आती या अग्रेजी न आने के कारण उसके लिए प्रगति के अनेक द्वार बन्द हैं, तो यह परिस्थिति सचमुच लज्जाजनक है। हमारे आर्थिक, राजकीय व्यवहार आदि के सारे महत्त्वपूर्ण कार्य बहुसख्य लोगों की समझ में न आने वाली भाषा में हो रहे हैं। इस प्रकार हम यह सिद्ध कर रहे हैं कि जनता की समझ में न आनेवाली भाषा में हमारे जनतत्र का चलना एक ऐसी अद्भुत घटना है जो सुसस्कृत ससार में कहीं भी नहीं है।

मैं भी अग्रेजी का एक सम्पन्न भाषा के रूप में प्रेमी हूँ। अत मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यह भाषा ससार में ज्ञान-विज्ञान से सम्पर्क स्थापित करने वाली एक खिडकी है, किन्तु खिडकी का अर्थ घर नही है। हम घर की चारदीवारी खडी करने के बदले केवल खिडकियाँ ही खडी कर रहे हैं।

यह कहना भी सही नहीं है कि हमारी भाषाएँ पिछडी हुई हैं। कोई भी भाषा घर के अन्त पुर में नहीं पनपती। ज्ञान-विज्ञान, सरकारी कामकाज, आर्थिक व्यवहार के क्षेत्रों में प्रवेश होने पर ही उसका विकास सम्भव है। अनेक देशों में ऐसा ही हुआ है। हम कल्पना की परिधियाँ गढ रहे हैं और परायी भाषा के चरणों पर सिर रखकर उससे विनती कर रहे हैं कि बस, तू ही हमें तार।

देश के बहुसख्यक समाज की समझ के बाहर की इस परायी भाषा के गडूलने के सहारे हम सामाजिक परिवर्तन व प्रगति के पर्वत पर चढ़ना चाहते हैं। यह सच है कि भाषा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना सरल नहीं है, लेकिन कठिन सवालों को दाखिल दफ्तर कर देने से वे अधिक जटिल हो जायेंगे और अन्तत हम उनके सभावित उत्तर खो देंगे।

इसलिए देश की समस्याओं की तरह भाषा तथा लिपि के सवाल हल करने के लिए पचवर्षीय योजना बनानी चाहिए। यह भले ही कवि-कल्पना लगती हो किन्तु मैं यह नहीं मानता कि यह साध्य नहीं है। स्वभाषा की महत्ता का प्रश्न केवल भावनात्मक अभिमान नहीं है। आप जानते होंगे कि जहाँ अवास्तविक परम्पराओं का अभिमान विद्यमान नहीं है, उस रूस देश का नेता अपनी मोटर का दरवाजा खोलने वाले दरबान से भी 'थैंक यू' न कहकर अपनी भाषा रूसी में ही उसके प्रति आभार प्रकट करता है। भाषा का प्रश्न केवल अभिमान की समस्या न होकर समाज की अस्मिता और इसीलिए उसके अस्तित्व का प्रश्न है। समाज में परिवर्तन लाने या सामाजिक क्रान्ति के लिए स्वभाषा के तट पर ही बुआई हो सकती है। क्रान्तिकारियों के नेताओं ने भी यही कहा है। इस विषय को मैं यहीं विराम देता हूँ।

मित्रो, मैंने अपने विद्यार्थी-जीवन से ही अपना लेखन प्रारम्भ किया था। भले ही मैंने बाद में साहित्य के सभी क्षेत्रों में लिखा है, परन्तु मैंने प्रारम्भ कविता से ही किया था। आयु के इस सन्धिकाल में भी कविता ही मेरा साथ दे रही है। पिछले साठ वर्षों से मैं लेखन-कार्य में जुटा हुआ हूँ।

इस पडाव से जब मैं पीछे मुडकर देखता हूँ तो स्मृति-पटल पर अनेक चित्र उभरते हैं। दिखते हैं व्यक्तिगत-जीवन के सुख-दुख के चित्र। इसी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं राष्ट्रीय जीवन के सघर्ष तथा सफलता के शिलालेख भी। मानव-जीवन के आपसी व्यवहार से सम्बन्धित एक नयी दृष्टि मुझे मेरी खाली जेब के कष्टदायक अनुभवों ने दी। उन कटु अनुभवों में सुनहरी किनार जोडने वाली सन् १९४२ के काग्रेस अधिवेशन जैसी ऐतिहासिक घटनाएँ भी मैंने देखीं। मुझे देश को दासता से मुक्त कराने के लिए साधारणजन द्वारा किये जाने वाले बलिदानों के भी दर्शन हुए हैं और बलिदानों के उस रक्तसागर की लालिमा से उदित होने वाला

स्वराज्य का सूर्योदय भी मैंने देखा है।

उसके बाद बीते इन चालीस बरसों में मैंने आशा-निराशा के उद्रेकों का भी अनुभव प्राप्त किया है। इस प्रदीर्घ जीवन-यात्रा में कविता ने मेरा साथ दिया ही है, इसके अतिरिक्त उसने व्यक्तिगत तथा सामाजिक और राष्ट्रीय घटनाओं के सत्त्व को खोजने का भी प्रयास किया है। इसके पर्याय स्वरूप उसने मेरे जीवन को एक व्यापक अर्थ भी प्राप्त करवा दिया है। मेरी कविता लौकिक दृष्टि से महल में विराजमान मानिनी न सही, रास्ते पर विचरण करने वाली वैरागिन ही सही। परन्तु वह हाथ में एक टिमटिमाता दीपक लिए मेरे साथ-साथ न चलकर सैदव मेरी अग्रगामी रही है। उसके उस नन्हें दीपक के प्रकाश में मुझे अस्तित्व-बोध तो मिला ही, साथ ही अपने परिवेश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, इसका भी बोध मुझे मिल गया। कविता का यह ऋण कभी भी उतारा नहीं जा सकता। फिर भी न तो मैंने कभी कविता जी है और न ही मैं कभी कविता के लिए जिया हूँ। कविता ने मुझे जिलाया है और निज के लिए मेरे जीने को एक विशेष अर्थ प्राप्त करवा दिया है।

मुझे कभी यह बात जँची नहीं कि काव्य के लिए जीना चाहिए। मैं तो यह मानता हूँ कि काव्य अन्तत एक जीवन-दर्शन है, जीवन का अन्वयार्थ है, जीवन से सम्बन्धित प्रतिक्रिया है, इसलिए काव्य की अन्तिम प्रतिबद्धता जीवन के प्रति है, शब्दों के प्रति नहीं, कल्पना के खिलवाड के प्रति नहीं, साहित्य के तथाकथित सिद्धान्तो के प्रति भी नहीं। काव्य के स्वरूप तथा उद्देश्यो के बारे में सनातन काल से विवाद चला आ रहा है और अन्यान्य सुर्खियों में भविष्य में भी यह चलता रहेगा। इस विषय पर विस्तार से चर्चा करने का न तो अवसर है और न ही यह मेरा क्षेत्र है। किन्तु एक कवि के नाते मेरी यह धारणा है कि काव्य तथा अन्य समस्त साहित्य का फल 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' में समाया हुआ है। काव्य अतत सौन्दर्य का शोध करता है, शिव का रक्षण करता है और सत्य की साधना करता है। साथ ही यह सब करते हुए उसे जो कुछ असुन्दर है, अशिव है, असत्य है उसका सामना करते हुए अग्रसर होना पडता है।

इसलिए मानव-अनुभूति के जितने भी क्षेत्र हैं वे काव्य के क्षेत्र हैं। काव्य की दृष्टि में सागर की अथाहता जितनी सही है उतनी ही अश्रु की अगतिकता भी, पर्वत का अस्तित्व जितना सच है उतना ही सच है सामाजिक व्यवस्था का अन्याय भी, नक्षत्रों का आमन्त्रण जितना सच है उतना ही भूखे पेटों का आक्रन्दन भी, प्रणय के स्पर्श के समान ही महारोगी के बधिर अगों की नि स्पर्शता भी सच है।

काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति का आविष्कार है, यह निर्विवाद है, किन्तु आत्माभिव्यक्ति कवि के व्यक्तिगत जीवन तक ही मर्यादित रहती है, यह बात नहीं है। कवि समाज में जीता है और समाज के जीवन की प्रतीति उसकी आत्माभिव्यक्ति में समाविष्ट होती रहती है। कवि की प्रतिभा एक पाषाण की भाँति चिरस्थिर नहीं है। यह युग-युग से निर्मित होने वाले ज्ञान-विज्ञान से, नित्य सस्कारित होती रहती है। एक समय था जब राह में भूख से तडप कर मरने वाला व्यक्ति करुणाजनक होता था अथवा उसकी मृत्यु पूर्वजन्म के पाप-पुण्य से जोडी जाती थी, आज वही मृत्यु सामाजिक दुर्व्यवस्था और अन्याय का एक प्रमाण हो सकती है।

ज्ञानार्जन में नव-निर्मित विचार कवि की साधना में भाव रूप धारण करते हैं, और इसीलिए कविता अनुभूति के एक स्तर पर थमती नहीं, वरन् बदलते जीवन के सत्य को आत्मसात् करती हुई निरन्तर बहती जाती है। वह परिवर्तन का साथ देती है और उसे प्रोत्साहित करती है। कविता प्रचार नहीं करती लेकिन सस्कार अवश्य करती है। प्रचार दत्तक ली गयी प्रतीति का उद्घोष है तो सस्कार कवि की अनुभूतियों से निर्मित होने वाला सवाद है। शॉ का एक सुन्दर सुभाषित है, 'Poet speaks to himself loudly and the world overhears him' कवि स्वय से बात करता है

किन्तु जब वह भाषा रूपी सामाजिक माध्यम को अंगीकार कर बोलता है तो उसका कथन समाज के जीवन में प्रवेश पाता है और संस्कार का रूप धारण करता है। संक्षेप में मैं यही कहूँगा कि काव्य का संस्कार मानव के समस्त जीवन में व्याप्त होता है। फिर वह क्षेत्र सृष्ट-सौन्दर्य का हो या नर-नारी के प्रेम का अथवा सामाजिक व्यवस्था में होने वाले न्याय-अन्याय का हो।

इस पृथ्वी पर पैदा हुए व्यक्ति के मरणाधीन जीवन में 'आभिजात्य' एक ऐसी शक्ति का नाम है जो मरती नहीं। यह शक्ति चिरजीवी है। इस शक्ति का परमोच्च आविष्कार काव्यादि साहित्य में होता रहता है। इसीलिए इस शक्ति का आश्रय लेकर मानव-संस्कृति एक युग से दूसरे युग में यात्रा करती रहती है। मानव-संस्कृति अन्धकार और प्रकाश के चिरन्तन संघर्ष का इतिहास है। न्याय-अन्याय, सुन्दर-असुन्दर, शिव-अशिव की प्रतीति कराने वाली काव्य-शक्ति सदैव प्रकाश के पक्ष में खड़ी रहती है और इसीलिए वह सामाजिक विकास की सहचरी बन पाती है।

डा. सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी

प्रशस्ति

भारतीय ज्ञानपीठ १९६८-८२ की अवधि में भारतीय साहित्य को उत्कृष्ट योगदान के लिए डॉ सी नारायण रेड्डी को वर्ष १९८८ का ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पित करता है। डॉ नारायण रेड्डी कवि, आलोचक, गीतकार, नाटककार, शिक्षाविद् तथा वक्ता के रूप में आधुनिक तेलुगु साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं। गुजायमान स्वर एवम् भाषा-सगीत पर मनोहर अधिकार के धनी डॉ रेड्डी में एक सर्जक की प्रतिभा और एक वक्ता के आकर्षण का अद्भुत योग है। लघुकाय गीत-सग्रह 'नव्वनि पुव्वु' (अनहसा फूल, १९५३) के साथ स्फुरित होने वाला उनका कवि-व्यक्तित्व शीघ्र ही उनके 'मध्यतरगति मदहासम्' (१९६८) में मध्यवर्ग की कोमल मुस्कानों में पुष्पित-पल्लवित हो गया। एक ओर वे अपने 'ऋतुचक्रम' (१९६४) में ऋतु-सौंदर्य के और दूसरी ओर 'मटलु-मानवुडु' (१९७०) में मानव-जीवन की धधकती ज्वालाओं के अट्टहास के साक्षी बने। कवि की परिपक्वता के परिचायक महाकाव्य 'विश्वभरा' में वे मानव की सार्वभौमिक सकल्पना के द्रष्टा के रूप में उभरे इस काव्य में उन्होने न केवल मुक्त छन्द मे महाकाव्य को रूपायित किया वरन् कलात्मक परिणति, वैज्ञानिक प्रगति एव आध्यात्मिक प्रतीति की प्राप्ति के प्रयास में मनुष्य की युग-युग व्यापी त्रिपार्श्वीय यात्रा का निरूपण भी किया। उनकी समस्त रचनाओं मे गीतात्मक स्वच्छन्दतावाद, आशावादी मानववाद, प्रगतिशील आदर्शवाद तथा स्वस्थ यथार्थवाद का एक सुरम्य सम्मिश्रण है।

साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, केरल के कुमारन आशन पुरस्कार तथा भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता के भीलवाडा पुरस्कार सहित अनेक सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्तकर्ता डॉ रेड्डी १९७७ में 'पद्मश्री' की उपाधि से अलकृत किये गये।
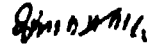
भारतीय ज्ञानपीठ युवा कवि नारायण रेड्डी के दीर्घायुष्य की कामना करता है।

अध्यक्ष	प्रबन्ध न्यासी	अध्यक्ष
प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ	भारतीय ज्ञानपीठ

डा. सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी

वर्ष १९८८ के प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित डा सी नारायण रेड्डी अपनी पीढी के सर्वाधिक जाने-माने कवियों में से हैं। काव्य-रचना मे गीतात्मक उत्कृष्टता और शब्द-माधुर्य के कारण हर तेलुगु परिवार उनके नाम से परिचित है। तेलुगु समाज में वे 'सिनारे' नाम से लोकप्रिय हैं जो कि सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी का सक्षिप्त रूप है।

चार दशको से भी अधिक समय से काव्य-सृजन में रत डॉ रेड्डी की अब तक चालीस से भी अधिक कृतिया प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें कविता, गीत, सगीत-नाटक, नृत्य-नाट्य, निबन्ध, यात्रा-सस्मरण, साहित्यालोचन तथा गजलें (मौलिक तथा अनूदित) सम्मिलित हैं। इन कृतियो मे से अनेक में वे एक प्रवर्तक के रूप में उभरते हैं। आधुनिक तेलुगु कविता पर परपरा तथा प्रयोग के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए १९६७ में उन्होने जो शोध प्रबन्ध लिखा था, वह प्रकाशित होते ही स्थायी महत्व की कृति बन गया।

उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद मे एक प्राध्यापक के रूप में तथा सार्वजनिक मच पर अपनी आलोचनात्मक कुशाग्रता, तीक्ष्ण अर्न्तदृष्टि और काव्य-सवेदना के कारण साहित्य और विशेषत काव्य के व्याख्याता के रूप में डॉ रेड्डी ने अप्रतिम सफलता अर्जित की है। उनकी काव्य-गोष्ठियों में प्रशसको की सदैव भारी भीड जमा होती है। जिसमें सुलझे हुए आलोचक, साहित्य-मनीषी तथा सामान्य काव्य-प्रेमी, सभी श्रेणियों के श्रोता शामिल होते हैं।

डा नारायण रेड्डी शैक्षणिक तथा प्रशासकीय दोनो ही क्षेत्रों में उच्च पदों पर रहे हैं। आध्र प्रदेश राजभाषा आयोग के अध्यक्ष तथा आध्र प्रदेश सार्वत्रिक विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पदो को अलकृत करने के पश्चात् सप्रति आप तेलुगु विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं। स्पृहणीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए मनोनीत होने से पूर्व उन्होंने अनेक पुरस्कार प्राप्त किये हैं जिनमें केन्द्रीय तथा राज्य साहित्य अकादमियों के पुरस्कार, सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार ('ए' श्रेणी), कुमारन आशान पुरस्कार (केरल), भारतीय भाषा परिषद् (कलकत्ता) का भीलवाडा पुरस्कार, मोहिनी दास पुरस्कार तथा राजलक्ष्मी पुरस्कार (मद्रास) मुख्य हैं। पद्मश्री, कलाप्रपूर्ण तथा डी लिट् की उपाधियों से भी वे सम्मानित किये गये। विद्वता तथा सफलता, उपलब्धिया तथा पुरस्कार, प्रशस्तिया तथा सम्मान

उनके लिए सहजभाव से ग्राह्य बन जाते हैं और उनसे उनकी समचित्तता या उनके मिलनसार व्यक्तित्व पर कोई अंतर नहीं पडता।

डा रेड्डी आध्र प्रदेश के करीमनगर जिले के एक दूर दराज के गाव हनुमाजीपेट के एक कृषक-परिवार के हैं। उनके पिता का नाम श्री मल्ल रेड्डी तथा मा का नाम श्रीमती बुच्चम्मा है। उनका गाव तब निजाम की रियासत में होने के कारण उनकी प्रारभिक शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई। इससे उर्दू भाषा और उसके अदब पर उनकी अच्छी खासी पकड है। किशोरावस्था में उन पर लोक गीतों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित हरि-कथा, वीथि-भागवत आदि लोकशैलियों की गहरी छाप पडी। उनके मनपसद छदों तथा उनके निर्वाह पर इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वे सगीत-प्रेमी हैं और सुमधुर कठ के स्वामी हैं जिसका वे अपने काव्य-पाठो में पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। यद्यपि उनकी समस्त कृतियों को किसी प्रकार-प्रक्रम के अन्तर्गत प्रस्तुत करना सभव नहीं, फिर भी, कवि के रूप मे उनके विकास-क्रम को विभिन्न चरणों में समीक्षित किया जा सकता है वे हैं रोमानी, प्रगतिशील, मानवतावादी तथा प्रगतिशील-मानवतावादी चरण। कवि के चिंतन-क्षेत्र में पृथक-पृथक कक्ष दर्शाने के लिए इन चरणों का उल्लेख नहीं किया जा रहा है। यह वर्गीकरण कवि की विकास-यात्रा में पडने वाले किसी एक पडाव से जुडी रचनाओं में पाये जाने वाले सर्वप्रमुख तत्व को निर्दिष्ट करने मात्र के लिए है। फिर भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन सभी चरणों के दौरान मनुष्य की अन्तर्निहित अच्छाई और अन्तत सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक बुराई पर उसकी विजय की अवश्यभाविता में कवि की गहन एव अटूट आस्था एक अन्तर्धारा की भाति निरन्तर प्रवहमान रहती है। उनके काव्य-जीवन का प्रारम्भ किशोरावस्था से ही हो गया था और वे तभी से शाति तथा प्रगति के लिए प्रतिबद्ध हैं। वे मनुष्य की विजय के प्रति सदैव आश्वस्त रहते हैं। यही कारण है कि उनके काव्य में निराशा का कोई स्वर नहीं मिलता। वे जीवन की जटिलताओं और मानव-जीवन पर उनके प्रभावों की सहानुभूतिपूर्ण समझ रखते हैं।

उनके लिए जीवन कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसे किसी भी प्रकार जिस किसी साधन से सुलझाना ही है, और न वह कोई रमणीय सुखात्मक कथा है जिसका प्रफुल्लतापूर्ण आस्वादन किया जाए, वह तो कठोर परिश्रम और मानव-कल्याण की सिद्धि के लिए साधना-स्थल है। वे इतने आदर्शवादी तो हैं कि सपने देखें, पर साथ ही इतने व्यावहारिक भी हैं कि उन आदर्शों को अधिक से अधिक चरितार्थ करने का भरसक प्रयास करें। आपस में सद्भावपूर्ण तथा सदय आचरण करते हुए आधुनिक जगत में सर्वग्रासी रोग के रूप में व्याप्त अत्याचार के विरूद्ध जिहाद छेडे रखने में मानवमात्र की क्षमता के प्रति बलवती आस्था की ठोस भूमि पर उनका यह स्वप्न टिका है। कवि के इन सभी विकास-चरणों में उनका काव्य निर्वाक जूझते दुनिया के करोडों लोगों को अपने ढग से निरन्तर वाणी देता रहा है।

स्वभावत उनकी तरुणाई का काव्य रोमानी उमग से परिपूर्ण है। केवल इसलिए नहीं कि तब वे तरुण थे, बल्कि इसलिए भी कि उस समय के तेलुगु काव्य में रोमानी कविता की रानी का बोलबाला था। रायप्रोलु सुब्बाराव, देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, जाषुआ तथा अन्य अनेक दिग्गज काव्यसाधना में सलग्न थे। यद्यपि कुछ समय तक वे रोमानी भाव-गीतिका के प्रभा-भास्वर पखो पर आसीन रहे, फिर भी उनका यथार्थ से सम्पर्क कभी नहीं टूटा जो उनके रोमानी मुलम्मों से हमेशा झाकता रहा। उदाहरणस्वरूप उनके इस दौर के कतिपय प्रारभिक काव्य-सकलन जलपातम् (जलप्रपात, १९५३), नारायण रेड्डी गेयालु (१९५५) और दिव्वेल मुव्वलु (प्रकाश के घुघरू, १९५९) इस बात की पुष्टि करते हैं और साथ ही इन रचनाओं में भाषा तथा बिम्बविधान

पर उनके अधिकार तथा प्रकृति एव सौन्दर्य के प्रति उनके अनुराग का प्रमाण मिलता है।

डा रेड्डी के काव्य के रोमानी दौर की सर्वाधिक प्रतिनिधि काव्यरचना 'कपूर वसन्तरायलु' है जिस का प्रकाशन १९५६ में हुआ था जब कि वे केवल २६ वर्ष के थे। इस कविता ने उन्हें अग्रणी कवियों में प्रतिष्ठित कर दिया और वे अपने सभी समवर्ती कवियों का मुकाबला करने योग्य हो गये। (पर उन्होंने ऐसा कभी किया तो नहीं। डा रेड्डी अपनी विनम्रता, बडों के प्रति आदर-भाव तथा अपने समकालीन कवियों की हार्दिक प्रशसा के लिए ख्यात रहे हैं।) वरिष्ठ कवियों को भी यह श्रेय है कि बिना किसी अपवाद के प्रत्येक ने डॉ रेड्डी का स्वागत किया और उनको अपनी शुभकामनाए दीं। कर्पूर बसन्तरायलु एक बृहत् काव्य है जिसमें एक मध्यकालीन रेड्डी राजा कुमार गिरी जो स्वय एक कवि एव विद्वान, कला का पारखी तथा सरक्षक था, और गरिमा तथा सुन्दरता की प्रतिमा राजनर्तकी लकुमा के प्रणय का चित्रण किया गया है। यह राजा वसन्तोत्सव धूमधाम से मनाने मे रूचि रखता था, परिणामत उसका उपनाम ही वसन्तराय हो गया, जो कि काव्य का शीर्षक भी है। गीतात्मक अभिव्यक्ति की प्राजलता, रसनिष्यदिनी भाषा, चित्ताकर्षक बिम्ब-योजना, श्रुतिसुभग माधुर्य तथा लालित्यपूर्ण लय की दृष्टि से इसकी समता करने वाले काव्य उस समय बहुत कम थे। इस काव्य में प्रयुक्त शिल्प, भाषा पर अधिकार तथा बिम्ब-योजना अत्यधिक प्रभावकारी हैं। यह रोमानी कविता का चरमोत्कर्ष है और इस रूप में यह काव्य सबके समादर का पात्र बन गया है। इस चरण से सम्बन्धित उनके कल्पनात्मक काव्य-लेखन का एक और ज्वलत उदाहरण है ऋतुचक्रम् (१९६४) जिसने कवि को आध्र प्रदेश साहित्य अकादमी का पुरस्कार दिलाया। मटलू-मानवुडु (लपटें और मनुष्य, १९६०) ने कवि की विकास-यात्राओ में एक नये चरण का सूत्रपात किया। उनके यथार्थवादी तथा प्रगतिशील लेखन के चरण की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में केन्दीय साहित्य अकादमी ने इसे पुरस्कृत किया। वर्तमान समाज में आत्यतिक स्थितियों के बीच चिथडे-चिथडे होते मनुष्य की दुर्दशा कवि को यातना देती है। वे ऐसे लोगों से दोचार होते हैं जिनके हाथों में हालात की बागडोर है—चाहे वे हालात धार्मिक हों, सामाजिक हों, आर्थिक हों अथवा राजनैतिक, और जो सत्ता की अबूझ प्यास प्रदर्शित करते हैं, साथ ही उत्तरदायित्व की किसी विवेकशील भावना या मानवीय सरोकार के बिना उसका उपभोग करते हैं। एक कवि की हैसियत से वे इन बातों से ममोहित हो जाते हैं और उनके खिलाफ मोर्चा सभाल लेते हैं। मुक्त छन्द के इस सग्रह में चारों ओर से दम घोटने वाले इस परिवेश से मनुष्य के सघर्ष का बडा अच्छा अकन हुआ है। कवि इस बात से कलपता है कि आधुनिक ससार में चारों ओर से घेरते दमन और विषमता के शोले मनुष्य को लील जाने और भस्म करने के लिए सदा उद्यत हैं। परन्तु दु ख की बात तो यह है कि कहीं कोई ऐसा नहीं है जो उसकी दशा सुधारने के लिए जरा भी गर्मजोशी दिखाये, जब कि वह ठड से जमा देने वाली जीवन की हकीकतों से जूझ रहा है और जब कि उसके लिए दोपहर में भी अधेरा है। बहरहाल, कवि प्रकृति की शरारतो द्वारा मनुष्य पर ढायी गयी विचारहीन तबाहियों और समाज की लम्बे समय से चली आ रही निर्मम बुराइयों पर अन्तत मनुष्य की विजय में अपनी आस्था प्रकट करता है। वे आश्वस्त हैं कि पहली तो विज्ञान तथा तकनीक की सहायता से और दूसरी सामाजिक परिवर्तन से जीती जाएगी।

उपर्युक्त धारा में आने वाले उनके सग्रह हैं मुखामुखी (आमने-सामने, १९७१), मनिषि-चिलक (मनुष्य और तोता, १९६२), उदय ना हृदय (विहान है मेरा हृदय, १९६३), मार्पु ना तीर्पु (मेरा निर्णय है परिवर्तन, १९६४), इटि पेरुचैतन्यम् (मेरा कुलनाम है चेतना, १९७६)। इन सभी कविता-सग्रहों में कवि स्वय को वचितों और तिरस्कृतों से एकात्म कर लेता है। यह उनके द्वारा

किये गये वर्तमान जगत में धूर्त तथा अमानवीय शक्तियों से घिरे मनुष्य की दुर्गति के सवेदनापूर्ण चित्रण में प्रतिबिम्बित होता है। वे मानवीय सहानुभूति के अभाव की भर्त्सना करते हैं। यदाकदा कवि के कथन में तिक्तता भी आ जाती है और सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों को गति के धीमेपन पर वह खीझ भी उठता है। तिक्त हो उठने के बावजूद वे अपने अन्य समसामयिकों के समान, जो आखिरकार अपनी ही लगाई आग में जलकर राख हो जाते हैं, 'ज्वलनशील' कवि नहीं हैं। जहा कुछेक कवि राजनीतिक भाव को काव्यरूप पर हावी होने देते हैं, वहीं डॉ रेड्डी सबसे पहले और मूलत एक कवि हैं, एक उद्देश्यपरक कवि, उसके बाद कुछ और। उनका उद्देश्य अपने काव्य द्वारा एक न्यायपूर्ण समाज के विकास को समर्थन देना है। जैसा कि वे स्वय भी कहते हैं, उनकी कविता 'वामपथी प्रवणता से युक्त न्यायसगत आक्रोश मे' है। कवि के रूप मे उनकी चिरस्थायी सफलता का यही रहस्य है।

किसी महान कवि की रचनाओं के समान डॉ रेड्डी के काव्य मे भी हम विभिन्न चरणों की परस्पर व्याप्ति पाते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इन चरणो को अन्यत्र दुर्लभ नहीं मानना चाहिए। कवि के विकास और प्रगति की प्रक्रियाए क्रमिक और निरतर हैं, ऊची छलागें नहीं। डॉ रेड्डी के काव्य मे इन चरणों की एकदम सटीक विभाजक रेखाए ढूढ निकालने का प्रयत्न तक करना व्यर्थ होगा क्योंकि कहीं-कहीं वे परस्पर व्यापक हो जाती हैं। उनके मानवतावादी तथा प्रगतिशील मानवतावादी चरणो में विभाजन रेखाओं का यह अतिक्रमण और भी स्पष्ट लक्षित होता है, क्योंकि परस्पर सूत्रबद्धता के कारण इन दोनों के बीच की विभाजक रेखाए कुछ और न होकर केवल अभिप्रायात्मक ही हैं। वस्तुत ये दोनों चरण एक ही सूत्र से अनुस्यूत हैं, अन्तर है तो मात्र बलाघात का। कुछ और अधिक ध्यान से देखें तो हम इस सूत्र की छाया, प्रगतिशील चरण में भी देख सकते हैं और रोमानी चरण तक में एक सच्चा कवि होने के नाते डॉ रेड्डी अपने दृष्टिकोण में सदा प्रगतिशील तथा मानवतावादी बने रहते हैं। ये उनकी कविता के मूलभूत तत्व हैं, उनके आलकारिक कपडो के ताने-बाने।

१९७७ में प्रकाशित रचना 'भूमिका' मानवतावादी चरण की सर्वाधिक उल्लेखनीय रचना है। इसमें मानव-उत्पत्ति से लेकर उसकी अब तक की प्रगति का वर्णन है। यद्यपि इसमें आदि युग्म, आदम और हव्वा, की सृष्टि से लेकर आज तक की मनुष्य की उपलब्धियों का वृत्तान्त बडी सूक्ष्मता के साथ कहा गया है, तथापि किसी नाम का उल्लेख नहीं है। हमें सर्वत्र मनुष्य मात्र के दर्शन होते हैं, अपराजेय, अपने अदम्य उत्साह, सयत साहस और दृढ निश्चय के साथ प्राकृतिक आपदाओं या मनुष्य-निर्मित विपत्तियों का सामना करता हुआ, अपनी समस्याओं का हल ढूढ निकालने में तत्पर। यह कहानी रवैये मे प्रतीकात्मक और अपने दृष्टिकोण में आशावादी है। यहा हम अनुभवसिद्ध तथा आध्यात्मिक और बौद्धिक तथा भावनात्मक के बीच एक सुखद समझौता पाते हैं। यह इसलिए सभव हुआ है क्योकि कवि की सहज अर्न्तदृष्टि उसके अन्तर्ज्ञान मे बहुत गहरे तक उतरी हुई है और पदार्थ के बारे मे पुख्ता जानकारी पर आधारित है। युग-में, वैदिक काल से लेकर आज तक की कविता की प्रगति का विकास रेखात्मक वर्णन एक कल्पनात्मक एव उद्बोधक शैली मे बिना किसी का नाम लिये किया गया है। उनका काव्य मूलत जीवन की अभिपुष्टि का काव्य है और उन्हें उसे उसके सम्पूर्ण बहुमुखी गौरव और उसके समस्त कोलाहल सहित चित्रित करने में हर्षानुभूति होती है। उनकी कविता अनुभव की कविता है उसे पूरी तीव्रता के साथ अपने पाठकों तक पहुचाने की क्षमता में ही उनकी सफलता का रहस्य छिपा है। वे किसी एक काव्य-रूप से बधे नहीं हैं, बल्कि कथ्य के सर्वाधिक अनुकूल काव्य-रूप का चयन करते हैं और हम यहा तक कह सकते हैं कि कथ्य अपना

काव्य-रूप स्वय चुन लेता है। उनकी कृतिया अपने दुर्लभ भाव-बोध तथा अपनी दुलर्भतर सृजनात्मक प्रतिभा के कारण विशिष्ट है। उनमे यथार्थ का सुविधाजनक टुकडों मे नहीं, बल्कि उनकी समग्रता में अनुभव करने का सामर्थ्य है। भूमिका इसका एक गौरवपूर्ण उदाहरण है। जैसा कि नाम से ही झलकता है, यह रचना अगली, रचना 'विश्वभरा' की भूमिका का काम करती है।

१९८० मे प्रकाशित विश्वभरा डॉ नारायण रेड्डी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे कोई सदेह नहीं कि आगामी वर्षों मे वे और भी ऊँचाइयों तक पहुचेंगे और उसकी महत्तम कृति अभी लिखी जानी है। वे अपनी अब तक की उपलब्धियो से सतुष्ट होने वाले व्यक्ति नहीं हैं। 'विश्वभरा' के अँग्रेजी अनुवाद (अनु अमरेन्द्र) की प्रस्तावना मे प्रख्यात कवि, अँग्रेज़ी प्रोफेसर तथा समालोचक डॉ शिव कुमार लिखते हैं कि यह रचना आज का महाकाव्य है जिसकी तुलना मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' तथा दाँते के 'ला डिवाइना कामेडिया' से की जानी चाहिए, क्योंकि यह भी स्वेच्छा, अशुभ और विमुक्ति जैसी मूलभूत समस्याओं से सबन्धित है।

इस महाकाव्य का प्राक्कथन इस विलक्षण कृति के कथ्य की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत करता है

"मनुष्य ही है नायक इस कविता का
यह विशाल विस्तृत पृथ्वी जुटाती है
मच और दृश्यावली।"

कथानक है मनुष्य गाथा
नामों और तिथियों के परे।
प्रकृति पेश करती है पृष्ठभूमि कथा के लिए।
मस्तिष्क की शक्तिया उकसाती हैं मनुष्य को
नई भूमिकाए निभाने को।"

भरता है मनुष्य तरह तरह के भेस-
सिकदर, ईसा, अशोक, सुकरात, बुद्ध,
लिंकन, लेनिन, मार्क्स और गाधी।

प्रस्तुत काव्य की यह कहानी आदि काल से लेकर आज तक की गई मानव-यात्रा के माध्यम से एक बहुत ही प्रतीकात्मक भाषा में परत-दर-परत खुलती है। 'वर्तमान काल' अनन्तता तक जाता है, इसलिए गति सदैव होगी, और कभी भी एक भी क्षण स्थिर नहीं होगा। जीवन और सृष्टि का स्वभाव बूझने की दिशा में मनुष्य का अन्वेषण इस यात्रा की एक प्रमुख विशेषता है। यह मनुष्य द्वारा तीन स्तरो पर जारी रहती है, कलात्मक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक। इन तीनों दिशाओ में की गयी समस्त प्रगति मनुष्य के शाश्वत अन्वेषण का अग है। मनुष्य ने यह अन्वेषण विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न व्यक्तियों के माध्यम से किया है। यह यात्रा स्थान-काल-सातत्य मे से होकर है, तभी ऐतिहासिक नाम और तिथिया यदि अप्रस्तुत नही तो अर्थहीन तथा अप्रासगिक अवश्य प्रतीत होती हैं। अत कवि ने इस कविता में किसी नाम अथवा तिथि का उल्लेख नहीं किया है।

कवि की दृष्टि मे मनुष्य पापी नही है, बल्कि ईश्वर का प्रतिरूप है। सम्पूर्ण महाकाव्य में प्रारभ से लेकर अन्त तक कवि द्वारा प्रयुक्त प्रतीक कहीं भी अस्पष्ट, दुरूह या निजी नहीं हैं, वे सार्वभौमिक हैं। काव्य की भाषा मे चौंकाने वाली सरलता है। फिर भी वह कथानक की गरिमा के अनुरूप अपेक्षित अर्थ-गाभीर्य उपलब्ध कराने में समर्थ है। डॉ रेड्डी सन्तुलन की अद्भुत समझ दर्शाते हुए अपनी दुर्लभ काव्यात्मक अर्न्तदृष्टि तथा सवेदनशीलता के द्वारा जीवन-रहस्यों की गहराइयों मे पैठने में सफल हुए हैं।

जब वे शिव और अशिव, आह्लाद और विषाद, सुख और वेदना के बीच के मूलभूत सम्बन्धों का वर्णन करते हैं, तब सुसमाहित होते हैं और अनुद्वेग, सौम्य तथा शन्ति की मूर्ति बन जाते हैं जो एक महान् कवि के चरमोत्कर्ष के गुण हैं।

कवि शत्रुतापूर्ण तथा अत्याचारी परिवेश तक में समष्टि के कल्याण में आसक्त व्यक्ति की रचनात्मक भूमिका पर विशेष बल देता है। मनुष्य का पतन होता ही नहीं। व्यक्ति कभी-कभी पतित

होते लग सकते हैं। कवि का अटूट विश्वास है कि पूर्णत नवशक्ति के संवरण से जिंदगी की ताजी लीज के साथ मनुष्य का सदा उत्थान ही होता हे, वैसे ही जैसे फिनिक्स अपनी राख में से उठ खडा होता है। कवि का कहना है कि जब तक मनुष्य तक नहीं भूल जाता कि वह 'मनुष्य, है, जिम्मेदारी टालने या हताश होने की कहीं कोई गुजाइश है ही नहीं। कवि के आदर्शवाद में प्रज्ञा का अश है। उसे ज्ञात है कि मात्र ज्ञान प्रज्ञा नही है। यह काव्य स्वय में जीवन के सशक्त तथा सत्यनिष्ठ, पार्थिव तथा अपार्थिव, चचल तथा गभीर का सयोग समेटे है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति, उपलब्धि तथा उत्कृष्टता के लिए उत्कठित मनुष्य के अवचेतन के अधियारे कोनों को उनकी प्रकाशमान कल्पना आलोक से भर देती है। मनुष्य की नियति और अन्तत उसकी विजय मे कवि का अविनश्वर 'विश्वास 'विश्वभरा, —मैं स्फुट रेखा बनकर उभरता है।

डॉ सिगिरेड्डी नारायण रेड्डी १९७० में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित प्रथम तेलुगु कवि स्व विश्वनाथ सत्यनारायण के योग्य उत्तराधिकारी हैं। डॉ रेड्डी के सामने अभी लेखन जारी रखने के लिए कई दशक हैं और वे इसके प्रति सचेत हैं जैसा कि वे स्वय कहते हैं—जब तक मैं जीवित हूँ मुझे इस दौड में शामिल रहना है।

"वह एक जीवन है सदा गतिमान
अनन्त पथ पर मुडकर देखना नहीं है।"

डा कोतपल्लि वीरभद्र राव

कृतियाँ

१	नव्वनि पुव्वु (गीत नाटक)	१९५३
२	जलपातम् (गीत संकलन)	१९५३
३	विश्वगीति (प्रदीर्घ गीत)	१९५४
४	अजंता सुंदरी (गीतनाट्य)	१९५४
५	स्वप्नभगम (गीतिकाव्य)	१९५४
६	नारायण रेड्डी गेयालु (गीत सकलन)	१९५५
७	नागार्जुन सागरम् (गीतिकाव्य)	१९५५
८	वेन्नेल वाड (गीतनाट्य)	(१९५६)
९	कर्पूर वसतरायलु (गीतिकाव्य)	१९५७
१०	रामप्पा (रेडियो रूपक)	१९५९
११	दिव्वेल मुव्वलु (कविता)	१९५९
१२	विश्वनाथ नायडु (गीतिकाव्य)	१९६०
१३	समदर्शनम् (सूक्ति गीत)	१९६०
१४	ऋतुचक्रम (गीतिकाव्य)	१९६४
१५	व्यासवाहिनी (निबंध)	१९६५
१६	अक्षराल गवाक्षालु (कविता)	१९६६
१७	जातिरत्नम् (गीतिकाव्य)	१९६७
१८	आधुनिकान्ध्र कवित्वमु सप्रदायमुलु, प्रयोगमुलु (शोध प्रबंध)	१९६७
१९	मध्यतरगति मदहासम् (कविता)	१९६८
२०	गांधीयम (सूक्तिगीत)	१९६९
२१	मरो हरिविल्लु (कविता)	१९६९
२२	मटलू-मानवुडू (कविता)	१९७०
२३	मुखामुखी (कविता)	१९७१
२४	मनिषि-चिलक (कविता)	१९७२
२५	उदय ना हृदय (कविता)	१९७३
२६	मदारमकरदालु (समीक्षा)	१९७३
२७	मार्पु ना तीर्पु (कविता)	१९७४
२८	तेजस्सु ना तपस्सु (कविता)	१९७५
२९	तरतराल तेलुगु वेलुगु (गीतनाट्य)	१९७५
३०	इटि पेरु चैतन्यम् (कविता)	१९७६
३१	पगले वेन्नेल (फिल्मी गीत)	१९७६
३२	भूमिका (काव्य)	१९७७
३३	मथनम् (काव्य)	१९७८
३४	नारायण रेड्डि नाटिकलु (नाटक)	१९७८
३५	मुत्याल कोकिल (अनुवाद)	१९७९
३६	मृत्युवु नुंचि (कविता)	१९७९
३७	मा ऊरु माटूलाडिंदि (निबंध)	१९८०
३८	सोवियट रष्या लो पदि रोजुलु (यात्रा सस्मरण)	१९८०
३९	विश्वभरा (समग्र काव्य)	१९८०
४०	समीक्षणम् (निबंध)	१९८१
४१	अमर वीरुडु भगतसिंह (वीरकथा)	१९८२
४२	रेक्कलु (कविता)	१९८२
४३	नडक ना तल्लि	१९८३
४४	काल अचु मीद	१९८५
४५	तेलुगु गजल्लु	१९८६
४६	कवित ना चिरुनामा	१९८८
४७	कविता मेरी सास (सकलन) हिन्दी रूपान्तर	१९८९

अभिभाषण के अंश

फसलो की हरियाली में मैं पैदा हुआ और ओनामासी लिखना मैंने सीखा खाली मिट्‌टी की बनी गाँव की पाठशाला मे। उस शाला मे तीसरी कक्षा तक मेरी क्या पढाई हुई, यह मुझे याद नहीं। उसके बाद तालुका शहर सिरिसिल्ला मे चौथी कक्षा मे दाखिल होने के लिए मुझे काफी जिद करनी पडी। माँ ने बडे लाड-प्यार से मुझे रोकते हुए कहा, "बेटा हमारे यहाँ १० हल की खेती है। हमें पढने की क्या जरूरत।" लेकिन मेरे अभिमान ने मुझे इस बात को स्वीकार करने नही दिया। क्षणिक आवेश में आकर मैं गाँव से दूर एक कुएँ मे जाकर कूद पडा। आत्महत्या के इस प्रयास से मैं कैसे बच निकला मेरी जिन्दगी फिर शुरू हो गई, ये सब बाते मेरी स्मृति के पन्नों पर अमिट अक्षर बनकर रह गयी हैं। उन दिनो हमारे गाँव मे मुझसे ज्यादा पढा-लिखा और कोई नही था। पिताजी चाहते थे कि मैं मैट्रिकुलेशन तक पढकर तहसीलदार बनूँ। लेकिन माँ की ममता तडप कर चाहती थी कि जितना मैंने पढ लिया उतना काफी है। आराम से खेती-बाडी का काम देखते हुए मैं उनकी आँखो का तारा बनकर रहूँ। यह है मेरे बचपन का रेखाचित्र।

गाँव ने मुझे गीत दिया और शहर ने मुझे शब्द दिये। चलना सिखाया गाँव ने और दौडना सिखाया शहर ने। बचपन में गाँव मे मैंने जो लोकगीत सुने, हरिकथाएँ देखी, वे ही मेरे आदिम गुरु हैं। शहर में, नगर में जो नाटक और चलचित्र मुझे देखने को मिले वे ही बाद में मेरे शिक्षक बन गए। शुरू-शुरू में मैंने जिन गीतो की रचना की, कविता लिखी, गीति- नाट्य बनाए, इस सबके लिए मैंने इन्हीं से प्रेरणा पायी। आगे चलकर मैंने इन चार पक्तियों में अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को चतुर्मुखी रूप में प्रकट करते हुए लिखा

> **"नडक ना तल्लि**
> **परुगु ना तंड्रि**
> **समत ना भाष**
> **कवित ना श्वास।"**

> "चलना मेरी माता है
> दौडना मेरे पिता।
> समता मेरी भाषा है
> कविता मेरी सास।"

मेरी दृष्टि मे सस्कृति माँ के समान होती है और सभ्यता पिता की भूमिका निभाती है। सयम सस्कृति का लक्षण है और गति सभ्यता का। माँ सारी दुनिया को अपने घर मे समेट कर देखती है और पिता अपने घर को विश्व के अचल तक ले जाने का प्रयास करता है। इन दोनो का समन्वय ही समग्र जीवन की सफलता का सार है।

मेरे गीत पल्लवित हुए थे मेरे गाँव हनुमानजी पैठ मे। उसमें लताये जड गयी थीं हैदराबाद शहर मे, और ये लताएँ अब हस्तिनापुर तक व्याप्त हो गयी हैं- इस प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ पुरस्कार के माध्यम से। चमत्कार की बात यह है कि हनुमानजी पैठ, हैदराबाद और हस्तिनापुर-ये तीनो शब्द हकार से आरम्भ होते हैं। मेरे भीतर का कवि आज इस त्रयी को मानसा वाचा कर्मणा प्रणाम करता है।

चौथी कक्षा से बी ए तक मेरी पढाई हुई थी- उर्दू माध्यम से। निजाम सरकार में तेलुगु केवल ऐच्छिक विषय के रूप में पढाई जाती थी। उन दिनों में तेलुगु के माध्यम से पढना आकाश-कुसुम जैसा था। महाविद्यालय में पढते समय मेरी पृष्ठभूमि फारसी मिश्रित उर्दू की थी जिसमें अर्थशास्त्र को मासियात के रूप में और समाजशास्त्र को

उम्रानियात के रूप में मैंने पढा था। उस समय मेरा अग्रेजी का ज्ञान भी कुछ विशेष नहीं था। छात्र की दशा मे उर्दू में सास लेते-लेते मेरे भीतर तेलुगु को मूर्तरूप देने वाली अपनी जिह्वा का मैं हमेशा आभार मानता हूँ। लेकिन उर्दू की पढाई से मेरे भीतर से उमडने वाली तेलुगु कविता को कोई हानि नहीं पहुँची, बल्कि उसमें निखार ही आया। प्रवाह को प्याले मे भरकर सरसाने वाली उर्दू गजलों ने कुछ ही शब्दो मे बहुत कुछ कहने की क्षमता से मेरी वाणी को सक्षम बनाया। बी ए मे मैंने दूसरी भाषा के रूप में हिन्दी का अध्ययन किया। मेरे सारस्वत जीवन में यह बराबर मेरा साथ देती रही। तेलुगु, सस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अग्रेजी भाषाओं तथा उनके साहित्य का अध्ययन करने से मेरी वाणी मे वैविध्य का समावेश हुआ। जो व्यक्ति जितनी अधिक भाषाओ का जानकार होता है, वह उतना ही अधिक सभ्य बनता है। हम कितना ही परहेज रखना चाहे दूसरी भाषाओं के शब्द हमारी भाषा मे बरबस आ बसते हैं। ग्रीक, स्पेनिश, इटालियन आदि भाषाओ के शब्द-भडार से मुक्त होकर अग्लो सेग्जन के कतिपय शब्दो के सहारे क्या अग्रेजी जीवित रह सकेगी? इसी प्रकार फारसी, अरबी शब्दो को तलाक देकर उर्दू अपना घर नही बसा पाती। सस्कृत, प्राकृत, फारसी, अरबी, हिन्दी आदि भाषाओ के शब्दो का परित्याग करने से तेलुगु का कलेवर दुर्बल बन जाता है। इस वास्तविकता को सही दृष्टि से समझने का प्रयास किया जाये तो पता चलेगा कि दूसरी भाषाओं के प्रति द्वेषभाव रखना कितनी मूर्खता है। इसी बात की ओर सकेत करते हुए मैंने एक कविता में कहा था

"देशम् कागित लो
प्रातालु अड्ड गीद्लु।
गीद्ल गद्ल नडुम
भाषलु प्रवहिस्तायि गंगला गौतमिला।
अवतलिमाट अण्डुकुदुन्नदनि
इवतलि गट्टुक उलिकिपाटु
नीळ्ळकुलेनि कुळ्ळकुविद्ध गट्टुकेन्दुकुन्नदु ?
श्वाससलाण्टिदे भाष
ओण्ट्लो पुट्टुतुन्दि गोन्तुकलु।
ऊहलकु गोन्तुलु पुट्टुतुन्दि
मनिषिनी नेलनू कलिपि कुट्टुतुन्दि"

"देश एक कागज है
विभिन्न क्षेत्र उस पर अकित रेखाएँ हैं
रेखा-रेखा के बीच में भाषाएँ बहती हैं
गगा गोदावरी जैसी
उस छोर का शब्द
इस छोर पहुँचते ही तट चौंक उठते हैं
जल मे जो जलन नहीं है
वह तट मैं कैसे आई
भाषा सास जैसी है,
भीतर से निकलती है
धरती से नर को जोडकर सी देती है।"

आखिर भाषा चाहे कोई भी हो उसका काम जोडना है तोडना नही। वह मूक हृदय को मुखरित कर देती है, बर्बरता को प्रेरित नहीं करती। भाषा की बहुलता मानव की स्वच्छ अभिव्यजना का प्रबल निदर्शन है। आदि मानव ने अपने विचारो को क्षमता के साथ प्रकट करने के लिए अपनी अभीष्ट शब्द-श्रृखला को चुन लिया है। उसी श्रृखला में बोली ने भाषा का रूप धारण किया। जिस भाषा मे जितनी बोलियॉ होती हैं उसमे उतना ही प्रवाह आता है। जो भाषा लोगो की जिह्वा पर नही चल पाती, वह एक प्रकार से 'स्थित' भाषा बन जाती है। जो भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं सबकी सब 'प्रस्थान' की भाषाएँ हैं, 'प्रवाह' की भाषाएँ हैं। भारत के सविधान मे भले ही १५ भाषाओ को स्थान मिला है, फिर भी भाषाशास्त्रियो ने १७९ सभ्य भाषाओ को और ५४४ बोलियों को मान्यता दी है। भारत की भाषाओं ने प्राच्य सस्कृति के बहुमुखी विकास में जो भूमिका निभाई है, उसे अक्षर-जगत् हमेशा याद रखेगा। भारतीय साहित्य में महत्ता और गुणवत्ता को प्रतिष्ठित करने का श्रेय

उसके अपार वैविध्य को मिला है। विविधता का मतलब विरोधिता कभी नहीं हो सकता। ध्यान से देखा जाए तो सभी भाषाओं का अतरग एक है। इसी बात को सूत्र-शैली मे व्यक्त करते हुए डॉ राधाकृष्णन ने कहा था कि भारतीय साहित्य एक है, हालाकि वह अनेक भाषाओं में लिखा जाता है।

प्रारम्भिक दशा में जैसे सभी युवा कवि प्राय करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी प्रेम के अचल को पकडने के लिए गीतों को उडाया था। विरह व्यथा को उधार लेकर लम्बी सासो को सचारित किया था। यह सब एक ओर चल रहा था तो दूसरी तरफ बचपन और जवानी के सधिकाल में औसत आदमी मेरी जीभ के कोने से छूटा नही। जब मैं हाईस्कूल मे पढा करता था तो मेरी धरती पर रजाकारो के अत्याचार हो रहे थे। उसका मैंने खण्डन किया और स्वराज समर को उद्घोषित करते हुए मैंने कई गीत लिखे, कई कविताएँ लिखीं। समाज की व्यग्र चेतना को बाँध तोडकर बहने वाली क्षमता प्रदान करने वाले कई गीत मैंने लिखे। उस समय तृतीय विश्व युद्ध के मडराते हुए जहरीले बादलो को विदलित करने के लिए मैंने कई कविता-दल प्रसारित किए

"ई जगत्तु एनाडु चितिकिपोनुन्दो
इका नाकु भयगाने वुन्दि
ए नगर हिरोशिमा कानुन्दो
इका सशयगाने वुन्दि"

"यह विश्व न जाने किस क्षण विछिन्न हो जाय,

यही मेरी शका है
किस क्षण कौन-सा नगर
हिरोशिमा बन जाए, इसकी मुझे आशका है।"

ये विचार मेरे मन को उद्वेलित करते थे जब मैं १९५२ मे बी ए का छात्र था। बाद के वर्षो मे विश्व-शान्ति का समर्थन करते हुए मैंने लिखा था

"समर का मतलब सम्पूर्ण तिमिर है
शान्ति तो सूर्य की भाँति अविनश्वर है।
समय से पहले आने वाली मृत्यु समर है।
और शान्ति जीवन का विस्तार रूप है।"

भले ही लोग कहें कि मैं एक बात बार-बार कहता हूँ। फिर भी मैं वही बात एक बार फिर कहना चाहता हूँ कि मनुष्य चिरतन सत्य है, इसीलिए मानवता मेरा इतिवृत्त है। अपने कविता-सकलन 'मटलू मानवुलू' (लपटें और मनुष्य) मे मैंने मनुष्य को 'मारुति' और 'मार्कण्डेय' की सज्ञा दी है। इसमें मेरा आशय उन पौराणिक मूर्तियों को पुन प्रतिष्ठित करना नहीं है। पर समय और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले मनुष्य की चिरजीविता और गतिशीलता को उद्घोषित करने के लिए मैंने इन सज्ञाओ का प्रयोग किया है।

मेरा काव्य 'विश्वभरा' एक प्रकार से मानवोपनिषद् है।

"इस काव्य का नायक है मानव।
रगमच है विशाल विश्वभरा।
इतिवृत्त है मानव की कथा जिसे
तिथियों एव अभिधानो की आवश्यकता नही।

इस कथा का नेपथ्य है प्रकृति।
मानव द्वारा धारण की गई
विविध भूमिकाओं की
मूलधातुएँ हैं मनश्शक्तियाँ।"

इसी आशय को व्यक्त करते हुए मैंने विश्वभरा मे लिखा है

"नेनु पुट्टकमुन्दु
एन्नगा मब्बुलेदुरू चूशायो
चूपुल सोपानालपै सागिवच्चि
तमनु पिण्डुकुने तपन एवनि।
एन्नगा नक्षत्रालु निरीक्षिचायो
गणित सूत्रालतो तम गतुलनि
मणुलुगा कूर्चे मननमेदनि।
उषस्सुलेन्नगा उद्वेगपड्डायो
विच्चुकुन्न तम कण्टि कडलिलो
पिच्चिगा नुरगेत्ते विमुक्तात्मलेवनि।
वेन्नेललेन्नगा विश्वसिंचायो
तामु विसिरेसिन वलुवल ओडिलो

तलवाकुने मिथुनात्मलेवनि।"

"मैं जन्मा ही नहीं था
मेघों ने कितनी प्रतीक्षा की होगी
(कि) नजरो की सीढियों पर चल आकर
हमे निचोड लेने वाली तपन कहाँ ?
सितारो ने कितनी बाट जोही होगी
(कि) गणित के सूत्रों ने हमारी गतियों के
मणिहार गूँथने का मनन कहाँ ?
उषाएँ कितनी उद्विग्न बनी रहीं
(कि) बिखर खिले हमारे नयन-सागर में
बौराकर उफनने वाली विमुक्त आत्माएँ
कहाँ ?
चाँदनियाँ कितनी तडपती रहीं
(कि) हमें ओडकर
सुधबुध खोने वाले मिथुन कहाँ ?"

सच पूछा जाए तो प्रकृति मनुष्य से भी अधिक सुन्दर होती है, वह प्रबल शक्तिशालिनी भी होती है। फिर भी यदि मनुष्य पैदा न हुआ होता तो प्रकृति निरर्थक पडी रहती। एक तरफ पाँच तत्त्वो को और दूसरी तरफ मनुष्य को रखकर तौलकर देखा जाये तो मनुष्य का पलडा ही भारी हो जाता है। आकाश की तुलना में मानव अगुष्ठमात्र है। फिर भी उसने समस्त आकाश को धरती पर उतारकर रख रखा है। हवा में, पानी से और प्रकाश से वह अपनी परिचर्या करवा रहा है। कला, विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्रो में वह धीरे-धीरे आगे बढकर अदृश्य शक्तियों को समय के परदे पर नचा रहा है। जिन शक्तियों तक अब तक उसकी गति नहीं थी, उन सबको बाँधकर वह अपने पैरों में पडे रहने के लिए बाध्य कर रहा है। इस सतत साधना मे मनुष्य बार-बार गिरकर भी हार नहीं रहा है। चोट खाकर भी वह होश नहीं खो रहा है। जो पत्ता झर जाता है वह फिर डाल में शामिल नहीं हो सकता। पर्वत का जो शिखर टूटकर अलग हो जाता है वह फिर पहाड का अग नहीं बन सकता। यही अन्तर प्रकृति और मनुष्य के बीच में है। लेकिन मनुष्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह तो मर्त्य है। हवा की तरह, प्रकाश की तरह वह अनन्तकाल तक जीवित नहीं रह सकता।

जनन-मरण की श्रृखला मे जकडा हुआ मनुष्य मेरा लक्ष्य नहीं है। अविच्छिन्न और अनाहत गति से आगे बढने वाली मानवता मेरी विवक्षा का विषय है। कभी-कभी भ्रम होता है कि इसका अन्त होने वाला है पर वास्तव में यह निरन्तर है। कभी-कभी मौत का धुआँ दिखाई देता है। पर वह मृत्यु नहीं है, अमृत है। मानव नित्य चेतनता की मूर्ति है। उसके मार्ग में पग-पग पर अवरोध खडे हो जाते हैं। टूटी-फूटी सडकें दिखायी देती हैं। उसके पैरो को जड से उखाडने वाली आँधियाँ चलती हैं। इन सबका सामना करने वाला मनुष्य ही सही साधक है-

**"एन्नि सार्लु चेक्किते ओक शिल्पम्
एन्नि सार्लु तीर्चिते ओक चित्रम्
कबुर्लेवो चेप्पके ओ कालमा
एन्नि सार्लू चस्ते ओक जीवितम्।"**

"कितनी बार तराशने से एक कलाकृति बनती है
कितनी बार बनाने से एक चित्र बनता है।
कोरी बाते छोडकर बताओ हे काल !
कितनी बार मरने से एक जीवन बनता है ?"

"कविर्मनीषी परिभू स्वयभू", "नान्ऋषि कुरुते काव्यम्"-आदि वैदिक सूक्तियाँ सुनकर मैं चौंक उठता हूँ। मैं अपने आपसे पूछ लेता हूँ- क्या यह स्वयभूपन, यह ऋषिता मेरे कवि में भी है ? वल्मीक (बाम्बी) जैसे शरीर से उभरकर आने वाला प्रत्येक कवि वाल्मीकि की तरह स्वयभू है। इस प्रसग में भट्ट तौत की दी हुई कवि की परिभाषा स्मरणीय है। उन्होंने कहा- "दर्शनात् वर्णनात् चाथ रुढा लोके कविश्रुति ।" विश्व के किसी भी महाकवि के लिए यह सूक्ति लागू होती है। इस परिभाषा को सीधी-सादी भाषा में कहा जाए तो सबसे पहले कवि को देखना चाहिए और उसके

बाद जो जैसा देखा वह उसी प्रकार उनके शब्दों में दिखायी देना चाहिए। परिनिष्ठित भाषा में इसका आशय यही है कि कवि में दो प्रकार की क्षमताएँ अवश्य होनी चाहिए-दर्शन और वर्णन। दर्शन से आशय केवल वही नहीं है, जो हम अपनी चमडी की आँखों से या शीशे की आँखों से देख पाते हैं। लम्बाई और गहराई में पैठकर देखने वाली दृष्टि ही यह दर्शन है जिसको हम 'विजन' भी कह सकते हैं। उसी दृष्टि को सशक्त रूप में व्यक्त करने की क्षमता ही वर्णन है। इसी को प्रोवीजन या कम्युनिकेशन कहा जा सकता है। जिस कवि में ये दोनो उपज्ञाएँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, उनके लिए पुस्तक के आवरण पर अपना नाम अंकित करने की आवश्यकता नहीं है। कविता के नीचे अपने हस्ताक्षर करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। प्रतिभाशाली कवि की प्रत्येक कविता उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्पण है। इसी आशय को लेकर मैंने तेलुगु में प्रेम-रुबाई लिखी थी। उसमें मैंने कहा था

"आ मबु सन्तकम् कुन्नदि चिनुकुल्लो
ई मानु सन्तकम् कुन्नदि चिगुरुल्लो
ए दस्तावेजुलनु चूसि एम् लाभम्
ना मनसु सन्तकम् कुन्नदि कवितल्लो।"

"बादल के हस्ताक्षर बारिस की बूँदों में अंकित हैं
पेड के तने के हस्ताक्षर उसकी कोंपलों में मुद्रित हैं
कोई दस्तावेज देखने से कोई लाभ नहीं
मेरे मन के हस्ताक्षर मेरी कविता में लक्षित हैं।"

क़ुर्रतुलऐन हैदर

प्रशस्ति

भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि मे 1969-83 की अवधि में सर्वोत्कृष्ट योगदान के लिए भारतीय ज्ञानपीठ वर्ष 1989 का ज्ञानपीठ पुरस्कार सुश्री कुर्रतुलऐन हैदर को समर्पित करता है।

कुर्रतुलऐन हैदर का जन्म अलीगढ़ में 1927 में हुआ। उनकी चालीस वर्ष से भी अधिक की महनीय साहित्य-सेवा 1949 मे 'मेरे भी सनमखाने' से शुरू हुई। 1959 में उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'आग का दरिया' प्रकाशित हुआ। भारत की चौदह प्रमुख भाषाओं मे अनूदित इस उपन्यास मे भारतीय वर्चस्विता का वैदिक युग से आधुनिक काल तक का विकास चित्रित है। 'पतझर की आवाज़' के लिए उन्हे 1967 में साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् उन्हे 1969 में अनूदित रचनाओ के लिए सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार, 1984 में पद्मश्री, 1985 मे गालिब पुरस्कार और 1987 मे इकबाल सम्मान प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत पुरस्कार के लिए निर्धारित अवधि मे उनकी उत्कृष्ट कृतियाँ हैं उर्दू का पहला अकाल्पनिक उपन्यास 'कार-ए-जहा दराज है', 'आख़िर-ए-शब के हमसफर' और 'रोशनी की रफ्तार'। हाल ही के उनके दो उपन्यास 'गर्दिश-ए-रग-ए-चमन' और 'चाँदनी बेगम' उन्हे आधुनिक कथाकारो मे अग्रगण्य बना देते हैं।

कुर्रतुलऐन हैदर का हृदय कोमल मानवीय भावनाओ से ओतप्रोत है। उनके पात्रो मे भी यही प्रतिफलित होता है। लेखन, पत्रकारिता और जन-सप्रेषण के क्षेत्र में देश-विदेश मे प्राप्त प्रगाढ और व्यापक अनुभव ने उनकी रचनात्मक दृष्टि को अभीष्ट साधना का रूप दिया है। उनकी सभी रचनाओ मे आधुनिक सभ्यता के सदर्भ मे परम्परागत भारतीय सस्कृति की प्रासंगिकता के प्रति निष्ठा और उसके सरक्षण मे रुचि और उत्कठा का परिचय मिलता है।

भारतीय ज्ञानपीठ सुश्री कुर्रतुलऐन हैदर की सुदीर्घ और सुस्थिर साहित्य-यात्रा की मगल कामना करता है जिससे वर्षों तक वे मानवता की सेवा करती रहे।

	प वें नरसिंह राव	अशोक कुमार जैन	श्रेयांस प्रसाद जैन
नई दिल्ली	अध्यक्ष	प्रबन्धन्यासी	अध्यक्ष
जनवरी 9, 1991	प्रवर परिषद्	भारतीय ज्ञानपीठ	भारतीय ज्ञानपीठ
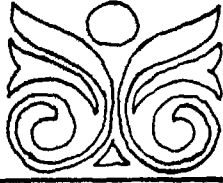
क़ुर्रतुलऐन हैदर

क़ुर्रतुलऐन हैदर का नाम उनके अप्रतिम व्यक्तित्व और विशाल कृतित्व के कारण एक मिथक बन चुका है। लगभग पिछले चार दशको से वे साहित्य सृजन से पूर्णत जुड़ी हुई हैं। निरन्तर लिखते रहने के बावजूद उन्होंने कभी भी श्रेष्ठता के मापदण्डों से समझौता नहीं किया। उपन्यास, लघु-उपन्यास, कहानी, समीक्षा, सस्मरण, रिपोर्ताज, यात्रा-वृत्तान्त आदि गद्य विधाओं को अपने लेखन से समृद्ध और समुन्नत कर उर्दू साहित्य में उन्होने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। आज भी, जब वे अपने जीवन के ६३ वर्ष पूरे कर चुकी हैं, उनकी कृतियों की ताजगी और गहराई में कहीं कोई कमी नहीं दिखाई देती 'मेरे भी सनमखाने', 'सफीनाए-गमे-दिल', 'आग का दरिया', 'कारे जहाँ दराज है', 'आखिरे-शब के हमसफर', 'गर्दिशे-रगे चमन' और 'चाँदनी बेगम' जैसे उत्कृष्ट उपन्यास, 'सीता हरण', 'चाय के बाग', 'दिलरूबा' और 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' जैसे लघु-उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने बहुत सी कहानियाँ, मनोरम यात्रा-वृत्तान्त, सस्मरण, समीक्षाएँ और रिपोर्ताज भी लिखे हैं। इन सभी गद्य-विधाओं में अपनी अनुपम रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देते हुए उन्होंने अन्य लेखकों के लिए एक नया मानदण्ड स्थापित किया है। साथ ही, उन्होंने कुछ विश्व-विख्यात लेखकों की सर्वोत्तम कृतियों के उर्दू में अनुवाद भी किए हैं।

क़ुर्रतुलऐन का जन्म सन् १९२७ में अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। उनके परिवार में तीन पीढ़ियों से लिखने की परम्परा रही है। उनके पिता, सैयद सज्जाद हैदर यलदरम, की गणना उर्दू के प्रतिष्ठित कथाकारों मे होती है। उनका उल्लेख किए बिना उर्दू कथा-साहित्य का कोई इतिहास सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। क़ुर्रतुलऐन की माँ, नज़्र सज्जाद हैदर, 'उर्दू की जेन ऑस्टिन' कहलाती थी। वे अपने समय की पायनियर थीं और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों मे समाज सुधार विषयक उपन्यास लिखकर नवजागरण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा चुकी थीं। उन्होने कई उपन्यास लिखे जो प्रसिद्ध भी हुए। नज़्र सज्जाद हैदर की बुआ, अकबरी बेगम, भी अपने समय की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका थीं। परिवार की अन्य कई महिलाएँ भी उर्दू-फारसी में शायरी करती थीं। क़ुर्रतुलऐन का परिवार उत्तर-भारत के उन घरानों मे से था जिन्होंने सबसे

पहले आधुनिक सभ्यता को अपनाया—पाश्चात्य संस्कृति के अँधाधुंध अनुकरण के रूप में नहीं वरन् पूर्णत समझ-बूझ कर जीवन की नई राहों और धाराओं को स्वीकार करते हुए।

कुर्रतुलऐन की आरम्भिक शिक्षा घर-परिवार, और फिर कॉन्वेंट तथा बनारस के विद्यालय में हुई। लिखने का शौक उन्हें बचपन से ही रहा है। प्रारम्भ में उन्होंने बच्चों के लिए कई कहानियाँ लिखीं जो 'फूल अखबार' में प्रकाशित भी हुईं, परन्तु नियमित लेखन की शुरूआत उस समय हुई जब वे बी ए की छात्रा थीं। उनकी पहली मौलिक कहानी प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'साकी' में प्रकाशित हुई। सम्पादकीय में इसकी प्रशसा विशेष उल्लेख सहित की गई थी। इससे उन्हें बहुत प्रोत्साहन मिला और वे निरन्तर लिखती चली गईं। अपने लेखन में उन्होंने कभी किसी का अनुकरण करने का प्रयास नहीं किया, जो कुछ भी लिखा अपने जीवनानुभव, कल्पना और चिन्तन के आधार पर ही लिखा।

सन् १९४७ में कुर्रतुलऐन ने लखनऊ विश्वविद्यालय से अँग्रेजी साहित्य में एम ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष उनकी कहानियों का पहला सग्रह सितारों से आगे प्रकाशित हुआ। इसमें सकलित लगभग सभी कहानियाँ उर्दू में अपने ढग की अनूठी रचनाएँ थीं। इनमें घटनाओं की अपेक्षा उनसे जन्म लेने वाली अनुभूतियों और सवेदना को विशेष महत्त्व दिया गया था। इन कहानियों द्वारा पाठक के सम्मुख एक ऐसी अपरिचित सी दुनिया प्रस्तुत की गई थी जिसमें जीवन की अर्थहीनता का सकेत था—हर तरफ छाई हुई धुध थी, एक मनोग्राही शायराना उदासी थी। नई कहानी के उद्‌भव और विकास क्रम में कुर्रतुलऐन हैदर की ये कहानियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

एम ए करने के बाद उन्होंने आर्ट्स स्कूल में कला की शिक्षा प्राप्त की। इसी सिलसिले में वे लन्दन गईं। आजादी के बाद कुछ समय तक वे पाकिस्तान एडवरटाइजिंग एण्ड पब्लिकेशज, इग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध अखबार 'टेलीग्राफ' के सम्पादन विभाग और बी बी सी, लन्दन, से भी सम्बद्ध रहीं। स्वदेश लौटने के बाद उन्होंने बम्बई में 'इम्प्रिन्ट' के मैनेजिंग एडिटर के रूप में काम किया। उसके बाद लगभग नौ वर्ष तक 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इन्डिया' के सम्पादन विभाग से सम्बद्ध रहीं। उन्होंने 'एक मुसाफिर, एक हसीना' नामक एक फीचर फिल्म भी लिखी। इस दौरान वे अँग्रेजी में भी लिखती रहीं।

बम्बई छोडने के बाद कुर्रतुलऐन हैदर अलीगढ विश्वविद्यालय और जामिया मिल्लिया (नई दिल्ली) में विजिटिंग प्रोफेसर भी रह चुकी हैं। इन दिनों वे बी सी सी आई द्वारा कलाकर्मियों की सहायतार्थ स्थापित एक फाउन्डेशन के लिए काम कर रही हैं।

कथा-लेखन के अतिरिक्त उन्हें ललित कलाओं में भी गहरी रूचि है—विशेषतया सगीत और चित्रकला में। वे सुन्दर सितार वादन करती हैं और 'गर्दिशे-रगे-चमन' में उनके कई रेखाकन भी प्रकाशित हुए हैं।

कुर्रतुलऐन हैदर का पहला उपन्यास 'मेरे भी सनमखाने' १९४९ में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास भारत की समन्वित सस्कृति के माध्यम से मानवता की त्रासदी प्रस्तुत करता है। भारत की वह समन्वित सस्कृति जो यहाँ रहने वाले हिन्दू-मुस्लिम समुदायों के लिए प्रेम और एकता का प्रसाद और गौरव का प्रतीक थी, देश-विभाजन के बाद खण्डित हो गई। इस पीडा को 'मेरे भी सनमखाने' में लखनऊ के कुछ आदर्शवादी, अल्हड एव जीवन्त लडके-लडकियों की सामूहिक व्यथा-कथा के रूप में बडे ही मार्मिक ढग से दर्शाया गया है। देश का निर्मम विभाजन उन्हें भी प्रभावित किए बिना नहीं रह सका। विभाजन की यह क्रूर रेखा उनके मन पर ऐसी खिंची की वे सब इधर उधर बिखर गए।

१९५२ में कुर्रतुलऐन हैदर का दूसरा उपन्यास 'सफीनाए-गमे दिल' प्रकाशित हुआ और १९५४ में उनकी कहानियों का दूसरा सकलन 'शीशे के घर'। इस सकलन में "जलावतन", "यह दाग-दाग उजाला " तथा "लन्दन लेटर" शीर्षक कहानियाँ

विशेष उल्लेखनीय हैं। "अलावतन" में भी भारतीय समन्वित संस्कृति की त्रासदी एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गई है। इसमें सम्बन्धों के टूटने, परिवारों के बिखरने और मानवीय मूल्यों के चूर-चूर होने की करुण कहानी कही गई है। ये रचनाएँ लेखिका की सृजनशीलता और कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रतिमान और उनकी गहन सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक चेतना का प्रमाण कही जा सकती है।

दिसम्बर, १९५९ में कुर्रतुलऐन हैदर का सुप्रसिद्ध उपन्यास 'आग का दरिया' प्रकाशित हुआ जिसने साहित्य जगत में तहलका मचा दिया। यह उपन्यास अपनी भाषा, शैली, तकनीक, विषय-वस्तु और चिन्तन—हर दृष्टि से एक नई परम्परा का सूत्रपात करता था, अत पाठकों के साथ-साथ आलोचकों के लिए भी एक चुनौती सिद्ध हुआ। इसमें विगत दो हजार वर्षों की विस्तृत पृष्ठभूमि में भारतीय जीवन के ऐतिहासिक, सामाजिक, सास्कृतिक और भावात्मक यथार्थ को अत्यन्त कलात्मक ढग से चित्रित किया गया है। स्वय लेखिका के अनुसार,

"मैंने विचार किया कि हिन्दुस्तान की जो शख्सियत है, उसमें इवोल्युशन कैसे हुआ, देन आय स्टारटेड राइटिंग आग का दरिया उसमें पुराना हिन्दुस्तान है। उसके बाद आए तुर्क। मुगल-आए। क्योंकि तुर्क और मुगल पहले भी आए थे। दे वर नोन एज शकाज तो वे घुलमिल गए। ये भी घुलमिल गए। पर इनका मिलना गलत रहा, जिससे समस्याएँ उठ खडी हुईं। मैंने विचार किया कि ऐसा क्यों हुआ। देश का पार्टीशन क्यों हुआ ? उसमें बहुत सारे सवाल आते हैं—ह्यूमन माइन्ड ह्यूमन हिस्ट्री "

'आग का दरिया' में यह सब कुछ है—देश से दीवानगी की हद तक सम्बद्धता की सशक्त भावना है, भारतीय दर्शन और चिन्तन की एक नई सृजनात्मक व्याख्या है, हिन्दू-मुस्लिम समन्वित संस्कृति की समस्या है, प्यार करने वाले दिलों की कहानी है, स्वतंत्र विचार प्रवाह है, और सबसे बड़ी, अटल और महान शक्ति है समय जो एक विचित्र अजर, अमर पात्र के रूप में 'आग का दरिया' की प्रत्येक पंक्ति में विद्यमान है। इस उपन्यास ने इतिहास बोध और उसके साथ अन्य कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को जन्म दिया—इतिहास क्या है ? उसे हम किस तरह देखें ? उस पर किस तरह सोचें ? इत्यादि 'आग का दरिया' बहुत सी भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुका है।

'पतझड की आवाज' (१९६७) और 'रोशनी की रफ्तार' (१९८२) शीर्षक सकलनों की कहानियाँ कुर्रतुलऐन हैदर की कला और चिन्तन की नई दिशाओं और आयामों की उद्‌बोधक हैं। 'हाउसिंग सोसाइटी', 'कार्मेन', 'डालनवाला', 'याद की एक धनुक जले', 'हसब-नसब', 'कोहरे के पीछे' और 'पतझड की आवाज' जैसी सशक्त यथार्थवादी कहानियों के साथ 'रोशनी की रफ्तार', 'मल्फूजाते हाजी गुलबाबा बेकताशी' तथा 'सेंट फ्लोरा ऑफ जॉर्जिया की आत्म-स्वीकृतियाँ जैसी अनूठी प्रयोगात्मक कहानियाँ भी उनमें सम्मिलित हैं 'पतझड की आवाज' पर लेखिका को १९६९ का साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया। १९६९ में उन्हें सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार प्राप्त हुआ, फिर १९८५ मे गालिब अवार्ड और १९८८ में इकबाल सम्मान प्रदान किया गया।

'आग का दरिया' जैसे बहुचर्चित और अद्वितीय उपन्यास के बाद कुर्रतुलऐन हैदर ने १९७७ से १९७९ के बीच 'कारे जहाँ दराज है' लिख कर आलोचकों को एक बार फिर उलझन में डाल दिया। दो भागो में प्रकाशित इस उपन्यास को गद्य-विधाओं की पारम्परिक परिभाषाओं में बाँधना असभव हो गया। कई एक आलोचकों ने इसे उपन्यास ही मानने से इन्कार कर दिया। कुछ ने इसे मात्र एक परिवार विशेष का इतिहास बताया। किसी ने कहा कि यह इतिहास ही नहीं है। कुछेक ने इसे आत्म-कथा की संज्ञा दी तो कुछ इसे

आत्म-कथा मानने को तैयार नहीं थे। स्वयं लेखिका ने इसे 'नॉन फिक्शन नॉवल' कहा है।

'कारे जहाँ दराज है' के बाद कुर्रतुलऐन हैदर के तीन और उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'आखिरे-शब के हमसफ़र', 'गर्दिशे-रगे-चमन' और 'चाँदनी बेगम'। 'गर्दिशे-रगे-चमन' एक अर्ध-दस्तावेजी उपन्यास है। इसे लिखने के लिए लेखिका को काफी शोधकार्य करना पडा। इसमें उत्तर प्रदेश के सामतवादी ग्रामीण समाज का चित्रण करते हुए उसके एक अभिन्न अग के रूप में सूफीवाद को भी विषय बनाया गया है। पीर साहब के चरित्र के माध्यम से सूफी जीवन का मनोरम चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के इसी जीवन्त कथानक के कारण यह भ्रम फैल गया—कि कुर्रतुलऐन हैदर अध्यात्मवाद की लपेट में आ गई हैं और सूफीवाद की समर्थक बन गई हैं। इस पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लेखिका ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"सूफीवाद की तरफ मेरा रुझान कभी भी नहीं रहा। मैं अपने इर्द-गिर्द के हालात और घटनाओं को अध्यात्म द्वारा नहीं बल्कि अपने जेहन और दिमाग के जरिये समझने का प्रयत्न करती हूँ। और यही हमेशा से मेरा दृष्टिकोण रहा है।"

एक उपन्यासकार के रूप में कुर्रतुलऐन हैदर की गणना उर्दू के तीन महान कथाकारों—रतननाथ 'सरशार', मिर्जा हादी 'रुसवा' और प्रेमचन्द के साथ की जाती है। कहानीकार के रूप में भी उन्होंने उर्दू साहित्य को अविस्मरणीय योगदान दिया है जिसके आधार पर उनका नाम प्रेमचन्द, राजेन्द्र सिंह बेदी, कृष्ण चन्दर और सआदत हसन मन्टो के साथ लिया जाता है।

निःसन्देह कुर्रतुलऐन हैदर का कथा साहित्य अपनी अप्रतिम लेखन कला, भाषा, शैली, तकनीक और चिन्तन की दृष्टि से उर्दू साहित्य की एक बहुमूल्य उपलब्धि कहा जा सकता है। मानव और मानवीय मूल्यों में अडिग विश्वास और आस्था के साथ जीवन के विविध अनुभव और विशाल असीम प्रकृति में जीवन-यापन करता मनुष्य—उसकी समस्याएँ, उसकी जटिलताएँ, उसकी निर्बलता, उसकी विवशता, उसकी हँसी, उसके आँसू और क्षण प्रति क्षण बदलती स्थितियों का विश्वस्त चित्रण उनके कथा-साहित्य के प्रमुख विषय हैं। उनकी किसी भी कृति को इस महान देश की विशेष गौरवशाली सस्कृति, इसके इतिहास, इसकी चिन्तन-परम्परा, इसकी धरती और इसके जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। वस्तुत उर्दू कथा-साहित्य के माध्यम से उन्होंने भारतीय साहित्य को गरिमा प्रदान कर उसका सिर बुलद किया है।

डॉ सादिक अली.

कृतियाँ

उपन्यास
मेरे भी सनमखाने, १९४९
शफीनाए गमे दिल, १९५२
आग का दरिया, १९५९
आखिर-ए-शब के हमसफर, १९७९
कारे जहाँ दराज है, १९७८-७९
गर्दिश-ए रगे चमन, १९८७
चादनी बेगम, १९९०

लघु उपन्यास, १९८२
सीता हरण
चाय के बाग
दिलरुबा
अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो

कहानी संकलन
सितारों से आगे, १९४७
शीशे के घर, १९५२
पतझड की आवाज, १९६७
रोशनी की रफ्तार, १९८२

अभिभाषण के अंश

मैंने जिन दिनों लिखना शुरू किया वह प्रगतिवादी लेखकों का स्वर्ण युग था। उन्होंने मुझे यह कहकर नकार दिया कि मुझमें सामाजिक चेतना नहीं है। मुझे उनके इस निर्णय पर बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं अपने ही तरीक़े से समकालीन परिदृश्य तथा देश के मानस का चित्रण कर रही थी। अपने विषयों को ढूँढने के लिए मुझे दूर नहीं जाना पडा। मेरे आसपास का वातावरण ही बहुत समृद्ध तथा विचारोत्तेजक था। वहाँ ग्रामीण भी थे, इडो-मुगल भी और इडो-यूरोपियन भी थे—और ऐसे मिले हुए थे जैसे कई मालाएँ आपस में उलझ गयी हों, और सभी में अपने अतीत को लेकर एक विशेष प्रकार की टीस थी। उन सभी ने मेरी रचनात्मकता में योगदान दिया। मिश्रित सास्कृतिक प्रभाव ने इन्सानों की कहानी को बहुत ही चित्ताकर्षक तथा जटिल बना दिया। मेरे लिए तो इन्होने विभिन्न स्तर उघाड कर रखे हैं, शब्दो तथा मुहावरों को अधिक लचीलापन दिया है और काल, क्षेत्र और वातावरण के बोध का एक नया तरीक़ा समझाया है। इसलिए स्वत ही एक नयी तकनीक मुझे मिल गयी। इसी कारण मेरे विषय तथा तकनीक मे कुछ लोगों को परेशानी होने लगती है।

कोई भी विषय अपने लिए स्वत कैसे शैली और मुहावरे की रचना करता है, यह समझना मेरे लिए हमेशा कठिन रहा है। उदाहरण के लिए, जब मैं किसी परिवार की पीढी-दर-पीढी कहानी लिखने बैठी तभी हर काल के साथ नयी तकनीक आती चली गयी। मध्यकाल के लिए 'मलफूजात' तथा दास्तान शैली रही, विक्टोरिया काल के लिए उर्दू उपन्यासकारों की शैली रही, तो आज के युग में त्रस्त तथा सचेत रूप से पाश्चात्योन्मुख आधुनिक लेखन की शैली। अधिकतर सृजनशील रचनाकार समझते होंगे कि ऐसा कैसे हो जाता है। ख़ैर जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा, झडे और नारों की मैंने चिन्ता नहीं की। मैं प्रतिक्रियावादी कही जाती रही। मैं सभवत अतर्मुखी रही हूँ। फिर भी मेरी बहुस्तरीय प्रभावकारी शैली ने उर्दू कथा-साहित्य में एक नयी धारा का प्रारम्भ किया। १९४७ में, जब मैं अभी किशोरावस्था में ही थी, मैंने अपना पहला उपन्यास 'मेरे भी सनमखाने' लिखा था। उसमें कुछ युवा आदर्शवादी लोगों की एक टोली का जीवन तथा मन पर बँटवारे का प्रभाव चित्रित किया गया था। कुछ समालोचक उसकी गिनती उर्दू के दस श्रेष्ठ उपन्यासकारों में करते हैं। लदन मे १९५२ में मैंने एक लघु-उपन्यास लिखा—'द एक्साइल्स'। विश्वयुद्ध के बाद के यूरोप मे शरणार्थियों की बाढ-सी आ गयी थी। लदन पूर्व और पश्चिम दोनो तरफ के विस्थापित युवाओं से भर गया था। वे यह भी तो नहीं कह सकते थे कि 'ईस्ट ऑर वेस्ट, होम इज बेस्ट', क्योंकि घर तो उनका हमेशा के लिए उनसे छूट गया था। शीत-युद्ध मे लगी शक्तियों से उन्हें कोई मतलब नही था। वहाँ से वे कहाँ गये? वे वामपथ में शामिल हो गये। वे गाते थे—"हमारी धरती कितनी दूर ही क्यों न हो, एक महा-दृष्टि ने हमें एकजुट कर दिया।" वे भाग्यशाली थे क्योंकि वे भविष्य के प्रति आश्वस्त थे। (है कोई ऐसी महा-दृष्टि आज जो युवा पीढी को एकजुट कर सके? वे तो दुनिया भर में फैले युद्ध-उन्मादियों के शिकजों में फँसे हुए हैं।)

मैंने अपने कथा-साहित्य मे कई तरह के विषयों को लेने का प्रयास किया है। उनमें वे गरीब परन्तु प्रतिभाशाली कलाकार भी हैं जिन्हें हमारे समाज ने हाशिये पर बिठा रखा है, वे आधुनिक शिक्षित महिलाएँ भी हैं जो आर्थिक रूप से

आत्मनिर्भर होने पर भी कई स्तरों पर शोषण का शिकार हो रही हैं, और वे अल्प-सख्यक समूह भी हैं जिनकी अपनी उप-सस्कृतियाँ थीं और जो उन पूर्वाग्रहों के कारण पीड़ित थे जिनमें उनका कोई दोष नहीं था। वे सारे मेरी कहानियों तथा उपन्यासों में आये हैं।

'आखिर-ए-शब के हमसफर' उपन्यास बगाल विभाजन के पूर्व वहाँ के आतकवादियों की पृष्ठभूमि पर लिखा है। इसकी कहानी १९३९ से प्रारम्भ होकर बगला देश के निर्माण तक चलती है। इसमें दिखाया गया है कि किस प्रकार लोग राजनीतिक हडकप में उलझ जाते हैं और निजी स्वार्थों या मात्र परिस्थितियों के कारण कैसे उनकी विचारधाराएँ और व्यक्तित्व प्रभावित हो जाते हैं या बदल जाते हैं।

'गर्दिश-ए-रग-ए-चमन' १९८७ में प्रकाशित हुआ। यह अर्ध-वृत्तात्मक उपन्यास कहा जा सकता है क्योंकि मैंने इसमे कई यथार्थ चरित्र लिये हैं, हालाँकि वे पृष्ठभूमि में ही रहते हैं। कथानक का आरम्भ १८५७ के घटनाचक्र से प्रारम्भ होता है और वर्तमान तक चलता है। एक स्तर पर यह उन महिलाओ की कहानी है जो परिस्थितियों तथा सामाजिक पूर्वाग्रहों की शिकार बनी हैं। भूमि के स्वामित्व की धारणा मेरे नये उपन्यास 'चाँदनी बेगम' का एक अन्तर्निहित विषय है। कहानी की पृष्ठभूमि सम-सामयिक लखनऊ है। उसके पात्र समाज के सभी वर्गों के हैं। उनमे कुछ हरिजन भी हैं जो पीढियो से गाते तथा स्वाग रचने का काम करते आये हैं और जिन्हे डोम, डोमनियाँ और भाँड कहा जाता है। अपना लघु उपन्यास 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो' मैंने लखनऊ के चिकन के कारीगरो तथा खानगी महिलाओ पर लिखा है, जिनका बुरी तरह शोषण होता रहा है।

सिलहट के चाय-बागानो के बधुआ तथा भूमिहीन मजदूरों पर मैंने अपना एक लघु उपन्यास 'चाय के बाग' लिखा। ये लोग पूर्वी पाकिस्तान तथा भारत के बीच की सीमा पर बार-बार एक आज भी वहीं है बल्कि आठ सौ साल बाद आज हालात उससे भी गये गुजरे हैं।

इन्सान आज विचारधाराओं के एक अनचाहे पतन की ओर बढ रहा है और इलेक्ट्रानिक मीडिया के द्वारा इसका जो प्रचार हो रहा है उसके बहुत ही विनाशकारी परिणाम सामने आ रहे हैं। दुनिया के कई देश जिन भयावह स्थितियों से गुजर रहे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। अचानक आपको लगता है कि शान्ति, सद्भाव, अहिंसा, मानवता आदि के उपदेशों से वास्तव में कुछ होता जाता नहीं है। दस हजार वर्ष की पाशविकता, घृणा तथा पूर्वाग्रह आज के मानव के मानस में अपने आदिम रूप तथा विस्तार के साथ रिस गये हैं और वहाँ अपना कब्जा जमा चुके हैं।

विभिन्न लोग एक ही प्रकार की भाषा या शब्दावली का अपने अनुकूल प्रयोग कर रहे हैं। जब पश्चिम की शक्तियाँ एक-दूसरे के विश्वविद्यालयों, गिरजाघरों, पुस्तकालयो, तथा सग्रहालयों पर बम फेंक रही थीं, तब उन्हे किसी ने बर्बर या असभ्यो का गिरोह नहीं कहा। वे तो मात्र पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों को सुरक्षित करने का प्रयास कर रहे थे। इसलिए सवाल यह है कि एक आरवेली दुनिया में रहते हुए, जिसमें आज हम रह रहे हैं, कोई लेखक कैसे यह आशा कर सकता है कि उसके शब्दों के अर्थ गलत नहीं लिये जायेंगे या उसे पाखडी नही मान लिया जायेगा।

अभी अधिक समय नही गुज़रा जब शब्दों का अपना एक महत्व होता था। उनके अर्थ को अपने स्वार्थ के लिए तथा दूसरे पर अपने मत को आरोपित करने के लिए बदल नहीं दिया जाता था, बल्कि उनका महत्त्व स्वीकार किया जाता था, क्योंकि तब लेखक और पाठक के बीच सवादहीनता की दूरी नही थी। आज पाठक भी समझ गया कि पिष्ट-पेषण का बाजार गर्म है।

बात फिर साहित्य की भूमिका पर लौट आयी है। जरा उर्दू का ही उदाहरण लें। इसके तब के लिखे गये साहित्य पर जरा एक नजर डालें और

ओर से दूसरी ओर धकेले जाते रहे हैं। इसमें यह भी दिखाया गया है कि इन चाय-बागानों के मैनेजर उच्च अंग्रेजी सुपर क्लास जीवन जीते हैं। 'दिलरुबा' में मैं उन्नीस सौ बीस के दशक में लौटी हूँ जो उर्दू रंगमंच के आखिरी दिन थे।

'द कनफेशन्स ऑफ सेंट फ्लोरा ऑफ जॉर्जिया' एक राजनीतिक व्यंग्य है। सोवियत जॉर्जिया के एक चर्च के एक तहखाने में आठवीं शती की एक भिक्षुणी और एक भिक्षु के कंकाल पड़े हुए हैं। उधर से गुजरता हुआ एक फरिश्ता जो अभी प्रशिक्षण प्राप्त कर रहा था, गलती से उन्हें जीवन-दान दे देता है। वे भागकर पश्चिम में चले जाते हैं और उन्हीं के साथ एक असंतुष्ट बुद्धिजीवी भी भाग खड़ा होता है। दोबारा 'भूमिगत' होने से पहले न्यूयार्क में फादर ऑरबिलिनी और सिस्टर फ्लोरा कई जोखिमों से गुजरते हैं।

'हाजी गुलबाबा बक्ताशी के उपदेश' में क्रान्ति से पूर्व तुर्की के बक्ताशी दरवेशों के रूपक तथा उनकी शब्दावली द्वारा आज के मानव की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है।

इधर मैं बम फेंकने वालो को लेकर चिन्तित हूँ। अपने-अपने चोखटों में फिट करके कहीं हम उन्हें क्रांतिकारी कहकर महिमामंडित करते हैं तो कहीं आतंकवादी कहकर उनकी निन्दा करते हैं। जब कोई चिन्तक, विद्वान या कलाकार का सामना किसी हिंसक से होता है तो वह उसके सामने पूरी तरह असहाय की स्थिति मे होता है। बारहवीं शती के ईरान के महान् फारसी सूफी कवि तथा दार्शनिक फरीदुद्दीन अत्तार का मामला ही ले। वे 'पक्षियो की संसद' के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। चंगेज खाँ की सेना के एक सिपाही द्वारा वे पकड़ लिये गये। अत्तार के चेलों ने उस सिपाही से धन लेकर उन्हें छोड़ देने का अनुरोध किया। लेकिन अत्तार व्यर्थ में इस तरह धन नहीं लुटा देना चाहते थे। अन्त में वे घास के गट्ठा के बदले में बेच दिये गये और फिर जिसने उन्हें खरीदा था तत्काल उसे बेरहमी से मार भी डाला। यह देखकर घबराहट होती है कि दुनिया देखें कि इनके लेखक कितने ईमानदार तथा साफ मन के होते थे। और यह बात मैं केवल उर्दू के सन्दर्भ में कह रही हूँ। अब ज़रा इन लेखकों की संख्या का भारतीय भाषाओं की संख्या से गुणा करें और देखें कि मानव-मूल्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता कितनी विस्तृत तथा गहरी रही है और कला के प्रति उनमें कितनी निष्ठा रही है।

एक दूसरे सन्दर्भ में मैं आपकी अनुमति से भविष्य के बारे में कुछ बातें कहना चाहूँगी। जब छपी हुई पुस्तकें नहीं होती थीं तब कस्सागो और कथावाचक रात-रात कहानियाँ सुनाकर श्रोताओं को बाँधे रखते थे। वे आज के दूरदर्शन धारावाहिकों के अग्रदूत थे। आज जब तक हम शत-प्रतिशत साक्षरता पाएँ और यदि तब तक पढ़ने की आदत पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाती है, कई उपन्यासकार पटकथा-लेखक बन चुके होंगे। विकसित देशों में सिनेमा तथा टेलीविजन ने रचनात्मक साहित्य को समाप्त नहीं किया है। यहाँ की विस्तृत अशिक्षित आबादी तक साहित्य केवल इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से पहुँच पाता है। लेखक ही अपने पात्रों और परिस्थितियों के अकेले निर्माता होते हैं जबकि पटकथा-लेखन एक संयुक्त प्रयास होता है। शब्दों के अर्थ तथा मुहावरे यहाँ या तो बदल जाते हैं या पूरी तरह से समाप्त हो जाते हैं। चाक्षुष दृश्यों की प्रधानता के कारण बच्चों में कल्पनाशक्ति का भी धीरे-धीरे अवरोध हो जाने का भय है। और तब तक सर्जनशील रचनाकार हो जायेगा 'मीडिया का आदमी', जैसा कि वह आज कहा भी जाने लगा है।

एक तरह से हमारे अपने मामले मे भी ऐसा ही हो सकता है। कई भारतीय भाषाओं में लेखक को रॉयल्टी देने का रिवाज ही नहीं है और लेखक केवल लेखन को अपनी आजीविका का स्रोत नहीं बना पाता। मेरा उपन्यास 'आग का दरिया' पिछले तीस वर्षों से दो देशों में सर्वाधिक बिकने वाला रहा है। लगभग २५ वर्ष पहले दो मशहूर प्रकाशकों ने इसके अनुवादों के लिए एक छोटी-सी रकम जैसे

भीख में मुझे दे दी थी, बस। इस उपन्यास के लिए मुझे कहीं से भी कोई रॉयल्टी नहीं मिली। यह अपने आपमें एक विश्व कीर्तिमान होगा। मेरी अधिकाश कृतियाँ ऐसी हैं जिनकी मुझे कोई रॉयल्टी नहीं मिलती है। दक्षिण एशिया के देशों के बीच किसी प्रकार के प्रकाशनाधिकार के क़ानूनों के न होने के कारण पुस्तकों के जाली सस्करण धडल्ले से छप रहे हैं और किसी को इसकी चिन्ता नहीं है।

फिर भी अगर आज कोई लिख रहा है तो इसलिए कि लिखना उसके लिए ज़रूरी है और चौदहवीं सदी के कशराज के कवि हफीज की इस अटपटी सलाह पर उसका विश्वास नहीं है कि अपने राज्य के रहस्यों को केवल वहाँ का राजा ही जानता है, तुम जिस अपने एकान्त में हो वहीं रहो, हफीज, ज्यादा झीकों मत!

सभ्यता के मूल्यों आदि को लेकर, जिस पर मैं अपने तरीके से लिखती आ रही हूँ, आपको मेरी सोच, सफलता, नासमझी तथा ऐकान्तिक लग सकता है, फिर भी शायद मैं उस मूर्ख टीटही (एक छोटी–सी चिडिया) की तरह हूँ जो इस आशका में अपने पजे ऊपर कर लेती है कि वह ऐसा करके आसमान को गिरने से बचा सकेगी।